इस प्रकाशन के प्रेरणा-स्रोत
उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी

अनासक्त, अपरिग्रही और सतत ज्ञानाराधक परमपूज्य उपाध्याय १०८ श्री ज्ञानसागरजी मुनिराज भारत की गरिमामयी श्रमण-संस्कृति, संत-परम्परा और आध्यात्मिक अवधारणाओं के जीवन्त प्रतीक हैं। उनके उदार/उदात्त चिन्तन से सहअस्तित्व की भावना को एक नई चमक मिली है।

सन् १९५८ की वैशाख शुक्ला द्वितीया को मुरैना में जन्मे उमेशकुमार की जीवन-यात्रा आत्म-बोध के साथ प्रारम्भ होकर सन् १९७६ में क्षुल्लक गुणसागर के रुप में प्रतिफलित हुई। फिर बारह वर्ष पश्चात् ३१ मार्च १९८८ को दिगम्बरी दीक्षा प्राप्त कर वे मुनि ज्ञानसागर के नाम से प्रख्यात हुए। सागर से निकलकर मुजफ्फरनगर, खेकड़ा, विनौली, शाहपुर, गया और रफीगंज आदि में भ्रमण करता हुआ, तीन वर्ष में ही बुन्देलखण्ड का यह संत पूर्वोत्तर भारत की धर्म-पिपासु जनता में बसंत बनकर छा गया।

उपाध्याय ज्ञानसागरजी की ज्ञानगंगा कहीं भी पंथों, जातियों या सम्प्रदायों की परिधि में सिमट कर नहीं बहती। वह धारा तो बिना किसी भेद-भाव के हर जाति, धर्म और आस्था वाले लोगों के बीच सरल, स्वाभाविक करुणाधारा के रुप में प्रवाहित होकर अहिंसा और विश्व-शान्ति के अंकुर उगा रही है।

भगवान महावीर की आचार्य परम्परा को रेखांकित करने वाले इस महान ग्रन्थ का यह संस्करण उन्हीं संत की प्रेरणा का सुफल है।

आवरण का चित्र -
शान्तिप्रसाद कला-संग्रहालय खुजराहो का एक शिल्प
चन्देल काल :: १० वीं - ११ वीं शताब्दी ईस्वी.
छायाकार - नीरज जैन,

6610

तीर्थंकर महावीर
और
उनकी आचार्य-परम्परा

२

श्रुतधर
और
सारस्वत आचार्य

तीर्थंकर महावीर
और
उनकी आचार्य-परम्परा

द्वितीय खण्ड

लेखक
डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य,
एम.ए. पी-एच.डी. डी. लिट

(इस भाग का मुद्रण श्री दिगम्बर जैन समाज गया के के सौजन्य से)

आचार्य शन्तिसागर छाणी ग्रन्थमाला

छायाकार – नीरज जैन,

परम पूज्य सराकोद्धारक
प्रातःस्मरणीय उपाध्याय 108 श्री
ज्ञानसागरजी महाराज के मंगल आगमन
के अवसर पर भेंट ...
वीर सेवा मंदिर
जैन मंदिर (...) दरियागंज
के लिये - 27-8-96

यदीया वाग्गंगा विविध-नय-कल्लोल-विमला
बृहद्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति ।
इदानीमप्येषा बुधजन - मरालैः परिचिता
महावीरस्वामी नयन - पथ - गामी भवतु नः ।।

– पण्डित भागचन्द्र, महावीराष्टक

वीर सेवा मंदिर दरियागंज
दिल्ली

प्रकाशक :

प्रथम संस्करण सन् १९७४
श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद

यह द्वितीय संस्करण सन् १९९२
आचार्य शन्तिसागर छाणी ग्रन्थमाला,
पो.बुढ़ाना, जिला-मुजफ्फरनगर, (उत्तर प्रदेश)

प्राप्ति स्थान :

१. *मंत्री-आचार्य शान्तिसागर छाणी ग्रन्थमाला*
पो. बुढ़ाना, मुजफ्फरनगर, (उत्तर प्रदेश)

२. डॉ. नलिन के.शास्त्री
ए-११, प्रोफेसर क्वार्टर्स,
मगध विश्वविद्यालय केम्पस,
बोध गया (बिहार) ८२४ २३४

मूल्य : पूरा सैट चारों खण्ड : चार सौ रुपया

आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी महोत्सव के
पावन प्रसंग में प्रकाशित

मुद्रक :
शकुन प्रिंटर्स
पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा
दिल्ली-३२

प्रकाशकीय निवेदन

सोलह वर्ष पूर्व प्रकाशित और लगभग दस वर्ष से अनुपलब्ध यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ पुनः मुद्रित होकर आज आपके हाथ में पहुंच रहा है । प्रथमावृत्ति के प्रकाशकीय में भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद के मंत्री डॉ.पन्नालाल साहित्याचार्य ने इसकी पृष्ठभूमि में लिखा था –

– "भगवान महावीर के **2500** वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर प्रकाशनार्थ विद्वत्परिषद ने इस ग्रन्थ के लेखन का दायित्व अपने तात्कालिक उपाध्यक्ष, बहुमुखी प्रतिभा के धनी विद्वान, डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य, एम.ए., पी.–एच–डी., डी.लिट्., को सौंपा था । सम्मानीय डॉ.शास्त्री ने चार पाँच वर्ष तक अथक परिश्रम करके समय पर इसे तैयार कर दिया । "

– "इसके प्रकाशन के लिए विद्वत्परिषद के पास अर्थ की व्यवस्था नगण्य थी, परन्तु विद्वत्परिषद के अध्यक्ष डॉ. दरबारीलाल कोठिया ने ग्रन्थ के अग्रिम ग्राहक बनाकर राशि एकत्र की और लगभग सात सौ ग्राहकों से अग्रिम मूल्य प्राप्त हो जाने से यह प्रकाशन संम्भव हुआ । "इस बीच यह दुर्भाग्यपूर्ण घटित हो गया कि जनवरी १९७४ में डॉ.शास्त्री का असामयिक निधन हो गया और वे अपनी इस महान कृतिको प्रकाशित नहीं देख पाये।

इधर कई वर्षों से यह ग्रन्थ अनुपलब्ध था । इस अन्तराल में जैन साहित्य और संस्कति के इतिहास के प्रति जिज्ञासु अध्येताओं की एक नई पीढ़ी तैयार हो गई है जिसके मार्ग–दर्शन के लिए इस ग्रन्थ की महती उपयोगिता निर्विवाद है। स्व. डॉ.शास्त्री और डॉ.दरबारीलाल कोठिया के अत्यन्त स्नेहपूर्ण संबंध रहे हैं।डॉ.शास्त्री की चर्चा चलते ही, आज भी कोठियाजी की आँखें भर आती है ।कोठियाजी कई वर्षों से अपने दिवंगत मित्र के इस अवदान को पुनः प्रकाशित कराने के प्रयत्न कर रहे थे, परन्तु व्यय–साध्य होने के कारण सफलता का योग लग नहीं पा रहा था।

संयोग से परम ज्ञानाराधक १०८ श्री उपाध्याय ज्ञानसागरजी मुनिराज का इस वर्ष गया में चातुर्मास हुआ । नवम्बर ९१ में वहाँ आगम वाचना हुई जिसमें अनेक विद्वानों ने भाग लिया । डॉ.कोठिया ने अपने मन का यह विकल्प वहाँ व्यक्त किया जिस पर पूज्य ज्ञानसागर जी महाराज की प्रेरणा से "आचार्य शन्तिसागर छाणी ग्रन्थमाला बुढ़ाना " के कोष से पचास हजार की राशि ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए सहज उपलब्ध हो गई । बाद में अपने प्रवचन के बीच मैंने गया समाज से इसमें सहायक होने का अनुरोध किया तब, मेरा याचना–वाक्य पूरा होने के पूर्व ही, समाज के अध्यक्ष बाबू पदमचन्दजी ने समाज की ओर से पच्चीस हजार की स्वीकृति प्रदान कर दी । बाद में स्व.प्रेरणा से उसमें वृद्धि करके उन्होंने दूसरे भाग के मुद्रण

का दायित्व ले लिया। गया समाज की यह उदारता अन्य कर्णधारों के लिए अनुकरणीय है ।

उसी समय उपाध्यायजी के सान्निध्य में इस हेतु सात सदस्यों की एक अस्थायी समिति का गठन करके कार्यारम्भ कर दिया गया । बाद में शेष अर्थव्यवस्था के उपाय करते समय यह विकल्प सामने आया कि आचार्य शन्तिसागर छाणी ग्रन्थमाला ही शेष राशि का प्रावधान करके ग्रन्थ के प्रकाशन का भार वहन करे । स्व. डॉ शास्त्री के सुयोग्य पुत्र डॉ.नलिन के.शास्त्री ने ग्रन्थमाला को द्वितीय संस्करण का प्रकाशन अधिकार प्रदान करके इस प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त कर दिया । ग्रन्थ के दूसरे भाग के मुद्रण का सम्पूर्ण व्यय दिगम्बर जैन समाज गया ने और तीसरे भाग का व्यय दिगम्बर जैन पंचायत रफीगंज ने वहन किया है। चौथे खण्ड के लिये जैन समाज डाल्टेनगंज का आश्वासन प्राप्त हुआ है। यही इस प्रकाशन की पृष्ठभूमि है ।

शान्ति सदन, सतना, २३.४.९२ **नीरज जैन**

कृतज्ञता-ज्ञापन

इस समिति को सतोष है कि पूज्य १०८ श्री उपाध्याय ज्ञानसागर जी के आशीर्वाद और प्रेरणा के फल-स्वरुप यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित करने में हमें सफलता मिली है । मुनिश्री के चरणों में हम नमन करते हैं। इस कालजयी कृति के सर्जनहार स्व.डॉ.नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए हम यहाँ यह रेखांकित करना चाहते हैं कि उनकी यह कृति आज भी अपने क्षेत्र मे अद्वितीय है और आने वाली अनेक शताब्दियों तक उनके यश को जीवित रखने में समर्थ है । ग्रन्थ अपने आप में परिपूर्ण है और यह सस्करण मात्र उसका 'पुनर्मुद्रण' ही है ।

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद के द्वारा इसका प्रथम-प्रकाशन हुआ था अतः हम उस सस्था के आभारी हैं । द्रव्य सहयोग के लिए दाताओं को, तथा त्वरित मुद्रण के लिए शकुन प्रकाशन के श्री सुभाषजी को धन्यवाद देना हमारा कर्तव्य है। आचार्य शान्तिसागर छाणी ग्रन्थमाला को इस सराहनीय संकल्प के लिए बधाई।

डॉ दरबारीलाल कोठिया

डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल
डॉ. फूलचन्द्र प्रेमी
रतनचन्द्र जैन, बुढ़ाना
(मंत्री-आचार्य शान्तिसागर छाणी ग्रन्थमाला, बुढ़ाना)

नीरज जैन
डॉ. नलिन के. शास्त्री
पदमचन्द्र जैन, गया
(अध्यक्ष-दिगम्बर जैन समाज गया)

छायाकार - नीरज जैन.

आद्य मिताक्षर

'परम्परा' शब्द अपना विशेष महत्त्व रखता है और विश्वके कण-कणसे सम्बन्धित है। परम्पराका इतिहास लेखबद्ध करना वैसे ही कठिन कार्य है, फिर श्रमण-परम्पराका इतिहास तो सर्वथा ही दुरूह है। प्रसंगमें जहाँ **'परम्परा'** शब्द सद्-आगम और सद्गुरुओंका बोधक है, वहाँ यह प्रामाणिकताका द्योतक भी है। परम्परागत आगम और गुरुओंको सर्वत्र प्रथम स्थान है। इसीलिए **'आचार्यगुरुभ्यो नमः'** के स्थान पर **'परम्पराचार्यगुरुभ्यो नमः'** का प्रचलन है। लोकमें आज भी यह परम्परा प्रचलित है। जैसे गृहस्थोंके विवाह आदि संस्कारोंमें परम्परा (गोत्रादि) का प्रश्न उठता है, वैसे ही मुनियोंके संबंधमें भी उनकी गुरु-परम्पराका ज्ञान आवश्यक है।

भारतमें मुनि-परम्परा और ऋषि-परम्परा ये दो परम्पराएँ प्राचीनकालसे रही हैं। ऐतिहासिक दृष्टिसे प्रथम परम्पराका संबंध आत्मधर्मा श्रमणोंसे रहा है—श्रमणमुनि मोक्षमार्गके उपदेष्टा रहे हैं। द्वितीय परम्पराका संबंध लोक-धर्मसे रहा है—ऋषिगण गृहस्थोंके षोडश संस्कारादि सम्पन्न कराते रहे हैं। ऋषियोंको जब आत्मधर्मज्ञानकी बुभुक्षा जाग्रत हुई, वे श्रमणमुनियोंके समीप जिज्ञासाकी पूर्ति एवं मार्गदर्शनके लिए पहुँचते रहे।[1]

स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा रचित ग्रन्थ **'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी परम्परा'** में श्रमण—मुनि-परम्पराका तथ्यपूर्ण इतिहास है। वस्तुतः

---

१. वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुस्तानृषयोऽर्थमायंस्तेऽनिलाय-मचरंस्तेऽनुप्रविशुः कूष्माण्डानि तांस्तेष्वन्वविन्दन श्रद्धया च तपसा च। तानृषयोऽब्रुवन कया निलायं चरथेति ते ऋषीनब्रुवन्नमोवोऽस्तु भगवन्तोऽस्मिन् धाम्नि केन वः सपर्यामेति तानृषयोऽब्रुवन—पवित्रं नो ब्रूत येनोरेपसः स्यामेति त एतनि सूक्ताम्यपश्यन्।'

—तैत्तिरीय आरण्यक २ प्रपाठक ७ अनुवाक, १-२

'वातरशन—श्रमण-ऋषि ऊर्ध्वमन्थी (परमात्मपदकी ओर उत्क्रमण करनेवाले) हुए। उनके समीप इतर ऋषि प्रयोजनवश (याचनार्थ) उपस्थित हुए। उन्हें देखकर वातरशन कूष्माण्डनामक मन्त्रवाक्योंमें अन्तर्हित हो गए, तब उन्हें अन्य ऋषियोंने श्रद्धा और तपसे प्राप्त कर लिया। ऋषियोंने उन वातरशन मुनियोंसे प्रश्न किया—किस विद्यासे आप अन्तर्हित हो जाते हैं? वातरशन मुनियोंने उन्हें अपने अध्यात्म धामसे आए हुए अतिथि जानकर कहा—हे मुनिजनों! आपको नमोऽस्तु है, हम आपकी सपर्या (सत्कार) किससे करें? ऋषियोंने कहा—हमें पवित्र आत्मविद्याका उपदेश दीजिए, जिससे हम निष्पाप हो जाएँ।

इतिहासकी रचनाके लिए तथ्यज्ञान आवश्यक है। यतः—

इतिहास इतीष्टं तद् इति हासीदिति श्रुतेः।
इतिवृत्तमथैतिह्यमाम्नायं चामनन्ति तत्॥

—आचार्य श्रीजिनसेन, आदिपुराण, १।२५

'इतिहास, इतिवृत्त, ऐतिह्य और आम्नाय समानार्थक शब्द हैं। 'इति ह आसीत' (निश्चय ऐसा ही था), 'इतिवृत्तम्' (ऐसा हुआ—घटित हुआ) तथा परम्परासे ऐसा ही आम्नात है—इन अर्थोंमें इतिहास है।

इतिहास दीपकतुल्य है। वस्तुके कृष्ण-श्वेतादि यथार्थ रूपको जैसे दीपक प्रकाशित करता है, वैसे इतिहास मोहके आवरणका नाशकर, भ्रान्तियोंको दूर करके—सत्य सर्वलोक द्वारा धारण की जानेवाली यथार्थताका प्रकाशन करता है। अर्थात् दीपकके प्रकाशसे पूर्व जैसे कक्षमें स्थित वस्तुएँ विद्यमान रहते हुए भी प्रकाशित नहीं होती, वैसे ही सम्पूर्ण लोक द्वारा धारण किया गया गर्भभूत सत्य इतिहासके बिना सुव्यक्त नहीं होता।[1]

प्रस्तुत ग्रन्थके अवलोकनसे स्पष्ट हो जाता है कि विद्वान्‌की लेखनीमें बल और विचारोंमें तर्कसंगतता है। समाज इनकी अनेक कृतियोंका मूल्यांकन कर चुका है—भलीभाँति सम्मानित कर चुका है। प्रस्तुत कृतिसे जहाँ पाठकोंको स्वच्छ श्रमण-परम्पराका परिज्ञान होगा, वहाँ ग्रन्थमें दिये गये टिप्पणोंसे उनके ज्ञानमें प्रामाणिकता भी आवेगी। श्रमण-परम्पराके अतिरिक्त इस ग्रन्थमें श्रमणोंकी मान्यताओं एवं जैन सिद्धान्तोंका भी सफल निरूपण किया गया है। यह ग्रन्थ सभी प्रकारसे अपनेमें परिपूर्ण एवं लेखककी ज्ञान-गरिमाको इङ्गित करनेमें समर्थ है।

यहाँ लेखकके अभिन्न मित्र डॉ० दरबारीलाल कोठियाजीके प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशनमें किए गए सत्यप्रयत्नोंको भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है, जिनके द्वारा हमें प्रस्तुत ग्रन्थके लिए कुछ शब्द लिखनेका आग्रहयुक्त निवेदन प्राप्त हुआ। विद्वत्परिषद्‌का यह प्रकाशन-कार्य परिषद्‌के सर्वथा अनुरूप है। ऐसे सत्कार्यके लिए भी हमारे शुभाशीर्वाद!



---

१. इतिहास-प्रदीपेन मोहावरणघातिना।
सर्वलोकधृतं गर्भं यथावत् संप्रकाशयेत्॥
—महाभारत



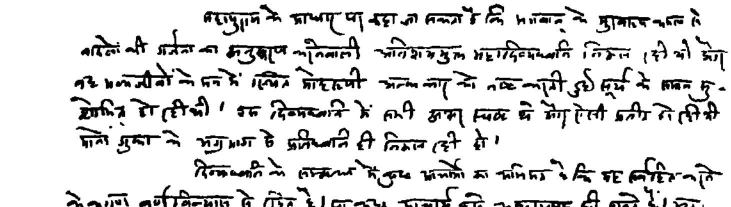
डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री

उदय : पौषकृष्णा १२ : अवसान : माघ कृष्ण २

विक्रम संवत् १९७२ वि० सं० २०३०

ई० सन् १९१५ १० जनवरी, १९७४

ये सशक्त हस्ताक्षर



लेखककी प्रस्तुत कृतिकी पाण्डुलिपिका एक पृष्ठ

प्राक् कथन

भारतवर्षका क्रमबद्ध इतिहास बुद्ध और महावीरसे प्रारम्भ होता है। इनमेंसे प्रथम बौद्धधर्मके संस्थापक थे, तो द्वितीय थे जैनधर्मके अन्तिम तीर्थंकर। 'तीर्थंकर' शब्द जैनधर्मके चौबीस प्रवर्त्तकोंके लिए रूढ़ जैसा हो गया है, यद्यपि है यह यौगिक ही। धर्मरूपी तीर्थके प्रवर्त्तकको ही तीर्थंकर कहते हैं। आचार्य समन्तभद्रने पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथकी स्तुतिमें उन्हें 'धर्मतीर्थमनघं प्रवर्तयन्' पदके द्वारा धर्मतीर्थका प्रवर्त्तक कहा है। भगवान महावीर भी उसी धर्मतीर्थके अन्तिम प्रवर्त्तक थे और आदि प्रवर्त्तक थे भगवान् ऋषभदेव। यही कारण है कि हिन्दू पुराणोंमें जैनधर्मकी उत्पत्तिके प्रसंगसे एकमात्र भगवान् ऋषभदेवका ही उल्लेख मिलता है किन्तु भगवान् महावीरका संकेत तक नहीं है जब उन्हींके समकालीन बुद्धको विष्णुके अवतारोंमें स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत त्रिपिटक साहित्यमें निग्गंठनाटपुत्तका तथा उनके अनुयायी निर्ग्रन्थोंका उल्लेख बहुतायतसे मिलता है। उन्हींको लक्ष्य करके स्व० डॉ० हर्मान याकोवीने अपनी जैन सूत्रोंकी प्रस्तावनामें लिखा है—'इस बातसे अब सब सहमत हैं कि नातपुत्त, जो महावीर अथवा वर्धमानके नामसे प्रसिद्ध हैं, बुद्धके समकालीन थे। बौद्धग्रन्थोंमें मिलनेवाले उल्लेख हमारे इस विचारको दृढ़ करते हैं कि नातपुत्तसे पहले भी निर्ग्रन्थोंका, जो आज जैन अथवा आर्हत नामसे अधिक प्रसिद्ध हैं, अस्तित्व था। जब बौद्धधर्म उत्पन्न हुआ तब निर्ग्रन्थोंका सम्प्रदाय एक बड़े सम्प्रदायके रूपमें गिना जाता होगा। बौद्ध पिटकोंमें कुछ निर्ग्रन्थोंका बुद्ध और उनके शिष्योंके विरोधीके रूपमें और कुछका बुद्धके अनुयायी बन जानेके रूपमें वर्णन आता है। उसके ऊपरसे हम उक्त अनुमान कर सकते हैं। इसके विपरीत इन ग्रन्थोंमें किसी भी स्थानपर ऐसा कोई उल्लेख या सूचक वाक्य देखनेमें नहीं आता कि निर्ग्रन्थोंका सम्प्रदाय एक नवीन सम्प्रदाय है और नातपुत्त उसके संस्थापक हैं। इसके ऊपरसे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि बुद्धके जन्मसे पहले अति प्राचीन कालसे निर्ग्रन्थोंका अस्तित्व चला आता है।"

अन्यत्र डॉ० याकोवीने लिखा है—'इसमें कोई भी सबूत नहीं है कि पार्श्वनाथ जैनधर्मके संस्थापक थे। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवको जैन धर्मका संस्थापक माननेमें एकमत है। इस मान्यतामें ऐतिहासिक सत्यकी सम्भावना है।'

प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन्‌ने अपने 'भारतीय दर्शन' में कहा है—'जैन परम्परा ऋषभदेवसे अपने धर्मकी उत्पत्ति होनेका कथन करती है, जो बहुत-सी शताब्दियों पूर्व हुए हैं। इस बातके प्रमाण पाये जाते हैं कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दीमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवकी पूजा होती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान और पार्श्वनाथसे भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेदमें ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरोंके नामोंका निर्देश है। भागवत पुराण भी इस बातका समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्मके संस्थापक थे।'

यथार्थमें वैदिकोंकी परम्पराकी तरह श्रमणोंकी भी परम्परा अति प्राचीन कालसे इस देशमें प्रवर्तित है। इन्हीं दोनों परम्पराओंके मेलसे प्राचीन भारतीय संस्कृतिका निर्माण हुआ है। उन्हीं श्रमणोंकी परम्परामें भगवान महावीर हुए थे। बुद्धकी तरह वे भी एक क्षत्रिय राजकुमार थे। उन्होंने भी घरका परित्याग करके कठोर साधनाका मार्ग अपनाया था। यह एक विचित्र बात है कि श्रमण परम्पराके इन दो प्रवर्त्तकोंकी तरह वैदिक परम्पराके अनुयायी हिन्दूधर्ममें मान्य राम और कृष्ण भी क्षत्रिय थे। किन्तु उन्होंने गृहस्थाश्रम और राज्यासनका परित्याग नहीं किया। यही प्रमुख अन्तर इन दोनों परम्पराओंमें है। कृष्ण भी योगी कहे जाते हैं किन्तु वे कर्मयोगी थे। महावीर ज्ञानयोगी थे। कर्मयोग और ज्ञानयोगमें अन्तर है। कर्मयोगीकी प्रवृत्ति बाह्याभिमुखी होती है और ज्ञानयोगीकी आन्तराभिमुखी। कर्मयोगीको कर्ममें रस रहता है और ज्ञानयोगीको ज्ञानमें। ज्ञानमें रस रहते हुए कर्म करनेपर भी कर्मका कर्त्ता नहीं कहा जाता। और कर्ममें रस रहते हुए कर्म नहीं करनेपर भी कर्मका कर्त्ता कहलाता है। कर्म प्रवृत्तिरूप होता है और ज्ञान निवृत्तिरूप। प्रवृत्ति और निवृत्तिकी यह परम्परा साधनाकालमें मिली-जुली जैसी चलती है किन्तु ज्यों-ज्यों निवृत्ति बढ़ती जाती है प्रवृत्तिका स्वतः ह्रास होता जाता है। इसीको आत्मसाधना कहते हैं।

यथार्थमें विचार कर देखें—प्रवृत्तिके मूल मन, वचन और काय हैं। किन्तु आत्माके न मन है, न वचन है और न काय है। ये सब तो कर्मजन्य उपाधियाँ हैं। इन उपाधियोंमें जिसे रस है वह आत्मज्ञानी नहीं है। जो आत्मज्ञानी हो जाता है उसे ये उपाधियाँ व्याधियाँ ही प्रतीत होती हैं।

इनका निरोध सरल नहीं है। किन्तु इनका निरोध हुए बिना प्रवृत्तिसे छुटकारा भी सम्भव नहीं है। उसीके लिए भगवान महावीरने सब कुछ त्याग कर वनका मार्ग लिया था। संसार-मार्गियोंकी दृष्टिमें भले ही यह 'पलायनवाद' प्रतीत हो, किन्तु इस पलायनवादको अपनाये बिना निर्वाण-प्राप्तिका दूसरा

मार्ग भी नहीं है। भोगी और योगीका मार्ग एक कैसे हो सकता है। तभी तो गीतामें कहा है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

'सब प्राणियोंके लिए जो रात है उसमें संयमी जागता है और जिसमें प्राणी जागते हैं वह आत्मदर्शी मुनिकी रात है।'

इस प्रकार भोगी संसारसे योगीके दिन-रात भिन्न होते हैं। संयमी महावीर-ने भी आत्म-साधनाके द्वारा कार्तिक कृष्णा अमावस्याके प्रातः सूर्योदयसे पहले निर्वाण-लाभ किया। जैनोंके उल्लेखानुसार उसीके उपलक्षमें दीपमालिकाका आयोजन हुआ और उनके निर्वाण-लाभको पच्चीस सौ वर्ष पूर्ण हुए। उसीके उपलक्षमें विश्वमें महोत्सवका आयोजन किया गया है।

उसीके स्मृतिमें **'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा'** नामक यह बृहत्काय ग्रन्थ चार खण्डोंमें प्रकाशित हो रहा है। इसमें भगवान महावीर और उनके बादके पच्चीस-सौ वर्षोंमें हुए विविध साहित्यकारोंका परिचयादि उनकी साहित्य-साधनाका मूल्यांकन करते हुए विद्वान् लेखकने निबद्ध किया है। उन्होंने इस ग्रन्थके लेखनमें कितना श्रम किया, यह तो इस ग्रन्थको आद्योपान्त पढ़नेवाले ही जान सकेंगे। मेरे जानतेमें प्रकृत विषयसे सम्बद्ध कोई ग्रन्थ, या लेखादि उनकी दृष्टिसे ओझल नहीं रहा। तभी तो इस अपनी कृतिको समाप्त करनेके पश्चात् ही वे स्वर्गत हो गये और इसे प्रकाशमें लानेके लिए उनके अभिन्न सखा डॉ० कोठियाने कितना श्रम किया है, इसे वे देख नहीं सके। **'भगवान महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा'में लेखकने अपना जीवन उत्सर्ग करके जो श्रद्धाके सुमन चढ़ाये हैं उनका मूल्यांकन करनेकी क्षमता इन पंक्तियोंके लेखकमें नहीं है। वह तो इतना ही कह सकता है कि आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्रीने अपनी इस कृतिके द्वारा स्वयं अपनेको भी उस परम्परामें सम्मिलित कर लिया है।**

उनकी इस अध्ययनपूर्ण कृतिमें अनेक विचारणीय ऐतिहासिक प्रसंग आये हैं। भगवान महावीरके समय, माता-पिता, जन्मस्थान आदिके विषयमें तो कोई मतभेद नहीं है। किन्तु उनके निर्वाणस्थानके सम्बन्धमें कुछ समयसे विवाद खड़ा हो गया है। मध्यमा पावामें निर्वाण हुआ, यह सर्वसम्मत उल्लेख है। तदनुसार राजगृहीके पास पावा स्थानको ही निर्वाणभूमिके रूपमें माना जाता है। वहाँ एक तालाबके मध्यमें विशाल मन्दिरमें उनके चरण-

चिन्ह स्थापित हैं। यह स्थान मगधमें है। दूसरी पावा उत्तर प्रदेशके देवरिया जिलेमें कुशीनगरके समीप है। डॉ० शास्त्रीने मगधवर्ती पावाको ही निर्वाण-भूमि माना है।

बिम्बसार श्रेणिक भगवान महावीरका परम भक्त था। उसकी मृत्यु डॉ० शास्त्रीने भगवान महावीरके निर्वाणके बाद मानी है, उन्हें ऐसे उल्लेख मिले हैं। किन्तु यह ऐतिहासिक प्रसंग विचारणीय हैं।

उन्होंने जैन तत्त्व-ज्ञानका भी बहुत विस्तारसे विवेचन किया है और प्रायः सभी आवश्यक विषयोंपर प्रकाश डाला है। दूसरा, तीसरा तथा चौथा खण्ड तो एक तरहसे जैनसाहित्यका इतिहास जैसा है। संक्षेपमें उनकी यह बहुमूल्य कृति अभिनन्दनीय है। आशा है इसका यथेष्ट समादर होगा।

कैलाशचन्द्र शास्त्री

●

आमुख

भारतीय संस्कृतिमें आर्हत संस्कृतिका प्रमुख स्थान है। इसके दर्शन, सिद्धांत, धर्म और उसके प्रवर्त्तक तीर्थंकरों तथा उनको परम्पराका महत्त्वपूर्ण अवदान है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेवसे लेकर अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर महावीर[1] और उनके उत्तरवर्ती आचार्योंने अध्यात्म-विद्याका, जिसे उपनिषद्-साहित्यमें[2] 'परा विद्या' (उत्कृष्ट विद्या) कहा गया है, सदा उपदेश दिया और भारतकी चेतनाको जागृत एवं ऊर्ध्वमुखी रखा है। आत्माको परमात्माकी ओर ले जाने तथा शाश्वत सुखकी प्राप्तिके लिए उन्होंने[3] अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, त्याग और समाधि (आत्मलीनता) का स्वयं आचारण किया और पश्चात् उनका दूसरोंको उपदेश दिया। सम्भवतः इसीसे वे अध्यात्म-शिक्षादाता और श्रमण-संस्कृतिके प्रतिष्ठाता कहे गये हैं। आज भी उनका मार्गदर्शन निष्कलुष एवं उपादेय माना जाता है।

तीर्थंकर महावीर इस संस्कृतिके प्रबुद्ध, सबल, प्रभावशाली और अन्तिम प्रचारक थे। उनका दर्शन, सिद्धान्त, धर्म और उनका प्रतिपादक वाङ्मय विपुल मात्रामें आज भी विद्यमान है तथा उसी दिशामें उसका योगदान हो रहा है।

अतएव बहुत समयसे अनुभव किया जाता रहा है कि तीर्थंकर महावीरका सर्वाङ्गपूर्ण परिचायक ग्रन्थ होना चाहिए, जिसके द्वारा सर्वसाधारणको उनके जीवनवृत्त, उपदेश और परम्पराका विशद परिज्ञान हो सके। यद्यपि भगवान् महावीरपर प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दीमें लिखा पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है, पर उससे सर्वसाधारणकी जिज्ञासा शान्त नहीं होती।

सौभाग्यकी बात है कि राष्ट्रने तीर्थङ्कर वर्द्धमान-महावीरकी निर्वाण-रजत-शती राष्ट्रीय स्तरपर मनानेका निश्चय किया है, जो आगामी कार्त्तिक कृष्णा अमावस्या वीर-निर्वाण संवत् २५०१, दिनाङ्क १३ नवम्बर १९७४ से कार्त्तिक

१. धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः।
ऋषभादि-महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये॥
भट्टाकलङ्कदेव, लघीयस्त्रय, मङ्गलपद्य १।

२. मुण्डकोपनिषद् १।१।४।५।

३. स्वामी समन्तभद्र, युक्त्यनुशासन का० ६।

कृष्णा अमावस्या, वीर-निर्वाण संवत् २५०२, दिनाङ्क १३ नवम्बर १९७५ तक पूरे एक वर्ष मनायी जावेगी। यह मङ्गल-प्रसङ्ग भी उक्त ग्रन्थ-निर्माणके लिए उत्प्रेरक रहा।

अत: अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्ने पाँच वर्ष पूर्व इस महान् दुर्लभ अवसरपर तीर्थंकर महावीर और उनके दर्शनसे सम्बन्धित विशाल एवं तथ्यपूर्ण ग्रन्थके निर्माण और प्रकाशनका निश्चय तथा संकल्प किया। परिषद्ने इसके हेतु अनेक बैठकें कीं और उनमें ग्रन्थकी रूपरेखापर गम्भीरतासे ऊहापोह किया। फलत: ग्रन्थका नाम **'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा'** निर्णीत हुआ और लेखनका दायित्व विद्वत्परिषद्के तत्कालीन अध्यक्ष, अनेक ग्रन्थोंके लेखक, मूर्धन्य-मनीषी, आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री आरा (बिहार) ने सहर्ष स्वीकार किया। आचार्य शास्त्रीने पाँच वर्ष लगातार कठोर परिश्रम, अद्भुत लगन और असाधारण अध्यवसायसे उसे चार खण्डों तथा लगभग २००० (दो हजार) पृष्ठोंमें सृजित करके ३० सितम्बर १९७३ को विद्वत्परिषद्को प्रकाशनार्थ दे दिया।

विचार हुआ कि समग्र ग्रन्थका एक बार वाचन कर लिया जाय। आचार्य शास्त्री स्याद्वाद महाविद्यालयकी प्रबन्धकारिणीको बैठकमें सम्मिलत होनेके लिए ३० सितम्बर १९७३ को वाराणसी पधारे थे। और अपने साथ उक्त ग्रन्थके चारों खण्ड लेते आये थे। अत: १ अक्तूबर १९७३ से १५ अक्तूबर १९७३ तक १५ दिन वाराणसीमें ही प्रतिदिन प्राय: तीन समय तीन-तीन घण्टे ग्रन्थका वाचन हुआ। वाचनमें आचार्य शास्त्रीके अतिरिक्त सिद्धान्ताचार्य श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री पूर्व प्रधानाचार्य स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, डॉक्टर ज्योतिप्रसादजी लखनऊ और हम सम्मिलित रहते थे। आचार्य शास्त्री स्वयं वाचते थे और हमलोग सुनते थे। यथावसर आवश्यकता पड़ने पर सुझाव भी दे दिये जाते थे। यह वाचन १५ अक्तूबर १९७३ को समाप्त हुआ और १६ अक्तूबर १९७३ को ग्रन्थ प्रकाशनार्थ महावीर प्रेसको दे दिया गया।

ग्रन्थ-परिचय

इस विशाल एवं असामान्य ग्रन्थका यहाँ संक्षेपमें परिचय दिया जाता है, जिससे ग्रन्थ कितना महत्त्वपूर्ण है और लेखकने उसके साथ कितना अमेय परिश्रम किया है, यह सहजमें ज्ञात हो सकेगा।

यहाँ द्वितीय खण्ड का परिचय प्रस्तुत है—

श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्य

तीर्थंकर महावीरके सिद्धान्तों और वाङ्मयका अवधारण एवं संरक्षण उनके उत्तरवर्ती श्रमणों और उपासकोंने किया है। इस महान् कार्यमें विगत

२५०० वर्षोंमें लाखों श्रमणों तथा उपासकोंका योगदान रहा है। उन्हींके त्याग और साधनाके फलस्वरूप भगवान् महावीरके सिद्धान्त और वाङ्मय न्यूनाधिक रूपमें हमें प्राप्त हैं। तीर्थक्षेत्र, मन्दिर, मूर्तियाँ, ग्रन्थागार, स्मारक आदि सांस्कृतिक विभव उन्हींके अटूट प्रयत्नोंसे आज संरक्षित है। इन सबका उल्लेख करनेके लिए विपुल सामग्रीकी आवश्यकता है, जो या तो विलुप्त हो गयी या नष्ट हो गयी या विस्मृतिके गर्तमें चली गयी है। जो अवशिष्ट वाङ्मय, शिलालेख और इतिहास हमें सौभाग्यसे उपलब्ध हैं उन्हींपरसे तीर्थंकर महावीरकी उत्तराधिकारिणी परम्पराकी अवगति सम्भव है।

डॉक्टर शास्त्रीने इस उपलब्ध सामग्रीका आलोडन-विलोडन करके जिन आचार्यों और उनके वाङ्मयका परिचय प्राप्त किया है उन्हें तीन खण्डोंमें विभक्त किया है। इन्हीं खण्डोंका यहाँ परिचय प्रस्तुत है।

दूसरा खण्ड '**श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्य**' है। इस खण्डमें दो परिच्छेद हैं—१. श्रुतधराचार्य और २. सारस्वताचार्य।

प्रथम परिच्छेद : श्रुतधराचार्य

इस परिच्छेदमें श्रुतधराचार्योंका परिचय निबद्ध है। श्रुतधराचार्यसे लेखकका अभिप्राय उन आचार्योंसे है, जिन्होंने सिद्धान्त-साहित्य, कर्म-साहित्य, अध्यात्म-साहित्यका ग्रथन किया है और जो युग-संस्थापक एवं युगान्तरकारी हैं। इन आचार्योंमें गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य, आर्यमंक्षु, नागहस्ति, कुन्दकुन्द, वप्पदेव और गृद्धपिच्छाचार्य अभिप्रेत हैं। आरम्भमें आचार्यका स्वरूप, आचार्यका महावीरके वाङ्मयके साथ सम्बन्ध, श्रुतका वर्ण्य विषय, उसके भेद-प्रभेद एवं उनका सामान्य परिचय अङ्कित है। श्रुतके धारक आचार्योंकी परम्परामें आद्य आचार्य गुणधर और धरसेनके व्यक्तित्व, समय-निर्धारण एवं वैदुष्यपर प्रकाश डालते हुए गुणधराचार्य द्वारा रचित 'कसायपाहुड'का तथा धरसेनाचार्यके साक्षाच्छिष्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि और उनके 'षट्खण्डागम'का विस्तृत परिचय दिया गया है। आर्यमंक्षु, नागहस्ति, वज्र, वज्रयश, चिरन्तनाचार्य, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य और कुन्दकुन्दाचार्यके व्यक्तित्व, कृतित्व और समय-निर्णय आदि पर विशेष विचार करते हुए कुन्दकुन्दके उपलब्ध ग्रन्थोंका विशद परिचय दिया गया है। परिच्छेदके अन्तमें शिवार्य, स्वामिकुमार और आचार्य गृद्धपिच्छ तथा इनकी रचनाओंका परिशीलन निबद्ध है।

द्वितीय परिच्छेद : सारस्वताचार्य

इसमें श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्यकी भेदक रेखाओंका अङ्कन करते हुए स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दि-पूज्यपाद, पात्रकेसरी (पात्रस्वामी), जोइंदु,

विमलसूरि, ऋषिपुत्र, मानतुङ्ग, रविषेण, जटासिंहनन्दि, एलाचार्य, अकलङ्क-देव, वीरसेन, जिनसेन द्वितीय, अमितगति प्रथम, अमितगति द्वितीय, अमृत-चन्द्रसूरि, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, नरेन्द्रसेन, नेमिचन्द्र मुनि, श्रीदत्त, कुमार-सेन, यशोभद्र, वज्रसूरि, शान्तिषेण, श्रीपाल, काणभिक्षु और कनकनन्दिका जीवनवृत्त, गुरुपरम्परा, समय-निर्णय और रचनाओंका विशद परिचय अङ्कित है। इसी परिच्छेदमें सिंहनन्दि, सुमति, कुमारनन्दि, विद्यानन्द आदि आचार्यों-का भी परिचय ग्रथित है। इन्हें लेखकने सारस्वताचार्योंमें परिगणित किया है। सारस्वताचार्यसे लेखकका तात्पर्य उन आचार्योंसे है, जिन्होंने प्राप्त हुई श्रुतपरम्पराका मौलिक ग्रन्थ-प्रणयन और टीका-साहित्य द्वारा प्रचार एवं प्रसार किया है।

इस प्रकार इस खण्डमें श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्य वर्णित हैं। उनके द्वारा रचित वाङ्मय भी विवेचित है।

आभार

इस विशाल ग्रन्थके सृजन और प्रकाशनका विद्वत्परिषद्‌ने जो निश्चय एवं संकल्प किया था, उसकी पूर्णता पर आज हमें प्रसन्नता है। इस संकल्पमें विद्वत्परिषद्‌के प्रत्येक सदस्यका मानसिक या वाचिक या कायिक सहभाग है। कार्यकारिणीके सदस्योंने अनेक बैठकोंमें सम्मिलित होकर मूल्यवान् विचार-दान किया है। ग्रन्थ-वाचनमें श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री और डॉ० ज्योति-प्रसादजीका तथा ग्रन्थको उत्तम बनानेमें स्थानीय विद्वान् प्रो० खुशालचन्द्रजी गोरावाला, पण्डित अमृतलालजी शास्त्री एवं पण्डित उदयचन्द्रजी बौद्धदर्शना-चार्यका भी परामर्शादि योगदान मिला है।

पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजीने '**आद्य मिताक्षर**' रूपमें आशीर्वचन प्रदान कर तथा वरिष्ठ विद्वान् श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने '**प्राक्कथन**' लिखकर अनुगृहीत किया है।

खतौली, भोपाल, बम्बई, दिल्ली, मेरठ, जबलपुर, तेंदूखेड़ा, सागर, वाराणसी, आरा आदि स्थानोंके महानुभावोंने ग्रन्थका अग्रिम ग्राहक बनकर सहायता पहुँचायी है। विद्वत्परिषद्‌के कर्मठ मंत्री आचार्य पण्डित पन्नालालजी सागरके साथ मैं भी इन सबका हृदयसे आभार मानता हूँ।

वीर-शासन-जयन्ती,
श्रावण कृष्णा १, वी० नि० सं० २५००,
५ जुलाई, १९७४
वाराणसी

दरबारीलाल कोठिया
अध्यक्ष
अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

श्रुतधराचार्य

विषय		पृष्ठ
आचार्य : स्वरूप एवं विवेचन	....	१
आचार्य और वाङ्मय	....	५
श्रुत या आगमका स्वरूप, भेद एवं विषय	....	८
श्रुत या आगमके भेद	....	१०
श्रुत या आगमज्ञानसे सम्बद्ध आचार्य-परम्परा	....	१५
श्रुतधराचार्य	....	२५
सारस्वताचार्य	....	२५
प्रबुद्धाचार्य	....	२६
परम्परापोषकाचार्य	....	२६
कवि और लेखक	....	२७

श्रुतधराचार्य

आचार्य गुणधर	....	२८
समय-विचार	....	२९
रचना : कषायपाहुड : परिचय	....	३१
आ० गुणधरकी रचना-शक्ति और प्रतिभा	....	४२
आचार्य धरसेन	....	४३
समय-निर्णय	....	४५
पाण्डित्य	....	४८
आचार्य पुष्पदन्त और उनकी रचना	....	५०
समय-निर्धारण	....	५२
रचनाशक्ति और प्रतिभा	....	५३
आचार्य भूतबलि	....	५५
समय-निर्धारण	....	५७
रचनाशक्ति और पाण्डित्य	....	५७

विषय		पृष्ठ
रचना : षट्खण्डागम : परिचय	....	५९
१. जीवट्ठाण	....	५९
२. खुद्दाबंध	....	६६
३. बंधसामित्तविचय	....	६९
४. वेदनाखंड	....	६९
५. वग्गणाखंड	....	७१
६. महाबंध	....	७१
आचार्य आर्यमंक्षु	....	७१
आचार्य नागहस्ति	....	७१
समय-निर्णय	....	७५
श्रुताभिज्ञता और पाण्डित्य	....	७७
आचार्य वज्रयश	....	७८
समय-निर्धारण	....	७९
आचार्य चिरन्तनाचार्य	....	७९
आचार्य यतिवृषभ	....	८०
समय-निर्णय	....	८२
रचनाएँ	....	८७
१. चूर्णिसूत्र : परिचय	....	८८
२. तिलोयपण्णत्ती : विषय-विवेचन	....	९०
यतिवृषभकी अन्य रचनाएँ	....	९२
उच्चारणाचार्य	....	९२
समय-निर्धारण	....	९४
बप्पदेवाचार्य	...	९५
समय-विचार	....	९७
वैदुष्य और प्रतिभा	....	९७
आचार्य कुन्दकुन्द	....	९८
गुरुपरम्परा	....	१०३
जीवनवृत्त : घटित घटनाएँ	....	१०५
समय-निर्धारण	....	१०७
रचनाएँ	....	१११
१ प्रवचनसार	....	१११

विषय		पृष्ठ
२. समयसार	....	११२
३. पंचास्तिकाय	....	११३
४. नियमसार	....	११४
५. बारस-अणुवेक्खा	...	११४
६. दंसण-पाहुड	...	११४
७. चारित्त-पाहुड	....	११४
८. सुत्त-पाहुड	....	११४
९. बोह-पाहुड	....	११४
१०. भाव-पाहुड	....	११४
११. मोक्ख-पाहुड	....	११४
१२. लिंग-पाहुड	....	११४
१३. सील-पाहुड	....	११५
१४. रयण-सार	....	११५
१५. सिद्ध-भत्ति	...	११५
१६. सुद-भत्ति	....	११५
१७. चारित्त-भत्ति	....	११५
१८. जोइ-भत्ति	....	११५
१९. आइरिय-भत्ति	....	११५
२०. णिव्वाण-भत्ति	....	११६
२१. पंचगुरु-भत्ति	....	११६
२२. थोस्सामि क्षुदि (तित्थयर-भत्ति)	....	११६
आचार्य वट्टकेर	....	११७
समय-निर्धारण	....	११९
रचना : मूलाचार : परिचय	....	१२०
शिवार्य	....	१२२
जीवन-परिचय	....	१२२
गुरुपरम्परा और सम्प्रदाय	....	१२५
समय-निर्धारण	....	१२६
रचना : भगवती आराधना : परिचय	....	१२८
पाण्डित्य और प्रतिभा	....	१३१
आचार्य कुमार या स्वामिकुमार (कार्तिकेय)	....	१३३
समय-निर्धारण	....	१३६

विषय		पृष्ठ
रचना : द्वादशानुप्रेक्षा : परिचय	....	१३८
रचना-प्रतिभा	....	१४५
गृद्धपिच्छाचार्य	....	१४५
गुरुपरम्परा	....	१५०
समय-निर्धारण	....	१५२
रचना : तत्त्वार्थसूत्र : परिचय	....	१५३
महत्त्व	....	१५५
वर्ण्य विषय	....	१५६
तत्त्वार्थसूत्रकी रचनाका स्रोत	....	१५९
सूत्रपाठ	....	१६२
मङ्गलाचरण	....	१६८
रचना प्रतिभा एवं रचना शैली	....	१६९

द्वितीय परिच्छेद

सारस्वताचार्य

सारस्वताचार्य : स्वरूप	....	१७०
आचार्य समन्तभद्र	....	१७१
जीवन-परिचय	....	१७४
गुरु-शिष्यपरम्परा	....	१७९
समय-निर्धारण	....	१८१
रचनाएँ	....	१८४
१. स्वयम्भूस्तोत्र	....	१८५
२. स्तुति-विद्या (जिनशतक)	....	१८८
३. देवागम (आप्तमीमांसा)	....	१८९
४. युक्त्यनुशासन	....	१९०
५. रत्नकरण्डकश्रावकाचार	....	१९१
प्रतिभा एवं वैदुष्य	....	१९८
आचार्य सिद्धसेन	....	२०५
जीवन-परिचय	....	२०६
समय-निर्धारण	....	२०९
रचनाएँ	....	२१२

विषय		पृष्ठ
१. सन्मतिसूत्र	....	२१२
२. कल्याणमन्दिर	....	२१५
आचार्य देवनन्दि-पूज्यपाद	....	२१७
जीवन-परिचय	....	२१९
समय-विचार	....	२२२
रचनाएँ	....	२२५
१. दशभक्ति	....	२२५
२. जन्माभिषेक	....	२२५
३. तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि)	....	२२५
४. समाधितन्त्र	....	२२९
५ इष्टोपदेश	....	२२९
६. जैनेन्द्रव्याकरण	....	२३०
७. सिद्धिप्रियस्तोत्र	....	२३४
वैदुष्य एवं काव्यप्रतिभा	....	२३५
पात्रकेसरी (पात्रस्वामी)	....	२३७
जीवन-परिचय	....	२३८
समय-निर्णय	....	२३९
रचनाएँ	....	२४०
१. पात्रकेसरीस्तोत्र	...	२४०
२. त्रिलक्षण-कदर्थन	....	२४१
प्रतिभा एवं वैदुष्य	....	२४१
आचार्य जोइंदु	....	२४३
जीवन-परिचय	....	२४५
समय-निर्णय	....	२४६
रचनाएँ	....	२४८
१. परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश)	....	२४८
२. नौकारश्रावकाचार (अपभ्रंश)	....	२४८
३. योगसार (अपभ्रंश)	...	२५१
४. अध्यात्म-सन्दोह (संस्कृत)	....	२५१
५. सुभाषिततंत्र (संस्कृत)	....	२५१
६. तत्त्वार्थटीका (संस्कृत)	....	२५१

विषय		पृष्ठ
प्रतिभा एवं वैदुष्य	....	२५२
विमलसूरि	....	२५४
जीवन-परिचय	....	२५५
समय-निर्धारण	....	२५६
रचना : पउमचरियं : परिचय	...	२५७
आचार्य ऋषिपुत्र	...	२६२
आचार्य मानतुङ्ग	....	२६७
जीवन-परिचय	....	२६८
समय-विचार	...	२७१
रचना : भक्तामरस्तोत्र : परिचय	....	२७५
आचार्य रविषेण	....	२७६
जीवन-परिचय	....	२७६
समय-निर्धारण	....	२७७
रचना : पद्मचरित (पद्मपुराण) : परिचय	..	२७८
आचार्य जटासिंहनन्दि	....	२९१
जीवन-परिचय	....	२९२
स्थिति-काल	....	२९३
रचना : वराङ्गचरित : परिचय	....	२९५
आचार्य अकलङ्कदेव	..	३००
जीवन-परिचय	....	३०१
समय-निर्धारण	....	३०४
रचनाएँ	....	३०६
१. लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञवृत्तिसहित)	....	३०६
२. न्यायविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्तियुत)	....	३०९
२ [३. सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति	....	३१२
१ [४. प्रमाणसंग्रह सवृत्ति	....	३११
५. तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य	....	३१४
६. अष्टशती (देवागम-विवृति)	....	३१७
एलाचार्य	....	३१९
परिचय	....	३२०
समय-निर्णय	....	३२०
प्रतिभा एवं वैदुष्य	....	३२०

विषय		पृष्ठ
वीरसेनाचार्य	....	३२१
जीवन-परिचय	....	३२२
स्थिति-काल	....	३२३
रचनाएँ	....	३२४
१. धवलाटीका	....	३२४
२. जयधवलाटीका	....	३२४
आचार्य जिनसेन द्वितीय	....	३३६
जीवन-परिचय	....	३३६
समय-विचार	....	३३८
रचनाएँ	...	३४०
१. पार्श्वाभ्युदय	....	३४०
२. आदिपुराण	....	३४१
३. जयधवलाटीका	....	३४७
आचार्य विद्यानन्द	....	३४८
जीवन-वृत्त	....	३४८
समय-विचार	....	३४९
रचनाएँ	....	३५२
१. आप्तपरीक्षा सवृत्ति	....	३५२
२. प्रमाण-परीक्षा	....	३५५
३. पत्र-परीक्षा	....	३५६
४. सत्यशासनपरीक्षा	....	३५७
५. विद्यानन्दमहोदय	....	३५९
६. श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र	....	३५९
७. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक सभाष्य	....	३६१
८. अष्टसहस्री (देवागमालंकार)	....	३६३
९. युक्त्यनुशासनालङ्कार	....	३६५
आचार्य देवसेन	....	३६५
रचनाएँ	....	३७०
१. दर्शनसार	....	३७०
२. भावसंग्रह	....	३७१
३. आराधनासार	...	३७७

विषय		पृष्ठ

४. तत्त्वसार ३८०
५. लघुनयचक्र ३८१
६. आलापपद्धति ३८२
आचार्य अमितगति प्रथम ३८३
स्थितिकाल ... ३८४
रचना ३८५
अमितगति द्वितीय
रचनाएँ ३८९
१. सुभाषितरत्नसंदोह ३९०
२. धर्मपरीक्षा ३९३
३. उपासकाचार ३९४
४. आराधना ३९४
५. भावनाद्वात्रिंशतिका ३९४
६. पंचसंग्रह (संस्कृत) ३९५
७. प्राकृतपंचसंग्रह ३९६
विषय-परिचय ४००
अमृतचन्द्रसूरि ४०२
जीवन-परिचय ४०३
समय-विचार ४०३
रचनाएँ ४०५
१. पुरुषार्थसिध्युपाय ४०५
२. तत्त्वार्थसार ४०८
३. विषयस्रोत ४११
४. समयसार-कलश ४१३
५. समयसार-टीका ४१५
६. प्रवचनसार-टीका ४१६
७. पञ्चास्तिकाय टीका ४१७
आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ४१७
जीवन-परिचय ४१८
समय-विचार ४२१
रचनाएँ ४२२
१. गोम्मटसार ४२३

विषय		पृष्ठ
२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड	....	४२४
३. त्रिलोकसार	....	४२७
४. लब्धिसार	....	४३२
आचार्य नरेन्द्रसेन	....	४३३
जीवन-परिचय और समय-विचार	....	४३४
रचना	....	४३५
नेमिचन्द्र मुनि	....	४३९
समय-विचार	....	४४१
रचनाएँ	....	४४२
१. लघुद्रव्यसंग्रह	....	४४२
२ बृहद्द्रव्यसंग्रह	....	४४२
अन्य चर्चित सारस्वताचार्य	....	४४४
आचार्य सिंहनंदि	....	४४४
आचार्य सुमति	....	४४६
आचार्य कुमारनन्दि	....	४४७
आचार्य श्रीदत्त	....	४४८
कुमारसेनगुरु	....	४४९
वज्रसूरि	....	४४९
यशोभद्र	....	४५०
आचार्य शान्त और शान्तिषेण	....	४५१
विशेषवादि	....	४५१
श्रीपाल	....	४५२
काणभिक्षु	....	४५२
कनकनन्दि	....	४५२

खण्ड : २

श्रुतधर और सारस्वताचार्य

प्रथम परिच्छेद

श्रुतधराचार्य

पट्टावलियों, अभिलेखों एवं प्रशस्तियोंसे श्रुताराधक आचार्योंकी परम्परा-का परिज्ञान प्राप्त होता है। तीर्थंकर महावीरके निर्वाण-गमनके पश्चात् दिगम्बर आचार्योंने वाङ्मयका प्रणयन कर रत्नत्रय धर्मकी ज्योतिको सतत प्रज्वलित किया। आत्मशोधन और आत्म-आराधनके साथ श्रुतके अखण्ड दीपको सदैव प्रज्वलित रहनेके हेतु परम्परासे प्राप्त ज्ञानराशिको मूर्तरूप देकर सरस्वती-का अवतार प्रस्तुत किया। वस्तुतः दिगम्बराचार्योंने महावीरकी परम्पराको जीवित रखनेके लिए अगणित ग्रन्थोंका प्रणयनकर अपनी साधनामें गुणात्मक परिवर्तन कर परम्पराको जीवन्त रखा है।

आचार्य : स्वरूप एवं विवेचन—आचार्यकी परिभाषा और स्वरूपके सम्बन्धमें आर्षग्रन्थोंमें जो सामग्री उपलब्ध है, उससे स्पष्ट होता है कि आचार्य-के लिये चतुर्दश विद्याका पारंगत एवं ग्रन्थ-प्रणेता होना आवश्यक है। यह दिगम्बर रूपमें आत्म-साधना करता हुआ निर्व्याज भावसे श्रुतकी साधना करता है। धवला-टीकामें आचार्य वीरसेनने लिखा है—"पञ्चविधमाचारं चरन्ति

चारयन्तीत्याचार्याः चतुर्दशविद्यास्थानपारगाः एकादशाङ्गधराः। आचाराङ्गधरो वा तात्कालिकस्वसमयपरसमयपारगो वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव बहिःक्षिप्तमलः सप्तभयविप्रमुक्तः आचार्यः।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारोंका स्वयं आचरण करते हैं और दूसरे साधुओंसे आचरण कराते है तथा जो चौदह विद्यास्थानोंमें पारंगत हैं, ग्यारह अंगके धारी हैं अथवा आचारांग मात्रके ज्ञाता हैं और तत्कालीन स्वसमय-परसमयमें पारंगत हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। आचार्य मेरुके समान निश्चल, पृथ्वीके समान सहनशील, समुद्रके समान मल अर्थात् दोषोंको फेंकने वाले—अचेलक एवं सप्तभयसे मुक्त होते हैं।

आशय यह है कि जो मुनि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी अधिकताके कारण प्रधान पदको प्राप्त कर संघके नायक बनते हैं तथा मुख्यरूपसे निर्विकल्प-स्वरूपाचरण चारित्रमें मगन रहते हैं, पर कभी-कभी धर्म-पिपासु जीवोंको रागांशका उदय होनेके कारण करुणाबुद्धिसे उपदेश देते एवं ग्रन्थोंका प्रणयन करते हैं। जो दीक्षा लेनेके इच्छुक हैं उन्हें दीक्षा देना और दोषनिवेदन करने वालोंको प्रायश्चित्त देना भी आचार्यका कार्य है।

धवला-टीकामें आचार्य वीरसेनने कतिपय गाथाएँ उद्धृत की हैं। उनसे अवगत होता है कि परमागमके परिपूर्ण अभ्यास और अनुभवसे जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है, जो निर्दोष रीतिसे छः आवश्यकोंका पालन करते हैं, जो मेरुपर्वतके समान निष्कम्प हैं, शूरवीर हैं, सिंहके समान निर्भीक हैं, श्रेष्ठ हैं, देश, कुल और जातिसे शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे रहित हैं, आकाशके समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य होते हैं। ये दीक्षा और प्रायश्चित्त देते हैं, परमागम अर्थके पूर्णज्ञाता और अपने मूलगुणोंमें निष्ठ रहते हैं।[2]

मूलाचारमें आचार्यके स्वरूपका निरूपण करते हुए बताया है कि चौदह

---

१. षट्खण्डागम, जीवस्थान-सत्प्ररूपणा, पुस्तक १, पृष्ठ ४८.

२. पवयण-जलहि-जलोयर-ण्हायामल-बुद्धि-सुद्ध-छावासो।
मेरु व्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वज्जो ॥२९॥
देस-कुल-जाइ-सुद्धो सोमंगो संग-भंग उम्मुक्को।
गयण व्व णिरुवलेवो आइरियो एरिसो होई ॥३०॥
संगह-णिग्गह-कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती।
सारण-वारण-साहण किरियुज्जुत्तो दु आइरियो ॥३१॥
—धवला-टीका, प्रथम पुस्तक, पृष्ठ ४९।

पूर्वोंका ज्ञाता, प्रवचनकर्त्ता एवं दीक्षित शिष्योंके निमित्त सूत्रार्थको विशद करनेवाले ग्रन्थोंका ज्ञाता आचार्य होता है। बताया है—

"सिस्साणुग्गह-कुसलो धम्मुवदेसो य संघ-वट्टवओ।
मज्जादुवदेसो वि य गण-परिरक्खो मुणेयव्वो॥
संगहणुग्गह-कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती।
किरिआचरण-सुजुत्तो गाहुय आदेज्जवयणो य॥
गंभीरो दुद्धरिसो सूरो धम्मप्पहावणा-सीलो।
खिदि-ससि-सायर-सरिसो कमेण तं सो दु संपत्तो॥"[1]

मूलाचारके उक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि आचार्य शिष्योंका अनुग्रह, धर्मोपदेश, संघ-प्रवर्त्तन, मर्यादोपदेश एवं गणपरिरक्षणका कार्य करते हैं। ये सूत्रार्थके विद्वान् होते हुए उसका विशद विवेचन करनेकी क्षमता रखते हैं। स्वसमय और परसमयके ज्ञाता होनेके कारण आचार्यकी गणना श्रुतविशेषज्ञोंमें की जाती है। परम्परासे प्राप्त सूत्रोंके अर्थकी यथार्थ जानकारी आचार्यको रहती है।

मूलाराधनामें[2] आचार्यके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए बताया है कि जो पाँच प्रकारके आचारका अतिचाररहित पालन करता है और शिष्योंको आचारांगका उपदेश देता है वह आचार्य कहा जाता है। विजयोदयाटीकामें आचार्यशब्दकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"आयारं पंचविहं पंचप्रकारं आचारं। चरदि विनातिचारं चरति। परं वा निरतिचारे पंचविधे आचारे प्रवर्तयति। उवदिसदि य आयारं उपदिशति च आचारं। एसो आयारवं णाम एष आचारवान्नाम। एतदुक्तं भवति—आचारांगं स्वयं वेत्ति ग्रंथतोऽर्थतश्च, स्वयं पंचविधे आचारे प्रवर्त्तते प्रवर्तयति च। पंचाचारवान् इति। पंचविधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः। जीवादितत्त्वश्रद्धानपरिणतिः दर्शनाचारः। हिंसादि-निवृत्तिपरिणतिश्च चारित्राचारः। चतुर्विधाहारत्यजनं, न्यूनभोजनं, वृत्तेः परिसंख्यानं, रसानां त्यागः, कायसंतापनं विविक्तवास इत्येवमादिकस्तपःसंज्ञित आचारः। स्वशक्त्यनिगूहनं तपसि वीर्याचारः। एते पंचविधा आचाराः॥"[3]

---

१. मूलाचार, समाचाराधिकार, फलटन-संस्करण, वीर नि० संवत २४८४, गाथा ३५, ३७, ३८।

२. आयारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं।
उवदिसदि य आयारं एसो आयारवं णाम॥४१९॥

३. मूलाराधना ४१९ गाथाकी विजयोदया टीका। तथा मूलाराधनादर्पणनामक टीकामें उद्धृत श्लोक आचार्यके स्वरूपपर विशेष प्रकाश डालता है—
सद्दृग्धीवृत्ततपसां मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ। यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तु॥

जो सूत्र और अर्थका ज्ञाता है, स्वयं स्वाध्यायमें प्रवृत्त है तथा अन्यको स्वाध्यायमें प्रवृत्त करता है, और जो जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धानी है, हिंसादि पंचपापोंसे निवृत्त है, जो व्रतोपवास करनेवाला है, रसोंका परित्यागी है, योग-साधक है, कष्टसहिष्णु है, तपस्वी है, एकान्त स्थानमें रहकर ध्यानादि करनेमें संलग्न है—वह आचार्य है। आचार्य श्रुताराधना और तपाराधनाके लिए अपनी शक्तिका पूर्ण उपयोग करता है।

इस प्रकार आर्षग्रन्थोंमें आचार्यके स्वरूप, महत्त्व, कर्त्तव्य एवं साधनामार्ग पर विचार किया गया है। आचार्यके स्वरूप-अध्ययनसे निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत होते हैं:—

१. निर्विकल्प स्वरूपाचरणका आराधक।
२. चतुर्दश-विद्याओंमें प्रवीण।
३. आचारांगका ज्ञाता।
४. एकादश अंगोंका पाठी।
५. स्वसमय—स्वसिद्धान्तका वेत्ता।
६. परसमय—विभिन्न दर्शन-सिद्धान्त और परम्पराओंका ज्ञाता।
७. तत्त्वोपदेशक।
८. शास्त्र-प्रणेता—करुणाबुद्धिसे संसारके प्राणियोंके हितार्थ तीर्थंकरवाणी-को लिपिबद्ध कर विभिन्नविषयक ग्रन्थोंका कर्त्ता।
९. श्रेष्ठ देश, कुल और जातिसे शुद्ध।
१०. सौम्यमूर्त्ति।
११. विविध दिशाओंसे प्राप्त अनुभूतियोंको मूर्त्तरूप दे बौद्धिक और भावा-त्मक विचारधाराओंका व्याख्याता।
१२. समयानुसार उत्पन्न समस्याओंका परम्पराके आलोकमें साधक, बाधक और प्रतिक्रियात्मकरूपमें समाधान प्रस्तुतकर्त्ता।

आचार्य प्राचीन परम्पराओंके परिवेशमें जीवनका अध्ययन करता है। वह स्वयं आदर्श जीवन व्यतीत करते हुए शिष्योंको आदर्श जीवन यापनकी ओर प्रेरित करता है। इस क्रममें जब परिस्थितियोंकी प्रतिक्रिया होने लगती है, तब वह पुरातन धारणाओंको नवीन रूपमें "नद्याः नवघटे जलम्" के समान अभिव्यक्त करता है। जिस प्रकार बीज जबतक कागजकी पुड़ियामें बँधा रहता है, तब तक वह फलता फूलता नहीं। किन्तु जब वही बीज उर्वरा भूमिमें पड़ जलवायुका सम्पर्क प्राप्त करता है, तो उसमें रंग-विरंगे पुष्प प्रस्फुटित हो जाते हैं। इसी प्रकार आचार्य भी अपनी मौलिक प्रतिभा और साधनाके कारण

समय एवं परिस्थिति विशेषमें अपनी मौलिक प्रतिभाको वाणीके माध्यमसे व्यक्त करते हैं। वाङ्मयको प्रेरणा व्यक्तिको ऐसी अनुभूति है जो उसके विशिष्ट अनुभवोंसे पोषित होकर समस्त सृष्टिको अपनी परिधिमें आवद्ध कर लेती है। इस प्रकार आचार्य वाङ्मयकी धारणाओंको व्यष्टिसे समष्टिमें अवतरित करते हैं। फलतः समष्टिका सिद्धान्त व्यष्टिके लिये दिशा दर्शक हो जाता है।

सामान्यतः आचार्यके समक्ष परम्पराका सरोवर विद्यमान रहता है। इस सरोवरमें अपनी प्रतिभा द्वारा यथार्थ, यथार्थजन्य संघर्ष, क्रिया-प्रतिक्रियामूलक आदर्श एवं जीवन-साधनाके विभिन्न मार्गोंका निर्धारण तथा इस निर्धारणके लिये आवश्यक मानदण्डोंके सरसिजका विकास करता है। जितने भी आचार्य दिखलाई पड़ते हैं उन सबने परम्पराको मुखरित करनेके लिये ही वाङ्मयका प्रणयन किया है। यह वाङ्मय अनुभूति, ज्ञान एवं चिन्तन इन तीनोंके समन्वयका प्रतिफल है। आचार्य वस्तु-जगत्‌में पदार्थों और उनकी प्रकृतियोंका अध्ययन कर उनके सम्बन्धमें विशिष्ट नियमित शृंखलाका निर्धारण करते हैं। आचार्य विश्लेषण द्वारा ही कार्य-कारणसम्बन्धोंका निर्धारण कर जीव, जगत् एवं उनके विभिन्न सम्बन्धोंका विवेचन करता है। वह गम्भीर दार्शनिक बन प्रकृतिके रहस्योंका उद्‌घाटन भी करता है। श्रेय और प्रेय इन दोनों कूलोंका स्पर्श करता हुआ मानव किस प्रकार प्रेयसे श्रेयकी ओर गतिशील होता है, यह विवेचन भी आचार्यकी लेखनी द्वारा निबद्ध किया जाता है। शब्द और अर्थके योगमें स्वानुभूतिके सत्यकी स्थापना कर आचार्य अभिव्यक्तिको एक नया परिवेश प्रदान करता है। इसके द्वारा की गई वीतराग कथा भी पाठक और श्रोताओंको अनुरंजित करती है। प्रेरणा देनेका कार्य भी आचार्यकी वाणी द्वारा होता है। अतः संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि परम्पराके द्वारा वेष्टित रहने पर भी आचार्य अपने स्वतन्त्र चिन्तनसे युगानुकूल स्वसमय और परसमयकी मर्मस्पर्शी व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है। जिस सूत्रार्थ ज्ञानको उसने परम्परासे प्राप्त किया है, उसी ज्ञानको सहज रूपमें व्यक्त कर उद्‌बोधनका कार्य करता है।

आचार्य और वाङ्मय

आचार्यपरम्पराका कार्य श्रुतज्ञानका संरक्षण है। तीर्थंकरके मुखसे निस्सृत वाणीको सर्वसाधारण तक पहुँचानेका कार्य आचार्यपरम्पराद्वारा ही सम्पन्न होता है। परम्परासे मौखिकरूपमें प्राप्त ज्ञानको लिपिबद्ध रूप देना आचार्यपरम्पराका विशिष्ट कार्य है। पंचाचारको आराधना द्वारा आत्मोत्थान करना, शिष्योंको दोक्षित और अनुशासित करना एवं श्रुतपरम्पराके प्रचार और प्रसारके

लिये कृतसंकल्प होना आचार्यकी प्रमुख विशेषता है। वाङ्मयके सृजनका दायित्व आचार्यपरम्पराका ही है। यही परम्परा अगणित वर्षों तक तीर्थंकर प्रवचनको जन-मानसमें प्रविष्ट कराती है। अतः आचार्यपरम्पराका दिव्य फल वाङ्मय है।

वाङ्मयके अन्तर्गत मानवके सभी प्रकारके आचार-विचार, भावनाओं, मनोवृत्तियों एव उसके समस्त कार्यकलापोंकी गणना की जाती है। दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक एवं सौन्दर्यबोध-सम्बन्धी धारणाओंका समावेश भी वाङ्मयमें होता है। वाङ्मयका विषय-विस्तार उस वटवृक्षके समान है, जो अनेक तनोंके रूपमें विस्तार पाता है। व्यक्तित्वके निर्माणमे जिस साधनाकी आवश्यकता है, उस साधनाका परिज्ञान भी वाङ्मयके द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। मानव परिवेशमें रहकर संस्कारोंका अर्जन करता है और इन अर्जित संस्कारोंसे अपनी क्रिया-प्रतिक्रियाओंकी अभिव्यञ्जना करता है। फलतः जीवनके विकास और उत्कर्षमें जिस प्रकारके विचारोंकी आवश्यकता होती है, उन विचारोंका ग्रहण भी वाङ्मयके धरातलसे किया जाता है। विश्व और जीवनके प्रतिबिम्बकी यथार्थ अभिव्यञ्जना भी वाङ्मयमें होती है। जबतक भाषाका सुगठित रूप विचारोंको प्राप्त नहीं होता, तबतक वाङ्मयकी अवतारणा संभव नहीं होती। शब्द और अर्थका परस्परमें ऐसा सम्बन्ध है कि अमूर्त्त अर्थ शब्दोंको मूर्त्तिमें ही जीवन्त होता है। अतएव जीवन-को आन्दोलित, संचालित और क्रियाशील बनानेके लिये वाङ्मयके निर्माणकी आवश्यकता रहती है।

जैनाचार्यों द्वारा रचित वाङ्मय बहुत विशाल और व्यापक है। इसे आगम की भाषामें श्रुतज्ञान कहा गया है। भगवान् महावीरकी वाणीको हृदयंगमकर उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरने बारह अंगोंमें उस वाणीरूप समस्त वाङ्मय-को निबद्ध किया। अतः वाङ्मयके अर्थकर्त्ता तो स्वयं महावीर हैं, पर ग्रन्थकर्त्ता गौतम गणधर हैं। षट्खण्डागमकी धवलाटीकामें बताया है[1] कि श्रुतज्ञानके कर्त्ता दो प्रकारके हैं—१. अर्थकर्त्ता और २. ग्रन्थकर्त्ता। भावश्रुत और अर्थपदोंके कर्त्ता तीर्थंकर है। तीर्थंकरके निमित्तसे गौतम इन्द्रभूति गणधर श्रुतपर्यायसे परिणत हुए। अतएव वे द्रव्यश्रुतके कर्त्ता हैं। आशय यह है कि इस युगमें आदि ग्रन्थकर्त्ता गौतम गणधर हैं। और इन्हींसे ग्रन्थ या वाङ्मय लिखनेका कार्य प्रारम्भ हुआ है।

---

१. षट्खण्डागम, धवला टीका, प्रथम पुस्तक, पृष्ठ ६०, ६५।

तिलोयपण्णत्तीके अध्ययनसे भी उक्त कथनकी सिद्धि होती है। बताया है—

महावीर-भासियत्थो तस्सिं खेत्तम्मि तत्थ काले य।
खायोवसम-विवड्ढिद-चउरमल-मईहि पुण्णेण॥
लोयालोयाण तहा जीवाजीवाण विविह-विसयेसु।
संदेहणासणत्थं उवगद-सिरिवीर-चलणमूलेण॥
विमले गोदमगोत्ते जादेणं इंदभूदिणामेण।
चउवेद-पारगेणं सिस्सेण विसुद्धसीलेण॥
भावसुद-पज्जयेहिं परिणद-मयिणा अ वारसंगाणं।
चोद्दसपुव्वाण तहा एक्कमुहुत्तेण विरचणा विहिदो॥
इय मूलतंतकत्ता सिरिवीरो इंदभूदिविप्पवरो।
उवतंते कत्तारो अणुतंते सेसआइरिया॥
णिण्णट्ठ-रायदोसा महेसिणो दिव्वसुत्तकत्तारो।
किं कारणं पभणिदा कहिदुं सुत्तस्य पामण्णं॥[1]

अर्थात् तीर्थंकर महावीर श्रुतके अर्थकर्त्ता हैं। इनके द्वारा उपदिष्ट पदार्थ-स्वरूप उसी क्षेत्र और उसी कालमें ज्ञानावरणके विशेष क्षयोपशमसे वृद्धिको प्राप्त निर्मल चार बुद्धियोंसे परिपूर्ण, लोक-अलोक और जीवाजीवादि विविध विषयोंमें उत्पन्न हुए सन्देहको नष्ट करनेवाले, शरणागत, निर्मल गौतम गोत्रमें उत्पन्न, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग, इस प्रकार चार वेदों अथवा ऋक्, यजु, साम और अथर्व इन चारों वेदोंमें पारंगत, विशुद्ध शीलके धारक, भावश्रुतरूप पर्यायसे बुद्धिकी परिपक्वताको प्राप्त इन्द्रभूति नामक शिष्य अर्थात् गौतम गणधरने एक मुहूर्तमें बारह अंग और चौदह पूर्वोंकी रचना की। इस प्रकार तीर्थंकर महावीर मूलतंत्रकर्त्ता, इन्द्रभूति गणधर उपतंत्रकर्त्ता एवं शेष आचार्य अनुतंत्रकर्त्ता हैं। स्पष्ट है कि वाङ्मयको मूर्त्तरूप देनेका सर्वप्रथम कार्य इन्द्रभूति गणधरने ही किया है।

जिस प्रकार सूर्यका आलोक प्राप्तकर मनुष्य अपने नेत्रोंसे दूरवर्ती पदार्थका भी अवलोकन कर लेता है, उसी प्रकार पूर्वाचार्योंके द्वारा निबद्ध ज्ञानसूर्यका आलोक प्राप्तकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थोंका बोध प्राप्त होता है। हरिवंशपुराणमें भी आगमतंत्रके मूलकर्त्ता तीर्थंकर वर्धमान ही माने गये हैं। उत्तरतंत्रके रचयिता गौतम गणधर हैं और उत्तरोत्तरतंत्रके कर्त्ता अनेक आचार्य बताये गये हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि ये सभी आचार्य सर्वज्ञकी वाणीके अनुवादक ही हैं।

---

१. तिलोयपण्णत्ती १।७७-८१।

ये अपनी ओरसे ऐसे किसी नये तथ्यका प्रतिपादन नहीं करते, जो तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिसे बहिर्भूत हो। केवल तीर्थंकरद्वारा प्रतिपादित तथ्योंको नये रूप और नयी शैलीमें अभिव्यक्त करते हैं। बताया है—

तथाहि मूलतन्त्रस्य कर्ता तीर्थंकरः स्वयम्।
ततोऽप्युत्तरतन्त्रस्य गौतमाख्यो गणाग्रणीः॥
उत्तरोत्तरतन्त्रस्य कर्तारो बहवः क्रमात्॥
प्रमाणं तेऽपि नः सर्वे सर्वज्ञोक्त्यनुवादिनः॥[1]

अतएव स्पष्ट है कि श्रुतका मूलकर्त्ता तीर्थंकरको ही माना गया है। उत्तरतंत्रकर्त्ता गणधर और उत्तरोत्तरतन्त्रकर्त्ता अन्य आचार्य हैं।

श्रुत या आगमका स्वरूप, भेद एवं विषय

चक्षुरादि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञानपूर्वक परोपदेश या पर-साधनसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह श्रुतज्ञान कहलाता है। तत्त्वार्थवार्त्तिक-में बताया है—"श्रुतावरणक्षयोपशमाद्यन्तरङ्गबहिरङ्गहेतुसन्निधाने सति श्रूयते स्मेति श्रुतम्। कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव शृणोतीति श्रुतम्। भेदविवक्षायां श्रूयतेऽनेनेति श्रुतम् श्रवणमात्रं वा।"[2]

अर्थात् श्रुतावरणकर्मके क्षयोपशम होनेपर जो सुना जाय वह श्रुत है। कर्तृसाधनमें श्रुतपरिणत आत्मा श्रुत है। करणविवक्षामें जिससे सुना जाये, वह श्रुत है। भावसाधनमें श्रवणक्रिया श्रुत है।

आचार्य विद्यानन्दने श्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमरूप विगम-विशेषसे श्रवण करना श्रुत कहा है। इनके मतसे जो वाच्य अर्थ आप्तवाक्य द्वारा सुना जा चुका है वह अपने और वाच्यार्थको जानने वाला आगमज्ञानरूप श्रुतज्ञान है। श्रुतशब्दके अनेक अर्थ होनेपर भी श्रुतज्ञान या आगमज्ञानके अर्थमें रूढ़ है। यथा—

श्रुतेऽनेकार्थतासिद्धे ज्ञानमित्यनुवर्तनात्।
श्रवणं हि श्रुतज्ञानं न पुनः शब्दमात्रकम्॥[3]

आशय यह है कि श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमविशेषकी अपेक्षासे उत्पन्न हुआ और अविनाभावी अनेक अर्थान्तरोंका निरूपण करने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान

---

१. हरिवंशपुराण प्रथम सर्ग, पद्य ५६,५७।

२. तत्त्वार्थवार्त्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, १।९।२०, पृष्ठ ४४।

३. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, बम्बई, १९१८ ई०, १।९।२०, पृ० १६४।

है। यह श्रुतज्ञान अमृतके समान हितकारी है, विषयवेदनासे संतप्त प्राणीके लिये परमौषध है। कुन्दकुन्दने बताया है—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुह-विरेयणं अमिदभूयं।
जर-मरण-वाहिहरणं खयकरणं सव्व-दुक्खाणं ॥[1]

श्रुतज्ञानका अन्य नाम आगमज्ञान भी है। श्रुतके नामान्तरोंमें आगम, जिनवाणी, सरस्वती आदि नाम आये हैं। आगमके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए बताया है कि आप्तके वचन आदिके निमित्तसे होने वाले अर्थज्ञानको आगम कहते हैं।[2]

आचार्य सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें बताया है कि जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंका अवलम्बन लेकर हेय और उपादेय रूपसे त्रिकालवर्ती पदार्थोंका ज्ञान कराता है, उसे आगम कहते हैं। तत्त्वज्ञाताओंका अभिमत है कि आगममें अविरोधरूपसे द्रव्यों, तत्त्वों और गुण-पर्यायोंका कथन रहता है। लिखा है—

हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्गसमाश्रयात्।
कालत्रयगतानर्थान्गमयन्नागमः स्मृतः ॥[3]

यह आगमज्ञान प्रत्यक्षज्ञानके समान ही प्रमाणभूत है, जिस प्रकार प्रत्यक्ष-ज्ञान अविसंवादी होनेके कारण प्रमाणभूत है, उसी प्रकार आगमज्ञान भी अपने विषयमें अविसंवादी होनेके कारण प्रमाण है। स्वामी समन्तभद्रने केवलज्ञान और स्याद्वादमय श्रुतज्ञानको समस्त पदार्थोंका समानरूपमें प्रकाशक माना है। दोनोंमें केवल प्रत्यक्ष और परोक्षका ही अन्तर है :—

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्व-प्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥[4]

इसी तथ्यकी पुष्टि सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्रके कथनसे भी होती है—

सुदकेवलं च णाणं दोण्णवि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ॥[5]

---

१. दंसणपाहुड, गाथा १७।
२. आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः—परीक्षामुख ३।९५।
३. उपासकाध्ययन, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, पद्य १००।
४. आप्तमीमांसा, श्लोक १०५।
५. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३६८।

समस्त द्रव्य और पर्यायोंको जाननेकी अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही समान हैं। अन्तर इतना ही है कि केवलज्ञान द्रव्य और तत्त्वोंको प्रत्यक्षरूपसे जानता है और श्रुतज्ञान परोक्षरूपसे। विस्तार और गहनताकी दृष्टिसे दोनोंका विषयक्षेत्र तुल्य ही है।

श्रुत या आगमके भेद

श्रुत या आगमके दो भेद है—१. द्रव्यश्रुत और २. भावश्रुत। आप्तके उपदेश-रूप द्वादशांगवाणीको द्रव्यश्रुत और उससे होने वाले ज्ञानको भावश्रुत कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि शब्दको द्रव्यश्रुत और उससे होने वाले ज्ञानको भावश्रुत कहा गया है। संक्षेपमें ग्रन्थरूप श्रुतको द्रव्यश्रुत और अर्थरूप श्रुतको भावश्रुत कहा गया है। ग्रन्थरूप द्रव्यश्रुतके मूलतः दो भेद है—१. अंगबाह्य और २. अंगप्रविष्ट। अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं—१. आचा-रांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६ ज्ञातृ-धर्मकथा, ७. उपासकाध्ययनांग, ८. अन्तःकृद्दशांग, ९. अनुत्तरोपपादिक, १०. प्रश्नव्याकरणांग, ११. विपाकसूत्रांग और १२. दृष्टिवादांग।

इस श्रुत या आगमज्ञानको पुरुषके शरीरांगकी उपमा दी गयी है। जैसे पुरुषके शरीरमें दो पैर, दो जांघ, दो ऊरु, दो हाथ, एक पीठ, एक उदर, एक छाती और एक मस्तक ये बारह अंग होते हैं, उसी प्रकार श्रुतज्ञानरूपी पुरुष-के भी बारह अंग हैं। तीर्थंकर अपने दिव्यज्ञानद्वारा पदार्थोंका साक्षात्कार कर बीजपदोंके रूपमें उपदेश देते हैं और गणधर उन बीजपदोंका तथा उनके अर्थका अवधारण कर ग्रन्थरूपमें व्याख्यान करते हैं। श्रुतज्ञानकी परम्परा अनादि अनवच्छिन्न रूपसे चली आ रही है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवके कालमें श्रुतज्ञानकी जो परम्परा आरम्भ हुई थी, वह पार्श्वनाथ और महावीर तीर्थंकर-के कालमें भी गतिशील रही है।

श्रुतज्ञानका विषय

यों तो जीव, अजीव आदि सातों तत्त्वोंके विवेचनमें ही श्रुतज्ञानके विषय-का समाहार हो जाता है, पर विशेष विवेचनकी दृष्टिसे षट्खण्डागमकी धवला-टीका एवं तत्त्वार्थवार्त्तिक आदि ग्रन्थोंमें जो विवेचन उपलब्ध होता है उसके आधारपर यह कहा जा सकता है कि उपलब्ध ज्ञान-विज्ञानका समस्त विषय श्रुतज्ञान या आगमके अन्तर्गत है। आचारांगमें १८,००० पदों द्वारा मुनियोंके आचारका वर्णन रहता है। अर्थात् मुनिको कैसे चलना चाहिए, कैसे खड़ा होना चाहिये, कैसे बैठना चाहिये, कैसे सोना चाहिये, कैसे भोजन करना

चाहिये और कैसे वार्त्तालाप करना चाहिये आदि विषयोंका कथन किया गया है। दूसरे सूत्रकृतांगमें ३६,००० पदों द्वारा ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्य-अकल्प्य, छेदोपस्थापना आदि व्यवहारधर्मकी क्रियाओंका वर्णन है तथा इस अंगमें स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तका कथन भी समाविष्ट है। तृतीय स्थानांगमें ४२,००० पद होते हैं। इसमें एकसे लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानोंका निरूपण किया जाता है। यथा—अपने चैतन्यस्वभावके कारण जीव-द्रव्य एक है; ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो प्रकारका है। कर्मफलचेतना, कर्म-चेतना और ज्ञानचेतनाकी अपेक्षा यह तीन प्रकारका है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी अपेक्षा तीन भेदरूप है। चार गतियोंमें भ्रमण करने वाला होनेसे चार भेदवाला है। औदयिक आदि पाँच भावसे युक्त होनेके कारण, इसके पाँच भेद हैं। भवान्तरमें गमन करते समय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व एवं अधः इस प्रकार षट्अपक्रमसे युक्त होनेके कारण षट् प्रकारका है। अस्ति, नास्ति आदि सप्तभंगोंसे युक्त होनेके कारण सात भेदवाला है। ज्ञाना-वरण, दर्शनावरण आदि कर्मोंके आस्रवसे युक्त होनेकी अपेक्षा जीवके आठ भेद हैं। जीव, अजीव आदि नौ पदार्थरूप परिणमन करनेके कारण यह नौ प्रकारका है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पतिकायिक, साधारणवनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय जातिके भेदसे दस प्रकारका है। इस प्रकार जीवादि पदार्थोंके एकाधिक भेदोंका निरूपण स्थानांगमें किया गया है।

चतुर्थ समवायांगमें १,६४००० पद, होते हैं। इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप समवायका चित्रण किया गया है। द्रव्यसमवायकी अपेक्षा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीवके प्रदेश समान हैं। क्षेत्रसमवाय-की अपेक्षा प्रथम नरकके प्रथम पटलका सीमन्तकविल, मनुष्यलोक, प्रथम स्वर्ग-के प्रथम पटलका ऋजु विमान और सिद्धक्षेत्र इन सबका विस्तार तुल्य है। कालकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालगणनाएँ तुल्य हैं। भावकी अपेक्षा क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और यथाख्यातचारित्र समान हैं। इस प्रकार समानताकी अपेक्षा जीवादि पदार्थोंके समवायका वर्णन समवायांगमें उपलब्ध होता है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति अंगमें २,२८००० पद होते हैं। इसमें ६०,००० प्रश्नों द्वारा जीव, अजीव आदि पदार्थोंका विवेचन किया जाता है। ज्ञातृधर्मकथा नामक अंगमें ५,५६००० पद होते हैं। इसमें तीर्थंकरोंकी धर्मदेशना, विविध प्रश्नोत्तर एवं पुण्यपुरुषोंके आख्यान वर्णित हैं। उपासकाध्ययन अंगमें ११,७०,००० पद

हैं और इसमें श्रावकाचारका निरूपण किया गया है। अन्तःकृद्दशांग नामक अंगमें २३,२८००० पद हैं। इसमें प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थकालमें अनेक प्रकारके दारुण उपसर्गोंको सहन कर निर्वाण प्राप्त करने वाले दस-दस अन्तःकृत केवलियोंका वर्णन है। अनुत्तरौपपादिकदशा नामक अंगमें ९२,४४००० पद हैं और एक-एक तीर्थंकरके तीर्थकालमें नाना प्रकारके दारुण उपसर्गोंको सहन कर पाँच अनुत्तर विमानोंमें जन्म ग्रहण करनेवाले दस-दस मुनियोंका चरित्र अंकित है। प्रश्नव्याकरणमें आक्षेप-प्रत्याक्षेपपूर्वक प्रश्नोंका समाधान अंकित है। अथवा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी इन चार कथाओंका विस्तृत वर्णन है। विपाकसूत्र अंगमें १,८४,००००० पद हैं। इसमें पुण्य और पापरूप कर्मोंका फल भोगनेवाले व्यक्तियोंका चरित्र निबद्ध है।

बारहवाँ अंग दृष्टिवाद है। इसके पाँच अधिकार हैं—१. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्व और ५. चूलिका। इनमेंसे परिकर्मके पाँच भेद हैं—१. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २. सूर्यप्रज्ञप्ति, ३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४. द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्ति और ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति। चन्द्रप्रज्ञप्तिमें चन्द्रमाकी आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और चन्द्रबिम्बकी ऊँचाई आदिका वर्णन है। सूर्यप्रज्ञप्तिमें सूर्यकी आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति और सूर्यबिम्बकी ऊँचाई, दिनकी हानि-वृद्धि, किरणोंका प्रमाण और प्रकाश आदिका वर्णन है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिमें भोगभूमि और कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए मनुष्य और तिर्यञ्चोंका तथा पर्वत, सरोवर, नदी, वेदिका, क्षेत्र, आवास आदिका वर्णन है। द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्तिमें द्वीप और समुद्रोंका विस्तार, अवगाह, क्षेत्रफल आदिका वर्णन आया है। व्याख्याप्रज्ञप्तिमें पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं जीवद्रव्यके भव्यत्व, अभव्यत्वका वर्णन किया गया है।

दृष्टिवाद अंगका द्वितीय भेद सूत्रनामक है। इसमें जीवकी विवेचना विस्तारपूर्वक की गयी है। जीव अबन्धक है, अवलेप है, अकर्त्ता है, अभोक्ता है, निर्गुण है, व्यापक है, अणुप्रमाण है, अस्तिस्वरूप है, नास्तिस्वरूप है, उभयरूप है इत्यादिकी विवेचना विभिन्न सिद्धान्तोंके पूर्वपक्षरूपमें की गयी है। इसमें क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद, वैनयिकवाद आदि तीन सौ तिरेसठ मतोंका प्रतिपादन पूर्वपक्षके रूपमें किया गया है। दृष्टिवादका तृतीय अंग प्रथमानुयोग है। इसमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायणोंके जीवनवृत्तके साथ विद्याधर, चक्रवर्त्ती, चारण-ऋद्धिधारी मुनि और राजाओंके वंशोंका कथन किया गया है।

दृष्टिवादके पञ्चम भेदका नाम चूलिका है। इसके पाँच भेद हैं—१. जलगता,

२. स्थलगता, ३. मायागता, ४. रूपगता और ५. आकाशगता। जलगतामें जलमें गमन तथा जलस्तम्भनके कारणभूत मन्त्र-तन्त्र तपश्चर्या आदिका वर्णन है। स्थलगतामें पृथ्वीके भीतरसे गमन करनेके कारणभूत मन्त्र-तन्त्र और तपश्चर्या तथा वास्तुविद्या आदिका वर्णन है। भूमिसम्बन्धी शल्य, शुभाशुभ परिज्ञान, भूमिके रूपगुण, शक्ति आदिका वर्णन भी स्थलगतामें पाया जाता है। रूपगतामें रूपपरिवर्त्तन करनेके तन्त्र-मन्त्र आदि साधनोंका निरूपण किया है। मनुष्य किस प्रकार सिंह, व्याघ्र, अश्व, गज, हिरण आदिका आकार धारण कर सकता है, इस प्रकारकी विधियोंका निरूपण भी उसमें आया है। चित्र-कर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म एवं विभिन्न प्रकारकी आकृतियोंके निर्माणकी विधियाँ भी कथित हैं। आकाशगता चूलिकामें आकाशगामिनी विद्याका चित्रण आया है।

दृष्टिवादका सबसे महत्त्वपूर्ण भेद पूर्व है। पूर्वके १४ भेद हैं—१. उत्पाद-पूर्व, २. अग्रायणीय, ३. वीर्यानुप्रवाद, ४. अस्तिनास्तिप्रवाद, ५. ज्ञानप्रवाद, ६. सत्यप्रवाद, ७. आत्मप्रवाद, ८. कर्मप्रवाद, ९. प्रत्याख्याननामधेय, १०. विद्यानुवाद, ११. कल्याणनामधेय, १२. प्राणावाय, १३. क्रियाविशाल और १४. लोकबिन्दुसार। पूर्वसाहित्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीके आधारपर वर्तमानमें शौरसेनी आगम-साहित्य उपलब्ध होता है। अग्रायणीमें पूर्वान्त, अपरान्त आदि चौदह प्रकरण थे। इनमेंसे पञ्चम प्रकरणका नाम चयनलब्धि था, जिसमें बीस पाहुड विद्यमान थे। बीस पाहुडोंमेंसे चतुर्थ पाहुडका नाम कर्म-प्रकृति था। इस कर्मप्रकृतिपाहुडके कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वार थे; जिनकी विषयवस्तुको ग्रहण कर षट्खण्डागमके जीवट्ठाण, खुद्दाबन्ध, बन्धस्वा-मित्व-विचय, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध इन छह भण्डोंकी रचना हुई हैं। इसमें का कुछ अंश सम्यक्त्वोत्पत्तिनामक जीवस्थानकी आठवीं चूलिकाको बारहवें अंग दृष्टिवादके द्वितीय भेद सूत्रसे तथा गति-आगतिनामक नवीं चूलिकाको व्याख्या-प्रज्ञप्तिसे उत्पन्न बताया गया है। इस प्रकार वर्तमान आगम-साहित्यका संबंध दृष्टिवाद अंगके साथ है। उत्पादपूर्वमें जीव, पुद्गल, काल आदि द्रव्योंके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका वर्णन है। अग्रायणीय पूर्वमें सात सौ सुनय और दुर्नय; छः द्रव्य, नौ पदार्थ, एवं पञ्चास्तिकायोंका वर्णन है। वीर्यानुप्रवादमें आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य, भववीर्य और तपवीर्यका वर्णन आया है। अस्तिनास्तिप्रवादपूर्वमें स्वरूपचतुष्टयकी अपेक्षा समस्त द्रव्योंके अस्तित्वका और पररूपचतुष्टयको अपेक्षा उनके नास्तित्वका वर्णन है। ज्ञानप्रवादपूर्वमें पाँच सम्यग्ज्ञान और तीन कुज्ञान इन आठ ज्ञानोंका विस्तारपूर्वक वर्णन है। सत्यप्रवादपूर्वमें दशप्रकारके सत्यवचन, अनेक प्रकारके असत्यवचन और बारह

प्रकारकी भाषाओंका प्रतिपादन किया गया है। विषयवर्णनकी दृष्टिसे आधुनिक मनोविज्ञान ज्ञानप्रवाद और सत्यप्रवादके अन्तर्गत है। आत्मप्रवादपूर्वमें निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयोंकी अपेक्षासे जीवके कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सूक्ष्मत्व, अमूर्त्तत्व आदिका विवेचन किया है। कर्मप्रवादपूर्वमें आठों कर्मोंके स्वरूप, कारण एवं भेद-प्रभेदोंका चित्रण किया है। प्रत्याख्यानपूर्वमें सावद्यवस्तुका त्याग, उपवास-विधि, पंच समिति, तीन गुप्ति आदिका वर्णन है। विद्यानुवादपूर्वमें सात सौ अल्पविद्याओंका और पाँच सौ महाविद्याओंका विवेचन आया है। साथ ही इसमें भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन और चिन्ह इन आठ महानिमित्तोंका विषय भी निबद्ध है। वर्तमान सामुद्रिक शास्त्र, प्रश्नशास्त्र एवं संहितागत विषय इसी पूर्वके अन्तर्गत समाविष्ट हैं। कल्याणवादमें सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारागण आदिके चारक्षेत्र, उपपादस्थान, गति, विपरीतगति और उनके फलोंका निरूपण है। ज्यौतिषशास्त्रके गणित और फलित दोनों ही विभाग इसी पूर्वके अन्तर्गत है। प्राणावायपूर्वमें अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म, विषविद्या एवं विभिन्न प्रकारके भौतिक विषयोंका परिज्ञान सम्मिलित है। रसायनशास्त्र और भौतिकशास्त्र सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त भी इस पूर्वमें समाविष्ट हैं। क्रियाविशालपूर्वमें बहत्तर कलाओं सम्बन्धी चौसठ गुणों, शिक्षा, शिल्प, काव्यसम्बन्धी गुण-दोष एवं छन्दशास्त्रका वर्णन है। लोकबिन्दुसारमें आठ प्रकारके व्यवहार, चार प्रकारके बीज, मोक्ष प्राप्त करानेवाली क्रियाएँ एवं मोक्षके सुखका वर्णन है।

द्रव्यश्रुतके दूसरे भेद अंगबाह्यके चौदह भेद हैं—

१. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक ६. कृतिकर्म, ७. दशवैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्पव्यवहार, १०. कल्प्याकल्प्य, ११. महाकल्प्य, १२. पुण्डरीक, १३. महापुण्डरीक और १४. निषिद्धिका।

सामायिकनामक अंगबाह्यमें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छः भेदों द्वारा समताभावके विधानका वर्णन है। चतुर्विंशतिस्तवमें तत्तत्काल सम्बन्धी चौबीस तीर्थंकरोंकी वन्दना करनेकी विधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पाँच महाकल्याणक, चौंतीस अतिशय प्रभृतिका वर्णन है। वन्दना नामक अंगबाह्यमें एक तीर्थंकर और उस तीर्थंकर सम्बन्धी जिनालयों, वन्दना करनेकी विधि एवं फलका चित्रण है। प्रतिक्रमणमें दैवसिक रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ईर्यापथिक और औत्तमार्थिक इन सात प्रकारके प्रतिक्रमणोंका वर्णन आया है। प्रमादसे लगे हुए दोषोंका निराकरण करना प्रतिक्रमण है। वैनयिक नामक अंगबाह्यमें ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्र-

विनय, तप विनय और उपचार विनयोंका विशद वर्णन है। कृतिकर्म नामक अंगबाह्यमें अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुकी पूजाविधिका वर्णन है। दशवैकालिक अंगबाह्यमें साधुओंके आचार, विहार एवं पर्यटन आदिका वर्णन है। उत्तराध्ययनमें चार प्रकारके उपसर्ग और बाईस परिषहोंके सहन करनेका विधान एवं उनके सहन करनेवालोंके जीवनवृत्तका वर्णन रहता है। ऋषियोंके करने योग्य जो व्यवहार है उस व्यवहारसे स्खलित हो जानेपर प्रायश्चित्त करना होता है। इस प्रायश्चित्तका वर्णन कल्पव्यवहारमें रहता है। कल्प्याकल्प्यमें साधु और असाधुओंके आचरणीय और त्याज्य व्यवहारका वर्णन पाया जाता है। दीक्षाग्रहण, शिक्षा, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तम स्थापना रूप आराधनाको प्राप्त हुए साधुओंके जो करने योग्य है उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका आश्रय लेकर महाकल्प्य कथन करता है। पुण्डरीक अंगबाह्यमें भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी एवं वैमानिक सम्बन्धी देव, इन्द्र, सामानिक आदिमें उत्पत्तिके कारणभूत दान, पूजा, शील, तप, उपवास और अकामनिर्जराका तथा उनके उपपाद-स्थान और भवनोंका वर्णन रहता है। महापुण्डरीकमें भवनवासी, व्यन्तर आदि देवों और देवियोंमें उत्पत्तिके कारणभूत तप और उपवास आदिका वर्णन है। निषिद्धिकामें अनेक प्रकारकी प्रायश्चित्त-विधियोंका कथन आया है।

इस प्रकार अंगप्रविष्ट और अंगबाह्यके अन्तर्गत आधुनिक सभी विषयोंका समावेश तो होता ही है, साथ ही आध्यात्मिक भावना, कर्मबन्धकी विधि और फल, कर्मोंके संक्रमण आदि करण, विभिन्न दार्शनिक चर्चाएँ, मतमतान्तर, ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित, भौतिकशास्त्र, आचारशास्त्र, सृष्टि-उत्पत्ति विद्या, भूगोल एवं पौराणिक मान्यताओंका परिज्ञान भी उक्त श्रुत या आगमसे प्राप्त होता है आगमका यह विषय-विस्तार इतना सघन और विस्तृत है कि इसकी जानकारीसे व्यक्ति श्रुतकेवली पद प्राप्त करता है। ज्ञान या आगमके विषयका परिज्ञान किस प्रकार और किस विधिसे संभव होता है, इसका वर्णन भी पूर्वोक्त आगमग्रन्थोंमें आया है।

श्रुत या आगमज्ञानसे सम्बद्ध आचार्य-परम्परा

दिगम्बर पट्टावलियों और प्रशस्तियोंसे अवगत होता है कि श्रुतको सुनकर कंठस्थ कर लेनेकी परम्परा तीर्थंकर महावीरके निर्वाणलाभके पश्चात् कई शतक तक चलती रही। द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्वज्ञान, कर्मसिद्धान्त एवं आचार सम्बंधी मौलिक मान्यताओंको परम्परासे प्राप्तकर स्मरण बनाये रखनेकी प्रथा धारावाहिक रूपमें चलती रही। नन्दीसंघ-बलात्कारगण-सरस्वतीगच्छकी

पट्टावलिमें बताया है कि गौतम, सुधर्म और जम्बूस्वामीने बासठ वर्षों तक धर्म-प्रचारका कार्य किया। महावीर स्वामीके पश्चात् बारह वर्षों तक गौतम स्वामीने केवलीपद प्राप्त कर धर्मप्रचार किया। इनके पश्चात् बारह वर्षों तक सुधर्माचार्य केवली रहे। अनन्तर अड़तीस वर्षों तक जम्बूस्वामी केवली बने रहे। इस प्रकार बासठ वर्षों तक उक्त तीनों केवलियोंकी ज्ञान-ज्योति प्रकाशित होती रही। तत्पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए। चौदह वर्षों तक विष्णुने, सोलह वर्षों तक नन्दिमित्रने, बाईस वर्षों तक अपराजितने, उन्नीस वर्षों तक गोवर्द्धनने और उनतीस वर्षों तक भद्रबाहुने ज्ञानदीपको प्रज्वलित रखा। तत्पश्चात् दश वर्षों तक दशपूर्वधारी विशाखाचार्यने, उन्नीस वर्षों तक प्रोष्ठिलाचार्यने, सत्रह वर्षों तक क्षत्रियाचार्यने, इक्कीस वर्षों तक जयसेनाचार्यने, अट्ठारह वर्षों तक नागसेनाचार्यने, सत्रह वर्षों तक सिद्धार्थाचार्यने, अट्ठारह वर्षों तक धृतिसेनाचार्यने, तेरह वर्षों तक विजयाचार्यने, बीस वर्षों तक बुद्धिलिङ्गाचार्यने, चौदह वर्षों तक देवाचार्यने एवं चौदह वर्षों तक धर्मसेनाचार्यने श्रुतका प्रवचन किया। इस प्रकार एकसौ तिरासी वर्षों तक दशपूर्वधारी श्रुतका प्रचार करते रहे। तदनन्तर अट्ठारह वर्षों तक एकादशांग-धारी नक्षत्राचार्यने, बीस वर्षों तक जयपालाचार्यने, उनतालीस वर्षों तक पाण्डवाचार्यने, दश वर्षों तक ध्रुवसेनाचार्यने एवं बत्तीस वर्षों तक कंसाचार्यने श्रुतज्ञानकी ज्योतिको प्रज्वलित किया। इस प्रकार एकादशांगधारी उक्त पाँच आचार्योंने श्रुतज्ञानका प्रवचन किया। अनन्तर दशांगके ज्ञाता शुभचन्द्राचार्यने छः वर्षों तक, यशोभद्राचार्यने अट्ठारह वर्षों तक, भद्रबाहुने तेईस वर्षों तक और लोहाचार्यने पचास वर्षों तक अंगज्ञानका प्रवचन किया। अनन्तर अट्ठाईस वर्षों तक एकांगके धारी अर्हद्वल्याचार्यने, इक्कीस वर्षों तक माघनन्द्याचार्यने, उन्नीस वर्षों तक धरसेनाचार्यने श्रुतज्ञानको जीवित रखा।[1]

---

१. अन्तिमजिणणिव्वाणे केवलणाणी य गोयम-मुणिंदो।
बारह वासे य गणी सुधम्मसामी य संजादो॥ १॥
तह बारह वासे पुण संजादो जम्बुसामि मुणिणाहो।
अठतीस वास रहियो केवलणाणी य उक्किट्ठो॥ २॥
वासठि केवल वासे तिण्हि मुणी गोयम सुधम्म जम्बू य।
बारह बारह दो जण तिय दुगहीणं च चालीसं॥ ३॥
सुयकेवलि पंच जणा बासठि वासे गये सुसंजादा।
पढमं चउदह-वासं विण्हुकुमारं मुणेयव्वं॥ ४॥

इस प्राकृत पट्टावलीमें प्रत्येक आचार्यका अलग-अलग समय दिया गया है तथा समष्टि रूपमें भी वर्षसंख्या अङ्कित की गयी है। तीन केवलियों और पाँच श्रुतकेवलियोंका समय एकसौ बासठ वर्ष बताया है। दशपूर्वधारियों-की पृथक्-पृथक् वर्षसंख्या और समष्टिरूप वर्षसंख्या प्राप्त नहीं होती। इसमें दो वर्षका अन्तर आता है। यथा—

नंदिमित्त वास सोलह तिय अपराजिय वास वावीसं।
इग-हीण-वीस वासं गोवद्धण भद्दबाहु गुणतीसं ॥ ५ ॥
सद सुयकेवलणाणी पंच जणा विण्हू नंदिमित्तो य।
अपराजिय गोवद्धण तह भद्दबाहु य संजादा ॥ ६ ॥
सद वासट्ठि सुवासे गए सु उप्पण्ण दह सुपुव्वहरा।
सद तिरासि वासाणि य एगादह मुणिवरा जादा ॥ ७ ॥
आयरिय विसाख पोट्ठल खत्तिय जयसेण नागसेण मुणी।
सिद्धत्थ धित्ति विजयं बुद्धिलिंग देव धम्मसेणं ॥ ८ ॥
दह उगणीस य सत्तर इकवीस अट्ठारह सत्तर।
अट्ठारह तेरह वीस चउदह चोदय (सोडस) कमेणेयं ॥ ९ ॥
अंतिम जिणणिव्वाणे तियसय-पण-चालवास जादेसु।
एगादहंगधारिय पंच जणा मुणिवरा जादा ॥१०॥
नक्खत्तो जयपालग पंडव धुवसेन कंस आयरिया।
अठारह वीसवासं गुणचालं चोद बत्तीसं ॥ ११ ॥
सद तेवीस बासे एगादह अंगधरा जादा।
वासं सत्ताणवदिय दसंग नव अंग अट्ठधरा ॥ १२ ॥
सुभद्दं च जसोभद्दं भद्दबाहु कमेण च।
लोहाचय्य मुणीसं च कहियं च जिणागमे ॥ १३ ॥
छह अट्ठारह वासे तेवीस बावण (पणास) वास मुणिणाहं।
दस नव अट्ठंगधरा वास दुसदवीस सधेसु ॥ १४ ॥
पंचसये पणसठे अंतिम-जिण-समय-जादेसु।
उप्पणा पंच जणा इयंगधारी मुणेयव्वा ॥ १५ ॥
अहिवल्लि माघनंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूदबली।
अडवीसं इगवीस उगणीसं तीस वीस वास पुणो ॥ १६ ॥
इगसय-अठार-वासे इयंगधारी य मुणिवरा जादा।
छसय-तिरासिय-वासे णिव्वाणा अंगद्दित्ति कहिय जिणे ॥ १७ ॥

—जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृष्ठ ७१-७४

दशपूर्वधारी

(१)	वीर निर्वाण संवत् १६२	विशाखाचार्य	१० वर्ष
(२)	वीर निर्वाण संवत् १७२	प्रोष्ठिल	१९ वर्ष
(३)	वीर निर्वाण संवत् १९१	क्षत्रिय	१७ वर्ष
(४)	वीर निर्वाण संवत् २०८	जयसेन	२१ वर्ष
(५)	वीर निर्वाण संवत् २२९	नागसेन	१८ वर्ष
(६)	वीर निर्वाण संवत् २४७	सिद्धार्थ	१७ वर्ष
(७)	वीर निर्वाण संवत् २६४	धृतिसेन	१८ वर्ष
(८)	वीर निर्वाण संवत् २८२	विजय	१३ वर्ष
(९)	वीर निर्वाण संवत् २९५	बुद्धिलिङ्ग	२० वर्ष
(१०)	वीर निर्वाण संवत् ३१५	देव	१४ वर्ष
(११)	वीर निर्वाण संवत् ३२९	धर्मसेन	१४ वर्ष (१६ वर्ष)
			१८१ + २ = १८३

आदरणीय डा० हीरालालजीने अनुमान किया है कि धर्मसेनका काल १४ वर्षके स्थान पर १६ वर्ष होना चाहिए। इस प्रकार वर्षगणना करनेपर १८३ वर्ष दशपूर्वधारियोंका समय आ जाता है। इसके पश्चात् पाँच एकादशाङ्ग-धारियोंका समय अन्य स्थानों पर २२० वर्ष बतलाया गया है, पर इस पट्टावलीमें उनका समय १२३ वर्ष दिया है, जो यथार्थ प्रतीत होता है।

११ अङ्गके धारक आचार्य—

(१)	वीर निर्वाण संवत् ३४५	नक्षत्र	१८ वर्ष
(२)	वीर निर्वाण संवत् ३६३	जयपाल	२० वर्ष
(३)	वीर निर्वाण संवत् ३८३	पाण्डव	३९ वर्ष
(४)	वीर निर्वाण संवत् ४२२	ध्रुवसेन	१४ वर्ष
(५)	वीर निर्वाण संवत् ४३६	कंस	३२ वर्ष
			१२३ वर्ष

अनन्तर दश, नौ और आठ अङ्गके ज्ञाताओंका समय ९७ वर्ष बतलाया है, पर पृथक्-पृथक् वर्षोंका योग ९९ वर्ष आता है। अतः इसमें भी दो वर्षोंकी भूल प्रतीत होती है।

१०, ९ और ८ अङ्गके ज्ञाता आचार्य—

(१)	वीर निर्वाण संवत् ४६८	सुभद्र	६ वर्ष
(२)	,, ,, ,, ४७४	यशोभद्र	१८ ,,
(३)	,, ,, ,, ४९२	भद्रबाहु	२३ ,,
(४)	,, ,, ,, ५१५	लोहाचार्य	५२ ,, (५० वर्ष)
			९९ − २ = ९७

यहाँ लोहाचार्यका समय ५२ वर्षके स्थान पर ५० वर्ष होना चाहिए। इस प्रकार ९९ − २ = ९७ वर्ष अष्टम, नवम और दशम अङ्गधारी आचार्योंका काल है। अनन्तर एकांगधारी पाँच आचार्योंका समय ११८ वर्ष है। यथा—

(१)	वीर	निर्वाण	संवत्	५६५	अर्हद्बलि	२८ वर्ष
(२)	,,	,,	,,	५९३	माघनन्दि	२१ वर्ष
(३)	,,	,,	,,	६१४	धरसेन	१९ ,,
(४)	,,	,,	,,	६३३	पुष्पदन्त	३० ,,
(५)	,,	,,	,,	६६३	भूतबलि	२० वर्ष
						११८ वर्ष

इस प्रकार इस पट्टावलीके अनुसार अङ्गपरम्पराका कुल काल—
६२ + १०० + १८३ + १२३ + ९७ + ११८ = ६८३ वर्ष है।

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतार, जिनसेनके हरिवंश पुराण, यतिवृषभकी तिलोयपण्णत्ती एवं वीरसेनकी धवला टीकामें आचार्यों की जो पट्टावली दी गयी है उसमें लोहाचार्य तक ६८३ वर्ष गिनाये हैं, पर इस पट्टावलीमें अर्हद्बली, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलिका ११८ वर्षका समय सम्मिलित है। महावीरकी जो शिष्य-परम्परा अन्यत्र प्राप्त होती है उसमें गौतम, लोहाचार्य और जम्बूस्वामी ये तीन केवली; विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु—ये पाँच श्रुतकेवली; विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिलिङ्ग, देव और धर्मसेन—ये ११ दशपूर्वके ज्ञाता; नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस—ये पाँच आचाराङ्गके ज्ञाता आचार्य हुए हैं। धवलाटीकाके सत्प्ररूपणा और वेदनाखण्डके प्रारम्भमें उक्त आचार्यों की परम्परा दी गयी है। श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १ और २ में सुधर्मस्वामीके नामके स्थान पर लोहाचार्यका नाम प्राप्त होता है।[१]

तिलोयपण्णत्ती,[२] हरिवंशपुराण,[३] ब्रह्महेमकृत श्रुतस्कन्ध, श्रवणबेलगोल

१ अथ खलु ······ महाति महावीर-सवितरि परिनिर्वृते भगवत्परमर्षि-गौतम-गणधर-साक्षाच्छिष्य-लोहार्य्य-जम्बु-विष्णुदेवापराजित-गोवर्द्धन-भद्रबाहु-विशाख-प्रोष्ठिलकृत्तिकार्यजयनामसिद्धार्थ-धृतिषेणबुद्धिलादि ·······। जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैनग्रन्थमाला, शिलालेख संख्या—१, पृष्ठ १–२।

२. जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी।
जादो तस्सि सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥—तिलोयपणत्ती ४।१४७६

३. त्रयः क्रमात्केवलिनो जिनात्परे द्विषष्टिवर्षान्तरभाविनोऽभवन्।
ततः परे पञ्च समस्तपूर्विणस्तपोधना वर्षशतान्तरे गताः ॥ —हरिवंशपुराण ६६।२२

अभिलेख नं० १०५ और इन्द्रनन्दि श्रुतावतारमें सुधर्म स्वामीका नाम उपलब्ध होता है।

जयधवलामें भी लोहाचार्यके स्थान पर सुधर्म स्वामीका ही नाम आता है। अतः यहाँ यह आशङ्का उत्पन्न होती है कि लोहाचार्य और सुधर्म स्वामी एक ही व्यक्ति हैं अथवा भिन्न-भिन्न? इस शङ्काका समाधान जंबुदीवपण्णत्ती-से हो जाता है। बताया है—

तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण।
गणधरसुधम्मणा खलु जंबूणामस्स णिद्दिट्ठं ॥१०॥
चदुरमलबुद्धिसहिदे तिण्णेदे गणधरे गुणसमग्गे।
केवलणाणपईवे सिद्धि पत्ते णमंसामि ॥११॥[1]

अर्थात् गौतम गणधरने लोहार्यको और लोहार्यने जंबूस्वामीको उपदेश दिया। ये तीनों केवली निर्मल बुद्धियोंसे सहित गुणोंसे परिपूर्ण और सिद्धिको प्राप्त थे। लोहार्यका अपर नाम सुधर्म स्वामी था। अतः लोहाचार्य और सुधर्म-स्वामी दोनों एक ही व्यक्ति हैं, भिन्न नहीं।

इसी प्रकार विष्णुके नाममें भी भेद पाया जाता है। प्राकृतपट्टावलि और महावीरकी शिष्यपरम्परामें विष्णुके नामका उल्लेख आया है। पर जंबुदीव-पण्णत्ती और तिलोयपण्णत्तीमें इस स्थान पर नन्दी या नन्दीमुनि नाम मिलता है। जंबुदीवपण्णत्तीमें लिखा है—

णंदी य णंदिमित्तो अवराजिदमुणिवरो महातेओ।
गोवड्ढणो महप्पा महागुणो भद्दबाहू य ॥[2]

तिलोयपण्णत्तीमें बताया है—

णंदी य णदिमित्तो बिदिओ अवराजिदो तइज्जो य।
गोवद्धणो चउत्थो पंचमओ भद्दबाहु त्ति ॥[3]

उक्त उद्धरणोंसे यह ज्ञात होता है कि विष्णुका ही अपर नाम नंदी रहा

---

४. सिद्धि गते वीरजिनेऽनुबद्ध-केवल्यभिख्यास्त्रय एव जाताः।
श्रीगौतमस्तौ च सुधर्म-जम्बू यैः केवली वै तादिहानुबद्धम् ॥
—जैनशिलालेखसंग्रह प्रथम भाग, अभिलेख—१०५।

१. जंबुदीवपण्णत्ती १।१०-११
२. जंबुदीवपण्णत्ती १।१२
३. तिलोयपण्णत्ती ४।१४८२

होगा। वस्तुतः आचार्यका नाम विष्णुनन्दी है। इसके दोनों शब्द विष्णु और नन्दी संक्षिप्त रूपमें प्रयुक्त हुए हैं। एक स्थानपर 'विष्णु' शब्दका प्रयोग हुआ है और दूसरे पर 'नन्दी' का। श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १०५ में अपराजितका नाम पहले आया है और नन्दिमित्रका पश्चात्। यह क्रमभंग संभवतः छन्द निर्वाहके लिए किया गया होगा। अन्य सभी ग्रन्थोंमें नन्दिमित्रका पहले नाम आया है और अपराजितका बादमें।

नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलिमें परम्परासे प्राप्त बुद्धिलके स्थानपर बुद्धिलिङ्ग नाम आया है। इसी प्रकार गंगदेवके स्थानपर केवल देव नाम प्राप्त होता है। जयपालके स्थानपर जयधवलामें जसफल और जम्बुदीवपण्णत्तीमें[1] जसपाल नाम आये हैं। यथार्थतः ये नाम भी एक ही व्यक्तिके हैं। ध्रुवसेनके स्थानपर इन्द्रनन्दीके श्रुतावतारमें[2] द्रुमसेन और श्रुतस्कन्धमें घुतसेन नाम मिलते हैं।

आचारांगधारी यशोभद्रके स्थानपर इन्द्रनन्दीके श्रुतावतारमें अभयभद्र नाम आया है। इसी प्रकार यशोबाहुके स्थानपर जयधवलामें जहबाहू; श्रुतावतारमें जयबाहु; नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलि और आदिपुराणमें[3] भद्रबाहु नाम आये हैं। संभवतः नन्दिसंघको प्राकृत पट्टावलिके भद्रबाहु द्वितीय हैं।

प्राकृत पट्टावलिमें तीन केवलियों, पाँच श्रुतकेवलियों और ग्यारह दशपूर्वियोंका समय तो क्रमशः ६२ + १०० + १८३ वर्ष बतलाया गया है, जिसका योगफल ३४५ वर्ष आता है। इसके पश्चात् जिन पाँच एकादशांगधारियोंका समय अन्यत्र २२० वर्ष बतलाया है, यहाँ उनका समय १२३ वर्ष ही कहा है। इसके पश्चात् आगे जिन चार आचार्योंको अन्यत्र आचारांगधारी कहा गया है, उन्हें इस पट्टावलीमें १०, ९ और ८ अंगका धारी कहा है तथा इनका समय ११८ वर्षके स्थानमें ९९ वर्ष (९७) कहा है। पट्टावलीकी कालगणनाके अनुसार वीर निर्वाणसे ६२ + १०० + १८३ + १२३ + २४ = ४९२ वर्षके पश्चात् द्वितीय भद्रबाहु हुए। इनका काल २३ वर्ष बतलाया है। गणनानुसार ५२७–४९२ = ३५ अर्थात् ई० सन्से ३५ वर्ष पूर्व द्वितीय भद्रबाहु हुए हैं।

पट्टावलीमें 'तदुक्तं विक्रमप्रबन्धे' लिखकर जो दो गाथायें उद्धृत की गयी

---

१. णक्खत्तो जसपालो पंडू धुवसेण कंसआयरिओ।
एयारसंगधारी पंच जणा होंति णिद्दिट्ठा॥ —जम्बूदीवपण्णत्ती १।१६

२. इन्द्रनन्दि श्रुतावतार, सूरत संस्करण, पृष्ठ १३।

३. सुभद्रश्च यशोभद्रो भद्रबाहुर्महायशाः।
लोहार्यश्चेत्यमी ज्ञेयाः प्रथमाङ्गाब्धिपारगाः॥ —महापुराण २ १४९

हैं, उनमें बतलाया है कि वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म हुआ। अतएव ४९२ – ४७० = २२ अर्थात् विक्रमके जन्मसे २२ वर्ष पीछे सुभद्राचार्यका अन्त हुआ। तत्पश्चात् भद्रबाहु द्वितीय पट्टासीन हुए। स्पष्ट है कि वि० सं० २२ से वि० सं० ४५ तक भद्रबाहु द्वितीयका समय आता है।

सरस्वतीगच्छकी पट्टावलीमें इन्हें जातिसे ब्राह्मण बताया है और इनकी आयु ७७ वर्षकी कही गयी है। इस पट्टावलीमें भद्रबाहुके तीन शिष्योंके नाम आये हैं—गुप्तिगुप्त, अर्हद्बलि और विशाखाचार्य। श्रुतकेवली भद्रबाहुके शिष्यका नाम भी विशाखाचार्य था। नन्दिसंघकी पट्टावलीमें भद्रबाहु द्वितीयके शिष्यका नाम लोहाचार्य बताया गया है। द्वितीय भद्रबाहु और उनके शिष्य गुप्तिगुप्तकी स्थिति सर्वथा असंदिग्ध नहीं है। अतएव श्वेताम्बर परम्पराके द्वितीय भद्रबाहु दिगम्बर परम्पराके भद्रबाहु द्वितीयसे सर्वथा भिन्न हैं। दिगम्बर भद्रबाहु वराहमिहिरके भाई नहीं हैं।

श्रुतकेवली भद्रबाहुके गुरुका नाम गोवर्धनाचार्य है। ये ही दिगम्बर मुनियोंका संघ लेकर दक्षिणकी ओर गये थे और इन्हींका शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य था। चन्द्रगुप्त मौर्यके सम्बन्धमें हरिषेणकथाकोषमें भद्रबाहुका आख्यान आया है। इसमें चन्द्रगुप्तको उज्जयिनीका राजा बतलाया गया है। शिशुनाग वंश और नन्दवंशके राज्यमें भी उज्जयिनीका राज्य सम्मिलित था। यद्यपि चन्द्रगुप्त मौर्यकी प्रधान राजधानी पाटलिपुत्रमें थी; पर पश्चिम खण्डकी राजधानी उज्जयिनीमें स्थित थी। जब भद्रबाहु उज्जयिनीमें पधारे उस समय उस नगरमें महान् श्रावक राजा चन्द्रगुप्त था। इससे अवगत होता है कि उस समय चन्द्रगुप्त उज्जयिनीमें गया हुआ था। यह जैन श्रमणोंका बड़ा भक्त था और उनका यथोचित आदर-सत्कार करता था। मि० जॉर्ज सी० एम० वर्ल्डवुकने लिखा है—"चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार दानों जैन थे; किन्तु चन्द्रगुप्तके पौत्र अशोकने बौद्धधर्म स्वीकार किया था।"[1]

तिलोयपण्णत्तीमें बताया है कि मुकुटधर राजाओंमें अन्तिम राजा चन्द्रगुप्तने जिनदीक्षा ग्रहण की थी। इसके पश्चात् अन्य कोई मुकुटधर दीक्षित नहीं हुआ।

मउडधरेसुं चरिमो जिणदिक्खं धरिद चंदगुत्तो य।
तत्तो मउडधरा दुप्पव्वज्जं णेव गेण्हंति॥[2]

१, कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्यका इतिहास, पूर्व पीठिका, वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी, पृष्ठ ३५२।

२. तिलोयपण्णत्ती ४।१४८१

तिलोयपण्णत्तिके इस सन्दर्भसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्तका उल्लेख जिस प्रसंगमें आया है वह प्रसंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। केवली और श्रुत-केवलियोंके मध्यमें चन्द्रगुप्तका निर्देश सामान्य नहीं है। अन्तिम केवलज्ञानी श्रीधर कुण्डलगिरिसे सिद्धिको प्राप्त हुए। चारणऋषियोंमें अन्तिम सुपार्श्वचन्द्र नामक ऋषि हुए। अन्तिम प्रज्ञाश्रमण वज्रयश और अन्तिम अवधिज्ञानी श्रीनामक ऋषि हुए। इसके पश्चात् मुकुटधरोंमें अन्तिम चन्द्रगुप्तने जिनदीक्षा ग्रहण की। चन्द्रगुप्तका निर्देश करनेवाली गाथाके पश्चात् श्रुतकेवली भद्रबाहुका नाम आया है। अतएव यह स्पष्ट है कि अन्तिम श्रुतकेवली और मौर्य चन्द्रगुप्त ये दोनों समकालीन हैं।

खारवेलके हाथी गुम्फावाले अभिलेखकी सोलहवीं पंक्तिका जायसवाल साहबने अध्ययन कर लिखा है—"जैन आगमोंके इतिहासके और अधिक गहरे अध्ययनसे हम निर्णय करनेमें समर्थ होंगे कि उक्त पंक्तिके किये गये तीन अर्थोंमेंसे कौन-सा अर्थ ग्राह्य है। किन्तु चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें जैन मूलग्रन्थोंके विनाशको लेकर जैनपरम्परामें जो विवाद चलता है उसका लेखके उक्त पाठसे आश्चर्यजनक समर्थन होता है। इससे स्पष्ट है कि उड़ीसा जैनधर्मके उस सम्प्रदायका अनुयायी था, जिसने चन्द्रगुप्तके राज्यमें पाटलिपुत्रमें होनेवाली वाचनामें संकलित आगमोंको स्वीकार नहीं किया था।"[1]

जायसवालजीके उपर्युक्त कथनसे यह ध्वनित होता है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामें भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समयसे श्रुतका विच्छेद होनेकी जो अनुश्रुतियाँ हैं वे मौर्यकालसे सम्बद्ध हैं। अतएव भद्रबाहु श्रुतकेवलीका अस्तित्व चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें सिद्ध है।

नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीसे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है। पट्टा-वलीमें वीरनिर्वाणसे लोहाचार्य तक ५६५ वर्षोंका समय बताया है। अन्य ग्रन्थोंमें यह काल ६८३ वर्ष है। इस प्रकार कालगणनामें ११८ वर्षोंका अन्तर आता है। यद्यपि तीन केवली, पाँच श्रुतकेवली और ग्यारह दशपूर्वधारी आचार्योंका कालगणनामें कोई अन्तर नहीं है। तो भी अर्हद्बलिसे भूतबलि पर्यन्त पाँच आचार्योंके दिये गये ११८ वर्षोंमें ५० वर्ष श्रुतकेवलियोंके भी सम्मिलित कर दिये जायें तो श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्तमौर्यकी सम-कालीनता बन जाती है।

हरिषेणकृत बृहत्कथाकोषमें[2] श्रुतकेवली भद्रबाहुका जो आख्यान आया है उसमें बताया है कि 'दुर्भिक्षके कारण श्रुतकेवली भद्रबाहु नवदीक्षित अपने

---

१. Journal of Bihar Orissa Research Society Patna vol. 13 P. 236

२. बृहत्कथाकोष, भारतीय विद्याभवन बम्बई, सन्, १९४३, पृ० ३१७-३१९

शिष्य चन्द्रगुप्त सहित दक्षिणकी ओर चले। चन्द्रगुप्तका दीक्षा नाम विशाखाचार्य पड़ा। जब दुर्भिक्ष समाप्त हो गया तो विशाखाचार्य समस्त संघके साथ दक्षिणापथसे मध्यदेशमें लौट आया। रामिल्ल, स्थविर और स्थूलभद्राचार्य तीनों दुर्भिक्षकालमें सिन्धुदेशमें चले गये थे। उन्होंने वहाँसे लौटकर बतलाया कि उस देशके निवासी दुर्भिक्ष पीड़ितोंके भयसे दिनमें भोजन नहीं कर पाते थे। अतएव वे रात्रिमें भोजन करते थे। उन्होंने हमसे कहा कि आप लोग भी रात्रिके समय हमारे घरसे पात्र लेकर आहार ले जाया करें। उन लोगोंके इस अनुरोधपर हमलोग रात्रिमें आहार लाकर, दिनमें भोजन करने लगे। एक दिन एक कृशकाय निर्ग्रंथ साधु हाथमें भिक्षापात्र लेकर श्रावकके घर गया। अन्धकारमें उस नग्नमुनिको देखकर एक गर्भिणी श्राविकाका भयके कारण गर्भपात हो गया। इसपर श्रावकोंने आकर साधुओंसे प्रार्थना की—"समय बड़ा खराब है। जबतक स्थिति ठीक नहीं होती, तबतक आपलोग बाँयें हाथसे अर्द्धफालक-अर्धवस्त्रको आगे करके दाहिने हाथमें भिक्षापात्र लेकर रात्रिमें आहार लेने आया करें। जब सुभिक्ष हो जाय तब प्रायश्चित्त लेकर पुनः अपने तपमें संलग्न हो जायें।" श्रावकोंका उक्त वचन सुनकर यतिगण वैसा करने लगे।

जब सुभिक्ष हो गया तो रामिल्ल, स्थविर और स्थूलभद्राचार्यने सकल संघको बुलाकर अर्द्धवस्त्र छोड़ देनेका आदेश दिया और सभी विशाखाचार्यके पास गये और नैर्ग्रन्थ्यरूप धारण किया। जिनको गुरुके वचन रुचिकर प्रतीत नहीं हुए उन शक्तिहीनोंने जिनकल्प और स्थविरकल्पका भेद करके अर्द्धफालक सम्प्रदायका प्रचलन किया।'

उपर्युक्त आख्यानका अन्य ऐतिहासिक संदर्भो में अध्ययन करनेपर अवगत होता है कि स्थविर और स्थूलभद्र भद्रबाहुके समकालीन हैं। दिगम्बर परंपरामें श्रुतकेवली भद्रबाहुको जो स्थान प्राप्त है, श्वेताम्बर परम्परामें वही स्थान स्थूलभद्रको प्राप्त है। श्वेताम्बर सम्प्रदायकी आचार्यपरम्पराका प्रारम्भ श्रुतकेवली भद्रबाहुसे न होकर स्थूलभद्राचार्यसे होता है। अतएव संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि दिगम्बर आरातियोंकी परम्परा श्रुतकेवली भद्रबाहुसे प्रारम्भ होती है। इस परम्पराके आचार्योंमें भेद करना शक्य नहीं है, क्योंकि सभी आचार्यों ने गौतम गणधर द्वारा ग्रथित श्रुतका ही विवेचन किया है। विषयवस्तु वही रही है, जिसका निरूपण तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनि द्वारा हुआ है। विभिन्न समयोंमें उत्पन्न होनेके कारण इन आचार्योंने केवल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार अभिव्यञ्जना शक्तिका ही रूपान्तर किया है। तथ्य समान होते हुए भी कथन करनेकी प्रक्रिया भिन्न है। हम सुविधाकी दृष्टिसे

दिगम्बर आरातियोंको परम्पराको निम्नलिखित पांच भागोंमें विभक्त कर विवेचन उपस्थित करेंगे।

१. श्रुतधराचार्य।

२. सारस्वताचार्य।

३. प्रबुद्धाचार्य।

४. परम्परापोषकाचार्य।

५. कवि और लेखक—आचार्य तुल्य।

१. **श्रुतधराचार्यसे** अभिप्राय हमारा उन आचार्यों से है, जिन्होंने सिद्धान्त, साहित्य, कर्मसाहित्य, अध्यात्मसाहित्यका ग्रथन दिगम्बर आचार्यों के चारित्र और गुणोंका जीवनमें निर्वाह करते हुए किया है। यों तो प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगका पूर्व परम्पराके आधारपर ग्रन्थरूपमें प्रणयन करनेका कार्य सभी आचार्य करते रहे हैं, पर केवली और श्रुतकेवलियोंकी परम्पराको प्राप्त कर जो अंग या पूर्वों के एकदेशज्ञाता आचार्य हुए हैं उनका इतिवृत्त श्रुतधर आचार्यों को परम्पराके अन्तर्गत प्रस्तुत किया जायगा। अतएव इन आचार्योंमें गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य, आर्यमंक्षु, नागहस्ति, कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छाचार्य और वप्पदेवकी गणना की जा सकती है।

श्रुतधराचार्य युगसंस्थापक और युगान्तरकारी आचार्य हैं। इन्होंने प्रतिभाके क्षीण होनेपर नष्ट होती हुई श्रुतपरम्पराको मूर्त्त रूप देनेका कार्य किया है। यदि श्रुतधर आचार्य इस प्रकारका प्रयास नहीं करते तो आज जो जिनवाणी अवशिष्ट है, वह दिखलायी नहीं पड़ती। श्रुतधराचार्य दिगम्बर आचार्यों के मूलगुण और उत्तरगुणोंसे युक्त थे और परम्पराको जीवित रखनेकी दृष्टिसे वे ग्रन्थ-प्रणयनमें संलग्न रहते थे। श्रुतकी यह परम्परा अर्थश्रुत और द्रव्यश्रुतके रूपमें ई० सन् पूर्वकी शताब्दियोंसे आरम्भ होकर ई० सन्की चतुर्थ-पंचम शताब्दी तक चलती रही है। अतएव श्रुतधर परम्परामें कर्मसिद्धान्त, लोकानुयोग एवं सूत्र रूपमें ऐसा निबद्ध साहित्य, जिसपर उत्तरकालमें टीकाएँ, विवृत्तियाँ एवं भाष्य लिखे गये हैं, का निरूपण समाविष्ट रहेगा।

२. **सारस्वताचार्यसे** हमारा अभिप्राय उन आचार्योंसे है, जिन्होंने प्राप्त हुई श्रुतपरम्पराका मौलिक ग्रन्थप्रणयन और टीका साहित्य द्वारा प्रचार और प्रसार किया है। इन आचार्यों में मौलिक प्रतिभा तो रही है, पर श्रुतधरोंके समान अंग और पूर्व साहित्यका ज्ञान नहीं रहा है। इन आचार्यों में समन्तभद्र पूज्यपाद-देवनन्दि, पात्रकेसरी, जोइन्दु, ऋषिपुत्र, अकलंक, वीरसेन, जिनसेन,

मानतुंग, एलाचार्य, जटासिंहनन्दि, वीरनन्दि, विद्यानन्द आदि आचार्य परिगणित हैं।

३. **प्रबुद्धाचार्य**से हमारा अभिप्राय ऐसे आचार्योंसे है, जिन्होंने अपनी प्रतिभा द्वारा ग्रन्थप्रणयनके साथ विवृत्तियाँ और भाष्य भी रचे हैं। यद्यपि सारस्वताचार्य और प्रबुद्धाचार्य दोनोंमें ही प्रतिभाका बाहुल्य है, पर दोनोंकी प्रतिभाके तारतम्यमें अन्तर है। जितनी सूक्ष्म निरूपणशक्ति सारस्वताचार्योंमें पायी जाती है, उतनी सूक्ष्म निरूपणशक्ति प्रबुद्धाचार्योंमें नहीं है। कल्पनाकी रमणीयता या कल्पनाकी उड़ान प्रबुद्धाचार्योंमें अधिक है, और इस श्रेणीके सभी आचार्य प्रायः कवि हैं। इनका गद्य और पद्य भी अलंकृत शैलीका है। अतः अभिव्यञ्जनाकी सशक्त काव्यशक्तिके रहनेपर भी सिद्धान्तनिरूपणकी वह क्षमता नहीं है, जो क्षमता सारस्वताचार्य या श्रुतधराचार्योंमें पायी जाती है। इस श्रेणीके आचार्योंमें जिनसेन प्रथम, प्रभाचन्द्र, नरेन्द्रसेन, भावसेन, आर्यनन्दि, नेमिचन्द्रगणि, पद्मनन्दि वादीभसिंह, हरिषेण, वादिराज, पद्मनन्दि-जम्बूद्वीपपण्णत्तीकार, महासेन, सोमदेव, हस्तिमल्ल, रामसिंह, नयनन्दि, माधवचन्द्र-त्रैविद्य, विश्वसेन, जयसेनाचार्य द्वितीय, अनन्तवीर्य एवं इन्द्रनन्दि आदिकी गणना की जा सकती है। इन आचार्योंने पदयात्रा द्वारा भारतका भ्रमण किया और अपभ्रंश एवं संस्कृत आदि भाषाओंमें ग्रन्थ-रचना की।

४. **परम्परापोषक** आचार्योंसे हमारा अभिप्राय उन भट्टारकोंसे है जिन्होंने दिगम्बर परम्पराकी रक्षाके लिए प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्मित ग्रन्थोंके आधार पर अपने नवीन ग्रन्थ लिखे। सारस्वताचार्य और प्रबुद्धाचार्यमें जैसी मौलिक प्रतिभा समाविष्ट थी, वैसी मौलिक प्रतिभा परम्परापोषक आचार्योंमें नहीं पायी जाती। नयी सम्भावनाओंका विकास इन आचार्यों द्वारा नहीं हो सका है। पिष्टपेषणका कार्य ही इन आचार्योंके द्वारा हुआ है। यों तो संस्कृति निर्माताओंके रूपमें अनेक परम्परापोषक आचार्य आते हैं, पर वाङ्मय-सृजनकी मौलिक प्रतिभा और अध्ययन-गाम्भीर्य प्रायः इन्हें प्राप्त नहीं था। धना-मानी शिष्योंसे वेष्टित रहकर, मन्त्र-तन्त्र या जादू-टोनेकी चर्चाएँ कर, जनसाधारणको ये अपनी ओर आकृष्ट करते रहते थे। धर्मप्रचार करना, जनसाधारणको धर्मके प्रति श्रद्धालु बनाये रखना एवं सरस्वतीका संरक्षण करना प्रायः परम्परापोषक आचार्योंका लक्ष्य हुआ करता था। यही कारण है कि इन आचार्यों द्वारा गद्दियों पर समृद्ध ग्रन्थागार स्थापित किये गये। मौलिक ग्रन्थ-प्रणयनके साथ आर्ष और मान्य कवियों एवं श्रुतधरों द्वारा रचित वाङ्मय, काव्य एवं आध्यात्मसाहित्यकी प्रतिलिपियाँ भी इनके तत्त्वावधानमें प्रस्तुत की गयी हैं।

परम्परापोषक आचार्योंने युगानुसार रचनाएँ न लिखकर धर्मप्रचारार्थ कथाकाव्य या दर्शनसम्बन्धी ग्रन्थोंका प्रणयन किया है। धर्म और संस्कृतिके दायित्वका निर्वाह लगभग पाँच छह सौ वर्षों तक इन आचार्योंके द्वारा होता रहा है। ये आचार्य आरम्भमें निश्चयतः निस्पृही, त्यागी, ज्ञानी एवं जितेन्द्रिय थे। स्वयं विद्वान् होनेके साथ मनीषी विद्वान्का सम्पोषण भी इन्हींकी गद्दियोंसे होता था। परम्परापोषक आचार्योंका लक्ष्य ग्रन्थोंके संख्याबाहुल्यपर था, मौलिक रचनाकी ओर नहीं।

इस श्रेणीके आचार्योंमें भास्करनन्दि, सकलकीर्ति, वामदेव, सिंहसूरि, मल्लिषेण, श्रुतसागर, अजितसेन, वर्द्धमानभट्टारक, ज्ञानकीर्ति, ब्रह्मनेमिदत्त, वादिचन्द्र, सोमकीर्ति, विबुधश्रीधर, अमरकीर्ति, देवचन्द्र, यशःकीर्ति, हरिचन्द्र, तेजपाल, पूर्णभद्र, दामोदर, त्रिविक्रम, ज्ञानकीर्ति, विद्यानन्दि, ब्रह्मश्रुतसागर, पद्मनन्दि, नेमिचन्द्र, सहस्रकीर्ति, जिनेन्द्रभूषण, धर्मभूषण, गुणचन्द्र, शुभचन्द्र, शुभकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति, चारित्रभूषण, नागदेव, चन्द्रकीर्ति, जयकीर्ति, सुमतिसागर, अरुणमणि, श्रीनन्दि, श्रीचन्द्र, कमलकीर्ति आदि प्रमुख हैं। इन आचार्योंने निम्नलिखित रूपमें वाङ्मयकी सेवा की है—

१. पौराणिक चरित-काव्य
२. लघुप्रबन्ध कथाकाव्य
३. दूत-काव्य
४. न्याय-दर्शन विषयक साहित्य
५. अध्यात्म-साहित्य
६. प्रबन्धात्मक प्रशस्तिमूलक ऐतिहासिक काव्य
७. सन्धान-काव्य
८. सूक्ति, आचारमूलक काव्य
९. स्तोत्र और पूजाभक्ति साहित्य
१०. नाटक
११. विविध विषयक समस्यापूर्त्यात्मक काव्य
१२. संहिता-विषयक साहित्य

कवि और लेखक—दिगम्बर परम्पराके श्रुतका संरक्षण और विस्तार आचार्योंके अतिरिक्त गृहस्थ लेखक और कवियोंने भी किया है। पंडित आशाधर जैसे बहुश्रुतज्ञ विद्वान् इस परम्परामें हुए हैं। जिन्होंने मौलिक रचनाओंके साथ अनेक ग्रन्थोंके टीका और टिप्पण भी लिखे हैं। महाकवि रइधू, असग, हरिचन्द आदिने भी रचनाएँ लिखकर आरातीय परम्पराके विकासमें योगदान

दिया है। आचार्य जिनसेन, महाकवि पुष्पदन्तकी परम्पराका विकास विभिन्न भाषाओं द्वारा रचित वाङ्मयके आधारपर किया है। प्रबुद्ध आचार्यों ने जिन पौराणिक महाकाव्योंके रचनातन्त्रका प्रारंभ किया था, उस रचनातन्त्रका सम्यक् विकास इन कवियोंके द्वारा हुआ। संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, तेलगु आदि भाषाओंमें कवियों और लेखकोंने सिद्धान्त और आचारविषयक रचनाएँ लिखकर श्रुतपरंपराका विकास किया है। ये लेखक और कवि भी वाङ्मयके स्रष्टा और संवर्द्धक हैं।

इस श्रेणीके कवि और लेखकोंमें असग, हरिचन्द, अर्हद्दास. आशाधर, धर्मधर, दोडय्य, जगन्नाथ, लक्ष्मीचन्द्र, रामचन्द्र मुमुक्षु, पद्मनाभ कायस्थ, बनारसीदास, पंडित रामचन्द्र, ब्रह्मकामराज, रूपचन्द्र, रूपचन्द्र पाण्डेय, हरपाल, केशवसेन, अक्षयराम, देवदत्त, पंडित धरसेन, शिवभिराम, ब्रह्मराजमल आदि प्रमुख हैं। साधारणत: इन कवि और लेखकोंमें अधिकांशका संबन्ध भट्टारकोंके साथ है। यह भी संभव है कि इनमेंसे दो चार कवि या लेखक भट्टारक भी रहे हों, पर रचनाओंसे इनका जीवन सांसारिक गृहस्थके समान ही प्रतीत होता है। इसी कारण हमने इनकी गणना कवि और लेखकोंमें की है।

श्रुतधराचार्य

आचार्य गुणधर और उनकी रचनाएँ

श्रुतधराचार्यों की परंपरामें सर्वप्रथम आचार्य गुणधरका नाम आता है। गुणधर और धरसेन दोनों ही श्रुत-प्रतिष्ठापकके रूपमें प्रसिद्ध हैं। गुणधर आचार्य धरसेनकी अपेक्षा अधिक ज्ञानी थे। गुणधरको 'पञ्चमपूर्वगत पेज्जदोसपाहुड' का ज्ञान प्राप्त था और धरसेनको 'पूर्वगत कम्मपयडिपाहुड' का। इतना ही नहीं, किन्तु गुणधरको 'पेज्जदोसपाहुड'के अतिरिक्त 'महाकम्मपयडिपाहुड'का भी ज्ञान प्राप्त था, जिसका समर्थन 'कसायपाहुड'से होता है। 'कसायपाहुड'में बन्ध, संक्रमण, उदय और उदीरणा जैसे पृथक् अधिकार दिये गये हैं। ये अधिकार 'महाकम्मपयडिपाहुड'के चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे क्रमशः षष्ठ, द्वादश और दशम अनुयोगद्वारोंसे संबद्ध हैं। 'महाकम्मपयडिपाहुड'का चौबीसवाँ अल्पबहुत्व नामक अनुयोगद्वार भी 'कसायपाहुड'के सभी अर्थाधिकारोंमें व्याप्त है। अतः स्पष्ट है कि आचार्य गुणधर 'महाकम्मपयडिपाहुड'के ज्ञाता होनेके साथ 'पेज्जदोसपाहुड' के ज्ञाता और 'कसायपाहुड'के रूपमें उसके उपसंहारकर्त्ता भी थे। पर 'छक्खंडागम'की धवला-टीकाके अध्ययनसे ऐसा ज्ञात नहीं होता कि धरसेन 'पेज्जदोसपाहुड'के ज्ञाता थे। अतएव आचार्य गुणधरको दिगंबर परंपरामें लिखित रूपमें प्राप्त श्रुतका प्रथम श्रुतकार माना जा सकता है। धरसेनने किसी ग्रन्थकी

रचना नहीं की। जबकि गुणधरने 'पेज्जदोसपाहुड'की रचना की है। जयधवलाके मंगलाचरणके पद्यसे ज्ञात होता है कि आचार्य गुणधरने कसायपाहुडका गाथाओं द्वारा व्याख्यान किया है।

जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जलं अणंतत्थं।
गाहाहि विवरियं तं गुणहरभडारयं वंदे ॥ ६ ॥

इसके अनन्तर आचार्य वीरसेनने लिखा है—ज्ञानप्रवादपूर्वके निर्मल दसवें वस्तु अधिकारके तृतीय कसायपाहुडरूपी समुद्रके जलसमूहसे प्रक्षालित मतिज्ञानरूपी नेत्रधारी एवं त्रिभुवन-प्रत्यक्षज्ञानकर्त्ता गुणधर भट्टारक हैं और उनके द्वारा उपदिष्ट गाथाओंमें सम्पूर्ण कसायपाहुडका अर्थ समाविष्ट है। आचार्य वीरसेनने उसी संदर्भमें आगे लिखा है कि तीसरा कषायप्राभृत महासमुद्रके तुल्य है और आचार्य गुणधर उसके पारगामी हैं।

वीरसेनाचार्यके उक्त कथनसे यह ध्वनित होता है कि आचार्य गुणधर पूर्वविदोंकी परम्परामें सम्मिलित थे, किन्तु धरसेन पूर्वविद् होते हुए भी पूर्वविदोंकी परम्परामें नहीं थे। एक अन्य प्रमाण यह भी है कि धरसेनकी अपेक्षा गुणधर अपने विषयके पूर्ण ज्ञाता थे। अतः यह माना जा सकता है कि गुणधर ऐसे समयमें हुए थे जब पूर्वोंके आंशिक ज्ञानमें उतनी कमी नहीं आयी थी, जितनी कमी धरसेनके समयमें आ गयी थी। अतएव गुणधर धरसेनके पूर्ववर्त्ती हैं।

समय-विचार

आचार्य गुणधरके समयके सम्बन्धमें विचार करनेपर ज्ञात होता है कि इनका समय धरसेनके पूर्व है। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें लोहार्य तककी गुरु-परम्पराके पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आचार्योंका उल्लेख किया गया है। ये सभी आचार्य अंगों और पूर्वोंके एकदेशज्ञाता थे। इनके पश्चात् अर्हद्बलिका नाम आया है। अर्हद्बलि बड़े भारी संघनायक थे। इन्हें पूर्वदेशके पुण्ड्रवर्धनपुरका निवासी कहा गया है। इन्होंने पञ्चवर्षीय युगप्रतिक्रमणके समय बड़ा भारी एक यति-सम्मेलन किया, जिसमें सौ योजन तकके यति सम्मिलित हुए। इन यतियोंको भावनाओंसे अर्हद्बलिने ज्ञात किया कि अब पक्षपातका समय आ गया है। अतएव इन्होंने नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पञ्चस्तूप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त, सिंह, चन्द्र आदि नामोंसे भिन्न-भिन्न संघ स्थापित किये, जिससे परस्परमें धर्मवात्सल्यभाव वृद्धिगत हो सके।

संघके उक्त नामोंसे यह स्पष्ट होता है कि गुणधरसंघ आचार्य गुणधरके नाम पर ही था। अतः गुणधरका समय अर्हद्बलिके समकालीन या उनसे भी

पूर्व होना चाहिए। इन्द्रनन्दिको गुणधर और धरसेनका पूर्व या उत्तरवर्त्तित्व ज्ञात नहीं है। अतएव उन्होंने स्वयं अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए लिखा है—

> गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
> न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥ १५१ ॥[1]

अर्थात् गुणधर और धरसेनकी पूर्वापर गुरुपरम्परा हमें ज्ञात नहीं है क्योंकि इसका वृत्तान्त न तो हमें किसी आगममें मिला और न किसी मुनिने ही बतलाया।

स्पष्ट है कि इन्द्रनन्दिके समय तक आचार्य गुणधर और धरसेनका पूर्वापर-वर्त्तित्व स्मृतिके गर्भमें विलीन हो चुका था। पर इतना स्पष्ट है कि अर्हद्बलि द्वारा स्थापित संघोंमें गुणधरसंघका नाम आया है। नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावली में अर्हद्बलिका समय वीर निर्वाण सं० ५६५ अथवा वि० सं० ९५ है। यह स्पष्ट है कि गुणधर अर्हद्बलिके पूर्ववर्त्ती हैं; पर कितने पूर्ववर्त्ती हैं, यह निर्णयात्मक रूपसे नहीं कहा जा सकता। यदि गुणधरकी परम्पराको ख्याति प्राप्त करनेमें सौ वर्षका समय मान लिया जाय तो 'छक्खंडागम' प्रवचनकर्त्ता धरसेनाचार्य-से 'कसायपाहुड'के प्रणेता गुणधराचार्यका समय लगभग दो सौ वर्ष पूर्व सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आचार्य गुणधरका समय वि० पू० प्रथम शताब्दी सिद्ध होता है।

हमारा यह अनुमान केवल कल्पना पर आधृत नहीं है। अर्हद्बलिके समय तक गुणधरके इतने अनुयायी यति हो चुके थे कि उनके नामपर उन्हें संघकी स्थापना करनी पड़ी। अतएव अर्हद्बलिको अन्य संघोंके समान गुणधर संघका भी मान्यता देनी पडी। प्रसिद्धि प्राप्त करते और अनुयायी बनानेमें कमसे कम सौ वर्षका समय तो लग हो सकता है। अतः गुणधरका समय धरसेनसे कमसे कम दो सौ वर्ष पूर्व अवश्य होना चाहिये।

इनके गुरु आदिके सम्बन्धमें कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है। गुणधरने इस ग्रन्थकी रचना कर आचार्य नागहस्ति और आर्यमंक्षुको इसका व्याख्यान किया था। अतएव इनका समय उक्त आचार्योंसे पूर्व है। छक्खंडागमके सूत्रों-के अध्ययनसे भी यह अवगत होता है कि 'पेज्जदोसपाहुड'का प्रभाव इसके सूत्रों पर है। भाषाकी दृष्टिसे भी छक्खंडागमकी भाषा कसायपाहुडकी भाषाकी

---

१. इन्द्रनन्दि, श्रुतावतार पद्य १५१.

अपेक्षा अर्वाचीन है। अतः गुणधरका समय वि० पू० प्रथम शताब्दी मानना सर्वथा उचित है। जयधवलाकारने लिखा है—

"पुणो ताओ चेव सुत्तगाहाओ आइरियपरंपराए आगच्छमाणीओ अज्जमंखुणागहत्थीणं पत्ताओ। पुणो तेसिं दोण्हं पि पादमूले असीदिसदगाहाणं गुणहरमुहकमलविणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभडारएण पवयणवच्छलेण चुण्णिसुत्तं कयं।"[1]

अर्थात् गुणधराचार्यके द्वारा १८० गाथाओंमें कसायपाहुडका उपसंहार कर दिये जाने पर वे ही सूत्रगाथाएँ आचार्यपरम्परासे आती हुई आयमंक्षु और नागहस्तिको प्राप्त हुई। पश्चात् उन दोनों ही आचार्योंके पादमूलमें बैठकर गुणधराचार्यके मुखकमलसे निकली हुई उन १८० गाथाओंके अर्थको भले प्रकारसे श्रवण करके प्रवचनवात्सल्यसे प्रेरित हो यतिवृषभ भट्टारकने उनपर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की। इस उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि आचार्य गुणधरने महान् विषयको संक्षेपमें प्रस्तुत कर सूत्रप्रणालीका प्रवर्त्तन किया। गुणधर दिगम्बर परम्पराके सबसे पहले सूत्रकार हैं।

रचना

गुणधराचार्यने 'कसायपाहुड', जिसका दूसरा नाम 'पेज्जदोसपाहुड' भी है, की रचना की है। १६००० पद प्रमाण कसायपाहुडके विषयको संक्षेपमें एकसौ अस्सी गाथाओंमें ही उपसंहृत कर दिया है।

'पेज्ज' शब्दका अर्थ राग है। यतः यह ग्रन्थ राग और द्वेषका निरूपण करता है। क्रोधादि कषायोंको रागद्वेष परिणति और उनकी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेशबन्ध सम्बन्धी विशेषताओंका विवेचन ही इस ग्रन्थका मूल वर्ण्य विषय है। यह ग्रन्थ सूत्रशैलीमें निबद्ध है। गुणधरने गहन और विस्तृत विषयको अत्यन्त संक्षेपमें प्रस्तुत कर सूत्रपरम्पराका आरंभ किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थके निरूपणकी प्रतिज्ञा करते हुए गाथाओंको सुत्तगाहा कहा है—

गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि।
वोच्छामि सुत्तगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि॥ २॥[2]

स्पष्ट है 'कसायपाहुड'की शैली गाथासूत्र-शैली है। प्रश्न यह है कि इन गाथाओंको सूत्रगाथा कहा जाय अथवा नहीं? विचार करनेसे ज्ञात होता है कि 'कसायपाहुड' की गाथाओंमें सूत्रशैलीके सभी लक्षण समाहित हैं। इस

---

१. कसायपाहुडसुत्त, भाग १ पृ० ८८.

१. कसायपाहुडसुत्त, गाथा २.

ग्रन्थकी जयधवला-टीकामें आचार्य वीरसेनने आगमदृष्टिसे सूत्रशैलीका लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

सुत्तं गणहरकहियं तहेय पत्तेयबुद्धकहियं च ।
सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विकहियं च ।।[1]

अर्थात् जो गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदसपूर्वियों द्वारा कहा जाय वह सूत्र है ।

अब यहाँ प्रश्न यह है कि गुणधर भट्टारक न तो गणधर हैं, न प्रत्येकबुद्ध हैं, न श्रुतकेवली हैं और न अभिन्नदशपूर्वी हैं । अतः पूर्वोक्त लक्षणके अनुसार इनके द्वारा रचित गाथाओंको सूत्र कैसे माना जाय ? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य वीरसेनने लिखा है कि आगमदृष्टिसे सूत्र न होने पर भी शैलीकी दृष्टिसे ये सभी गाथाएँ सूत्र हैं—'इदि वयणादो णेदाओ गाहाओ सुत्तं गणहर-पत्तेयबुद्ध-सुदकेवलि-अभिण्णदसपुव्वीसु गुणहरभडारयस्स अभावादो; ण, णिद्दोसप्पक्खरसहेउपमाणेहि सुत्तेण सरिसत्तमत्थि त्ति सुत्तत्तुवलंभादो ।' अर्थात् गुणधर भट्टारककी गाथाएँ निर्दोष, अल्पाक्षर एवं सहेतुक होनेके कारण सूत्रके समान हैं ।

सूत्रशब्दका वास्तविक अर्थ बीजपद है । तीर्थंकरके मुखसे निस्सृत बीज-पदोंको सूत्र कहा जाता है और इस सूत्रके द्वारा उत्पन्न होनेवाला ज्ञान सूत्र-सम कहलाता है—

'इदि वयणादो तित्थयरवयणविणिग्गयबीजपदं सुत्तं । तेण सुत्तेण समं वट्टदि उप्पज्जदि त्ति गणहरदेवम्मि ट्ठिदसुदणाणं सुत्तसमं' ।[2]

बन्धन अनुयोगद्वारमें सूत्रका अर्थ श्रुतकेवली या द्वादशांगरूप शब्दागम लिया गया है और श्रुतकेवलीके समान श्रुतज्ञानको भी सूत्रसम कहा है; पर कृतिअनुयोगद्वारमें जो सूत्रकी परिभाषा बतलायी गयी है उसके अनुसार द्वादशांगका सूत्रागममें अन्तर्भाव न होकर ग्रन्थागममें अन्तर्भाव होता है । यतः कृतिअनुयोगद्वारमें गणधर द्वारा रचे गये द्रव्यश्रुतको ग्रन्थागम कहा है ।

आचार्य वीरसेनका अभिमत है कि सूत्रकी समग्र परिभाषा जिनेन्द्र द्वारा कथित अर्थपदोंमें ही पायी जाती है, गणधरदेवके द्वारा ग्रथित द्वादशांगमें नहीं । इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि गुणधर आचार्य द्वारा विरचित 'कसायपाहुड' में आगमसम्मत सूत्रकी परिभाषा घटित नहीं होती; पर

---

१. जयधवलाटीका, प्रथम खण्ड, पृ० १५३.

२. कृति अ० ष० आ० पृ० ५५६ ।

सूत्रशैलीके समस्त लक्षण इसमें समाहित हैं। आचार्य वीरसेनने जयधवलामें 'कसायपाहुड' को सूत्रग्रन्थ सिद्ध करते हुए लिखा है—

"एवं सव्वं पि सुत्तलक्खणं जिणवयणकमलविणिग्गयअत्थपदाणं चेव संभवइ, ण गणहरमुहविणिग्गयगंथरयणाए, तत्थ महापरिमाणत्तुवलंभादो; ण; सच्च (सुत्त) सारिच्छमस्सिदूण तत्थ वि सुत्तत्तं पडि विरोहाभावादो।"[1]

अर्थात् सूत्रका सम्पूर्ण लक्षण तो जिनदेवके मुखकमलसे निस्सृत अर्थपदोंमें ही संभव है, गणधरके मुखकमलसे निकली हुई रचनामें नहीं; क्योंकि गणधरकी रचनाओंमें महापरिमाण पाया जाता है। इतना होनेपर भी गणधरके वचन भी सूत्रके समान होनेके कारण सूत्र कहलाते हैं। अतः उनकी ग्रन्थरचनामें भी सूत्रत्वके प्रति कोई विरोध नहीं है। गणधरवचन भी बीजपदोंके समान सूत्ररूप है। अतएव गुणधर भट्टारकको रचना 'कसायपाहुड'में सूत्रशैलीके सभी प्रमुख लक्षण घटित होते हैं। यहाँ विश्लेषण करनेपर निम्नलिखित सूत्रलक्षण उपलब्ध हैं—

१. अर्थमत्ता
२. अल्पाक्षरता
३. असंदिग्धता
४. निर्दोषता
५. हेतुमत्तता
६. सारयुक्तता
७. सोपस्कारता
८. अनवद्यता
९. प्रामाणिकता

स्पष्ट है कि कसायपाहुडकी गाथाओंकी शैली सूत्रशैली है। इस ग्रन्थमें १८० + ५३ = २३३ गाथाएँ हैं। इनमें १२ गाथाएँ सम्बन्धज्ञापक हैं, छः गाथाएँ अद्धापरिमाणका निर्देश करती हैं और ३५ गाथाएँ संक्रमणवृत्तिसे सम्बद्ध हैं। जयधवलाके अनुसार ये समस्त २३३ गाथाएँ आचार्य गुणधर द्वारा विरचित हैं। यहाँ यह शंका स्वभावतः उत्पन्न होती है कि जब ग्रन्थमें २३३ गाथाएँ थीं, तो ग्रन्थके आदिमें गुणधराचार्यने १८० गाथाओंका ही क्यों निर्देश किया? आचार्य वीरसेनने इस शंकाका समाधान करते हुए बताया है कि १५ अधिकारोंमें विभक्त होनेवाली गाथाओंकी संख्या १८० रहनेके कारण गुणधराचार्यने

---

१. जयधवला, प्रथम भाग, पृ० १५४.

१८० गाथाओंकी संख्या निर्दिष्ट की है। सम्बन्ध-गाथाएँ तथा अद्धापरिमाण-निर्देशक गाथाएँ इन १५ अधिकारोंमें सम्मिलित नहीं हो सकती हैं। अतः उनकी संख्या छोड़ दी गयी है।

आचार्य वीरसेनने पुनः शंका उपस्थित की है कि संक्रमण-सम्बन्धी ३५ गाथाएँ बन्धक नामक अधिकारमें समाविष्ट हो सकती हैं, तब क्यों उनकी गणना उपस्थित नहीं की? इस शंकाका समाधान करते हुए उन्होंने लिखा है कि प्रारंभके पाँच अर्थाधिकारोंमें केवल तीन ही गाथाएँ हैं और उन तीन गाथाओंसे निबद्ध हुए पाँच अधिकारोंमेंसे बन्धक नामक अधिकारसे ही उक्त ३५ गाथाएँ सम्बद्ध हैं। अतः इन ३५ गाथाओंको १८० गाथाओंकी संख्यामें सम्मिलित करना कोई महत्त्वकी बात नहीं है। हमारा अनुमान है कि जिन ५३ गाथाओंकी गणना आचार्य गुणधरने नहीं की है वे गाथाएँ संभवतः नागहस्तिद्वारा विरचित होनी चाहिए। हमारे इस अनुमानकी पुष्टि जयधवलासे भी होती है। जयधवलामें[1] मतान्तरसे उक्त ५३ गाथाओंको नागहस्तिकृत माना है।

एक बात यह भी विचारणीय है कि सम्बन्धनिर्देशक १२ गाथाओं और अद्धापरिमाणनिर्देशक छः गाथाओं पर यतिवृषभके चूर्णिसूत्र भी उपलब्ध नहीं हैं। यदि ये गाथाएँ गुणधर भट्टारक द्वारा विरचित होतीं तो यतिवृषभ इनपर अवश्य ही चूर्णिसूत्र लिखते। दूसरी बात यह कि संक्रमणसे सम्बद्ध ३५ गाथाओंमेंसे १३ गाथाएँ शिवशर्म रचित कर्मप्रकृतिमें भी पायी जाती हैं। यह सत्य है कि उक्त तथ्योंसे ५३ गाथाओंके रचयिता नागहस्ति सिद्ध नहीं होते, पर इसमें आशंका नहीं कि उक्त ५३ गाथाएँ गुणधर भट्टारक द्वारा विरचित नहीं। यद्यपि आचार्य वीरसेनने व्याख्याकारोंके मतोंको स्वीकार नहीं किया है तो भी समीक्षाकी दृष्टिसे ५३ गाथाओंको गुणधर भट्टारक द्वारा विरचित नहीं माना जा सकता है। रचनाशैलीकी दृष्टिसे १८० गाथाओंकी अपेक्षा ५३ गाथाओंकी शैली भिन्न प्रतीत होती है। एक अनुमान यह भी है कि आचार्य गुणधरने १८० गाथाओंको १५ अधिकारोंमें विभक्त करनेवाली प्रतिज्ञा नहीं की है। उनकी प्रतिज्ञा तो यह होनी चाहिए थी कि सोलह हजार पद प्रमाण कषायप्राभृतको एक-सौ अस्सी गाथाओंमें संक्षिप्त करता हूँ। वस्तुतः गुणधराचार्य कषाय-

---

१. 'असीदिसदगाहाओ मोत्तूण अवसेससंबंधद्धापरिमाणणिद्देससंकमणगाहाओ जेण णागहत्थिआइरियकयाओ तेण 'गाहासदे असीदे' त्ति भणिदूण णागहत्थिआइरिएण पइज्जा कदा इदि के वि वक्खाणाइरिया भणंति, तण्ण घडदे।'—कसायपाहुड, प्रथम भाग, पृ० १८३.

प्राभृतको उपसंहृत करनेके लिए प्रवृत्त हुए थे, स्वरचित गाथाओंको अधिकारोंमें विभक्त करनेके लिए नहीं।

'सत्तेदा गाहाओ'; 'एदाओ सुत्त गाहाओं' आदि पदोंसे यह ध्वनित होता है कि इन गाथाओंकी रचनासे पूर्व मूलगाथाओं और भाष्यगाथाओंकी रचना हो चुकी थी। अन्यथा अमुक गाथासूत्र है, इस प्रकारका कथन संभव ही नहीं था। अतएव व्याख्याकारोंके, 'गाहासदे असीदे' प्रतिज्ञावाक्य नागहस्तिका है, इस अभिमतको सर्वथा उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता है।

कसायपाहुडमें १५ अधिकार हैं जो निम्न प्रकार हैं—

१. प्रकृति-विभक्ति अधिकार
२. स्थिति-विभक्ति अधिकार
३. अनुभाग-विभक्ति अधिकार
४. प्रदेश-विभक्ति-झीणाझीण-स्थित्यन्तिक
५. बंधक अधिकार
६. वेदक अधिकार
७. उपयोग अधिकार
८. चतुःस्थान अधिकार
९. व्यञ्जन अधिकार
१०. दर्शनमोहोपशमना अधिकार
११. दर्शनमोहक्षपणा अधिकार
१२. संयमासंयमलब्धि अधिकार
१३. संयमलब्धि अधिकार
१४. चारित्रमोहोपशमना
१५. चारित्रमोहक्षपणा

१. प्रकृति-विभक्ति—अधिकारका अन्य नाम 'पेज्जदोस-विभत्ति' है। यतः कषाय पेज्ज—राग या द्वेषरूप होती है। चूर्णिसूत्रोंमें क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंका विभाजन राग और द्वेषमें किया है। नैगम और संग्रहनयकी दृष्टिसे क्रोध और मान द्वेषरूप हैं तथा माया और लोभ रागरूप हैं। व्यवहारनय मायाको भी द्वेषरूप मानता है। यतः लोकमें मायाचारीकी निन्दा होती है। ऋजुसूत्रनय क्रोधको द्वेषरूप तथा लोभको रागरूप मानता है। मान और माया न तो रागरूप हैं और न द्वेषरूप ही; क्योंकि मान क्रोधोत्पत्तिके द्वारा द्वेषरूप है तथा माया लोभोत्पत्तिके कारण रागरूप है—स्वयं नहीं। अतः इस परम्पराका व्यवहार ऋजुसूत्रनयकी सीमामें नहीं आता।

तीनों शब्दनय चारों कषायोंको द्वेषरूप मानते हैं क्योंकि उनसे कर्मोंका आस्रव होता है। राग और द्वेषोंका विवेचन द्वादश अनुयोगद्वारोंमें किया गया है—एक जीवको अपेक्षा स्वामित्व, काल और अन्तर तथा नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्वानुगम।

२. स्थिति-विभक्ति—आत्माकी शक्तियोंको आवृत्त करनेवाला कर्म कहलाता है। यह पुद्गलरूप होता है। इस लोकमें सूक्ष्म कर्मपुद्गलस्कन्ध भरे हुए हैं जो इस जीवकी कायिक, वाचनिक और मानसिक प्रवृत्तिके साथ आकृष्ट होकर स्वतः आत्मासे बद्ध हो जाते हैं। कर्मपरमाणुओंको आकृष्ट करनेका कार्य योग द्वारा होता है। यह योग मन, वचन, काय रूप है। इस योगकी जैसी शुभाशुभ या तीव्र-मन्दरूप परिणति होती है उसीप्रकार कर्मोंका आस्रव होता है। कषायके कारण कर्मोंमें स्थिति और अनुभाग उत्पन्न होते हैं। जब कर्म अपनी स्थिति पूरी होनेपर उदयमें आते हैं तो इष्ट या अनिष्ट फल प्राप्त होता है। इसप्रकार जीव पूर्वबद्ध कर्मके उदयसे क्रोधादि कषाय करता है और उससे नवीन कर्मका बन्ध करता है। कर्मसे कषाय और कषायसे कर्मबन्धकी परम्परा अनादि है।

कर्मबन्धके चार भेद हैं—१. प्रकृतिबन्ध, २. स्थितिबन्ध, ३. अनुभाग-बन्ध, ४. प्रदेशबन्ध। कर्मोंमें ज्ञान-दर्शनादिको रोकने और सुख-दुःखादि देनेका जो स्वभाव पड़ता है उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। कर्म बन्धनेपर कितने समय तक आत्माके साथ बद्ध रहेंगे उस समयकी मर्यादाका नाम स्थितिबन्ध है। कर्म तीव्र या मन्द जैसा फल दें उस फलदानकी शक्तिका पड़ना अनुभागबन्ध है। कर्मपरमाणुओंकी संख्याके परिमाणका नाम प्रदेशबन्ध है। प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग—मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे होते हैं। तथा स्थिति और अनु-भागबन्ध कषायसे होते हैं।

स्थिति-विभक्तिनामक इस द्वितीय अधिकारमें स्थितिबन्धके साथ प्रकृति-बन्धका भी कथन सम्मिलित है। प्रकृति और स्थितिबन्धका एक जीवकी अपेक्षा कथन स्वामित्व, काल, अन्तर, नानाजीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, काल, अन्तर, भागाभाग और अल्पबहुत्वकी दृष्टिसे किया है। कसायपाहुडमें मोहनीयकर्मका वर्णन विशेष रूपसे आया है। इस अधिकारमें प्रकृति-विभक्तिके दो भेद किये हैं। प्रथम भेद मूलप्रकृति मोहनीयकर्म है और द्वितीय भेद उत्तरप्रकृतिमें मोहनीयकर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ ग्रहण की गई हैं। इसप्रकार विभिन्न अनुयोगों द्वारा स्थिति-विभक्तिमें चौदह मार्गणाओंका आश्रय लेकर मोहनीयके २८ भेदोंकी

जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति बतलायी गई है। अद्धाच्छेद, सर्वविभक्ति, नोसर्व-विभक्ति, उत्कृष्टविभक्ति, अनुत्कृष्टविभक्ति, जघन्यविभक्ति, अजघन्यविभक्ति, सादि-विभक्ति, अनादिविभक्ति, ध्रुवविभक्ति, अध्रुवविभक्ति आदिका कथन किया है।

३. अनुभाग-विभक्ति—अधिकारमें कर्मोंकी फलदान-शक्तिका विवेचन किया गया है। आचार्यने यहाँ उस अनुभागका विचार किया है जो बन्धसे लेकर सत्ताके रूपमें रहता है। वह जितना बन्धकालमें हुआ उतना भी हो सकता है और हीनाधिक भी संभव है। उसके दो भेद हैं—१. मूलप्रकृति-अनुभाग-विभक्ति और २. उत्तरप्रकृति-अनुभागविभक्ति। इस सबका वर्णन संक्षेपमें किया है। इस अधिकारमें संज्ञाके दो भेद किये हैं—१. घातिसंज्ञा और २. स्थानसंज्ञा। मोहनीयकर्मकी घातिसंज्ञा है क्योंकि वह जीवके गुणोंका घातक है। घातीके दो भेद हैं—सर्वघाती और देशघाती। मोहनीयकर्मका उत्कृष्ट अनुभाग सर्वघाती है और अनुत्कृष्ट अनुभाग सर्वघाती और देशघाती दोनों प्रकारका है। इसी तरह जघन्य अनुभाग और अजघन्य अनुभाग देशघाती और सर्वघाती दोनों प्रकारका है। स्थान अनुभागके चार प्रकार हैं—एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक। इस प्रकार अनुभाग-विभक्तिमें अनुभागके विभिन्न भेद-प्रभेदोंका कथन किया है।

४. प्रदेश-विभक्ति—कर्मोंका बन्ध होनेपर तत्काल बन्धको प्राप्त कर्मोंको जो द्रव्य मिलता है उसे प्रदेश कहते हैं। इसके दो भेद हैं—प्रथम बन्धके समय प्राप्त द्रव्य और द्वितीय बन्ध होकर सत्तामें स्थित द्रव्य। कसायपाहुडमें इस द्वितीयका ही निरूपण आया है। मोहनीय कर्मको लेकर स्वामित्व, काल, अन्तर, भंगविचय आदि दृष्टियोंसे विचार किया है। अनुभागके दो प्रकार हैं—जीवभागाभाग और प्रदेशभागाभाग। पहलेकी चर्चामें कहा है कि उत्कृष्ट-प्रदेश-विभक्ति वाले जीव सब जीवोंके अनन्तमें भाग प्रमाण हैं। और अनुत्कृष्ट-प्रदेश-विभक्ति वाले जीव सब जीवोंके अनन्त बहुभाग प्रमाण हैं। इस प्रकार इस प्रदेश-विभक्ति अधिकारमें उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण प्रभृति कर्मोंकी स्थितियोंका भी विचार किया गया है।

५. बंधक—अधिकारमें कर्मवर्गणाओंका, मिथ्यात्व, अविरति आदिके निमित्तसे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे चार प्रकारके कर्मरूप परिणमनका कथन आया है। इस अधिकारमें बन्ध और संक्रम इन दो विषयोंका व्याख्यान किया है। गुणधर भट्टारकने इस बन्धक अधिकारमें संक्रमका भी अन्तर्भाव किया है। बन्धके दो भेद बताये हैं—१. अकर्मबन्ध और २. कर्मबन्ध। जो कार्मणवर्गणाएँ कर्मरूप परिणत नहीं हैं उनका कर्मरूप परिणत होना अकर्म-

बन्ध है और कर्मरूप परिणत पुद्गलस्कन्धोंका एक कर्मसे अपने सजातीय अन्य कर्मरूप परिणमन करना कर्मबन्ध है। यह द्वितीय कर्मबन्ध भेद ही संक्रमरूप है। यही कारण है कि इस बन्धक अधिकारमें बन्ध और संक्रम इन दोनोंका समावेश हो जाता है। आचार्यने 'कदि पयडीओ बन्धदि' आदि २३ संख्यक गाथामें इस अधिकारका वर्णन किया है।

६. वेदक अधिकार—इस अधिकारमें बताया है कि यह संसारी जीव मोहनीयकर्म और उसके अवान्तर भेदोंका कहाँ कितने काल तक सान्तर या निरन्तर किस रूपमें वेदन करता है। इस अधिकारके दो भेद हैं—उदय और उदीरणा। उदीरणा सामान्यतः उदयविशेष ही है; किन्तु इन दोनोंमें अन्तर यह है कि कर्मोंका जो यथाकाल फलविपाक होता है उसकी उदयसंज्ञा है और जिन कर्मोंका उदयकाल प्राप्त नहीं हुआ उनको उपायविशेषसे पचाना उदीरणा है। इस अधिकारको गुणधरने चार गाथासूत्रोंमें निबद्ध किया है। यहाँ उदीरणा, उदय और कारणभूत बाह्य सामग्रीका निर्देश किया गया है। प्रथम पाद द्वारा उदीरणा सूचित की गयी है। द्वितीय पाद द्वारा विस्तार सहित उदय सूचित किया है और शेष दो पादों द्वारा उदयावलिके भीतर प्रविष्ट हुई उदयप्रकृतियों और अनुदयप्रकृतियोंको ग्रहण कर प्रवेशसंज्ञावाले अर्थाधिकारका सूचन किया है।

गाथाके पूर्वार्द्धका स्पष्टीकरण करनेके पश्चात् उत्तरार्द्धमें बताया है कि क्षेत्र, भव, काल और पुद्गलोंको निमित्त कर कर्मोंका उदय और उदीरणारूप फलविपाक होता है। यहाँ क्षेत्रपदसे नरकादिगतियोंका क्षेत्र, भवपदसे एकइन्द्रियादि पर्यायोंका, कालपदसे वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा आदिका एवं पुद्गलपदसे ग्रन्थ, ताम्बूल, वस्त्र, आभरण आदि पुद्गलोंका ग्रहण किया है।

उदीरणाके समग्र विवेचनके पश्चात् गाथाके उत्तरार्द्धमें उदयका कथन किया है। उदीरणाके मूलप्रकृति उदीरणा और उत्तरप्रकृति उदीरणा ये दो भेद किये गये हैं। उत्तरवर्ती टीकाकारोंने १७ अनुयोगद्वारोंका आश्रय लेकर उदीरणाओंका विस्तृत विवेचन किया है।

वेदक अधिकारकी दूसरी गाथाका दूसरा पाद है 'को व केय अणुभागे' अर्थात् कौन जीव किस अनुभागमें मिथ्यात्व आदि कर्मोंका प्रवेशक है। गाथासूत्रके इस पादकी व्याख्या चूर्णिसूत्रकार और टीकाकारोंने विस्तारपूर्वक की है।

७. उपयोगाधिकार-में जीवके क्रोध, मान, मायादिरूप परिणामोंको उपयोग कहा है। इस अधिकारमें चारों कषायोंके उपयोगका वर्णन किया गया है। और बतलाया है कि एक जीवके एक कषायका उदय कितने काल तक रहता

है और किस गतिके जीवके कौन-सी कषाय बारबार उदयमें आती है। एक भवमें एक कषायका उदय कितने बार होता है और एक कषायका उदय कितने भवों तक रहता है। जितने जीव वर्त्तमान समयमें जिस कषायसे उपयुक्त हैं क्या वे उतने ही पहले उसी कषायसे उपयुक्त थे ? और आगे भी क्या उपयुक्त रहेंगे ? आदि कषायविषयक ज्ञातव्य बातोंका विवेचन इस अधिकारमें किया है।

८. चतुःस्थान अधिकार—घातियाकर्मोंकी फलदानशक्तिका विवरण लता, दारु, अस्थि और शैलरूप उपमा देकर किया गया है। इन्हें क्रमशः एक-स्थान, द्विस्थान, त्रिस्थान और चतुःस्थान भी कहा गया है।

इस प्रस्तुत अधिकारके नामकरणका कारण भी उक्त चार स्थानोंका रहना ही है। उपमाओं द्वारा क्रोधको पाषाणरेखाके समान, पृथ्वीरेखाके समान, बालुरेखाके समान और जलरेखाके समान बताया है। जिस प्रकार जलमें खीचीं हुई रेखा तुरन्त मिट जाती है और बालु, पृथ्वी और पाषाणपर खीचीं गई रेखाएँ उत्तरोत्तर अधिक समयमें मिटती हैं, उसी प्रकार हीनाधिक कालकी अपेक्षासे क्रोधके भी चार स्थान हैं। इसी क्रमसे मान, माया और लोभके भी चार-चार स्थानोंका निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त चारों कषायोंके सोलह स्थानोंमेंसे कौन-सा स्थान किस स्थानसे अधिक होता है और कौन किससे हीन होता है, कौन स्थान सर्वघाती है, कौन स्थान देशघाती है ? आदिका विचार किया गया है।

९. व्यञ्जन अधिकार—व्यञ्जनका अर्थ पर्यायवाची शब्द है। इस अधिकार-मे क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों ही कषायोंके पर्यायवाचक शब्दोंका प्रतिपादन किया गया है। क्रोधके पर्याय रोष, अक्षमा, कलह, विवाद आदि बतलाये हैं। मानके पर्याय, मान, मद, दर्प, स्तम्भ, परिभव तथा मायाके, माया, निकृति, वंचना, सातियोग और अनऋजुता आदि बतलाये गये हैं। लोभके पर्यायोंमें लोभ, राग, निदान, प्रेयस्, मूर्च्छा आदि बतलाये गये हैं। इस प्रकार विभिन्न पर्यायवाची शब्दों द्वारा कषायविषयोंपर विचार-विमर्श किया गया है।

१०. दर्शनमोहोपशमनाधिकार—जिस कर्मके उदयमें आनेपर जीवको अपने स्वरूपका दर्शन—साक्षात्कार और यथार्थ प्रतीति न हो उसे दर्शनमोहकर्म कहते हैं। इस कर्मके परमाणुओंका एक अन्तर्मुहूर्तके लिए अभाव करने या उपशान्त-रूप अवस्थाके करनेको उपशम कहते हैं। इस दर्शनमोहके उपशमनकी अवस्थामें

जीवको अपने वास्तविक स्वरूपका एक अन्तर्मुहूर्त्तके लिए साक्षात्कार हो जाता है। इस साक्षात्कारकी स्थितिमें जो उसे आनन्द प्राप्त होता है वह अनिर्वचनीय है। दर्शनमोहके उपशमन करने वाले जीवके परिणाम कैसे होते हैं, उसके कौन-सा योग होता, कौन-सा उपयोग रहता है। कौन-सी कषाय होती है और कौन-सी लेश्या, आदि बातोंका निरूपण करते हुए उन परिणाम-विशेषोंका विस्तारसे वर्णन किया गया है। दर्शनमोहके उपशमको चारों गतियोंके ही जीव कर सकते हैं; पर उन्हे संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय और पर्याप्तक होना चाहिए। इस अधिकारके अन्तमें प्रथमोपशम-सम्यक्त्वीके विशिष्ट कार्यों और अवस्थाओंका वर्णन भी आया है।

११. दर्शनमोहक्षपणा अधिकार—दर्शनमोहकी उपशम अवस्था अन्तर्मुहूर्त्त तक ही रहती है। इसके पश्चात् वह समाप्त हो जाती है। और जीव पुनः आत्मदर्शनसे वंचित हो जाता है। आत्मसाक्षात्कार सर्वदा बना रहे, इसके लिए दर्शनमोहका क्षय आवश्यक है। इसके लिये जिन प्रमुख बातोंकी आवश्यकता होती है उन सबका विवेचन इस अधिकारमें किया गया है। दर्शनमोहके क्षयका प्रारम्भ कर्मभूमिमें उत्पन्न मनुष्य ही कर सकता है और इसकी पूर्णता चारों गतियोंमें की जा सकती है। दर्शनमोहके क्षपणका काल अन्तर्मुहूर्त्त है। इस क्षपणक्रियाके समाप्त होनेके पूर्व ही यदि उस मनुष्यकी मृत्यु हो जाय तो वह अपनी आयुबन्धके अनुसार यथासंभव चारों ही गतियोंमें उत्पन्न हो सकता है। दर्शनमोहके क्षपणका प्रारम्भ करने वाला मनुष्य अधिक-से-अधिक तीन भव और धारण करके मुक्तिलाभ करता है। इस अधिकारमें दर्शनमोहके क्षपणकी प्रक्रिया और तत्सम्बन्धी साधन-सामग्रीका निरूपण किया गया है।

१२. संयमासंयमलब्धि अधिकार—आत्मस्वरूपका साक्षात्कार होते ही जीव मिथ्यात्वरूप पंकसे निकलकर निर्मल सरोवरमें स्नान कर आनन्दमें निमग्न हो जाता है। उसकी विचारधारा सांसारिक विषयवासनासे दूर हो संयमासंयमकी प्राप्तिकी ओर अग्रसर होती है। शास्त्रीय परिभाषाके अनुसार अप्रत्याख्यानावरणकषायके उदयके अभावसे देशसंयमको प्राप्त करने वाले जीवके जो विशुद्ध परिणाम होते हैं उसे संयमासंयमलब्धि कहते हैं। इसके निमित्तसे जीव श्रावकके व्रतोंको धारण करनेमें समर्थ होता है। इस अधिकारमें संयमासंयमलब्धिके लिये आवश्यक साधन-सामग्रियोंका विस्तारपूर्वक कथन किया है।

१३. संयमलब्धि अधिकार—प्रत्याख्यानावरणकषायके अभाव होनेपर आत्मामें संयमलब्धि प्रकट होती है, जिसके द्वारा आत्माकी प्रवृत्ति हिंसादि

पाँच पापोंसे दूर होकर अहिंसादि महाव्रतोंके धारण और पालनकी होती है। संयमासंयम अधिकारकी गाथा ही इस अधिकारको गाथा है। संयमके प्राप्त कर लेनेपर भी कषायके उदयानुसार जो परिणामोंका उतार-चढ़ाव होता है उसका प्ररूपण अल्पबहुत्व आदि भेदों द्वारा किया गया है। इस लब्धिका वर्णन चूर्णिसूत्रकारने अधःकरण और अपूर्वकरणके विवेचन द्वारा किया है, जो अध्यात्म-प्रेमी उपशमसम्यक्त्वके साथ संयमासंयम धारण करते हैं उनके तीनों करण होते हैं, पर जो वेदकसम्यक्दृष्टि संयमासंयमको धारण करते हैं उनके दो ही करण होते हैं। संयमको धारण करनेके लिये आवश्यक सामग्रीका भी कथन किया गया है।

१४. चारित्रमोहोपशमनाधिकार—इस अधिकारमें प्रथम आठ गाथाएँ आती हैं। पहली गाथाके द्वारा उपशमना कितने प्रकारकी होती है, किस-किस कर्मका उपशम होता है आदि प्रश्न किये गये हैं। दूसरी गाथाके द्वारा निरुद्ध चारित्रमोहप्रकृतिकी स्थितिके कितने भागका उपशम करता है, कितने भागका संक्रमण करता है और कितने भागकी उदीरणा करता है इत्यादि प्रश्नोंकी अवतारणा की गयी है। तीसरी गाथाके द्वारा चारित्रमोहनीयका उपशम कितने कालमें किया जाता है उसी उपशमित प्रकृतिकी उदीरणा-संक्रमण कितने काल तक करता है इत्यादि प्रश्न किये गये हैं। चौथी गाथाके द्वारा आठ करणोंमेसे उपशामकके कब, किस करणसे व्युच्छित्ति होती है या नहीं इत्यादि प्रश्नोंका अवतार किया गया है। इस प्रकार चार गाथाओंके द्वारा उपशामकके और शेष चार गाथाओंके द्वारा उपशामकके पतनके सम्बन्धमें प्रश्न किये गये हैं।

१५. चारित्रमोहक्षपणाधिकार—यह अन्तिम अधिकार बहुत विस्तृत है। इसमें चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयका वर्णन विस्तारसे किया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि चारित्रमोहनीयका क्षय अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति-करणके बिना संभव नहीं है। इस अधिकारमें २८ मूलगाथाएँ हैं और ८६ भाष्यगाथाएँ हैं। इस प्रकार कुल ११४ गाथाओंमें यह अधिकार व्याप्त है। इनमेंसे चार सूत्रगाथाएँ अधःप्रवृत्तिकरणके अन्तिम समयसे प्रतिबद्ध हैं। इनके आधारपर चूर्णिसूत्रों और जयधवलामें योग और कषायोंकी उत्तरोत्तर विशुद्धिका चित्रण किया गया है। आशय यह है कि चारित्रमोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंका क्षय किस क्रमसे होता है और किस-किस प्रकृतिके क्षय होनेपर कहाँपर कितना स्थितिबन्ध और स्थितिसत्त्व रहता है इत्यादि बातोंका वर्णन इस अधिकारमें आया है। ध्यान और कषायक्षयकी प्रक्रिया भी इस अधिकारमें वर्णित है।

गुणधरको रचना-शक्ति और प्रतिभा

कषायपाहुडका विषय आचार्य गुणधरको तीर्थंकर महावीरकी आरातीय-परम्परासे प्राप्त हुआ है। वीरसेनाचार्यने जयधवला-टीकामें लिखा है —

"एदम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदम-लोहज्ज-जंबुसामियादि-आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय गाहास-रूवेण परिणमिय" अर्थात् विपुलाचलके शिखरपर विराजमान वर्धमान दिवाकरसे प्रकट होकर गौतम, लोहाचार्य, जम्बूस्वामी आदिकी आचार्यपरम्परासे आकर गुणधरको 'कम्मपयडिपाहुड'का ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होंने गाथारूपमें इस ज्ञान-का प्रतिपादन किया। स्पष्ट है कि आचार्य गुणधरको केवलियोंकी परम्परासे ज्ञान प्राप्त हुआ था। आचार्य गुणधर सूत्ररचनाशैलीके प्रकाण्ड विद्वान् हैं। धवला-टीकामें आचार्य वीरसेनने उन्हें वाचक कहा है और वाचकका अर्थ पूर्वविद् लिया है। अतएव इनकी रचना-प्रतिभा मंजुल अर्थको संक्षेपमें प्रस्तुत करनेकी थी। वस्तुतः आचार्य गुणधर 'कम्मपयडिपाहुड'के ज्ञाता होनेके साथ ही अत्यन्त प्रतिभाशाली और विषयविशेषज्ञ विद्वान् थे। इनके कसायपाहुडकी प्रत्येक गाथाके एक-एक पदको लेकर एक-एक अधिकारका रचा जाना तथा तीन गाथाओंका पाँच अधिकारोंमें निबद्ध होना ही इनकी प्रतिभाकी गंभीरता और अनन्त-अर्थगर्भिताकी अभिव्यक्तिको सूचित करता है। वेदक अधिकारको 'जो जं संका-मेदि य' (गाथाङ्क ६२) गाथाके द्वारा चारों प्रकारके बन्ध, चारों प्रकारके संक्र-मण, चारों प्रकारके उदय, चारों प्रकारकी उदीरणा और चारों प्रकारके सत्त्व-सम्बन्धी अल्पबहुत्वकी सूचना निश्चयतः उसके गाम्भीर्य और अनन्तार्थगर्भित्वकी साक्षी है। अर्थबहुलताकी दृष्टिसे गुणधरकी शैली अत्यन्त गंभीर है। गुणधरके इस ग्रन्थपर यदि चूर्णिसूत्र न लिखे जाते तो उनका अर्थ पश्चाद्वर्त्ती व्यक्ति-योंके लिये दुर्बोध हो जाता।

आचार्य शिवशर्मके 'कम्मपयडि' और 'सतक' नामक दो ग्रन्थ आज उप-लब्ध हैं। इन दोनों ग्रन्थोंका उद्गम स्थान 'महाकम्मपयडिपाहुड' है। 'कम्म-पयडि'के साथ जब हम गुणधरके 'कषायपाहुड'की तुलना करते हैं तो हमें इन दोनोंमें मौलिक अन्तर प्रतीत होता है। कम्मपयडिमें महाकम्मपयडिपाहुडके चौबीस अनुयोगद्वारोंका समावेश नहीं है। किन्तु बन्धन, उदय और संक्रम-णादि कुछ अनुयोगद्वार ही प्राप्त हैं। गुणधरने अपने 'कषायपाहुड'में समस्त 'पेज्जदोषपाहुड'का उपसंहार किया है। अतः यह स्पष्ट है कि 'कम्मपयडि'की रचना शिवशर्मने गुणधरके पश्चात् ही की है। 'कम्मपयडि' और 'सतक' इन दोनों ग्रन्थोंके अन्तमें अपनी अल्पज्ञता प्रकट करते हुए शिवशर्मने दृष्टिवादके ज्ञाता आचार्योंसे उसे शुद्ध कर लेनेकी प्रार्थना की है।

वस्तुतः 'कम्मपयडि' एक संग्रह-ग्रन्थ है क्योंकि उसमें विभिन्न स्थानोंपर आई हुई प्राचीन गाथाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। कम्मपयडिकी चूर्णिमें उसके कर्त्ताने उसे 'कम्मपयडिसंग्रहिणी' नाम दिया है। इसी प्रकार 'सतक' चूर्णिमें भी उसे संग्रह-ग्रन्थ कहा है। गुणधरकी यह रचना मौलिक है तथा कर्म-सिद्धान्तको बीजरूपमें प्रस्तुत करती है।

कषायपाहुड कम्मपयडिसे पूर्ववर्त्ती है। कम्मपयडिके संक्रमकरणमें कषायपाहुडके संक्रमअर्थाधिकारकी १३ गाथाएँ साधारण पाठभेदके साथ अनुक्रमसे ज्यों-की-त्यों उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार कम्मपयडिके उपशमकरणमें कषायपाहुडके दर्शनमोहोपशमना अर्थाधिकारकी चार गाथाएँ कुछ पाठभेदके साथ पायी जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि आचार्य गुणधर केवली और श्रुतकेवलियोंके अनन्तर पहले पूर्वविद् हैं, जिन्होंने 'महाकम्मपयडिपाहुड'का संक्षेपमें उपसंहार किया। महान् अर्थको अल्पाक्षरोंमें निबद्ध करनेकी प्रतिभा उनमें विद्यमान थी। यही कारण है कि कसायपाहुडका उत्तरकालीन सभी वाङ्मयपर प्रभाव है।

आचार्य धरसेन

धवलामें बताया गया है कि छक्खंडागम विषयके ज्ञाता आचार्य धरसेन थे। सौराष्ट्र देशके गिरिनगर नामके नगरकी चन्द्रगुफामें रहने वाले अष्टांग-महानिमित्तके पारगामी, प्रवचनवत्सल और अङ्गश्रुतके विच्छेदकी आशंकासे भीत धरसेनाचार्यने किसी धर्मोत्सव आदिके निमित्तसे महिमानामकी नगरीमें सम्मिलित हुए दक्षिणापथके आचार्यों के पास एक पत्र लिखा। इस पत्रमें उन्होंने यह इच्छा व्यक्त की कि योग्य शिष्य उनके पास आकर षट्खण्डागमका अध्ययन करें। दक्षिण देशके आचार्यों ने शास्त्रके अर्थग्रहण और धारणमें समर्थ देश, कुल, शील, और जातिसे उत्तम, समस्त कलाओंमें पारंगत दो आचार्योंको वेणा नदीके तटसे आन्ध्रदेशसे भेजा। इन दोनोंने वहाँ पहुँचकर आचार्य धरसेनको तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और उनके चरणोंमें बैठकर सविनय नमस्कार किया। आचार्य धरसेनने उन दोनों योग्य शिष्योंकी परीक्षा ली और परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके पश्चात् उन्हें सिद्धान्तकी शिक्षा दी। ये दोनों मुनि पुष्पदन्त और भूतबलि नामके थे। यह शिक्षा आषाढ शुक्ला एकादशीको ज्यों ही पूर्ण हुई, वर्षा कालके समीप आ जानेसे उसी दिन अपने पाससे धरसेनने उन्हें विदा कर दिया। दोनों शिष्यों ने गुरुकी आज्ञा अनुल्लंघनीय मानकर उसका पालन किया और वहाँसे चलकर अंकलेश्वरमें चातुर्मास किया।

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार और विबुध श्रीधरकृत श्रुतावतारमें लिखा है कि

धरसेनाचार्यको ज्ञात हुआ कि उनकी मृत्यु निकट है। अतएव इन्हें उस कारण क्लेश न हो, इस लिए उन्होंने उन मुनियोंको तत्काल अपने पाससे विदा कर दिया।

"आत्मनो निकटमरणं ज्ञात्वा धरसेन एतयोर्मा क्लेशो भवतु इति मत्वा तन्मुनिविसर्जनं करिष्यति।"[1]

संभव है कि भूतबलि और पुष्पदन्तके वहाँ रहनेसे आचार्यके ध्यान और तपमें विघ्न होता और विशेषतः उस स्थितिमें जबकि वे श्रुतरक्षाका अपना कर्त्तव्य पूरा कर चुके थे। आचार्य धरसेनकी यह इच्छा रही होगी कि उनके योग्य शिष्य यहाँसे जाकर श्रुतका प्रचार करें। जो भी हो, धवलामें आचार्य वीरसेनने धरसेनका संक्षिप्त परिचय उक्त प्रकारसे प्रस्तुत किया है।

धवलाटीकासे[2] आचार्य धरसेनके गुरुके नामका पता नहीं चलता। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें लोहार्य तकको गुरुपरंपराके पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आचार्योंका उल्लेख आया है। ये सभी आचार्य अंगों और पूर्वोके एकदेशज्ञाता थे। तदनन्तर अर्हद्बलिका उल्लेख आता है। ये बड़े भारी संघनायक थे और इन्होंने संघोंकी स्थापना की थी। अर्हद्बलिके पश्चात् श्रुतावतारमें माघनन्दिका नाम आया है। इन माघनन्दिके पश्चात् ही धरसेनके नामका उल्लेख आया है। इस प्रकार श्रुतावतारमें अर्हद्बलि, माघनन्दि और धरसेन इन तीन आचार्योंका उल्लेख मिलता है। इन तीनोंका परस्परमें गुरुशिष्य सम्बन्ध था या नहीं, इसका निर्देश इन्द्रनन्दिने नहीं किया है।

नन्दिसंघकी प्राकृतपट्टावलीसे यह अवगत होता है कि अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि एक दूसरेके उत्तराधिकारी हैं। अतएव धरसेनके दादागुरु अर्हद्बलि और गुरु माघनन्दि संभव हैं। नन्दिसंघकी संस्कृत

---

१. सिद्धान्तसारादिसंग्रह, श्रुतावतार, ग्रन्थांक २१, पृष्ठ ३१६.

२. तेण वि सोरट्ठ-विसय-गिरिणयर-पट्टण-चंदगुहा-ठिएण अट्ठंग-महाणिमित्त-पारएण गंथ-वोच्छेदो होहदि त्ति जाद-भएण पवयण-वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो......'सुट्ठु भद्दं' त्ति भणिऊण धरसेण-भडारएण दो वि आसासिदा। तदो चिन्तिदं भयवदा........पुणो तद्दिवसे चेव पेसिदा संतो 'गुरुवयणमलंघणिज्जं' इदि चिंतिऊणागदेहि अंकुलेसरे वरिसावासो कओ।"

—षट्खण्डागम, प्रथम पुस्तक, पृ० ६७-७१.

गुर्वावलिमें माघनन्दिका नाम आया है। गुर्वावलीके[1] आरम्भमें भद्रबाहु और उनके शिष्य गुप्तिगुप्तकी वन्दना की गयी है, किन्तु उनके नामके साथ संघ आदिका निर्देश नहीं है। वन्दनाके अनन्तर मूलसंघमें नन्दिसंघ-बलात्कारगणके उत्पन्न होनेके साथ ही माघनन्दिका नाम आया है। बहुत सभव है कि संघभेदव्यवस्थापक अर्हद्बलिने इन्हें ही नन्दिसंघका अग्रणी बनाया हो। माघनन्दिके नामके साथ नन्दिपद भी नन्दिसंघका द्योतक है। गुर्वावलीमें धरसेनका निर्देश नहीं है। अतः इस गुर्वावलिके आधारपर यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता है कि धरसेनके गुरु माघनन्दि थे। यह सत्य है कि धरसेन विद्यानुरागी थे और शास्त्राभ्यासमें संलग्न रहनेके कारण संघका नायकत्व माघनन्दिके अन्य शिष्य जिनचन्द्रपर पड़ा हो। धरसेनने पुष्पदन्त और भूतबलिको सिद्धान्त-आगमका अध्ययन कराकर अपनी एक नयी परम्परा स्थापित की हो। माघनन्दिका निर्देश जंबुदीवपण्णत्तीमें भी पाया जाता है।

गयरायदोसमोहो सुदसायरपारओ मइपगब्भो।
तवसंजमसंपण्णो विक्खाओ माघणंदिगुरू॥ १५४॥
तस्सेव य वरसिस्सो निम्मलवरणाणचरणसंजुत्तो।
सम्मद्दंसणसुद्धो सिरिणंदिगुरू त्ति विक्खाओ॥ १५६॥[2]

उपर्युक्त गुर्वावली और प्रशस्तिसे ध्वनित होता है कि धरसेनके गुरु सभवतः माघनन्दि थे। इन माघनन्दिके सम्बन्धमें एक किंवदंती भी प्रसिद्ध है, जिसमें उन्हें श्रुतका विशेषज्ञ तथा किसी कारणवश चरित्रस्खलनके पश्चात् पुनः दीक्षित होनेका निर्देश किया है। अस्तु, प्राकृतपट्टावली एवं इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके आधारपर धरसेनाचार्यके गुरु माघनन्दि और दादा गुरु अर्हद्बलि होने चाहिए।

समय-निर्णय

नन्दिसंघकी प्राकृतपट्टावलीके अनुसार आचार्य धरसेनका समय वीर निर्वाण सं० ६१४के पश्चात् आता है। धरसेनके एक 'जोणिपाहुड' ग्रन्थका उल्लेख वृहट्टिप्पणि[3] नामक सूचीमें आया है। इस ग्रन्थका निर्माण वीर नि०

१. श्रीमानशेषनरनायकवन्दिताङ्घ्रिः श्रीगुप्तिगुप्त इति विश्रुतनामधेयः।
यो भद्रबाहुमुनिपुंगवपट्टपद्मसूर्यः स वो दिशतु निर्मलसंघवृद्धिम्॥१॥
श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघः तस्मिन्बलात्कारगणोऽतिरम्यः।
तत्राभवत् पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दीऽमरदेववंद्यः॥२॥
—जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृ० ५१.

२. जम्बूदीवपण्णत्ती १३।१५४, १५६।

३. 'योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनम्, जैन साहित्य संशोधक १,२ (परिशिष्ट)

सं० ६००के पश्चात् हुआ माना गया है। इसी ग्रन्थकी एक पाण्डुलिपि भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूनामें है। इस प्रतिमें ग्रन्थका नाम तो 'योनिप्राभृत' ही लिखा है, किन्तु कर्त्ताका नाम 'पण्हसवण' मुनि बताया है। इन महामुनिने कुसुमाण्डिनी देवीसे इस ग्रन्थके ज्ञानको प्राप्त किया था। और उसे अपने शिष्य पुष्पदन्त एवं भूतबलिके लिए लिखा था। इस कथनसे ग्रन्थके धरसेनरचित होनेकी सम्भावना व्यक्त होती है। प्रज्ञाश्रमणत्व एक ऋद्धिका नाम है। सम्भवतया धरसेनाचार्य इस ऋद्धिके धारी थे। अतएव उन्हें प्रज्ञाश्रमण कहा गया है। षट्खण्डागममें प्रज्ञाश्रमणोंको नमस्कार किया गया है—

णमो पण्णसमणाणं[1]

प्रज्ञा चार प्रकारकी होती है—(१) औत्पत्तिकी, (२) वैनयिकी, (३) कर्मजा और (४) पारिणामिकी। इनमें पूर्वजन्मसम्बधी चार प्रकारकी निर्मलबुद्धिके बलसे विनयपूर्वक बारह अंगोंका अवधारण कर जो प्रथमतः देवगतिमें और तत्पश्चात् अविनष्ट संस्कारके साथ मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं उनके औत्पत्तिकी प्रज्ञा कही है। प्रज्ञाका उक्त संस्कार अवशिष्ट रहनेके कारण चौदह पूर्वोंका उत्तर देनेमें वे समर्थ रहते हैं। विनयपूर्वक द्वादश अंगोंके अध्ययनसे जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह वैनयिकी प्रज्ञा है। गुरूपदेशके विना तपश्चरणके प्रभावसे उत्पन्न होने वाली प्रज्ञा कर्मजा कहलाती है। इस प्रकारकी प्रज्ञा औषधसेवनसे भी उत्पन्न होती है। जातिविशेषसे उत्पन्न बुद्धि पारिणामिकी कहलाती है।

धरसेनको प्रज्ञाश्रमणका पूर्वीज्ञान था। अतः 'योनिप्राभृत' ग्रन्थ धरसेनाचार्य द्वारा रचित हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। इस आधारपर इनका समय वीर-निर्वाण-संवत् ६०० संभव है।

प्राकृतपट्टावलीके अनुसार वीर-निर्वाण-संवत् ६१४—६८३के बीच धरसेनका समय होना चाहिए। पट्टावलीमें धरसेनका आचार्य-काल १९ वर्ष बतलाया है। इससे सिद्ध होता है कि वीर-निर्वाण संवत् ६३३ तक धरसेन जीवित रहे हैं और वीर-निर्वाण संवत् ६३० या ६३१में पुष्पदन्त और भूतबलिको श्रुतका अध्ययन कराया है। इस आधारपर धरसेनका समय ई० सन् ७३—१०६ ई० तक आता है।

अहिवल्लि माघनंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूदबली।
अडवीसं इगवीसं उगणीसं तीस वीस वास पुणो॥[2]

अर्थात् अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलिका आचार्य-

१. षट्खण्डाग, वेदनाखण्ड, ४।१।१८
२. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग-१, किरण-४, पृ० ७३, पद्य-१६

काल क्रमशः २८वर्ष, २१वर्ष, १९ वर्ष, ३० वर्ष और २० वर्ष है। इस उल्लेखसे धरसेनका समय स्पष्टतः ई० सन्‌की प्रथम शताब्दी है।

डा० हीरालालजी जैन, सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री आदि भी धरसेनका प्रायः यही समय मानते हैं।

एक अन्य अभिलेखीय प्रमाणसे भी धरसेनके समयपर प्रकाश पड़ता है। उपलब्ध पुरातत्त्वके आधारपर कहा जाता है कि आचार्य धरसेन गिरिनगरकी जिस गुफामें रहते थे वह गुफा बाबा प्यारा मठके निकट होनी चाहिए। इस गुफामें स्वस्तिक, भद्रासन, नन्दिपद, मीनयुगल और कलशके चिह्न खुदे हुए हैं। एक शिलालेख भी यहाँ प्राप्त हुआ है, जिसमें क्षत्रप नरेश चष्टण और जयदामनके अतिरिक्त गिरिनगरमें देवासुर, नाग, यक्ष, राक्षस, केवलज्ञान, जरामरण, चैत्रशुक्ल पञ्चमी ये सब शब्द भी पढ़े जाते हैं। बीच-बीचमें अभिलेखके खण्डित होनेके कारण समस्त लेखका सार ज्ञात नहीं किया जा सकता है। जो शब्दावली पढ़ी जा सकती है उसमें उक्त क्षत्रप राजवंशके कालमें किसी बड़े ज्ञानी जैन मुनिके देहत्यागका वृत्तान्त प्रतीत होता है। अभिलेखमें तिथिका निर्देश नहीं है, पर क्षत्रप कालीन राजवंशके साथ सम्बन्ध रहनेसे शककी प्रथम शताब्दी होना चाहिए। डा० ज्योतिप्रसादजीने लिखा है—

"The Junagarh Jaina stone inscription, originally discovered in That very Candragupha of girinagar which tradition makes the abode of Dharsena, throws interesting light on the lower limit of the date of these redactors of the canon. The inscription is undated, but us author is mentioned as the great grandson of Castana, the grandson of Jayadaman and the son of.......................how could the traditon take such a legendary character"[1]

अर्थात् इस शिलालेखके आधारपर धरसेनका समय ई० सन् १५०के पूर्व होना चाहिये। यतः जयदामनके पुत्र रुद्रदामनका सुप्रसिद्ध संस्कृत-लेख गिरनारकी ऐतिहासिक शिलापर खुदा हुआ शक सं० ७२का है। अतएव यह प्रायः संभव है कि उक्त अभिलेख धरसेनके समाधिमरणकी स्मृतिमें उत्कीर्ण किया गया हो।

---

१. The Jaina sources of the History of Ancient India page 112.

इस प्रकार अभिलेखीय प्रमाणके आधारपर धरसेनका समय ई० सन्‌की प्रथम शताब्दी आता है। आचार्य धरसेन अपने समयके श्रुतज्ञ विद्वान् थे। प्राकृत पट्टावली और इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके आधारपर भी धरसेनका समय वीर नि० सं० ६०० अर्थात् ई० सन् ७३के लगभग आता है।

धरसेनका पाण्डित्य

आचार्य धरसेन सिद्धान्तशास्त्रके ज्ञाता थे। उनके चरणोंमें बैठकर आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलिने कर्मशास्त्र और सिद्धान्तका अध्ययन किया। वे सफल शिक्षक और आचार्य थे। आचार्य वीरसेनने धरसेनकी विद्वत्ता और पाण्डित्यका वर्णन करते हुए बताया है कि वे परवादिरूपी हाथीके समूहके मदका नाश करनेके लिए श्रेष्ठ सिंहके समान हैं, सिद्धान्तरूपी श्रुतका पूर्णतया मन्थन करने वाले हैं। अतएव श्रुतके पाण्डित्यके कारण वे महनीय यशके धारी विद्वान हैं। वीरसेनने लिखा है—

"पसियउ महु धरसेणो पर-वाइ-गओह-दाण-वरसीहो
सिद्धंतामिय-सायर-तरंग-संघाय-धोय-मणो[1] ॥

स्पष्ट है कि धरसेन आचार्य सिद्धान्तविषयके प्रौढ़ विद्वान थे। श्रुतकी नष्ट होती हुई परम्पराकी रक्षा इन्हींके द्वारा हुई है। इनके विषयमें 'षट्खण्डागम' टीकासे जो तथ्य उपलब्ध होते हैं, उनसे ऐसा ज्ञात होता है कि धरसेनाचार्य मन्त्र-तन्त्रके भी ज्ञाता थे। इनका 'योनिप्राभृत' नामक मन्त्रशास्त्रसंबन्धी कोई ग्रन्थ अवश्य रहा है। इस योनिप्राभृतका निर्देश 'धवलाटीका'में भी प्राप्त होता है—

"जोणिपाहुडे भणिद-मंत-तंत-सत्तीओ पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वो"।[2]

अतएव 'बृहत्‌टिप्पणिका'के साथ धवलाटीकामें भी 'योनिप्राभृत'का निर्देश उपलब्ध होता है। इस आलोकमें धरसेनरचित 'योनिप्राभृत' ग्रंथपर अविश्वास नहीं किया जा सकता है। धवलाटीकामें बताया गया है कि पुष्पदन्त और भूतबलिको बुद्धि-परीक्षाके हेतु धरसेनाचार्यने दो मन्त्र दिये थे। उनमें एक मन्त्र अधिक अक्षर वाला था और दूसरा हीनाक्षर था। गुरुने दो दिनके उपवासके पश्चात् उन मन्त्रोंको सिद्ध करनेका आदेश दिया। शिष्य मन्त्रसाधनामें संलग्न हो गये। जब मन्त्रके प्रभावसे उनकी अधिष्ठात्री देवियाँ उपस्थित हुईं तो एक देवीके दाँत बाहर निकले हुए थे और दूसरी कानी थी। देवता विकृताङ्ग नहीं

१. धवलाटीकासमन्वित षट्खण्डागम, प्रथम जिल्द, पृ० ६।
२. धवलाटीका, जिल्द १, प्रस्तावना, पृ० ३०,

होते; इस प्रकार निश्चय कर उन दोनोंने मंत्रसम्बन्धी व्याकरणशास्त्रके आधारपर उन मन्त्रोंका शोधन किया और मन्त्रोंको शुद्धकर पुनः साधनामें संलग्न हुए। वे देवियाँ पुनः सुन्दर और सौम्य रूपमें प्रस्तुत हुईं। सिद्धिके अनन्तर वे दोनों शिष्य गुरुके समक्ष उपस्थित हुए। और विनयपूर्वक विद्यासिद्धि सम्बन्धी समस्त वृत्तान्त निवेदित कर दिया। गुरु धरसेनाचार्य शिष्योंके ज्ञानसे प्रभावित हुए और उन्होंने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभ वारमें सिद्धान्तका अध्यापन प्रारंभ किया।[1]

धवलग्रंथके इस उल्लेखसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि धरसेनाचार्य मन्त्र-तन्त्रके ज्ञाता थे। अतः उनका मन्त्रशास्त्रसम्बन्धी 'योनिप्राभृत' ग्रन्थ अवश्य रहा है।

आगमसम्बन्धी ज्ञानके लिए षट्खण्डागम ग्रन्थ ही प्रमाणरूप है। इस ग्रन्थका समस्त विषय उन्हींके द्वारा प्रतिपादित है। पुष्पदन्त और भूतबलिने उनसे ही सिद्धान्तविषयक ज्ञान प्राप्त कर षट्खण्डागमके सूत्रोंकी रचना की है।

धवलाटीकासे धरसेनाचार्यके सम्बन्धमें निम्नलिखित जानकारी प्राप्त होती है—

१ धरसेन सभी अंग और पूर्वोके एकदेश ज्ञाता थे।
२. अष्टांग-महानिमित्तके पारगामी थे।
३. लेखनकलामें प्रवीण थे।
४. मन्त्र-तन्त्र आदि शास्त्रोंके वेत्ता थे।
५. महाकम्मपयडिपाहुडके[2] वेत्ता थे।
६. प्रवचन और शिक्षण देनेकी कलामें पटु थे।
७ प्रवचनवत्सल थे।

---

१. 'तदा ताणं तेण दो विज्जाओ दिण्णाओ। तत्थ एया अहिय-क्खरा, अवरा विहीण-क्खरा। एदाओ छट्ठोववासेण साहेहु त्ति। तदो ते सिद्धविज्जा विज्जा-देवदाओ पेच्छंति, एया उद्दंतुरिया अवरेया काणिया। एसो देवदाणं सहावो ण होदि त्ति चिंतिऊण मंत-व्वायरण-सत्थ-कुसलेहिं हीणाहिय-क्खराणं छहणावणयण-विहाणं काऊण पढंतेहि दो वि देवदाओ सहावरूव-ट्ठियाओ दिट्ठाओ। पुणो तेहि धरसेण-भयवंतस्स जहावित्तेण विणएण णिवेदिदे सुट्ठु, तुट्ठेण धरसेण-भडारएण सोम-तिहि-णक्खत्त-वारे गंथो पारद्धो'

—षट्खण्डागमधवलाटीका, प्रथम पुस्तक, पृ० ७०।

२. जयउ धरसेणणाहो जेण महाकम्मपयडिपाहुडसेलो।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ पुप्फयंतस्स ॥

—धवला

८. प्रश्नोत्तरशैलीमें शंका-समाधानपूर्वक शिक्षा देनेमें कुशल थे।
९. महनीय विषयको संक्षेपमें प्रस्तुत करना भी उन्हें आता था।
१०. आग्रायणीयपूर्वके पञ्चम वस्तुके चतुर्थ प्राभृतके व्याख्यानकर्त्ता थे।
११. पाठन, चिंतन एवं शिष्य-उद्बोधनकी कलामें पारंगत थे।

पुष्पदन्त और उनका रचना

पुष्पदन्त और भूतबलिका नाम साथ-साथ प्राप्त होता है, पर प्राकृत पट्टावलीमें पुष्पदन्तको भूतबलिसे ज्येष्ठ माना गया है। धरसेनके पश्चात् पुष्पदन्तका कार्य-काल ३० वर्षका बताया है। पुष्पदन्त और भूतबलि दोनों ही धरसेनाचार्यके निकट श्रुतकी शिक्षा प्राप्त करने गये थे। शिक्षा-समाप्तिके पश्चात् सुन्दर दाँतोंके कारण इनका नाम पुष्पदन्त पड़ा था।

विबुध श्रीधरके श्रुतावतारमें भविष्यवाणीके रूपमें जो कथा दी गई है उससे पुष्पदन्त और भूतबलिके जीवनपर प्रकाश पड़ता है ;पर इस श्रुतावतारमें जिन तथ्योंकी विवेचना की गई है वे विचारणीय हैं। बताया है—भरत क्षेत्रके बांमिदेश—ब्रह्मदेशमें वसुन्धरा नामकी नगरी होगी। वहाँके राजा नरवाहन और रानी सुरूपा पुत्र न होनेके कारण खेद-खिन्न होंगे। उस समय सुबुद्धि नामका सेठ उन्हें पद्मावतीकी पूजा करनेका उपदेश देगा। तदनुसार देवीकी पूजा करनेपर राजाको पुत्रलाभ होगा और उस पुत्रका नाम पद्म रखा जायगा। तदनन्तर राजा सहस्रकूटचैत्यालयका निर्माण करायेगा और प्रतिवर्ष यात्रा करेगा। सेठ भी राजकृपासे स्थान-स्थानपर जिनमन्दिरोंका निर्माण करायेगा। इसी समय वसन्त ऋतुमें समस्त संघ यहाँ एकत्र होगा और राजा सेठके साथ जिनपूजा करके रथ चलायेगा। इसी समय राजा अपने मित्र मगधसम्राट्को मुनीन्द्र हुआ देख सुबुद्धि सेठके साथ विरक्त हो दिगम्बरी दीक्षा धारण करेगा। इसी समय एक लेखवाहक वहाँ आयेगा। वह जिनदेवको नमस्कार कर मुनियोंकी तथा परोक्षम धरसेन गुरुकी वन्दना कर लेख समर्पित करेगा। वे मुनि उसे बाचेंगे कि गिरिनगरके समीप गुफावासी धरसेन मुनीश्वर आग्रायणीय पूर्वकी पञ्चमवस्तुके चौथे प्राभृतशास्त्रका व्याख्यान आरंभ करने वाले हैं। धरसेन भट्टारक कुछ दिनोंमें नरवाहन और सुबुद्धि नामके मुनियोंको पठन, श्रवण और चिन्तन कराकर आसाढ़ शुक्ला एकादशीको शास्त्र समाप्त करेंगे। उनमेंसे एककी भूत रात्रिको बलिविधि करेंगे और दूसरेके चार दाँतोंको सुन्दर बना देंगे। अतएव भूत-बलिके प्रभावसे नरवाहन मुनिका नाम भूतबलि और चार दाँत समान हो जानेसे सुबुद्धिमुनिका नाम पुष्पदन्त होगा।[1]

---

१. श्रुतावतार, माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क २१, सिद्धान्तसारादिसंग्रह पृ० ३१६-३१७

इस आख्यानमें अन्य कुछ तथ्य हो या न हो, पर इतना यथार्थ है कि पुष्पदन्तका प्रारंभिक नाम कुछ और रहा होगा। धवलाटीकामें भी पुष्पदन्तके नामका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"अवरस्स वि भूदेहि पूजिदस्स अत्थवियत्थ-ट्ठिय-दंत-पंतिमोसारिय भूदेहि समीकय-दंतस्स 'पुप्फयंतो' त्ति णामं कयं।"[1]

अर्थात् देवोंने पूजा कर जिनकी अस्तव्यस्त दंतपंक्तिको दूर कर सुन्दर बना दिया उनकी धरसेन भट्टारकने पुष्पदन्त संज्ञा की। स्पष्ट है कि पुष्पदन्त यह आरंभिक नाम नहीं है। गुरुने यह नामकरण किया है। दक्षिणापथसे जिन दो साधुओंके आनेका उल्लेख किया गया है उनके आरंभिक नामोंका कथन नहीं आया है। यह सत्य है कि पुष्पदन्त भी भूतबलिके समान ही प्रतिभाशाली और ग्रन्थ-निर्माणमें पटु हैं।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि वर्षावास समाप्त कर पुष्पदन्त और भूतबलि दोनोंने ही दक्षिणकी ओर विहार किया। और दोनों करहाटक[2] पहुँचे। वहाँ उनमेंसे पुष्पदन्त मुनिने अपने भानजे जिनपालितसे भेंट की और उसे दीक्षा देकर अपने साथ ले वनवास देशको चले गये। तथा भूतबलि द्रविड देशकी मधुरा नगरीमें ठहर गये।

करहाटकको कुछ विद्वानोंने सितारा जिलेका आधुनिक करहाड या कराड और कुछने महाराष्ट्रका कोल्हापुर नगर बतलाया है। करहाटक नगर प्राचीन समयमें बहुत प्रसिद्ध था। स्वामी समन्तभद्र[3] भी इस नगरमें पधारे थे। शिलालेखोंसे ज्ञात होता है कि उस समय यह नगर विद्या और वीरता दोनों के लिए प्रसिद्ध था।

उपर्युक्त चर्चासे एक तथ्य यह प्रसूत होता है कि पुष्पदन्तके भानजे जिन-

---

१. षट्खण्डागमधवलाटीका, प्रथम पुस्तक, पृ० ७१.

२. जग्मतुरथ करहाटे तयोः स यः पुष्पदन्त नाम मुनिः।
जिनपालिताभिधानं दृष्ट्वाऽसौ भगिनेयं स्वं॥
दत्वा दीक्षां तस्मै तेन समं देशमेत्य वनवासम्।
तस्थौ भूतबलिरपि मधुरायां द्रविडदेशेऽस्थात्॥
—श्रुतावतार, पद्य १३२-१३३

३. प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं।
—मल्लिषेण-प्रशस्ति-शिलालेख ५४ श्लोक ७

पालित करहाटकके निवासी थे। अतः पुष्पदन्तका भी जन्मस्थान करहाटके आसपास ही होना चाहिए।

धरसेनाचार्यने महिमा नगरीमें सम्मिलित हुए दक्षिणापथके आचार्योंके पास अपना पत्र भेजा था, जिसके फलस्वरूप आन्ध्रदेशकी वेणा नदीके तटसे पुष्पदन्त और भूतबलि उनके पास पहुंचे थे। वर्तमानमें सतारा जिलेमें वेण्या नामकी नदी प्रवाहित होती है और उसी जिलेमें महिमानगढ़ नामक ग्राम भी है। बहुत संभव है कि यह ग्राम ही प्राचीन महिमा नगरी रहा हो। अतएव सतारा जिलेका करहाड ही करहाटक हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

वनवास देश उत्तर कर्णाटकका प्राचीन नाम है। यहाँ कदम्बवंशके राजाओंकी राजधानी थी। इस वनवास देशमें ही आचार्य पुष्पदन्तने जिन-पालितको पढ़ानेके लिए 'बीसदि' सूत्रोंकी रचना की। और इन सूत्रोंको भूत-बलिके पास भेजा। भूतबलिने उन सूत्रोंका अवलोकन किया और यह जानकर कि पुष्पदन्त आचार्यकी अल्पायु अवशिष्ट है, अतः महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद न हो जाय, इस भयसे उन्होंने द्रव्यप्रमाणानुगमको आदि लेकर ग्रन्थ-रचना की। अतएव यह स्पष्ट है कि षट्खण्डागमसिद्धान्तका प्रारंभिक भाग वनवास देशमें रचा गया और शेष ग्रन्थ द्रविड़ देशमें।

समय-निर्धारण

यह हम पहले ही लिख चुके हैं कि पुष्पदन्त भूतबलिसे आयुमें ज्येष्ठ थे। आचार्य वीरसेनने मंगलाचरण-संदर्भमें भूतबलिसे पूर्व पुष्पदन्तका स्तवन किया है। लिखा है—

पणमामि पुप्फयंतं दुण्णयंधयार-रविं।
भग्ग-सिव-मग्ग-कंटयमिसि-समिइ-वइं सया दंतं ॥[1]

अर्थात् जो पापोंका अन्त करने वाले हैं, कुनयरूप अंधकारके नाश करनेके लिये सूर्य तुल्य हैं, जिन्होंने मोक्षमार्गके विघ्नोंको नष्ट कर दिया है, जो ऋषियोंकी समिति अर्थात् सभाके अधिपति हैं और जो निरन्तर पञ्चेन्द्रियोंका दमन करने वाले हैं ऐसे पुष्पदन्त आचार्यको मैं प्रणाम करता हूँ।

उपर्युक्त उद्धरणमें 'इसि-समिइ-वइं' विचारणीय है। इस पदका अर्थ यह है कि पुष्पदन्त अपने समयके आचार्योंमें अत्यन्त मान्य थे और इसीलिये वे मुनिसमितिके सभापति कहलाते थे।

नदिसंघकी प्राकृत-पट्टावलीके अनुसार पुष्पदन्त भूतबलिसे पूर्ववर्त्ती हैं।

१. षट्खण्डागमधवलाटीका, पुस्तक १, पृष्ठ ७, मंगल-गाथा ५।

इसके अनुसार इनका समय वीर नि० सं० ६३३के[1] पश्चात् ई० सन् प्रथम-द्वितीय शताब्दीके लगभग होना चाहिए। डा० ज्योतिप्रसाद जैनने पुष्पदन्त-का समय ई० सन् ५०-८० माना है।[2]

रचनाशक्ति और प्रतिभा

धवलामें आचार्य वीरसेनने बतलाया है कि बीस प्रकारकी प्ररूपणाएँ सूत्रोंके द्वारा की गयी हैं। अतः पुष्पदन्ताचार्यने जो 'बिसदिसुत्तं' कहा है उसका अभिप्राय सत्प्ररूपणाके सूत्रोंमें आगमोक्त बीस प्ररूपणाओंके कथनसे है। धवला-कारने सत्प्ररूपणाके सूत्रोंकी व्याख्या समाप्त करनेके पश्चात् लिखा है कि सत्सूत्रोंका विवरण समाप्त हो जानेके अनन्तर उनकी प्ररूपणा करेंगे। इससे स्पष्ट है कि आचार्य पुष्पदन्तने सत्सूत्रोंकी ही रचना की है; उसकी प्ररूपणाका कथन नहीं किया। यद्यपि उन्होंने अनुयोगद्वारका नाम "संतपरूवणा" ही रखा है। ऐसी स्थितिमें पुष्पदन्ताचार्यके द्वारा रचे गये सूत्रोंको 'संतसुत्त' कहना अधिक उचित था; पर इस शब्दका प्रयोग न कर 'बीसदिसुत्त' क्यों कहा, इस सम्बन्धमें कोई सन्तोषजनक समाधान प्राप्त नहीं होता है।

इन्द्रनन्दिने[3] लिखा है कि पुष्पदन्तने सौ सूत्रोंको पढ़ाकर जिनपालितको भूतबलिके पास भेजा; किन्तु सत्प्ररूपणाके सूत्रोंकी संख्या १७७ है। अतः उनका यह कथन भी सतर्क प्रतीत नहीं होता। यह सत्य है कि सत्प्ररूपणाके १७७ सूत्र पुष्पदन्ताचार्य द्वारा रचे गये हैं। अतः उत्थानिकामें धवलाकारने पुष्पदन्तका ही नामोल्लेख किया है।

इस ग्रन्थकी रूपरेखाका निर्माण पुष्पदन्तके द्वारा ही हुआ होगा। यतः ग्रन्थ-निर्माणका आरंभ पुष्पदन्तने किया है। इन्होंने चौदह जीवसमासों और गुणस्थानोंके निरूपणके लिये आठ अनुयोगद्वारोंको ही जानने योग्य बतलाया है। ये आठ अनुयोगद्वार हैं—१. संतपरूवणा, २. द्रव्यप्रमाणानुगम, ३. क्षेत्रानुगम, ४. स्पर्शानुगम, ५. कालानुगम, ६. अन्तरानुगम, ७. भावानुगम, और

---

१. प्राकृत-पट्टावलीमें अर्हद्बलिका काल २८ वर्ष, माघनन्दिका २१ वर्ष, धरसेनका १९ वर्ष और पुष्पदन्तका ३० वर्ष माना है। इस प्रकार वीर नि० सं० ६६३ समय आता है।

२. The Jaina Sources of the History of Ancient India, p. 114.

३. सूत्राणि तानि शतमध्याप्य ततो भूतबलिगुरोः पार्श्वम्।
तदभिप्रायं ज्ञातुं प्रस्थापयदगमदेषोऽपि ॥
—श्रुतावतार, श्लोक संख्या १३६।

८. अल्पबहुत्वानुगम। जीवस्थान नामक प्रथम खण्डके ही ये आठ अधिकार हैं। इन अधिकारोंके अनन्तर जीवस्थानकी चूलिका है। इस चूलिकाको भी जीवस्थानका भाग सिद्ध करनेके लिए धवलाकारको शंका-समाधान करना पड़ा है और अन्तमें उन्होंने बताया है कि चूलिकाका अन्तर्भाव आठ अनुयोगद्वारोंमें होता है। अतः चूलिका जीवस्थानसे भिन्न नहीं है। धवलाकारकी इस चर्चासे यह स्पष्ट है कि पुष्पदन्त आचार्य द्वारा आठ अनुयोगद्वारोंमें जो बातें कथन करनेसे छूट गई थीं उनसे सम्बद्ध बातोंका कथन चूलिका अधिकारमें किया गया है। धवलाके अध्ययनसे यह प्रतीत होता है कि चूलिका अधिकार पुष्पदन्त द्वारा रचित नहीं है। पुष्पदन्तने केवल जीवस्थान नामक खण्डका ही उक्त सूत्रोंमें ग्रथन किया है।

इन्द्रनन्दि[1] ने लिखा है—'पुष्पदन्त मुनिने अपने भानजे जिनपालितको पढ़ानेके लिए कर्मप्रकृतिप्राभृतका छः खण्डोंमें उपसंहार किया है। और जीवस्थानके प्रथम अधिकारकी रचना की और उसे जिनपालितको पढ़ाकर भूतबलिका अभिप्राय अवगत करनेके लिए उनके पास भेजा। जिनपालितसे सत्प्ररूपणाके सूत्रोंको सुनकर भूतबलिने पुष्पदन्त गुरुका षट्खण्डागम-रचनाका अभिप्राय जाना।

जीवस्थानके अवतारका कथन करते हुए धवलाटीकाकार आचार्य वीरसेनने जो विमर्श प्रस्तुत किया है उससे आचार्य पुष्पदन्तकी रचनाशक्ति, पाण्डित्य एवं प्रतिभा पर पूरा प्रकाश पड़ता है। लिखा है—"दूसरे आग्रायणीय पूर्वके अन्तर्गत चौदह वस्तु-अधिकारोंमें एक चयन लब्धि नामक पाँचवाँ वस्तु-अधिकार है। उसमें बीस प्राभृत हैं। उनमेंसे चतुर्थ प्राभृत कर्मप्रकृति है। उस कर्मप्राभृतप्रकृतिके २४ अर्थाधिकार हैं। उनमें छठा अधिकार बन्धन नामक है। इस अधिकारके भी चार भेद हैं—

१. बन्ध, २. बन्धक, ३. बन्धनीय और ४. बन्धविधान। इनमेंसे बन्धक अधिकारके ग्यारह अनुयोगद्वार हैं। उनमें पञ्चम अनुयोगद्वार द्रव्यप्रमाणानुगम है। इस जीवस्थान नामक खण्डमें जो द्रव्यप्रमाणानुगम नामक अधिकार है वह इसी बन्धक नामक अधिकारसे निस्सृत है। बन्धविधानके भी चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इन चारों बन्धोंमेंसे प्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध। उत्तर-

---

१. अथ पुष्पदन्तमुनिरप्यध्यापयितुं स्वभागिनेयं तम्।
कर्मप्रकृतिप्राभृतमुपसंहार्यैव षड्भिरिह खण्डैः॥

—श्रुतावतार, श्लोकसंख्या १३४।

बन्धके दो भेद हैं—एकैकोत्तर प्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढ़ोत्तरप्रकृतिबन्ध। एकैकोत्तरप्रकृतिबन्धके २४ अनुयोगद्वार हैं। उनमेसे जो समुत्कीर्तन नामक अधिकार है उसमेंसे प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन, स्थान-समुत्कीर्त्तन और तीन महादंडक निस्सृत हैं। तेईसवें भावानुगमसे भावानुगम निकला है। अव्वोगाढ़ उत्तरप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—भुजगारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध। प्रकृतिस्थानबन्धके आठ अनुयोगद्वार हैं—सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। इन आठ अनुयोगद्वारोंमेंसे छः अनुयोग-द्वार निकले हैं—सत्प्ररूपणा, क्षेत्रप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा। ये छः और बन्धक अधिकारके ग्यारह अधिकारोंमेंसे निस्सृत द्रव्यप्रमाणानुगम तथा तेईसवें अधिकारसे निस्सृत भावानुगम ये सब मिलकर जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वार हैं। इस विवेचनसे ज्ञात होता है कि आचार्य पुष्पदन्तने 'एत्तो[1]' इत्यादि सूत्र उक्त आधारको ग्रहण कर ही कहा है।

उक्त समस्त विमर्शके[2] अध्ययनसे निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित होते हैं—

१. षट्खंडागमका आरंभ आचार्य पुष्पदन्तने किया है।
२. सत्प्ररूपणाके सूत्रोंके साथ उन्होंने षट्खंडागमकी कोई रूपरेखा भी भूतबलिके निकट पहुँचायी होगी।
३. पुष्पदन्तने अपनी रचना जिनपालितको पढ़ायी और तदनन्तर अपनेको अल्पायु समझकर गुरुभाई भूतबलिको अवशिष्ट कार्यको पूर्ण करनेके लिये प्रेरित किया होगा।
४. पुष्पदन्त महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके अच्छे ज्ञाता एवं उसके व्याख्याताके रूपमें प्रसिद्ध रहे हैं। यद्यपि सूत्रोंके रचयिताओंका नाम नहीं मिलता है; पर धवलाटीकाके आधारपर सत्प्ररूपणाके सूत्रोंके रचयिता पुष्पदन्त है।
५. पुष्पदन्तने अनुयोगद्वार और प्ररूपणाओंके विस्तारको अनुभव कर ही सूत्रोंकी रचना प्रारम्भ की होगी।

भूतबलि और उनकी रचना

पुष्पदन्तके नामके साथ भूतबलिका भी नाम आता है। दोनोंने एक साथ

---

१. एत्तो इमेसि चोद्दसण्हं जीवसमासाणं मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेव ट्ठाणाणि णायव्वाणि भवंति।—षट्ख० १।२

२. षट्खण्डागम, धवलाटीका, प्रथम पुस्तक, पृ० १२३–१३०।

धरसेनाचार्यसे सिद्धान्त-विषयका अध्ययन किया था। भूतबलिने अंकुलेश्वरमें चातुर्मास समाप्त कर द्रविड़ देशमें जाकर श्रुतका निर्माण किया। धवलाटीकामें आचार्य वीरसेनने पुष्पदन्तके पश्चात् भूतबलिको नमस्कार किया है।

पणमह कय-भूय-बलि भूयबलिं केस-वास-परिभूय-बलिं।
विणिहय-वम्मह-पसरं वड्ढाविय-विमल-णाण-बम्मह-पसरं ॥[1]

अर्थात् जो भूत—प्राणीमात्रके द्वारा पूजे गये हैं अथवा भूत नामक व्यन्तर जातिके देवों द्वारा पूजित हैं; जिन्होंने अपने केशपाश अर्थात् सुन्दर बालोंसे बलि—जरा आदिसे उत्पन्न होने वाली शिथिलताको परिभूत—तिरस्कृत कर दिया है। जिन्होंने कामदेवके प्रसारको नष्ट कर दिया है और निर्मल ज्ञानके द्वारा ब्रह्मचर्यको वृद्धिगत कर लिया है उन भूतबलि नामक आचार्यको प्रणाम करो।

उपर्युक्त गाथामें भूतबलिके शारीरिक और आत्मिक तेजका वर्णन किया है। भूतबलिकी आन्तरिक ऊर्जा इतनी बढ़ी हुई थी, जिससे ब्रह्मचर्यजन्य सभी उपलब्धियाँ उन्हें हस्तंगत हो गई थीं। ऋद्धि और तपस्याके कारण प्राणीमात्र उनकी पूजा प्रतिष्ठा करता था। इस प्रकार आचार्य वीरसेनने आचार्य भूतबलीके व्यक्तित्वकी एक स्पष्ट रेखा अंकित की है। सौम्य आकृतिके साथ भूतबलिके केश अत्यन्त संयत और सुन्दर थे। केशोंकी कृष्णता और स्निग्धताके कारण वे युवा ही प्रतीत होते थे।

श्रवणबेलगोलके एक शिलालेखमें पुष्पदन्तके साथ भूतबलिको भी अर्हद्बलिका शिष्य कहा है। इस कथनसे ऐसा ज्ञात होता है कि भूतबलिके दीक्षागुरु अर्हद्बलि और शिक्षागुरु धरसेनाचार्य रहे होंगे। लिखा है—

यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्य-द्वितयेन रेजे।
फलप्रदानाय जगज्जनानां प्राप्तोऽङ्कुराभ्यामिव कल्पभूजः ॥
अर्हद्बलिस्सङ्घचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसङ्घं।
कालस्वभावादिह जायमानद्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥[2]

इन अभिलेखीय पद्योंके आधारपर अर्हद्बलिको भूतबलिका गुरु मान लिया जाय तो कोई हानि नहीं है। समयक्रमानुसार अर्हद्बलि और पुष्पदन्तके समयमें २१ + १९ = ४०वर्षका अन्तर पड़ता है जिससे अर्हद्बलिका भूतबलि और पुष्पदन्तके समसामयिक होनेमें कोई बाधा नहीं है।

---

१. षट्खण्डागम, धवलाटीका, प्रथम पुस्तक, श्लोक ६.
२. श्रवणबेलगोल अभिलेख संख्या १०५, पद्य २५–२६.

भूतबलिके व्यक्तित्व और ज्ञानके सम्बन्धमें धवलाटीकासे पर्याप्त प्रकाश पडता है। बताया है— भूतबलि भट्टारक असंबद्ध बात नहीं कह सकते। यतः महाकर्मप्रकृति प्राभृत रूपी अमृतपानसे उनका समस्त राग-द्वेष-मोह दूर हो गया है।

"ण चासंबद्धं भूदबलिभडारओ परूवेदि महाकम्मपयडिपाहुड-अमियवाणेण आमारिदा सेसरागदोसमोहत्तादो।"[1]

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि भूतबलि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके पूर्ण ज्ञाता थे। इसलिये उनके द्वारा रचित सिद्धान्तग्रन्थ सर्वथा निर्दोष और अर्थपूर्ण हैं। इन्होंने २४ अनुयोगद्वारस्वरूप महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका ज्ञान प्राप्त किया था। बताया है—

"चउवीसअणियोगद्दारसरूवमहाकम्मपयडिपाहुडपारयस्स भूदवलि-भयवंतस्स।"[2]

समय-निर्धारण

भूतबलिका समय आचार्य पुष्पदन्तका समय हो है। दोनोंने एक साथ धर-सेनाचार्यसे सिद्धान्त-ग्रन्थोंका अध्ययन किया और अंकुलेश्वरमें साथ-साथ वर्षा-वास किया। पुष्पदन्त द्वारा रचित प्राप्त सूत्रोंके पश्चात् भूतबलिने षट्खण्डागमके शेष भागकी रचना की। डा० ज्योतिप्रसादने भूतबलिका समय ई० सन् ६६–९० तक माना है और षट्खण्डागमका संकलन ई० सन् ७५ स्वीकार किया है।[3] प्राकृतपट्टावली, नन्दिसंघकी गुर्वावली आदि प्रमाणोंके अनुसार भूतबलिका समय ई० सन्की प्रथम शताब्दीका अन्त और द्वितीय शताब्दीका आरंभ आता है। डा० हीरालाल जैनने धवलाकी प्रस्तावनामें वीर नि०सं० ६१४ और ६८३के बीच उक्त आचार्योंका काल निर्धारित किया है।[4] अतएव भूतबलिका समय ई० सन् प्रथम शताब्दीका अन्तिम चरण (ई.८७के लगभग) अवगत होता है।

रचना-शक्ति और पाण्डित्य

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे ज्ञात होता है कि भूतबलिने पुष्पदन्त विरचित सूत्रोंको मिलाकर पाँच खण्डोंके छः हजार सूत्र रचे और तत्पश्चात् महाबन्ध नामक छठे खण्डकी तीस हजार सूत्रग्रंथरूप रचना की।[5]

---

१. षट्खण्डागम, धवलाटीका, पुस्तक १०, पृ० २७४–२७५।

२. वही, पुस्तक १४, पृ० १३४।

३. The Jaina Sources of the History of Ancient India, p. 114.

४. षट्खण्डागम, धवलाटीका, पुस्तक १, प्रस्तावना पृ० २२–३१

५. श्रुतावतार, पद्य १३९

छक्खंडागमके सूत्रोंके अवलोकनसे प्रकट होता है कि प्रथम खण्ड जीवस्थानके आदिमे सत्प्ररूपणासूत्रोंके रचयिता पुष्पदन्ताचार्यने मंगलाचरण किया है और तदनुसार धवलाटीकाकार वीरसेन स्वामीने भी श्रुतावतार आदिका कथन किया है। षट्खण्डागमके रचयिता भूतबलिने चौथे खण्ड वेदनाके आदिमें पुनः मंगल किया है और धवलाकारने भी जीवस्थानके समान ही कर्त्ता, निमित्त, श्रुतावतार आदिकी पुनः चर्चा की है। इससे यह षट्खण्डागमग्रन्थ दो भागोंमें विभक्त प्रतीत होता है। पहले भागमें आदिके तीन खण्ड हैं और द्वितीय भागमें अन्तके तीन खण्ड हैं। इस द्वितीय भागमें ही महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके २४ अधिकारोंका वर्णन किया गया है। डा० हीरालालजीने इस द्वितीय खण्डकी विशेष संज्ञा सत्कर्मप्राभृत बतायी है। वस्तुतः आचार्य भूतबलिने षट्खण्डागमके जीवस्थानको छोड़कर शेष समस्त खण्डोंकी रचना की है। कृतिअनुयोगद्वारके आदिमें ग्रन्थावतारका वर्णन करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है कि धरसेनाचार्यने गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें भूतबलि और पुष्पदन्तका समग्र महाकर्मप्रकृतिप्राभृत समर्पित कर दिया। तत्पश्चात् भूतबलि भट्टारकने श्रुत-नदीके प्रवाहके विच्छेदके भयसे भव्य जीवोंके उद्धारके लिये महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उपसंहार करके छः खण्ड किये।[1]

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें यह लिखा है कि भूतबलि आचार्यने षट्खण्डागमकी रचना कर उसे ग्रन्थरूपमें निबद्ध किया और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीको उसकी पूजा की और इसी कारण यह पञ्चमी श्रुतपञ्चमीके नामसे विख्यात हुई। तत्पश्चात् भूतबलिने उस षट्खण्डागमसूत्रके साथ जिनपालितको पुष्पदन्त गुरुके पास भेजा। जिनपालितके हाथमें षट्खण्डागमग्रन्थको देखकर मेरे द्वारा चिन्तित कार्य सम्पन्न हुआ, यह अवगत कर पुष्पदन्त गुरुने भी श्रुतभक्तिके अनुरागसे पुलकित होकर श्रुत-पंचमीके दिन उक्त ग्रन्थकी पूजा की।

श्रुतावतारके उक्त कथनसे यही प्रमाणित होता है कि पुष्पदन्ताचार्यने षट्खण्डागमकी रूपरेखा निर्धारित कर सत्प्ररूपणाके सूत्रोंकी रचना की थी और शेष भागको भूतबलिने समाप्त किया था।

छक्खंडागमके अवलोकनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि दूसरे खण्ड खुद्दाबन्धसे छठे खण्ड तक यह भूतबलि द्वारा रचा गया है। चतुर्थ खण्ड वेदनाके

१. 'तदो भूतबलिभडारएण सुदणईपवाहवोच्छेदभीएण भवियलोगाणुग्गहट्ठं महाकम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण छक्खंडाणि कयाणि।'

—षट्खण्डा०, धवला, पुस्तक ९, पृ० १३३।

अन्तर्गत कृतिअनुयोगद्वारके आदिमें सूत्रकारने ४४ मंगलसूत्र लिखे हैं और ४५ वें सूत्रसे ग्रन्थकी उत्थानिकाके रूप आग्रायणीय पूर्वके पञ्चम वस्तु अधिकारके अन्तर्गत कर्मप्रकृतिप्राभृतके २४ अनुयोगद्वारोंका निर्देश किया है। वीरसेन स्वामीने इन मंगलसूत्रोंको लेकर एक लम्बी चर्चा की है।[1] इस चर्चासे तीन निष्कर्ष निकलते हैं:—

१. भूतबलिने मंगलसूत्रोंकी रचना स्वयं नहीं की। परम्परासे प्राप्त महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके मंगलसूत्रोंका संकलन किया है।

२. षट्खण्डागममें महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके अर्थका ही निबन्धन नहीं किया है; अपितु शब्द भी ग्रहण किये गये हैं।

३. भूतबलि कर्त्ता नहीं, प्ररूपक हैं। अतः षट्खण्डागमका द्वादशांग वाणीके साथ साक्षात् सम्बन्ध है।

इस तरह स्पष्ट है कि आचार्य भूतबलि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके ज्ञानी एवं मर्मज्ञ विद्वान् थे।

छक्खण्डागमका वर्ण्य विषय एवं संक्षिप्त विवेचन

यह ग्रन्थ छह खण्डोंमें विभक्त है—

१. जीवट्ठाण।
२. खुद्दाबन्ध।
३. बंधसामित्तविचय।
४. वेयणा।
५. वग्गणा।
६. महाबंध।

१. 'जीवट्ठाण' नामक प्रथम-खण्डमें जीवके गुण-धर्म और नानावस्थाओंका वर्णन आठ प्ररूपणाओंमें किया गया है। ये आठ प्ररूपणाएँ—सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व हैं। इसके अनन्तर नौ चूलिकाएँ हैं, जिनके नाम प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन, स्थानसमुत्कीर्तन, प्रथम महादण्डक, द्वितीय महादण्डक, तृतीयमहादण्डक, उत्कृष्टस्थिति, जघन्यस्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गतिअगति हैं। सत्प्ररूपणाके प्रथम सूत्रमें पञ्चनमस्कार मन्त्रका पाठ है। इस प्ररूपणाका

---

१. "तत्थेदं किं णिबद्धमाहो अणिबद्धमिदि..........तदो सिद्धं णिबद्धमंगलत्तंपि। उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु....इत्यादि।"

—षट्खण्डागम, धवला टीका, पुस्तक ९, पृ० १०३-१०४।

विषयनिरूपण ओघ और आदेश क्रमसे किया गया है। ओघमें मिथ्यात्व, सासादन आदि १४ गुणस्थानोंका और आदेशमें गति, इन्द्रिय, काय आदि १४ मार्गणाओं-का विवेचन उपलब्ध होता है। सत्प्ररूपणामें १७७ सूत्र हैं। इनमे४०वें सूत्रसे ४५वें सूत्र तक छह कायके जीवोंका विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। जीवोंके बादर और सूक्ष्म भेदोंके पर्याप्त एवं अपर्याप्त भेद किये गये हैं। वनस्पति कायके साधारण और प्रत्येक ये दो भेद बतलाये हैं और इन्हीं भेदोंके बादर और सूक्ष्म तथा इन दोनों भेदोंके पर्याप्त और अपर्याप्त उपभेद कर विषयका निरूपण किया है। स्थावर और त्रसकायसे रहित जीवोंको अकायिक कहा है।

जीवट्ठाणखण्डकी दूसरी प्ररूपणा द्रव्यप्रमाणानुगम है। इसमें १९२ सूत्रों द्वारा गुणस्थान और मार्गणाक्रमसे जीवोंकी संख्याका निर्देश किया है। इस प्ररूपणाके संख्यानिर्देशको प्रस्तुत करनेवाले सूत्रोंमें शतसहस्रकोटि, कोड़ा-कोड़ी, संख्यात, असंख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त संख्याओंका कथन उप-लब्ध है। इसके अतिरिक्त सातिरेक, हीन, गुण, अवहारभाग, वर्ग, वर्गमूल, घन, अन्योन्याभ्यस्त राशि, आदि गणितकी मौलिक प्रक्रियाओंके निर्देश मिलते हैं। कालगणनाके प्रसंगमें आवली, अन्तर्मुहूर्त, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, पल्योपम आदि एवं क्षेत्रकी अपेक्षा अंगुल, योजन, श्रेणा, जगत्प्रतर एवं लोकका उल्लेख आया है।

क्षेत्रप्ररूपणामें ९२ सूत्रों द्वारा गुणस्थान और मार्गणाक्रमसे जीवोंके क्षेत्रका कथन किया गया है। उदाहरणार्थ कुछ सूत्र उद्धृत कर यह बतलाया जायगा कि सूत्रकर्त्ताकी शैली प्रश्नोत्तरके रूपमें कितनी स्वच्छ है और विषयको प्रस्तुत करनेका क्रम कितना मनोहर है। यथा—

"सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति केवडि खेत्ते ? लोगस्स असंखेज्जदिभाए।"

सजोगिकेवली केवडि खेत्ते ? लोगस्स असंखेज्जदिभागे असंखेज्जेसु वा भागेसु सव्वलोगे वा।[1]

आदेसेण गदियाणुवादेण णिरयगदीए णेरइएसु मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति केवडि खेत्ते ? लोगस्स असंखेज्जदिभागे।

एवं सत्तसु पुढवीसु णेरइया।

तिरिक्खगदीए तिरिक्खेसु मिच्छाइट्ठी केवडि खेत्ते ? सव्वलोए।[2]

---

१. षट्खण्डागम, जीवस्थान, क्षेत्रप्रमाणानुगम, सूत्र ३-४।

२. षट्खण्डागम, जीवस्थान, क्षेत्रप्रमाणानुगम, सूत्र ५, ६, ७.

अर्थात् सासादनसम्यक्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं ? लोकके असंख्यात भाग-प्रमाण क्षेत्रमें रहते हैं ।

सयोगकेवली जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं ? लोकके असंख्यातवें भाग-प्रमाण क्षेत्रमें अथवा लोकके असंख्यात बहुभागप्रमाण क्षेत्रमें अथवा सर्व-लोकमें रहते हैं ।

आदेशकी अपेक्षा गतिके अनुवादसे नरकगतिमें नारकियोंमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं ? लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्रमें रहते हैं ।

इसी प्रकार सातों पृथिवियोंमें नारकी जीव लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्रमें रहते हैं ।

तिर्यञ्चगतिमें तिर्यञ्चोंमें मिथ्यादृष्टि जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं ? सर्व-लोकमें रहते हैं ।

स्पष्ट है कि एक ही सूत्रमें प्रश्न और उत्तर इन दोनोंकी योजना की गयी है । वास्तवमें यह लेखककी प्रतिभाका वैशिष्ट्य है कि उसने आगमके गंभीर विषयको संक्षेपमें प्रश्नोत्तररूपमें उपस्थित किया है । इस प्ररूपणाका प्रमुख वर्ण्य विषय मार्गणा और गुणस्थानकी अपेक्षासे जीवोंके स्पर्शनक्षेत्रका कथन करना है । यहाँ यह ध्यातव्य है कि जिस मार्गणामें अनन्त संख्यावाली एके-न्द्रिय जीवोंकी राशि आती है, उस मार्गणावाले जीव सर्वलोकमें रहते हैं और शेष मार्गणावाले लोकके असंख्यातवें भागमें । केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यात संयम आदि जिन मार्गणाओंमें सयोगीजिन आते हैं, वे साधारण दशामें तो लोकके असंख्यातवें भागमें रहते हैं किन्तु प्रतरसमुद्घातकी दशामें लोकके असंख्यात बहुभागोंमें तथा लोकपूर्णसमुद्घातकी दशामें सर्वलोकमें रहते हैं । बादर वायुकायिक जीव लोकके संख्यातवें भागमें रहते हैं ।

स्पर्शन-प्ररूपणामें १८५ सूत्र हैं । इनमें, नानागुणस्थान और मार्गणावाले जीव स्वस्थान, समुद्घात एवं उपपात सम्बन्धी अनेक अवस्थाओं द्वारा कितने क्षेत्रका स्पर्श करते हैं, का विवेचन किया है । जीव जिस स्थानपर उत्पन्न होता है या रहता है वह उसका स्वस्थान कहलाता है । और उस शरीरके द्वारा जहाँ तक वह आता जाता है वह विहारवत्-स्वस्थान कहलाता है । प्रत्येक जीवका स्वस्थानकी अपेक्षा विहारवत्-स्वस्थानका क्षेत्र अधिक होता है । जैसे सोलहवें स्वर्गके किसी भी देवका क्षेत्र स्वस्थानकी अपेक्षा तो लोकका असंख्यातवां भाग है, पर वह विहार करता हुआ नीचे तृतीय नरक तक

जा-आ सकता है। अतः उसके द्वारा स्पर्श किया क्षेत्र आठ राजु लम्बा हो जाता है। विहारके समान समुद्घात और उपपादकी अपेक्षा भी जीवोंका क्षेत्र बढ़ जाता है। वेदना, कषाय आदि किसी निमित्तविशेषसे जीवके प्रदेशोंका मूल शरीरके साथ सम्बन्ध रहते हुए भी बाहर फैलना समुद्घात कहलाता है। समुद्घातके सात भेद हैं। समुद्घातको अवस्थामें जीवका क्षेत्र शरीरकी अवगाहनाके क्षेत्रसे अधिक हो जाता है।

जीवका अपनी पूर्वपर्यायको छोड़कर अन्य पर्यायमें जन्म ग्रहण करना उपपाद है। इस प्रकार इस प्ररूपणामें स्वस्थान-स्वस्थान, विहारवत्-स्वस्थान, वेदना, कषाय, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, मारणान्तिक, केवलिसमुद्घात और उपपाद इन दश अवस्थाओंकी अपेक्षा किस गुणस्थानवाले और किस मार्गणावाले जीवोंने कितने क्षेत्रका स्पर्श किया है, यह विवेचन किया गया है।

कालानुयोगमें ३४२ सूत्र हैं। इस प्ररूपणामें एक जीव और नाना जीवोंके एक गुणस्थान और मार्गणामें रहनेकी जघन्य एवं उत्कृष्ट मर्यादाओंकी कालावधिका निर्देश किया है। मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वगुणस्थानमें कितने काल पर्यन्त रहते हैं? उत्तर देते हुए बताया है कि नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वकाल; पर एक जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त हैं। तात्पर्य यह है कि अभव्य जीव अनादि अनन्त तथा भव्य जीव अनादि-सान्त और सादि-सान्त हैं। जो जीव एक बार सम्यक्त्व ग्रहणकर पुनः मिथ्यात्वगुणस्थानमें पहुँचता है, उस जीवका वह मिथ्यात्व सादि-सान्त कहलाता है।

सूत्रकारने बड़े ही स्पष्ट रूपमें मिथ्यात्वके तीनों कालोंका एक जीवकी अपेक्षा और अनेक जीवोंकी अपेक्षा निरूपण किया है। जब कोई जीव पहलीबार सम्यक्त्व प्राप्त कर अतिशीघ्र मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाता है तो वह अधिक-से-अधिक मिथ्यात्व गुणस्थानमें अर्द्धपुद्गल परावर्त्तन काल तक ही रहेगा। इसके अनन्तर वह नियमसे सम्यक्त्वको प्राप्तकर संयम धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

अन्तर-प्ररूपणामें ३९७ सूत्र हैं। इस शब्दका अर्थ विरह, व्युच्छेद या अभाव है। किसी विवक्षित गुणस्थानवर्त्ती जीवका उस गुणस्थानको छोड़कर अन्य गुणस्थानमें चले जाने पर पुनः उसी गुणस्थानकी प्राप्तिके पूर्व तकका काल अन्तरकाल या विरहकाल कहलाता है। सबसे कम विरह-कालको जघन्य अन्तर और सबसे बड़े विरहकालको उत्कृष्ट अन्तर कहा है। इस प्रकारके अन्तरकालकी प्ररूपणा करने वाली यह अन्तर-प्ररूपणा है। यह अन्तरकाल सामान्य और विशेषकी अपेक्षासे दो प्रकारका होता है। सूत्रकारने

एक जीव और नाना जीवोंको अपेक्षासे एक ही गुणस्थान और मार्गणामें रहनेकी जघन्य और उत्कृष्ट कालावधिका निर्देश करते हुए अन्तरकालका निरूपण किया है। मिथ्यादृष्टि जीवका अन्तरकाल कितना है, इस प्रश्नका उत्तर देते हुए बताया है कि नानाजीवोंकी अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है। ऐसा कोई काल नहीं जब संसारमें मिथ्यादृष्टि जीव न पाये जायें, एक जीवकी अपेक्षा मिथ्यात्वका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट अन्तर १३२ सागरोपम काल है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव परिणामोंकी विशुद्धिसे सम्यक्त्वको प्राप्त होकर कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त्त कालमें संक्लिष्ट परिणामों द्वारा पुनः मिथ्यादृष्टि हो सकता है। अथवा अनेक मनुष्य और देवगतियोंमें सम्यक्त्व सहित भ्रमणकर अधिक-से-अधिक १३२ सागरोपमको पूर्णकर पुनः मिथ्यात्वको प्राप्त हो सकता है। तीव्र और मन्द परिणामोंके स्वरूपका विवेचन भी इस प्ररूपणाके अन्तर्गत आया है। नानाजीवोंकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्त-संयत, अप्रमत्तसंयत और सयोगकेवली ये छः गुणस्थान इस प्रकारके हैं, जिनमें अन्तराल उपस्थित नहीं होता।

मार्गणाओंमें उपशमसम्यक्त्व, सूक्ष्मसांपरायसंयम, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग, लब्ध्यपर्याप्तमनुष्य, सासादन-सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्व ऐसी अवस्थाएँ हैं, जिनमें गुणस्थानोंका अन्तर-काल संभव होता है। इनका जघन्य अन्तरकाल एक समयमात्र और उत्कृष्ट अन्तरकाल सात दिन या छः मास आदि बतलाया गया है। इन आठ मार्ग-णाओंके अतिरिक्त शेष सभी मार्गणाओंवाले जीव सदा ही पाये जाते हैं।

भाव-प्ररूपणामें ९३ सूत्र हैं। इनमें विभिन्न गुणस्थानों और मार्गणास्थानोंमें होनेवाले भावोंका निरूपण किया गया है। कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम आदिके निमित्तसे जीवके उत्पन्न होनेवाले परिणामविशेषोंको भाव कहते हैं। ये भाव पाँच हैं—१. औदयिक भाव, २. औपशमिक भाव, ३. क्षायिक भाव, ४. क्षायोपशमिक भाव और ५. पारिणामिक भाव।

इन भावोंमेंसे किस गुणस्थान और किस मार्गणास्थानमें कौन-सा भाव होता है, इसका विवेचन इस भावप्ररूपणामें किया गया है। मिथ्यात्वगुण-स्थानमें उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादृष्टिको औदयिक भाव होता है। दूसरे गुण-स्थानमें अन्य भावोंके रहते हुए भी, पारिणामिक भाव रहते हैं। जिस प्रकार जीवत्व आदि पारिणामिक भावोंके लिये कर्मोंका उदय, उपशम आदि कारण नहीं है उसी प्रकार सासादनसम्यक्त्वरूप भावके लिये दर्शनमोहनीयकर्मका उदय, उपशमादि कोई भी कारण नहीं है।

तीसरे गुणस्थानमें क्षायोपशमिक भाव होता है। यतः इस गुणस्थानमें सम्यक्-मिथ्यात्वप्रकृतिके उदय होनेपर श्रद्धान और अश्रद्धानरूप मिश्रभाव उत्पन्न होता है। उसमें जो श्रद्धानांश है वह सम्यक्त्वगुणका अंश है और जो अश्रद्धानांश है वह मिथ्यात्वका अंश है। अतएव सम्यक्मिथ्यात्वभावको क्षायोपशमिक माना गया है। चतुर्थ गुणस्थानमें औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव पाये जाते हैं। यतः यहाँ पर दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम, क्षय और क्षयोपशम ये तीनों ही संभव हैं।

आदिके चार गुणस्थान दर्शनमोहनीयकर्मके उदय, उपशम, क्षय आदि से उत्पन्न होते हैं। अतएव इन गुणस्थानोंमें अन्य भावोंके पाये जानेपर भी दर्शन-मोहनीयकी अपेक्षासे भावोंकी प्ररूपणा की गई है। चतुर्थ गुणस्थान तक जो असंयमभाव पाया जाता है वह चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिक भाव है। पर यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की गयी है।

पञ्चम गुणस्थानसे द्वादश गुणस्थान तक आठ गुणस्थानोंके भावोंका कथन चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयोपशम, उपशम और क्षयकी अपेक्षासे किया गया है। पञ्चम, षष्ठ और सप्तम गुणस्थानमें चारित्रमोहके क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक भाव होते हैं। अष्टम, नवम, दशम और एकादश इन चार उपशामक गुणस्थानोंमें चारित्रमोहके उपशमसे औपशमिक भाव तथा क्षपकश्रेणी सम्बन्धी अष्टम, नवम, दशम और द्वादश इन चार गुणस्थानोंमें चारित्रमोहनीयके क्षयसे क्षायिक भाव होता है। त्रयोदश और चतुर्दश गुणस्थानोंमें जो क्षायिक भाव पाये जाते हैं वे घातियाकर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुए समझना चाहिए। गुणस्थानोंके समान ही मार्गणास्थानोंमें भी भावोंका प्रतिपादन किया गया है।

अल्पबहुत्व-प्ररूपणामें ३८२ सूत्र हैं। नानागुणस्थान और मार्गणागुण-स्थानवर्त्ती जीवोंकी संख्याका हीनाधिकत्व इस प्ररूपणामें वर्णित है। अपूर्व-करण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें उपशमसम्यक्त्वी जीव अन्य सब स्थानोंकी अपेक्षा प्रमाणमें अल्प और परस्पर तुल्य होते हैं। इनसे अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानवर्त्ती क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव संख्यात गुणित हैं। क्षीणकषाय जीवोंकी संख्या भी इतनी ही है। सयोगकेवली संयमकी अपेक्षा प्रविश्यमान जीवोंसे संख्यात गुणित हैं।

उपर्युक्त आठ प्ररूपणाओंके अतिरिक्त जीवस्थानकी नौ चूलिकाएँ हैं। प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन नामकी चूलिकामें ४६ सूत्र हैं। जीवके गति, जाति आदिके रूपमें जो नाना भेद उपलब्ध होते हैं उनका कारण कर्म है। कर्मका विस्तार-पूर्वक विवेचन इस चूलिकामें आया है।

दूसरी चूलिका स्थानसमुत्कीर्त्तन नामकी है। इसमें ११७ सूत्र हैं। प्रत्येक मूलकर्मकी कितनी उत्तरप्रकृतियाँ एक साथ बाँधी जा सकती हैं और उनका बन्ध किस-किस गुणस्थानमें करता है, इसका सुस्पष्ट विवेचन किया गया है। तृतीय चूलिका प्रथम महादण्डक नामकी है। इसमें दो सूत्र हैं। प्रथमसम्यक्त्व-को ग्रहण करनेवाला जीव जिन ७३ प्रकृतियोंका बन्धकर्ता है, उन प्रकृतियोंकी गणना की गई है। इन प्रकृतियोंका बन्धकर्त्ता संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य या तिर्यञ्च होता है। द्वितीय महादण्डक नामकी चौथी चूलिकामें भी केवल दो सूत्र हैं। इनमें ऐसी कर्मप्रकृतियोंकी भी गणना की गई है जिनका बन्ध प्रथमसम्यक्त्वके अभिमुख हुआ देव और छः पृथ्वियोंके नारकी जीव करते हैं। तृतीय दण्डक नामक पाँचवीं चूलिकामें दो सूत्र हैं। और इन सूत्रोंमें सातवीं पृथ्वीके नारकी जीवोंके सम्यक्त्वाभिमुख होनेपर बन्धयोग्य प्रकृतियोंका निर्देश किया गया है। छठी उत्कृष्टस्थिति नामक चूलिकामें ४४ सूत्र हैं। इसमें बन्धे हुए कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका निरूपण किया गया है। आशय यह है कि सूत्रकर्त्ता आचार्यने यह बतलाया है कि बन्धको प्राप्त विभिन्न कर्म अधिक-से-अधिक कितने कालतक जीवोंसे लिप्त रह सकते हैं और बन्धके कितने समय बाद आबाधाकालके पश्चात् विपाक आरम्भ होता है। एक कोड़ाकोड़ी वर्षप्रमाण बन्धकी स्थितिपर १०० वर्षका आबाधाकाल होता है। और अन्तःकोड़ाकोड़ी सागारोपम स्थितिका आबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त्त होता है। परन्तु आयुकर्मका आबाधाकाल इससे भिन्न है। क्योंकि वहाँ आबाधा अधिक-से-अधिक एक पूर्व-कोटि आयुके तृतीयांश प्रमाण होती है। सातवीं जघन्यस्थिति नामक चूलिकामें ४३ सूत्र हैं। इस चूलिकामें कर्मोंकी जघन्य स्थितिका निरूपण किया गया है। परिणामोंकी उत्कृष्ट विशुद्धि जघन्य स्थितिबन्धका और संक्लेश उत्कृष्ट कर्म-स्थितिबन्धका कारण है।

आठवीं चूलिका सम्यक्त्वोत्पत्तिमें १६ सूत्र हैं। इस चूलिकामें सम्यक्त्वोत्पत्ति-योग्य कर्मस्थिति, सम्यक्त्वके अधिकारी आदिका निरूपण है। जीवन-शोधनके लिए सम्यक्त्वकी कितनी अधिक आवश्यकता है, इसकी जानकारी भी इससे प्राप्त होती है। नवमी चूलिका गति-अगति नामकी है। इसमें २४३ सूत्र हैं। विषयवस्तुकी दृष्टिसे इसे चार भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। सर्वप्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके बाहरी कारण किस गतिमें कौन-कौनसे सम्भव हैं, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। तदनन्तर चारों गतिके जीव मरणकर किस-किस गतिमें जा सकते हैं और किस-किस गतिसे किस-किस गतिमें आ सकते हैं, का विस्तारपूर्वक वर्णन पाया जाता है। देव मरकर देव नहीं हो सकता और न नारकी ही हो सकता है। इसी तरह नारकी जीव मरकर न

नारकी हो सकता है और न देव ही। इन दोनों गतियोंके जीव मरणकर मनुष्य या तिर्यञ्चगति प्राप्त करते हैं। देव और नारकी मरकर मनुष्य या तिर्यञ्च ही होते हैं। मनुष्य और तिर्यञ्चगतिके जीव चारों ही गतियोंमें जन्म ग्रहण कर सकते हैं।

तदनन्तर किस गुणस्थानमें मरणकर कौन-सी गति किस-किस जीवको प्राप्त होती है, इसपर विशेष विचार किया है। तत्पश्चात् बतलाया गया है कि नरक और देवगतियोंसे आये हुए जीव तीर्थंकर हो सकते हैं। अन्य गतियोंसे आये हुए नहीं। चक्रवर्त्ती, नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र केवल देवगतिसे आये हुए जीव ही होते हैं, शेष गतियोंसे आये हुए नहीं। चक्रवर्त्ती मरणकर स्वर्ग और नरक इन दोनों गतियोंमें जाते हैं और कर्मक्षयकर मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं। बलभद्र स्वर्ग या मोक्षको जाते हैं। नारायण और प्रतिनारायण मरणकर नियमसे नरक जाते हैं। तत्पश्चात् बतलाया गया है कि सातवें नरकका निकला जीव तिर्यञ्च ही हो सकता है, मनुष्य नहीं। छठे नरकसे निकले हुए जीव तिर्यञ्च और मनुष्य दोनों हो सकते हैं। पञ्चम नरकसे निकले हुए जीव मनुष्यभवमें संयम भी धारण कर सकते हैं, पर उस भवसे मोक्ष नहीं जा सकते। चौथे नरकसे निकले हुए जीव मनुष्य होकर और संयम धारण कर केवलज्ञानको उत्पन्न करते हुए निर्वाण भी प्राप्त कर सकते हैं। तृतीय नरकसे निकले हुए जीव तीर्थंकर हो सकते हैं। इस प्रकार जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्डमें कुल २,३७५ सूत्र हैं और यह आठ प्ररूपणाओं और नौ चूलिकाओंमें विभक्त है।

२. खुद्दाबन्ध (क्षुद्रकबन्ध)

इसमें मार्गणास्थानोंके अनुसार कौन जीव बन्धक है और कौन अबन्धक, का विवेचन किया है। कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे यह द्वितीय खण्ड बहुत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। इसका विशद विवेचन निम्नलिखित ग्यारह अनुयोगों द्वारा किया गया है—

१. एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व
२. एक जीवकी अपेक्षा काल
३. एक जीवकी अपेक्षा अन्तर
४. नानाजीवोंकी अपेक्षा भंगविचय
५. द्रव्यप्रमाणानुगम
६. क्षेत्रानुगम
७. स्पर्शानुगम
८. नानाजीवोंकी अपेक्षा काल

९. नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर
१०. भागाभागानुगम
११. अल्पबहुत्वानुगम

इन ग्यारह अनुयोगोंके पूर्व प्रास्ताविक रूपमें बन्धकोंके सत्त्वको प्ररूपणा की गई है और अन्तमें ग्यारह अनुयोगद्वारोंकी चूलिकाके रूपमें महादंडक दिया गया है। इस प्रक.र इस खण्डमें १३ अधिकार हैं।

प्रास्ताविक रूपमें आई बन्ध-सत्त्वप्ररूपणामें ४३ सूत्र हैं। गतिमार्गणाके अनुसार नारको और तिर्यञ्च बन्धक हैं। मनुष्य बन्धक भी है और अबन्धक भी। सिद्ध अबन्धक हैं। इन्द्रियादि मार्गणाओंको अपेक्षा भी बन्धके सत्त्वका विवेचन किया है। जबतक मन, वचन और कायरूप योगको क्रिया विद्यमान रहती है तबतक जीव बन्धक रहता है। अयोगकेवली और सिद्ध अबन्धक होते हैं।

स्वामित्व नामक अनुगममें ९१ सूत्र हैं, जिनमें मार्गणाओंके अनुक्रमसे कौन-से गुण या पर्याय जीवके किन भावोंसे उत्पन्न होते हैं तथा जीवको लब्धियोंकी प्राप्ति किस प्रकार होती है, आदिका प्रश्नोत्तरके रूपमें प्ररूपण किया गया है। इस अनुगममें सिद्धगति, अनिद्रियत्व, अकायत्व, अलेश्यत्व, अयोगत्व, क्षायिक-सम्यक्त्व, केवलज्ञान और केवलदर्शन तो क्षायिकलब्धिसे उत्पन्न होते हैं। एके-न्द्रियादि पाँच जातियाँ मन, वचन, काय ये तीन योग, मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ये चार ज्ञान, तोन अज्ञान, परिहारविशुद्धिसंयम, चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन, वेदकसम्यक्त्व, सम्यक्-मिथ्यादृष्टित्व और संज्ञित्वभाव ये क्षायो-पशमिकलब्धिसे उत्पन्न होते हैं। अपगतवेद, कषाय, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातसंयम ये औपशमिक तथा क्षायिकलब्धिसे उत्पन्न होते हैं। सामायिक और छेदोपस्थापनासंयम, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकलब्धिसे उत्पन्न होते हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन औपशमिकलब्धिसे उत्पन्न होता है, भव्यत्व, अभव्यत्व और सासादनसम्यग्दृष्टित्व ये पारिणामिक भाव हैं। शेष गति आदि समस्त मार्गणान्तर्गत जीवपर्याय अपने-अपने कर्मोंके उदयसे होते हैं। अनाहारकत्व कर्मोंके उदयसे भी होता है और क्षायिकलब्धिसे भी।

कालानुगममें २१६ सूत्र हैं। इस अनुगममें गति, इन्द्रिय, काय आदि मार्ग-णाओंमें जीवको जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थितिका विवेचन किया है। जीव-स्थान खण्डमें प्ररूपित कालप्ररूपणाकी अपेक्षा यह विशेषता है कि यहाँ गुणस्थानका विचार छोड़कर प्ररूपणा की गई है।

अन्तरप्ररूपणामें १५१ सूत्र हैं। मार्गणाक्रमसे जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर-कालका विशद विवेचन किया गया है।

भंगविचयमें २३ सूत्र हैं। किन मार्गणाओंमें कौन-से जीव सदैव रहते और कौन-से जीव कभी नहीं रहते, का वर्णन किया है। बताया गया है कि नरकादि गतियोंमें जीव सदैव नियमसे निवास करते हैं। किन्तु मनुष्य अपर्याप्त कभी होते हैं और कभी नहीं भी होते। इसी प्रकार वैक्रियिकमिश्र आदि जीवोंकी मार्गणाएँ भी सान्तर हैं।

द्रव्यप्रमाणानुगममें १७१ सूत्र हैं। गुणस्थानको जोड़कर मार्गणाक्रमसे जीवोंकी संख्या, उसीके आश्रयसे काल एवं क्षेत्रका प्ररूपण किया गया है।

क्षेत्रानुगममें १२४ और स्पर्शानुगममें २७९ सूत्र हैं। इन दोनोंमें अपने-अपने विषयके अनुसार जीवोंका विवेचन किया गया है।

कालानुगममें ५५ सूत्र हैं। इसमें कालकी अपेक्षासे नाना जीवोंके कालका वर्णन किया है। अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त एवं सादि-सान्त रूपसे कालप्ररूपणा की गई है।

नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तरका वर्णन करनेवाले अन्तरानुगममें ६८ सूत्र हैं। बन्धकोंके जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकालकी प्ररूपणा की गई है।

भागाभागानुगममें ८८ सूत्र हैं। इस अनुगममें मार्गणानुसार अनन्तवें भाग, असंख्यातवें भाग, संख्यातवें भाग तथा अनन्त बहुभाग, असंख्यात बहुभाग, संख्यात बहुभाग, रूपसे जीवोंका सर्वजीवोंकी अपेक्षा प्रमाण बतलाया गया है। एक प्रकारसे इस अनुगममें जीवोंकी संख्याओंपर प्रकाश डाला गया है तथा परस्पर तुलनात्मक रूपसे संख्या बतायी गई है। यथा—नारकी जीवोंका विवेचन करते हुए कहा गया है कि वे समस्त जीवोंकी अपेक्षा अनन्तवें भाग हैं। इस प्रकार परस्परमें तुलनात्मक रूपसे जीवोंकी भाग-अभागानुक्रममें संख्या बतलायी गई है।

अल्पबहुत्व-अनुगममें १०६ सूत्र हैं, जिनमें १४ मार्गणाओंके आश्रयसे जीव-समासोंका तुलनात्मक द्रव्यप्रमाण बतलाया गया है। गतिमार्गणामें मनुष्य सबसे थोड़े हैं। उनसे नारकी असंख्यगुणे हैं। देव नारकियोंसे असंख्यगुणे हैं। देवोंसे सिद्ध अनन्तगुणे हैं तथा तिर्यंच देवोंसे भी अनन्तगुणे हैं।

अन्तिम चूलिका महादण्डके रूपमें है। इसमें ७९ सूत्र हैं। इस चूलिकामें मार्गणाविभागको छोड़कर गर्भोपक्रान्तिक मनुष्य-पर्याप्तसे लेकर निगोद जीवों तकके जीवसमासोंका अल्पबहुत्व प्रतिपादित है। जीवोंकी सापेक्षिक राशिके ज्ञानको प्राप्त करनेके लिए यह चूलिका उपयोगी है।

इस प्रकार समस्त खुद्दाबन्धमें १, ५८२ सूत्र हैं। इनमें कर्मप्रकृतिप्राभृतके बन्धक अधिकारके बन्ध, अबन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान नामक चार अनुयोगोंमेंसे बन्धकका प्ररूपण किया गया है। इसे खुद्दकबन्ध कहनेका कारण यह है कि महाबन्धकी अपेक्षा यह बन्धप्रकरण छोटा है।

३. **बंधसामित्तविचय (बन्धस्वामित्वविचय)**

इस तृतीय खण्डमें कर्मोंकी विभिन्न प्रकृतियोंके बन्ध करनेवाले स्वामियोंका विचार किया गया है। यहाँ विचयशब्दका अर्थ विचार, मीमांसा और परीक्षा है। यहाँ इस बातका विवेचन किया है कि कौन-सा कर्मबन्ध किस गुणस्थान और मार्गणामें संभव है। अर्थात् कर्मबन्धके स्वामी कौनसे गुणस्थानवर्त्ती और मार्गणास्थानवर्त्ती जीव हैं। इस खण्डमें कुल ३२४ सूत्र हैं। इनमें आरम्भके ४२ सूत्रोंमें गुणस्थान-क्रमसे बन्धक जीवोंका प्ररूपण किया है। कर्मसिद्धान्तकी अपेक्षा किस गुणस्थानमें भेद और अभेद विवक्षासे कितनी प्रकृतियोंका कौन जीव स्वामी होता है, इसका विशद विवेचन किया गया है।

४. **वेदनाखण्ड**

कर्मप्राभतके २४ अधिकारोंमेंसे कृति और वेदना नामक प्रथम दो अनुयोगोंका नाम वेदना-खण्ड है। सूत्रकारने प्रारंभमें मंगलाचरण किया है तथा इसी चतुर्थ खण्डके प्रारंभमें पुनः भी मंगलसूत्र मिलते हैं। अतः यह अनुमान सहजमें लगाया जा सकता है कि प्रथम बारका मंगल प्रारंभके तीन खण्डोंका है और द्वितीय बारका मंगल शेष तीन खण्डोंका। ग्रन्थके आदि और मध्यमें मंगल करनेका जो सिद्धान्त प्रतिपादित है उसका समर्थन भी इससे हो जाता है। कृतिअनुयोगद्वारमें ७५ सूत्र है, जिनमें ४४ सूत्रोंमें मंगलस्तवन किया गया है। शेष सूत्रोंमें कृतिके नाना भेद बतलाकर मूलकरण कृतिके १३ भेदोंका स्वरूप बतलाया गया है।

द्वितीय प्रकरणका १६ अधिकारोंमें विवेचन किया गया है। अधिकारोंकी नामावली सूत्रानुसार निम्न प्रकार है—

१. निक्षेप—३ सूत्र
२. नय—४ सूत्र
३. नाम—४ सूत्र
४. द्रव्य—१३ सूत्र
५. क्षेत्र—९९ सूत्र
६. काल—२७९ सूत्र
७. भाव—३१४ सूत्र

८. प्रत्यय—१६ सूत्र
९. स्वामित्व—१५ सूत्र
१०. वेदनाविधान—५८ सूत्र
११. गति—१२ सूत्र
१२. अनन्तर—११ सूत्र
१३. सन्निकर्ष—३२० सूत्र
१४. परिमाण—५३ सूत्र
१५. भागाभाग—२१ सूत्र
१६. अल्पबहुत्व—२७ सूत्र

वस्तुतः यह वेदना अनुयोगद्वार बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। निक्षेप अधिकारमें नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों द्वारा वेदनाके स्वरूपका स्पष्टीकरण किया गया है। नय अधिकारमें उक्त निक्षेपोंमें कौन-सा अर्थ यहां है, यह नैगम प्रकृत संग्रह आदि नयोंके द्वारा समझाया गया है। नामविधान अधिकारमें नैगमादि नयोंके द्वारा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों में वेदनाकी अपेक्षा एकत्व स्थापित किया गया है। द्रव्याविधान अधिकारमें कर्मोंके द्रव्यका उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, सादि, अनादि स्वरूप समझाया गया है। क्षेत्रविधानसे ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मरूप पुद्गलद्रव्यको वेदना मानकर समुद्घातादि विविध अवस्थाओंमें जीवके प्रदेशक्षेत्रकी प्ररूपणा की गई है। कालविधान अधिकारमें पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारमें कालके स्वरूपका विवेचन किया गया है। भावविधानमें पूर्वोक्त पदमीमांसादि तीन अनुयोगों द्वारा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों की उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट भावात्मक वेदनाओं पर प्रकाश डाला गया है। वेदना प्रत्ययमे नयोंके आश्रय द्वारा वेदनाके कारणोंका विवेचन किया है। वेदना स्वामित्वमें आठों कर्मों के स्वामियोंका प्ररूपण किया है। वेदना वेदन अधिकारमें आठों कर्मों के बध्यमान, उदीरणा और उपशान्त स्वरूपोंका एकत्व और अनेकत्वकी अपेक्षा कथन किया है। वेदना गतिविधान अनुयोगद्वारमें कर्मों की स्थिति, अस्थिति अथवा स्थित्यस्थिति अवस्थाओंका निरूपण किया है। अनन्तरविधान अनुयोगद्वारमें कर्मों की अनन्तपरम्परा एवं बन्धप्रकारोंका विचार किया है। कर्मों को वेदना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा किस प्रकार उत्कृष्ट और जघन्य होती है, का विवेचन वेदना सन्निकर्षमें किया गया है। वेदना परिमाणविधान अधिकारमें आठों कर्मों की प्रकृत्यर्थता, समयबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यासकी प्ररूपणा की गई है। भागाभागमें कर्मप्रकृतियोंके भाग और अभागका विवेचन आया है। अल्प-

बहुत्वविधानमें कर्मोके अल्पबहुत्वका निरूपण किया है। इस प्रकार वेदना-खण्डमें कुल १,४४९ सूत्र हैं।

५. वर्गणाखण्ड

इसमें स्पर्श, कर्म और प्रकृति नामक तीन अनुयोगद्वारोंका प्रतिपादन किया गया है। स्पर्श-अनुयोगद्वारमें स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता, स्पर्शनाम-विधान और स्पर्शद्रव्यविधान आदि १६ अधिकारोंमें स्पर्शका विचार किया गया है। कर्म-अनुयोगद्वारमें नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, सामावदानकर्म, अधःकरणकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म-का प्ररूपण है। प्रकृति-अनुयोगद्वारमें प्रकृतिनिक्षेप आदि १६ अनुयोगद्वारोंका विवेचन है। इन तीनों अनुयोगद्वारोंमें क्रमशः ६३, ३१, और १४२ सूत्र हैं।

बन्धनके चार भेद हैं—१. बन्ध, २. बन्धक, ३. बन्धनीय और ४. बन्ध-विधान। बन्ध और बन्धनीयका विवेचन ७२७ सूत्रोंमें किया गया है। बन्ध-प्रकरण ६४ सूत्रोंमें समाप्त हुआ है। बन्धनीयका स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि विपाक या अनुभव करनेवाले पुद्गल-स्कन्ध ही बन्धनीय होते हैं और वे वर्गणारूप हैं।

६. महाबन्ध

बन्धनीय अधिकारकी समाप्तिके पश्चात् प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थिति-बन्ध और अनुभागबन्धका विवेचन छठे खण्डमें अनेक अनुयोगद्वारोंमें विस्तार-पूर्वक किया गया है। प्रकृतिका शब्दार्थ स्वभाव है। यथा—चीनीकी प्रकृति मधुर और नीमकी प्रकृति कटुक होती है। इसी प्रकार आत्माके साथ सम्बद्ध हुए कर्मपरमाणुओंमें आत्माके ज्ञान-दर्शनादि गुणोंको आवृत्त करने या सुखादि गुणोंके घात करनेका जो स्वभाव पड़ता है उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। वे आये हुए कर्मपरमाणु जितने समयतक आत्माके साथ बँधे रहते हैं उतने कालकी मर्यादाको स्थितिबन्ध कहते हैं। उन कर्मपरमाणुओंमें फलप्रदान करनेका जो सामर्थ्य होता है उसे अनुभागबन्ध कहते हैं। आत्माके साथ बँधनेवाले कर्म-परमाणुओंके ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूपसे और उनकी उत्तरप्रकृतियोंके रूपसे जो बँटवारा होता है उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं। इस षष्ठ खण्डमें इन चारों बन्धोंका प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध आदि २४ अनुयोगद्वारों द्वारा प्ररूपण किया गया है।

आचार्य आर्यमंक्षु और नागहस्ति

ये दोनों आचार्य दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंमें प्रतिष्ठित हैं।

श्वेताम्बर परम्परामें आर्यमंक्षुको आर्यमंगु नामसे उल्लिखित किया है। मंगु और मंक्षु एकार्थक शब्द हैं। अतः ये दोनों एक ही व्यक्तिके लिए प्रयुक्त हैं। 'धवला' टीकामें इन दोनोंको महाश्रमण और महावाचक लिखा है—

"कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्दारे हि भण्णमाणे वे उवएसा होंति। जहण्णमुक्कस्सट्ठिदीणं पमाणपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणं त्ति णागहत्थि-खमासमणा भणंति। अज्जमंखु-खमासमणा पुण कम्मट्ठिदिपरूवेणे त्ति भणंति। एवं दोहि उवएसेहि कम्मट्ठिदिपरूवणा कायव्वा।" "एत्थ दुवे उवएसा·······महावाचयाणमज्जमंखुखवणाणमुवएसेण लोगपूरिदे आउगसमाणं णामा-गोद-वेदणीयाणं ठिदिसंतकम्मं ठवेदि। महावाचयाणं णागहत्थि-खवणाणमुवएसेण लोगे पूरिदे णामा-गोद-वेदणीयाण ट्ठिदिसंतकम्मं अंतोमुहुत्तपमाणं होदि।"[1]

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि आर्यमंक्षु और नागहस्ति क्षमाश्रमण और महावाचक पदोंसे विभूषित थे। इससे इन दोनोंकी सिद्धान्तविषयक विद्वत्ताका पता चलता है। जयधवलामें आर्यमंक्षु और नागहस्तिका उल्लेख करते हुए इन दोनोंको आरातीय परम्पराका अभिज्ञ माना है। लिखा है—

"एदम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदमलोहज्ज-जंबुसामियादि-आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय गाहासरूवेण परिणमिय अज्जमंखु-णागहत्थीहितो जइवसहायरियमुवणमिय चुण्णिसुत्तायारेण परिणददिव्वज्झुणिकिरणादो णव्वदे।"[2]

अर्थात् विपुलाचलके ऊपर स्थित भगवान् महावीररूपी दिवाकरसे निकलकर गौतम, लोहार्य, जम्बूस्वामी आदि आचार्यपरम्परासे आकर गुणधराचार्यको प्राप्त होकर वहाँ गाथारूपसे परिणमन करके पुनः आर्यमंक्षु और नागहस्ति आचार्यके द्वारा आर्य यतिवृषभको प्राप्त होकर चूर्णिसूत्ररूपसे परिणत हुई दिव्यध्वनि किरणरूपसे अज्ञान अन्धकारको नष्ट करती है। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों आचार्य अपने समयके कर्मसिद्धान्तके महान् वेत्ता और आगमके पारगामी थे। जयधवलाकार आचार्य वीरसेनने टीकाके प्रारंभमें उक्त दोनों आचार्योंकी महत्ता प्रदर्शित की है। धवला और जयधवला टीकाओंके आधार पर इन दोनों आचार्योंको सिद्धान्तका मर्मज्ञ और व्याख्याता माना जा सकता है। वीरसेनने लिखा है—

गुणहर-वयण-विणिग्गय-गाहाणत्थोऽवहारियो सव्वो।
जेणज्जमंखुणा सो सणागहत्थी वरं देऊ॥७॥

---

१. षट्खण्डागम १ प्र० पृ० ५७, पुरातन जैन वाक्य-सूची पृ० ३० पर उद्धृत।

२. कसायपाहुड, पञ्चम भाग, पृष्ठ ३८८।

जो अज्जयमंखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स ।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ॥८॥[1]

अर्थात् जिन आर्यमंक्षु और नागहस्तिने गुणधराचार्यके मुखकमलसे विनिर्गत कसायपाहुडकी गाथाओंके समस्त अर्थको सम्यक्प्रकार ग्रहण किया, वे हमें वर प्रदान करें। चूर्णिसूत्ररचयिता यतिवृषभ आर्यमंक्षुके शिष्य और नागहस्तिके अन्तेवासी हैं।

इन गाथाओंसे निम्नलिखित तथ्य प्रसूत होते हैं—

१. आर्यमंक्षु और नागहस्तिकी समकालीनता
२. कसायपाहुडकी विज्ञता
३. यतिवृषभके गुरुके रूपमें मान्यता

यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोंमें आर्यमंक्षु और नागहस्तिको गुरुके रूपमें उल्लिखित नहीं किया है और न अन्य किसी आचार्यका ही अपनेको शिष्य बताया है। यद्यपि कुछ ऐसे स्थल उपलब्ध होते हैं, जिनसे उक्त दोनोंका गुरुत्व व्यक्त हो जाता है। उन्होंने "एत्थ वे उवएसा" कहकर दो उपदेशकोंकी सूचना दी है। ये उपदेशक अपने समयके दो महान् ज्ञानी गुरु थे। जयधवलामें लिखा है—

"पुणो तेसिं दोण्हं पि पादमूले असीदिसदगाहाणं गुणहरमुहकमलविणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभडारएण पवयणवच्छलेण चुण्णिसुत्तं कयं।"[2]

अर्थात् गुणधरके मुखकमलसे निकली हुई गाथाओंके अर्थको जिनके पादमूलमें सुन कर यतिवृषभने चूर्णिसूत्र रचा।

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें आर्यमंक्षु और नागहस्तिको गुणधराचार्यका शिष्य बताया गया है। अतएव इन दोनोंके गुरु गुणधराचार्य हैं और शिष्य यतिवृषभ—

एवं गाथासूत्राणि पंचदशमहाधिकाराणि ।
प्रविरच्य व्याचख्यौ स नागहस्त्यार्यमंक्षुभ्याम् ॥[3]

अर्थात् गुणधराचार्यने कसायपाहुडकी सूत्रगाथाओंको रचकर स्वयं उनकी व्याख्या करके आर्यमंक्षु और नागहस्तिको पढ़ाया।

जयधवलाके एक अन्य उल्लेखसे अवगत होता है कि आचार्यपरम्परासे प्राप्त गाथाओंकी शिक्षा गुणधरने आर्यमंक्षु और नागहस्तिको दी थी—

---

१. जयधवलाटीका; मंगलाचरण पद्य ७-८।
२. कसायपाहुड, जयधवला टीका, भाग १, पृ० ८८।
३. श्रुतावतार, पद्य १५४।

"पुणो ताओ सुत्तगाहाओ आइरिय-परंपराए आगच्छमाणाओ अज्जमंखुणाग-हत्थीणं पत्ताओ।"

अर्थात् गुणधराचार्यकी उक्त सूत्रगाथाएँ आचार्यपरम्परासे चली आती हुई आर्यमंक्षु और नागहस्तिको प्राप्त हुईं।

इस उद्धरणसे एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि इन दोनों आचार्योंका गुणधरके साथ सीधा सम्बन्ध नहीं था; पर आरम्भमें जयधवलाकारने गुणधरका आर्यमंक्षु और नागहस्तिके साथ सीधा सम्बन्ध माना है। श्रुतावतारसे भी गुणधराचार्यके साथ इन दोनोंका साक्षात् सम्बन्ध घटित होता है।

आर्यमंक्षु और नागहस्तिके व्यक्तित्वके सम्बन्धमें श्वेताम्बर परम्परासे भी पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। नन्दिसूत्रकी पट्टावलीमें आचार्य आर्यमंक्षुका परिचय देते हुए लिखा है—

भणगं करगं झरगं पभावगं णाणदंसणगुणाण।
वंदामि अज्जमंगुं सुयसागरपारगं धीरं॥[1]

अर्थात् जो सूत्रोंके अर्थव्याख्याता हैं, साधुपदोचित क्रियाकलापके करनेवाले हैं, धर्मध्यानके ध्याता या विशिष्ट अभ्यासी हैं, ज्ञान और दर्शन गुणके महान् प्रभावक हैं, धीर-वीर हैं, परीषह और उपसर्गोंके सहन करनेवाले हैं एवं श्रुतसागरके पारगामी हैं, ऐसे आचार्यको मैं वन्दना करता हूँ।

श्वेताम्बर पट्टावलीमें इन्हें आर्यसमुद्रका शिष्य कहा गया है। इसी पट्टावलीमें नागहस्तिका परिचय भी प्राप्त होता है।

वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जणागहत्थीणं।
वागरण-करणभंगिय-कम्मपयडिपहाणाणं॥[2]

जो संस्कृत और प्राकृत भाषाके व्याकरणोंके वेत्ता हैं, करणभंगी अर्थात् पिण्डशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिरोध, प्रतिलेखन और अभिग्रहकी नानाविधियोंके ज्ञाता हैं और कर्मप्रकृतियोंके प्रधान रूपसे व्याख्याता हैं, ऐसे आर्य नागहस्तिका यशस्वी वाचक वंश वृद्धिको प्राप्त हो। इन्हें आर्य नन्दिल क्षपणकका शिष्य बतलाया गया है।

उक्त दोनों गाथाओंपरसे आर्यमंक्षु और नागहस्तिके व्यक्तित्वके सम्बन्धमें निम्नलिखित निष्कर्ष फलित होते हैं—

---

२. नन्दिसूत्र पट्टावली, गाथा २८।

१. नन्दिसूत्रपट्टावली, गाथा ३०।

१. ये दोनों आचार्य सिद्धान्तके मर्मज्ञ थे।

२. श्रुतसागरके पारगामी थे।

३. सूत्रोंके अर्थव्याख्याता थे।

४. गुप्ति, समिति और व्रतोंके पालनमें सावधान तथा परीषह और उपसर्गोंके सहन करनेमें पटु थे।

५. वाचक और प्रभावक भी थे।

समय-निर्णय

श्वेताम्बर पट्टावलियोंमेंसे कल्पसूत्र-स्थविरावली और पट्टावली-सारोद्धारमें तो उक्त दोनों आचार्योंका नाम नहीं मिलता है। अन्य पट्टावलियोंमेंसे किसीमें केवल आर्यमंक्षुका नाम और किसीमें आर्यनाग हस्तिका नाम आता है। जहाँ इन दोनों आचार्योंके नाम हैं, वहाँ भी बीचमें किसी अन्य आचार्यका नाम आ गया है।

यह तो निर्विवाद है कि पट्टावलियोंमें उल्लिखित आर्यमंक्षु और नागहस्ति ही धवला और जयधवलामें उल्लिखित आर्यमंक्षु और नागहस्ति हैं। वि० सं० १३२७के लगभग धर्मघोषने 'सिरि-दुसमाकाल-समणसंघ-थयं' नामक पट्टावली संगृहीत की है, जिसमें 'वइर' के पश्चात् ही नागहत्थिका नाम आया है। यथा—

बीए निवीस वइरं च नागहत्थि च रेवईमित्तं।
सीहं नागज्जुणं भूइदिन्नियं कालयं वंदे॥[1]

ये वइर, वइर द्वितीय या कल्पसूत्र-पट्टावलीके उक्कोसिय गोत्रीय वइरसेन हैं, जिनका समय इसी पट्टावलीकी अवचूरीमें राजगणनासे तुलना करते हुए वीर नि० सं० ६१७के पश्चात् बतलाया गया है।

पुष्पमित्र (दुर्बलिका पुष्पमित्र २० ॥ तथा राजा नाहडः ॥१०॥ एवं ६०५ शाकसंवत्सरः॥ अत्रान्तरे बोटिका निर्गता। इति ६१७॥ प्रथमोदयः। वायसरेण ३ नागहस्ति ६९ रेवतिमित्र ५९ बंभदीवग सिंह ७८ नागार्जुन ७८।

पणसयरी सयाइं तिन्नि-सय-समन्निआइं अइकमऊं।
विक्कमकालाओ तओ बहुली (वलभी) भंगो समुप्पन्नो॥

उक्त उद्धरणके अनुसार वीर नि० सं० के ६१७ वर्ष पश्चात् वइरसेनका काल तीन वर्ष और उनके अनन्तर नागहस्तिका काल ६९ वर्ष पाया जाता है। कल्पसूत्र-स्थविरावलीमें एक वइरको गौतम-गोत्री और दूसरेको उक्कोसी-

१. पट्टावलीसमुच्चय पृ० १६।

यगोत्री कहा है और उन्हें परस्परमें गुरु-शिष्य बतलाया है; किन्तु अन्य पीछे-की पट्टावलियोंमें उनके नामोंके बीच एक दो नाम और जुड़े हुए मिलते हैं। प्रथम अज्जवइरके समयका उल्लेख वीर नि० सं० ५८४ वर्ष पाया जाता है। और द्वितीय अज्जवइरका वीर नि० सं० ६१७ पाया जाता है। इन दोनों आचार्योंसे पूर्व आर्यमंक्षुका उल्लेख है तथा इन दोनोंके अनन्तर नागहस्तिका निर्देश है। अतः इन चारों आचार्योंका समय निम्न प्रकार है—

आर्यमंक्षु—	४६७	वी० नि०
आर्यवज्र—	४९६-५८४	,,
आर्य वज्रसेन—	६१७-६२०	,,
आर्य नागहस्ति—	६२०-६८९	,,

दिगम्बर वाङ्मयके अनुसार उक्त दोनों आचार्य यतिवृषभके गुरु और गुणधरके शिष्य होनेके कारण गुणधराचार्यके समकालीन हैं।

मथुराके सरस्वती-आन्दोलनके सम्बन्धमें कहा जाता है कि मथुरा संघने पुस्तकधारिणी सरस्वती देवीकी विशाल प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की थीं। दूसरी शती ई० के पूर्वार्द्धमें कुषाण नरेशोंके शासन-कालमें आचार्य नागहस्ति द्वारा प्रस्थापित सरस्वती देवीकी जो खण्डित मूर्ति मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त हुई है वह सबसे अधिक प्राचीन है। यह सरस्वती-आन्दोलन अर्थात् ग्रन्थ लिखनेका आन्दोलन ई० पू० ५० से ई० सन् १०० तक रहा है। नागहस्ति या हस्त-हस्ति-का नाम मथुराके शिलालेखमें आया है। अतः डा० ज्योतिप्रसादजीने नाग-हस्तिकी तिथि ई० सन् १३०-१३२ निर्धारित की है और आर्यमंक्षुको नाग-हस्तिसे पूर्ववर्त्ती मानकर उनका समय ई० सन् ५० माना है।[1]

श्वेताम्बर पट्टावलियोंके आधारपर आर्यमंक्षु और नागहस्तिके समयमें १३० वर्षका अन्तर पड़ता है। अतः वे दोनों समकालीन नहीं हैं; पर दिगम्बर उल्लेखोंके अनुसार ये दोनों आचार्य महावीर स्वामीकी परम्पराकी २८ वीं पीढ़ीपर आते हैं जिसका अर्थ है कि वीर नि० सं० सातवीं शताब्दी इनका समय है। श्वेताम्बर पट्टावलियोंके अनुसार आर्यमंक्षुका काल वीर नि० सं० पाँचवीं शताब्दी और नागहस्तिका सातवीं शताब्दी है। धवला और जयधवलामें आर्यमंक्षु और नागहस्तिका उल्लेख जिस क्रमसे आया है उससे भी यह ध्वनित होता है कि आर्यमंक्षु नागहस्तिसे ज्येष्ठ थे। इसीलिए उनका नाम प्रथम रखा

---

1. The Taina Sources of The History of Ancient India P. 116.

गया है और नागहस्तिका पश्चात्। यहाँ यह अवश्य विचारणीय है कि धवला एवं जयधवलामें उल्लिखित आर्यमंक्षु और नागहस्ति श्वेताम्बर पट्टावलियोंके ही आचार्य हैं तो दोनों परम्पराओंमें इतना अन्तर क्यों है ?

श्रुताभिज्ञता और पाण्डित्य

आर्यमंक्षु और नागहस्ति 'महाकम्मपयडिपाहुड' के ज्ञाता थे। इनसे यतिवृषभने 'कसायपाहुड'के सूत्रोंका व्याख्यान प्राप्तकर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की है। अतः ये दोनों आचार्य पेज्जदोसपाहुडके भी उत्कृष्ट ज्ञाता थे। धवला टीकाकार आचार्य वीरसेनने आर्यमंक्षु और नागहस्तिके उपदेशका वर्णन करते हुए लिखा है कि आर्यमंक्षु और नागहस्तिके उपदेश प्रवाहक्रमसे आये हुए थे। उन उपदेशको 'पवाइज्जमाण' कहा है।

"तेसिं चेव भयवंताणमज्जमंखु-णागहत्थीणं पवाइज्जंतेणुवएसेण चोद्दस जीवसमासेसु जहण्णुक्कस्सपदविसेसिदो अप्पाबहुअदंडओ एत्तो भणिहिदि भणिष्यत इत्यर्थः।"[1]

इस उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि आचार्य वीरसेन उक्त दोनों आचार्योंके उपदेशको परम्परासे प्राप्त प्रवाह्यमान कहा है। जो तथ्य आरातीयपरम्परासे प्राप्त होते हैं वे ही तथ्य यथार्थ कहे जाते हैं और उन्हींको प्रवाह्यमान कहा जाता है।

आगे चलकर इसी जिल्दमें आचार्य वीरसेनने कषायोंके संयोगके वर्णन-प्रसंगमें आर्यमंक्षुके उपदेशको 'अपवाइज्जमाण' और नागहस्तिके उपदेशको 'पवाइज्जंत' कहा है। बताया है—

"एत्तो पवाइज्जंतोवएसमलंविय एदिस्से चउत्थीए सुत्तगाहाए अत्थविहासणा कीरदि त्ति वुत्तं होइ। को वुण पवाइज्जंतोवएसो णाम? वुच्चदे—वुत्तमेदं सव्वाइरियसम्मदो चिरकालमवोच्छिण्णसंपदायकमेणागच्छमाणो जो सिस्सपरंपराए पवाइज्जदे पण्णविज्जदे सो पवाइज्जंतोवएसो त्ति भण्णदे। अथवा अज्जमंखु-भयवंताणमुवएसो एत्थापवाइज्जमाणो णाम। णागहत्थिखवणाणमुवएसो पवाइज्जंतओ त्ति घेत्तव्वो।"[2]

जो सब आचार्योंके द्वारा सम्मत है। चिरकालसे अत्रुटित सम्प्रदायक्रमसे चला आ रहा है और जो शिष्यपरम्पराके द्वारा प्रवाहित किया जाता है या ज्ञापित किया जाता है, वह प्रवाह्यमान उपदेश कहलाता है। आर्यमंक्षु

१. कसायपाहुड, जयधवलाटीका, जिल्द १२, पृ० २३.

२. कसायपाहुड, जयधवला टीका, जिल्द १२, पृ० ७२.

आचार्यका उपदेश प्रकृत, कषायसंयोगवर्णन क्रममें अप्रवाह्यमान है और नागहस्ति क्षमाश्रमणका उपदेश प्रवाह्यमान है।

उपर्युक्त संदर्भसे यह निष्कर्ष निकलता है कि उपदेशकी दो परम्पराएँ विद्यमान थीं। एक 'पवाइज्जंत' और दूसरी 'अपवाइज्जमाण'। वीरसेनने आर्य-मंक्षुके उपदेशको 'अपवाइज्जमाण' और नागहस्तिके उपदेशको 'पवाइज्जंत' कहा है। उपयोगाधिकारकी चतुर्थ गाथाकी विभाषा करते हुए चूर्णिकारने इस गाथाकी विभाषाके विषयमें दो उपदेश बताये हैं। एक उपदेशके द्वारा व्याख्यान समाप्त करके लिखा है कि अब 'पवाइज्जंत' उपदेशके द्वारा चौथी गाथाकी विभाषा करते हैं। साधारणतः आर्यमंक्षु और नागहस्तिके उपदेशमें कोई अन्तर नहीं था; पर क्वचित्-कदाचित् उपदेशमें अन्तर रहनेके कारण 'पवाइज्जंत' और 'अपवाइज्जमाण' का उल्लेख आया है।

आर्यमंक्षुका उपदेश 'अपवाइज्जमाण' क्यों था, इस सम्बन्धमें श्वेताम्बर परम्परासे कुछ प्रकाश पड़ता है। इस परम्परामें बताया है कि आचार्य आर्यमंक्षु विहार करते हुए मथुरापुरी पहुँचे। यहाँ पर श्रद्धालु 'भक्त' और शुश्रूषारत शिष्योंके व्यामोहके कारण वहीं रहने लगे। रसगारवके वे इतने वशीभूत थे, जिससे विहार छोड़कर वहीं रहने लगे। शनैः शनैः उनका श्रामण्य शिथिल होने लगा और वहीं उन्होंने समाधिमरण प्राप्त किया।[1]

वज्रयश

'तिलोयपण्णत्ती'में आचार्य वज्रयशका उल्लेख है और उन्हें अन्तिम प्रज्ञा-श्रमण बताया गया है। लिखा है—

पण्णसमणेसु चरिमो वइरजसो णाम ओहिणाणीसु।
चरिमो सिरिणामो सुदविणयसुसीलादिसंपण्णो ॥[2]

यहाँ प्रज्ञाश्रमणोंमें अन्तिम प्रज्ञाश्रमण वज्रयश या 'वइरजस'का स्पष्ट निर्देश है। यदि ये 'वइरजस' श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें उल्लिखित वज्रयश ही हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। तत्त्वार्थवार्त्तिकमें[3] पदानुसारित्व और प्रज्ञाश्रमणत्व इन दो ऋद्धियोंको एक ही बुद्धि-ऋद्धिके उपभेद कहा है। षट्खण्डागमके वेदना खण्डमें निबद्ध गौतम स्वामीकृत मंगलाचरणमें इन दोनों ऋद्धियोंके धारक आचार्योंको नमस्कार किया है—

---

१. राजेन्द्र अभिधानका 'अज्जमंगु' शब्द।

२. तिलोयपण्णत्ती ४।१४८०।

३. त० पृ० १४३।

१. 'णमो पदाणुसारीणं।'[1]

पदानुसारी ऋद्धिके धारकोंको नमस्कार हो। पदानुसारी बुद्धिके तीन भेद हैं—१. पदानुसारी बुद्धि, २. प्रतिसारी बुद्धि और ३. तदुभयसारी बुद्धि। जो बुद्धि बीजपदके अधस्तन पदोंको बीजपदस्थित हेतुरूपसे जानती है वह पदानुसारी बुद्धि है। जो उसके विपरीत उससे उपरिम पदोंको ही जानती है वह प्रतिसारी बुद्धि कहलाती है। जो उक्त बीजपदके पार्श्वभागोंमें स्थित पदोंको नियमसे अथवा बिना नियम भी जानती है उसे तदुभयसारी बुद्धि कहते हैं।

२ 'णमो पण्णसमणाणं'[2]

प्रज्ञाश्रमणोंको नमस्कार हो। प्रज्ञा चार प्रकारकी होती है—१. औत्पत्तिकी, २. वैनयिकी, ३. कर्मजा और ४. पारिणामिकी। जो पूर्वजन्मसम्बन्धी चार प्रकारकी निर्मलबुद्धिके बलसे विनयपूर्वक बारह अंगोंका अवधारण, पठन, श्रवण आदि करते हैं वे औत्पत्तिका प्रज्ञाश्रमण कहलाते हैं। छः मासके उपवाससे कृश होते हुए भी अपनी बुद्धिके प्रभावसे चौदहपूर्वोके विषयका भी उत्तर देते हैं तथा विनयपूर्वक बारह अंगोंको पढ़ते हैं उन्हें वैनयिकीप्रज्ञाश्रमण कहते हैं। परोपदेशसे उत्पन्न बुद्धि भी वैनयिकी प्रज्ञा कहलाती है। गुरु उपदेशके बिना तपश्चरणके प्रभावसे जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसका नाम कर्मजा प्रज्ञा है। जातिविशेषसे उत्पन्न हुई बुद्धि पारिणामिकी कहलाती है।

इस प्रकार तिलोयपण्णत्तीके अनुसार वज्रयश एक बड़े आचार्य हुए हैं, जो प्रज्ञाश्रमण ऋद्धिके धारक थे और जिनका बड़ी श्रद्धासे नामोल्लेख किया जाता था।

समय-निर्धारण

आचार्य 'वज्रयश' या 'वइरजस' उनका उल्लेख करनेवाले आचार्य यतिवृषभके पूर्ववर्ती हैं।

चिरन्तनाचार्य

चिरन्तनाचार्यका उल्लेख जयधवलाटीकामें प्राप्त होता है। इसमें बताया है—

"भेदाभावादो चिरंतणाइरियवक्खाणं पि एत्थ अप्पणो पढमपुढविवक्खाणसमाणं[3]।"

---

१. वेदनाखण्ड, कृति अनुयोग द्वार, सूत्र ८।

२. षट्खण्डागम, वेदनाखण्ड, कृति अनुयोगद्वार, सूत्र १८।

३. जयधवला, भाग १, पृ० ५३४।

अर्थात् चिरंतनाचार्यका व्याख्यान प्रथम पृथ्वीके समान है। चिरन्तनाचार्यका एक अन्य उल्लेख और प्राप्त होता है, जिसमें उन्हें चिरन्तन व्याख्यानाचार्य कहा गया है—

"संपहि चिरंतणवक्खाणाइरियाणमप्पाबहुअं वत्तइस्सामो।"[१]

इनका समय वप्पदेवाचार्यसे कुछ पूर्व होना चाहिये। 'कसायपाहुड' पर चूर्णिसूत्रोंके पश्चात् उच्चारणवृत्ति-पद्धतिके आधार पर तुम्बलूराचार्यने षट्खण्डागमके प्रारंभिक पाँच खण्डों पर तथा 'कषायपाहुड' पर ८४००० श्लोक प्रमाण चूडामणि नामकी टीका रची। शामकुण्डाचार्यने पद्धति नामक टीका १२००० श्लोक प्रमाण लिखी। बताया है—

"चतुरधिकाशीतिसहस्रग्रन्थरचनाया युक्ताम्।
कर्णाटभाषयाऽकृत महतीं चूडामणिं व्याख्याम्॥"[२]
"प्राकृतसंस्कृतकर्णाटभाषया पद्धतिः परा रचिता॥"[३]

चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ और उनकी रचनाएँ

जयधवला टीकाके निर्देशानुसार आचार्य यतिवृषभने आर्यमंक्षु और नागहस्तिसे कसायपाहुडकी गाथाओंका सम्यक् प्रकार अध्ययनकर अर्थ अवधारण किया और कसायपाहुडपर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की। जयधवलामें वृत्तिसूत्रका लक्षण बताते हुए लिखा है—

"सुत्तस्सेव विवरणाए संखित्तसद्दरयणाए संगहियसुत्तासेसत्थाए वित्तिसुत्तववएसादो।"

अर्थात् जिसकी शब्दरचना संक्षिप्त हो और जिसमें सूत्रगत अशेष अर्थोंका संग्रह किया गया हो ऐसे विवरणको वृत्तिसूत्र कहते हैं।

जयधवलाटीकमें अनेकस्थलोंपर यतिवृषभका उल्लेख किया है। लिखा है—

"एवं जइवसहाइरियदेसामासियसुत्तत्थपरूवणं काऊण संपहि जइवसहाइरियसूचिदत्थमुच्चारणाए भणिस्सामो।"[४]

अर्थात् यतिवृषभ आचार्य द्वारा लिखे गये चूर्णिसूत्रोंका अवलम्बन लेकर उक्तार्थ प्रस्तुत किया गया।

---

१. जयधवला भाग १, पृ० ५३२।
२. इन्द्रनन्दि श्रुतावतार, पद्य १६६।
३. वही, पद्य १६४।
४. कसायपाहुड, भाग २, पृ० १४।

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोंकी रचना संक्षिप्त शब्दावलीमें प्रस्तुत कर महान् अर्थको निबद्ध किया है। यदि आचार्य यतिवृषभ चूर्णिसूत्रोंकी रचना न करते, तो बहुत संभव है कि कसायपाहुडका अर्थ ही स्पष्ट न हो पाता। अतः दिगम्बर परम्परामें चूर्णिसूत्रोंके प्रथम रचयिता होनेके कारण यतिवृषभका अत्यधिक महत्त्व है। चूर्णिसूत्रकी परिभाषापर षट्खण्डागमकी धवलाटीकासे भी प्रकाश पड़ता है। वीरसेन आचार्यने षट्खण्डागमके सूत्रोंको[1] भी 'चुण्णिसुत्त' कहा है। यहाँ उन्हीं सूत्रोंको चूर्णिसूत्र कहा है जो गाथाके व्याख्यानरूप हैं। वेदनाखण्डमें कुछ गाथाएँ भी आती हैं जो व्याख्यानरूप हैं। धवलाकारने उन्हें चूर्णिसूत्र कहा है।

धवलाकारने यतिवृषभाचार्यके चूर्णिसूत्रोंको वृत्तिसूत्र भी कहा है। वृत्तिसूत्रका पूर्वमें लक्षण लिखा जा चुका है। श्वेताम्बर परम्परामें चूर्णिपदकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

अत्थबहुलं महत्थं हेउ-निवाओवसग्गगंभीरं।
बहुपायमवोच्छिन्नं गय-णयसुद्धं तु चुण्णपयं॥[2]

अर्थात् जिसमें महान् अर्थ हो, हेतु, निपात और उपसर्गसे युक्त हो, गम्भीर हो, अनेकपद समन्वित हो, अव्यवच्छिन्न हो और तथ्यकी दृष्टिसे जो धाराप्रवाहिक हो, उसे चूर्णिपद कहते हैं।

आशय यह है कि जो तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिसे निस्सृत बीजपदोंका अर्थोद्घाटन करनेमें समर्थ हो वह चूर्णिपद है। यथार्थतः चूर्णिपदोंमें बीजसूत्रोंको विवृत्त्यात्मक सूत्र-रूप रचना की जाती है और तथ्योंको विशेषरूपमें प्रस्तुत किया जाता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि श्वेताम्बर परम्पराकी चूर्णियोंसे इन चूर्णिसूत्रोंकी शैली और विषयवस्तु बहुत भिन्न है। यतिवृषभ द्वारा विरचित चूर्णिसूत्र कहलाते हैं, चूर्णियाँ नहीं। इसका अर्थ यह है कि यतिवृषभके चूर्णसूत्रोंका महत्त्व 'कसायपाहुड' की गाथाओंसे किसी तरह कम नहीं है। गाथासूत्रोंमें जिन अनेक विषयोंके संकेत उपलब्ध होते हैं, चूर्णिसूत्रोंमें उनका उद्घाटन मिलता है। अतः 'कसायपाहुड' और चूर्णिसूत्र' दोनों ही आगमविषयकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं।

---

१. एदस्स गाहासुत्तस्स विवरणभावेण रचिदउवरिमचुण्णिसुत्तादो।
—षट्खण्डागम, पुस्तक १२, पृ० ४१।

२. अभिधान राजेन्द्र, चण्णपद।

आचार्य वीरसेनके उल्लेखानुसार चूर्णिसूत्रकारका मत 'कसायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' के मतके समान ही प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण है। वि० की ग्यारहवीं शताब्दीमें .आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने 'लब्धिसार' नामक ग्रन्थमें पहले यतिवृषभके मतका निर्देश किया है। तदनन्तर भूतबलिके मतका। इससे स्पष्ट है कि यतिवृषभके चूर्णिसूत्र मूलग्रन्थोंके समान ही महत्त्वपूर्ण और उपयागी थे।

यह सत्य है कि यतिवृषभाचार्यका व्यक्तित्व आगमव्याख्याताकी दृष्टिसे अत्यधिक है। इन्होंने आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार इन पाँच उपक्रमोंकी दृष्टिसे सूत्ररूप अर्थोद्घाटन किया है। यतिवृषभ विभाषा-सूत्र, अवयवार्थ एवं पदच्छेदपूर्वक व्याख्यान करते गये हैं।

चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभके व्यक्तित्वमें निम्नलिखित विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं—

१. यतिवृषभ आठवें कर्मप्रवादके ज्ञाता थे।

२. नन्दिसूत्रके प्रमाणसे ये कर्मप्रकृतिके भी ज्ञाता सिद्ध होते हैं।

३. आर्यमंक्षु और नागहस्तिका शिष्यत्व इन्होंने स्वीकार किया था।

४. आत्मसाधक होनेके साथ ये श्रुताराधक हैं।

५. धवला और जयधवलामें भूतबलि और यतिवृषभके मतभेद परिलक्षित होते हैं।

६. व्यक्तित्वकी महनीयताकी दृष्टिसे यतिवृषभ भूतबलिके समकक्ष हैं। इनके मतोंकी मान्यता सार्वजनीन है।

७. चूर्णिसूत्रोंमें यतिवृषभने सूत्रशैलीको प्रतिबिम्बित किया है।

८. परम्परासे प्रचलित ज्ञानको आत्मसात् कर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की गई है।

९. यतिवृषभ आगमवेत्ता तो थे, ही पर उन्होंने सभी परम्पराओंमें प्रचलित उपदेशशैलीका परिज्ञान प्राप्त किया और अपनी सूक्ष्म प्रतिभाका चूर्णिसूत्रोंमें उपयोग किया।

समय-निर्णय

चूर्णिसूत्रकार आचार्य यतिवृषभके समयके सम्बन्धमें विचार करनेसे ज्ञात होता है कि ये षट्खण्डागमकार भूतबलिके समकालीन अथवा उनके कुछ ही उत्तरवर्त्ती हैं। कुन्दकुन्द तो इनसे अवश्य प्राचीन हैं। बताया गया है कि प्रवचनवात्सल्यसे प्रेरित होकर इन्होंने गुणधरके 'कसायपाहुड' पर चूर्णि-

सूत्रोंकी रचना की। यतिवृषभके ग्रन्थोंके अवलोकनसे यह ज्ञात होता है कि इनके समक्ष षट्खण्डागम, लोकविनिश्चय, संगाइणी और लोकविभाग (प्राकृत) जैसे ग्रन्थ विद्यमान थे। इन ग्रन्थोंका सम्यक् अध्ययनकर इन्होंने चूर्णिसूत्रोंकी रचना की।

'तिलोयपण्णत्ती'में—

"जलसिहरे विक्खंभो जलणिहिणो जोयणा दससहस्सा।
एवं संगाइणिए लोयविभाए विणिद्दिट्ठं॥
लोयविणिच्छय-गंथे लोयविभागम्मि सव्वसिद्धाणं।
ओगाहण-परिमाणं भणिदं किंचूणचरिमदेहसमो॥"[1]

इन गाथाओंमें लोकविभागका उल्लेख आया है। यह लोकविभाग ग्रन्थ संभवतः आचार्य सर्वनन्दि द्वारा विरचित होना चाहिए। पर यतिवृषभके समक्ष यही लोकविभाग था, इसका कोई निश्चय नहीं। लोकानुयोगके ग्रन्थ प्राचीन हैं और संभवतः यतिवृषभके समक्ष कोई प्राचीन लोकविभाग रहा होगा। इन सर्वनन्दिने काञ्चीके राजा सिंहवर्माके राज्यके बाईसवें वर्षमें जब शनिश्चर उत्तराषाढ़ा नक्षत्र पर स्थित था, बृहस्पति वृष राशिमें और चन्द्रमा उत्तराफाल्गुणी नक्षत्रमें अवस्थित था; इस ग्रन्थकी रचना की। यह ग्रन्थ शक सं० ३८० (वि० सं० ५१५) में पाणराष्ट्रके पाटलिक ग्राममें पूरा किया गया। सर्वनन्दिके इस लोकविभागका निर्देश सिंहसूर्यके संस्कृत लोकविभागकी प्रशस्तिमें पाया जाता है।

वैश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे
राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे।
ग्रामे च पाटलिकनामनि पाणराष्ट्रे
शास्त्रं पुरा लिखितवान् मुनिसर्वनन्दी॥
संवत्सरे तु द्वाविंशे काञ्चीशः सिंहवर्मणः।
अशीत्यग्रे शकाब्दानां सिद्धमेतच्छतत्रये॥[2]

इस प्रशस्तिसे आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने यह निष्कर्ष निकाला है कि सिंहसूर्यका यह लोकविभाग सर्वनन्दिके प्राकृत लोकविभागका अनुवादमात्र है। उन्होंने भाषाका परिवर्तन ही किया है, मौलिक कुछ नहीं लिखा। पर इस लोकविभागके अध्ययनसे उक्त निष्कर्ष पूर्णतया निर्भ्रान्त प्रतीत नहीं होता;

१. तिलोयपण्णत्तीकी गाथाएँ, पुरातन जैन वाक्यसूचीकी प्रस्तावना पृ० ३१ पर उद्धृत।
२. लोकविभाग, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, सन् १९६२, ११।५२-५३

क्योंकि सिंहसूर्यके प्रकाशित इस लोकविभागमें 'तिलोयपण्णत्ती', 'हरिवंश' एवं 'आदिपुराण' आदि ग्रन्थोंका आधार भी प्राप्त होता है। संस्कृत-लोक विभागके पञ्चम विभाग सम्बन्धी ३८वें पद्यसे १३७वें पद्यका कुल चौदह कुल-करोंका प्रतिपादन आदिपुराणके श्लोकों या श्लोकांशों द्वारा किया गया है। इसी प्रकार 'तिलोयपण्णत्ती'की अपेक्षा वातवलयोंके विस्तारमें भी नवीनता प्रदर्शित की गई है। 'तिलोयपण्णत्तो' मेंतीनों वातवलयोंका विस्तार क्रमशः १$\frac{१}{२}$, १$\frac{१}{६}$एवं ११$\frac{१}{२}$ कोश निर्दिष्ट किया है; पर सिंहसूर्यने दो कोश, एक और १५७५ धनुष बतलाया है। इसी प्रकार 'तिलोयपण्णत्ती'में 'ज्योतिषियों'के नगरों-का बाहुल्य और विस्तार समान कहा गया है, पर इस ग्रन्थमें उसका कथन नहीं किया है। इस प्रकार संस्कृत लोकविभागके अन्तरंग अध्ययनसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ सर्वनन्दिके लोकविभागका अनुवादमात्र नहीं है। यह संभव है कि सर्वनन्दिने कोई लोकविभाग सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा हो और उसका आधार ग्रहणकर सिंहसूर्यने प्रस्तुत लोकविभागकी रूप-रेखा निर्धा-रित की हो। 'तिलोयपण्णत्ती'में 'संगाइणी' और 'लोकविनिश्चय' जैसे ग्रन्थोंका भी निर्देश आया है। हमारा अनुमान है कि सिंहसूर्यके लोकविभागमें भी 'तिलोयपण्णत्तो'के समान ही प्राचीन आचार्योंके मतोंका ग्रहण किया गया है। सिंहसूर्यका मुद्रित लोकविभाग वि० सं० की ग्यारहवीं शताब्दीकी रचना है। अतः इसके पूर्व 'तिलोयपण्णत्ती'का लिखा जाना स्वतः सिद्ध है। कुछ लोगोंने यह अनुमान किया है कि सर्वनन्दिके लोकविभागका रचनाकाल विक्रमकी पाँचवीं शताब्दी है। अतः यतिवृषभका समय उसके बाद होना चाहिए। पर इस सम्बन्धमें हमारा विनम्र अभिमत यह है कि यतिवृषभका समय इतनी दूर तक नहीं रखा जा सकता है।

आचार्य यतिवृषभने अपने 'तिलोयपण्णत्ती' ग्रन्थमें भगवान् महावीरके निर्वाणसे लेकर १००० वर्ष तक होने वाले राजाओंके कालका उल्लेख किया है। अतः उसके बाद तो उनका होना संभव नहीं है। विशेषावश्यकभाष्यकार श्वेताम्बराचार्य श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपने विशेषावश्यकभाष्यमें चूर्णि-सूत्रकार यतिवृषभके आदेश—कषायविषयक मतका उल्लेख किया है और विशे-षावश्यकभाष्यकी रचना शक संवत् ५३१ (वि० सं० ६६६) में होनेका उल्लेख मिलता है। अतः यतिवृषभका समय वि० सं० ६६६ के पश्चात् नहीं हो सकता।

आचार्य यतिवृषभ पूज्यपादसे पूर्ववर्त्ती हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थमें उनके एक मतविशेषका उल्लेख किया है—

"अथवा येषां मते सासादन एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते तन्मतापेक्षया द्वादशभागा न दत्ता।"[1]

अर्थात् जिन आचार्योंके मतसे सासादनगुणस्थानवर्त्ती जीव एकइन्द्रिय जीवोंमें उत्पन्न नहीं होता है उनके मतकी अपेक्षा १२/१४ भाग स्पर्शनक्षेत्र नहीं कहा गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सासादन गुणस्थानवाला मरण कर नियमसे देवोंमें उत्पन्न होता है। यह आचार्य यतिवृषभका ही मत है। लब्धि-सार-क्षपणासारके कर्त्ता आचार्य नेमिचन्द्रने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

जदि मरदि सासणो सो णिरय-तिरिक्खं णरं ण गच्छेदि।
णियमादेवं गच्छदि जइवसहमुणिंदवयणेणं॥[2]

अर्थात् आचार्य यतिवृषभके वचनानुसार यदि सासादनगुणस्थानवर्ती जीव मरण करता है तो नियमसे देव होता है।

'आचार्य यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोंमें अपने इस मतको निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

'आसाणं पुण गदो जदि मरदि, ण सक्को णिरयगदिं तिरिक्खगदिं मणुसगदिं वा गंतुं। णियमा देवगदिं गच्छदि।'[3]

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि आचार्य यतिवृषभ पूज्यपादके पूर्ववर्त्ती हैं और आचार्य पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दिने वि० सं० ५२६ में द्रविडसंघकी स्थापना की है। अतएव यतिवृषभका समय वि० सं० ५२६ से पूर्व सुनिश्चित है।

कितना पूर्व है, यह यहाँ विचारणीय है। गुणधर, आर्यमंक्षु और नागहस्ति-के समयका निर्णय हो जानेपर यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि यति-वृषभका समय आर्यमंक्षु और नागहस्तिसे कुछ ही बाद है।

आधुनिक विचारकोंने 'तिलोयपण्णत्ती' के कर्त्ता यतिवृषभके समयपर पूर्णतया विचार किया है। पंडित नाथूराम प्रेमी और श्री जुगल-किशोर मुख्तारने यतिवृषभका समय लगभग पाँचवीं शताब्दी माना है। डा० ए० एन० उपाध्येने भी प्रायः इसी समयको स्वीकार किया है। पं० फूल-चन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने वर्तमान तिलोयपण्णत्तीके संस्करणका अध्ययन कर उसका रचनाकाल वि० की नवीं शताब्दी स्वीकार किया है। पर यथार्थतः यतिवृषभका समय अन्तःसाक्ष्यके आधारपर नागहस्तिके थोड़े अनन्तर सिद्ध

१. सर्वार्थसिद्धि।
२. लब्धिसार-क्षपणासार गाथा संख्या ३४६।
३. कसायपाहुड, अधिकार १४, सूत्र ५४४।

होता है। यतिवृषभने तिलोयपण्णत्तीके चतुर्थ अधिकारमें बताया है कि भगवान् महावीरके निर्वाण होनेके पश्चात् ३ वर्ष, आठ मास और एक पक्षके व्यतीत होनेपर पञ्चम काल नामक दुषम कालका प्रवेश होता है। इस कालमें वीर नि० सं० ६८३ तक केवली, श्रुतकेवली और पूर्वधारियोंकी परम्परा चलती है। वीर-निर्वाणके ४७१ ? वर्ष पश्चात् शक राजा उत्पन्न होता है। शकोंका राज्य-काल २४२ वर्ष बतलाया है।[1] इसके पश्चात् यतिवृषभने गुप्तोंके राज्यकालका उल्लेख किया है। और इनका राज्यकाल २५५ वर्ष बतलाया है। इसमें ४२ वर्ष समय कल्किका भी है। इस प्रकरणके आगेवाली गाथाओंमें आन्ध्र, गुप्त आदि नृपतियोंके वंशों और राज्यवर्षोंका निर्देश किया है। इस निर्देशपरसे डा० ज्योतिप्रसादजीने निष्कर्ष निकालते हुए लिखा है—[2]

'आचार्य यतिवृषभ ई० सन् ४७८, ४८३, या ई० सन् ५०० में वर्तमान रहते, जैसा कि अन्य विद्वानोंने माना है, तो वे गुप्तवंशके ई० सन् ४३१ में समाप्तिकी चर्चा नहीं करते। उस समय (ई० सन् ४१४-४५५ ई०) कुमारगुप्त प्रथमका शासनकाल था, जिसका अनुसरण उसके वीर पुत्र स्कन्दगुप्त (ई० ४५५-४६७) ने किया। इतिहासानुसार यह राजवंश ५५० ई० सन् तक प्रतिष्ठित रहा है। 'तिलोयपण्णत्ती' की गाथाओं द्वारा यह प्रकट होता है कि गुप्तवंश २०० या १७६ ई० सन् में प्रारम्भ हुआ। यह कथन भी भ्रान्तिमूलक प्रतीत होता है क्योंकि इसका प्रारम्भ ई० सन् ३१९-३२० में हुआ था। इस प्रकार गुप्तवंशके लिए कुल समय २३१ वर्ष या २५५ वर्ष यथार्थ घटित होता है। शकोंका राज्य निश्चय ही वीर नि० सं० ४६१ (ई० पू० ६६) में प्रारंभ हो गया था और यह ई० सन् १७६ तक वर्तमान रहा। ई० सन् ५वीं शतीका लेखक अपने पूर्वके नाम या कालके विषयमें भ्रान्ति कर सकता है; पर समसामयिक राजवंशोंके कालमें इस प्रकारकी भ्रान्ति संभव नहीं है।

अतएव इतिहासके आलोकमें यह निस्संकोच माना जा सकता है कि 'तिलोयपण्णत्ती' की ४।१४७४-१४९६ और ४।१४९९-१५०३ तथा उसके आगेकी गाथाएँ किसी अन्य व्यक्ति द्वारा निबद्ध की गई हैं। निश्चय ही ये गाथाएँ ई० सन् ५०० के लगभगकी प्रक्षिप्त हैं।

'तिलोयपण्णत्ती'का प्रारम्भिक अंशरूप सैद्धान्तिक तथ्य मूलतः यतिवृषभके हैं, जिनमें उन्होंने महावीर नि० सं० ६८३ या ७०३ (ई० सन् १५६-१७६)

---

१. "णिव्वाणगदे वीरे चउसदइगिसट्ठिवासविच्छेदे।
जा दो यसगणरिंदो रज्जं वंसस्स दुसयबादाला॥" —तिलोयपण्णत्ती ४।१५०३।

२. The Jaina sources of the history of Ancient India, p. 140-141.

तककी सूचनाएँ दी हैं। 'तिलोयपण्णत्ती' के अन्य अंशोंके अध्ययनसे यह प्रतीत होता है कि यतिवृषभ द्वारा विरचित इस ग्रन्थका प्रस्तुत संस्करण किसी अन्य आचार्यने सम्पादित किया है। यही कारण है कि सम्पादनकर्त्तासे इतिहास सम्बन्धी कुछ भ्रान्तियाँ हुई हैं। यतिवृषभका समय शक सं० के निर्देशके आधार-पर 'तिलोयपण्णत्ती'के आलोकमें भी ई० सन् १७६ के आसपास सिद्ध होता है।

यतिवृषभ अपने युगके यशस्वी आगमज्ञाता विद्वान् थे। ई० सन् सातवीं शतीके तथा उत्तरवर्त्ती लेखकोंने इनकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। इनके गुरुओं-के नामों में आर्यमंक्षु और नागहस्तिकी गणना है। ये दोनों आचार्य श्वेता-म्बर और दिगम्बर परम्पराओंद्वारा समानरूपसे सम्मानित थे। आर्यमंक्षुका समय ई० सन् प्रथम शताब्दी और नागहस्तिका समय ई० सन् १००-१५० तक माना गया है। यतिवृषभ नागहस्तिके अन्तेवासी बताये गये हैं। अतः यह संभव है कि 'चूर्णिसूत्रों' की रचनाके पश्चात् 'तिलोयपण्णत्ती' की रचना इन्होंने-की। मथुरामें संचालित सरस्वती-आन्दोलनका प्रभाव इनपर भी रहा हो और ये भी ई० सन् १५०-१८० तक सम्मिलित रहे हों, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इन्होंने ग्रन्थरूपमें सरस्वतीका अवतरण कर परम्पराको जीवित रखा है।

'तिलोयपण्णत्ती' के वर्तमान संस्करणमें भी कुछ ऐसी गाथाएँ समाविष्ट हैं जो आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं। इस समतासे भी उनका समय कुन्दकुन्दके पश्चात् आता है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि यतिवृषभके पूर्व यदि 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' का ज्ञान समाप्त हो गया होता, तो यतिवृषभको कर्मप्रकृतिका ज्ञान किससे प्राप्त होता? अतः यतिवृषभका स्थिति-काल ऐसा होना चाहिए, जिसमें 'कर्म-प्रकृतिप्राभृत' का ज्ञान अवशिष्ट रहा हो। दूसरी बात यह है कि 'षट्खण्डागम' और 'कषायप्राभृत' में अनेक तथ्योंमें मतभेद है और इस मतभेदको तन्त्रा-न्तर कहा है। धवला और जयधवलामें भूतबलि और यतिवृषभके मतभेदकी चर्चा आई है। इससे भी यतिवृषभको भूतबलिसे बहुत अर्वाचीन नहीं माना जा सकता है।

रचनाएँ

निर्विवादरूपसे यतिवृषभकी दो ही कृतियाँ मानी जाती हैं—१. 'कसाय-पाहुड' पर रचित 'चूर्णिसूत्र' और २. 'तिलोयपण्णत्ती'। तिलोयपण्णत्तीकी अन्तिम गाथामें चूर्णिसूत्रका उल्लेख आया है। बताया है—

चुण्णिसरूवट्ठक्करणसरूवपमाण होइ किं जत्तं।
अट्ठसहस्सपमाणं तिलोयपण्णत्तिणामाए॥[1]

इससे स्पष्ट है कि 'तिलोयपण्णत्ती' में चूर्णिसूत्रोंकी संख्या आठ हजार मानी है। पर इन्द्रनन्दिके 'श्रुतावतार' के अनुसार चूर्णिसूत्रोंका परिमाण छः हजार श्लोक प्रमाण है; पर इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि चूर्णिसूत्र कितने थे। जयधवलाटीकासे इन सूत्रोंका प्रमाण ज्ञात किया जा सकता है। सूत्रसंख्या निम्न प्रकार है—

अधिकारनाम	सूत्रसंख्या	अधिकारनाम	सूत्रसंख्या
प्रेयोद्वेषविभक्ति	११२	वेदक	६६८
प्रकृतिविभक्ति	१२९	उपयोग	३२१
स्थितिविभक्ति	४०७	चतुःस्थान	२५
अनुभागविभक्ति	१८९	व्यंजन	२
प्रदेशविभक्ति	२९२	दर्शनमोहोपशामना	१४०
क्षीणाक्षीणाधिकार	१४२	दर्शनमोहक्षपणा	१२८
स्थित्यन्तिक	१०६	संयमासंयमलब्धि	९०
बन्धक	११	संयमलब्धि	६६
प्रकृतिसंक्रमण	२६५	चारित्रमोहोपशामना	७०६
स्थितिसंक्रमण	३०८	चारित्रमोहक्षपणा	१५७०
अनुभागसंक्रमण	५४०	पश्चिमस्कन्ध	५२
प्रदेशसंक्रमण	७४०		
	३२४१		३७६८

कुल ३२४१ + ३७६८ = ७००९

चूर्णिसूत्रकारने प्रत्येक पदको बीजपद मानकर व्याख्यारूपमें सूत्रोंकी रचना की है। इन्होंने अर्थबहुल पदों द्वारा प्रमेयका प्रतिपादन किया है। आचार्य वीरसेनके आधारपर चूर्णिसूत्रोंको सात वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१. उत्थानिकासूत्र—विषयकी सूचना देने वाले सूत्र।
२. अधिकारसूत्र—अनुयोगद्वारके आरम्भमें लिखे गये अधिकारबोधक-सूत्र।
३. शंका सूत्र—विषयके विवेचन करनेके हेतु शंकाओंको प्रस्तुत करने वाले सूत्र।

१. तिलोयपण्णत्ती, दूसरी जिल्द, पृ० ८८२, गाथा ७७।

४. पृच्छासूत्र—वक्तव्यविशेषको जिज्ञासा प्रकट करने वाले सूत्र ।
५. विवरणसूत्र—विषयका विवेचन या व्याख्यान करनेवाले सूत्र ।
६. समर्पणसूत्र—उच्चारणाचार्यों द्वारा व्याख्यान करनेके हेतु समर्पित सूत्र ।
७. उपसंहारसूत्र—प्रकृत विषयका उपसंहार करनेवाले सूत्र ।

चूर्णिसूत्रोंमें प्रयुक्त 'भणियव्वा', 'णेदव्वा', 'कायव्वा', 'परूवेयव्वा' आदि पद इस बातके द्योतक हैं कि उच्चारणाचार्य इस प्रकारके पदोंका अर्थबोध कराते थे। चूर्णिकार यतिवृषभ जिस अर्थका व्याख्यान विस्तारभयसे नहीं कर सके उनके व्याख्यानका दायित्व उन्होंने उच्चारणाचार्यों या व्याख्यानाचार्यों पर छोड़ा है। निश्चयतः चूर्णिसूत्रकारने 'कसायपाहुड' के गम्भीर अर्थको बड़े ही सुन्दर और ग्राह्यरूपमें निबद्ध किया है। गाथासूत्रोंमें जिन अनेक विषयोंके संकेत दिये गये हैं उनका प्रतिपादन चूर्णिसूत्रोंमें किया गया है। चूर्णिसूत्रकारने अपने स्वतन्त्र मतका भी यत्र तत्र प्रतिपादन किया है। इन्होंने चूर्णिसूत्रमें जिन १५ अर्थाधिकारोंका निर्देश किया है. उनमें गुणधर द्वारा निर्दिष्ट अर्थाधिकारोंसे अन्तर पाया जाता है। जयधवलामें विवेचन करते हुए लिखा है कि गुणधर भट्टारकके द्वारा कहे गये १५ अधिकारोंके रहते हुए इन अधिकारोंको अन्य-रूपमें प्रतिपादन करनेके कारण गुणधर भट्टारकके यतिवृषभ दोष-दर्शक क्यों नहीं कहलाते ? वीरसेन स्वामीने लिखा है कि यतिवृषभने गुणधराचार्यके द्वारा कहे गये अधिकारोंका निषेध नहीं किया; किन्तु उनके कथनको ही प्रकारान्तरसे व्यक्त किया है। गुणधर द्वारा कथित १५ अधिकारोंका अर्थ यह नहीं है कि ये ही अधिकार हो सकते हैं, अन्य तरहसे वर्णन नहीं हो सकता। चूर्णिसूत्रकारने निम्नलिखित १५ अधिकारोंका कथन किया है—

१. प्रेयोद्वेष
२. प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश-क्षीण-स्थित्यन्तक
३. बन्धक
४. संक्रम
५. उदयाधिकार
६. उदीर्णाधिकार
७. उपयोगधिकार
८. चतुःस्थानाधिकार
९. व्यञ्जनाधिकार
१०. दर्शनमोहनीयउपशमनाधिकार
११. दर्शनमोहनीयक्षपणाधिकार

१२. देशविरति-अधिकार
१३. चारित्रमोहनीयउपशमनाधिकार
१४. चारित्रमोहनीयक्षपणाधिकार
१५. अद्धापरिमाणनिर्देशकअधिकार

'कसायपाहुड' की दो गाथाओंमें १५ अधिकारोंके नाम आये हैं। उनका अन्तिम पद 'अद्धापरिमाणनिद्देसो' है। कुछ आचार्य इसे अद्धापरिमाणनिर्देश पन्द्रहवाँ अधिकार मानते हैं; किन्तु जिन १८० गाथाओंमें १५ अधिकारोंके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की है उनमें अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली छः गाथाएँ नहीं आई हैं तथा १५ अधिकारोंमें गाथाओंका विभाग करते हुए इस प्रकारकी कोई सूचना भी नहीं दी गई है। इससे अवगत होता है कि गुणधराचार्यको अद्धापरिमाणनिर्देश अधिकार अभीष्ट नहीं था, किन्तु यतिवृषभने इसे एक स्वतन्त्र अधिकार माना है।

चूर्णिसूत्रोंके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि यतिवृषभने १५ अधिकारोंका निर्देश करके भी अपने चूर्णिसूत्रोंकी रचना गुणधराचार्यके द्वारा निर्दिष्ट अधिकारोंके अनुसार ही की है। यह स्मरणीय है कि यतिवृषभने अधिकारके लिए अनुयोगद्वारका प्रयोग किया है। यह आगमिक शब्द है। अतएव उन्होंने आगमशैलीमें ही सूत्रोंकी रचना कर 'कसायपाहुड' के विषयका स्पष्टीकरण किया है। चूर्णिसूत्रोंका विषय 'कसायपाहुड' का ही विषय है, जिसमें उन्होंने राग और द्वेषका विशिष्ट विवेचन अनुयोगद्वारोंके आधारपर किया है।

तिलोयपण्णत्ती : विषय-विवेचन

तिलोयपण्णत्ती' में तीन लोकके स्वरूप, आकार, प्रकार, विस्तार, क्षेत्रफल और युगपरिवर्तन आदि विषयोंका निरूपण किया गया है। प्रसंगवश जैन सिद्धान्त, पुराण और भारतीय इतिहास विषयक सामग्री भी निरूपित है। यह ग्रन्थ ९ महाधिकारोंमें विभक्त है—

१. सामान्य जगत्स्वरूप, २. नारकलोक, ३. भवनवासलोक, ४. मनुष्यलोक, ५. तिर्यक्लोक, ६. व्यन्तरलोक, ७. ज्योतिर्लोक, ८. सुरलोक और ९. सिद्धलोक।

इन नौ महाधिकारोंके अतिरिक्त अवान्तर अधिकारोंकी संख्या १८० है। द्वितीयादि महाधिकारोंके अवान्तर अधिकार क्रमशः १५, २४, १६, १६, १७, १७, २१, ५ और ४९ हैं। चतुर्थ महाधिकारके जम्बूद्वीप, धातकीखण्डद्वीप और पुष्करद्वीप नामके अवान्तर अधिकारोंमेंसे प्रत्येकके सोलह-सोलह अन्तर अधिकार हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थका विषय-विस्तार अत्यधिक है।

इस ग्रन्थमें भूगोल और खगोलका विस्तृत निरूपण है। प्रथम महाधिकारमें २८३ गाथाएँ हैं और तीन गद्य-भाग हैं। इस अधिकारमें १८ प्रकारकी महाभाषाएँ और ७०० प्रकारकी क्षुद्र भाषाएँ उल्लिखित हैं। राजगृहके विपुल, ऋषि शैल, वैभार, छिन्न और पाण्डु नामके ५ शैलोंका उल्लेख है। दृष्टिवाद-सूत्रके आधारपर त्रिलोककी मोटाई, चौड़ाई और ऊँचाईका निरूपण किया है।

दूसरे महाधिकारमें ३६७ गाथाएँ हैं, जिनमें नरकलोकके स्वरूपका वर्णन है। तीसरे महाधिकारमें २४३ गाथाएँ हैं। इनमें भवनवासी देवोंके प्रासादोंमें जन्म-शाला, अभिषेकशाला, भूषणशाला, मैथुनशाला, औषधशाला—परिचर्यागृह और मन्त्रशाला आदि शालाओं तथा सामान्यगृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्रगृह, आसनगृह, नादगृह एवं लतागृह आदिका वर्णन है। अश्वत्थ, सप्तपर्ण, शाल्मलि, जम्बू, वेतस, कदम्ब, प्रियंगु, शिरीष, पलाश और राजद्रुम नामके दश चैत्य-वृक्षोंका उल्लेख है। चतुर्थ महाधिकारमें २९६१ गाथाएँ हैं। इसमें मनुष्यलोकका वर्णन करते हुए विजयार्द्धके उत्तर और दक्षिण अवस्थित नगरियोंका उल्लेख है। आठ मंगलद्रव्योंमें भृंगार, कलश, दर्पण, व्यजन, ध्वजा, छत्र, चमर और सुप्रतिष्ठके नाम आये हैं। भोग-भूमिमें स्थित दश कल्पवृक्ष, नरनारियोंके आभूषण, तीर्थंकरोंकी जन्मभूमि, नक्षत्र आदिका निर्देश किया गया है। बताया गया है कि नेमि, मल्लि, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ कुमारावस्थामें और शेष तीर्थंकर राज्यके अन्तमें दीक्षित हुए हैं। समवशरणका ३० अधिकारोंमें विस्तृत वर्णन है। पाँचवें महाधिकारमें ३२१ गाथाएँ हैं। इसमें गद्य-भाग भी है। जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, धातकीखण्ड, कालोद समुद्र, पुष्करवर द्वीप आदिका विस्तार सहित वर्णन है। छठे महाधिकारमें १०३ गाथाएँ हैं, जिनमें १७ अन्तराधिकारोंका समावेश है। इनमें व्यन्तरोंके निवास क्षेत्र, उनके अधिकार क्षेत्र, उनके भेद, चिह्न, उत्सेध, अवधिज्ञान आदिका वर्णन है। सातवें महाधिकारमें ६१९ गाथाएँ हैं, जिनमें ज्योतिषी देवोंका वर्णन है। आठवें महाधिकारमें ७०३ गाथाएँ हैं, जिनमें वैमानिक देवोंके निवास स्थान, आयु, परिवार, शरीर, सुखभोग आदिका विवेचन है। नवम महाधिकारमें सिद्धोंके क्षेत्र, उनकी संख्या, अवगाहना और सुखका प्ररूपण किया गया है। मध्यमें सूक्तिगाथाएँ भी प्राप्त होती हैं। यथा—

अन्धो णिवडइ कूवे बहिरो ण सुणेदि साधु-उवदेसं।
पेच्छंतो णिसुणंतो णिरए जं पडइ तं चोज्जं॥

अर्थात् अन्धा व्यक्ति कूपमें गिर सकता है, बधिर साधुका उपदेश नहीं सुनता है, तो इसमें आश्चर्यकी बात नहीं। आश्चर्य इस बातका है कि जीव देखता और सुनता हुआ नरकमें जा पड़ता है।

इस ग्रन्थमें आये हुए गद्य-भाग धवलाकी गद्यशैलीके तुल्य हैं। गद्यांशोंसे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि ये गद्यांश धवलासे 'तिलोयपण्णत्ती'में आये हैं; बल्कि 'तिलोयपण्णत्ती'से ही धवलामें पहुँचे हैं—

"एसा तप्पाओग्गासंखेज्जरूवाहियजंबूदीवछेदणयसहिददीवसायररूपमेत्त-रज्जुच्छेदपमाणपरिक्खाविहो ण अण्णाइरिओवएसपरंपराणुसारिणी केवलं तु तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारिजोदिसियदेवभागहारपदुप्पाइदसुत्तावलंबिजुत्तिबलेण पयदगच्छसाहणट्ठमम्हेहि परूविदा।"

यह गद्यांश धवला स्पर्शानुयोगद्वार पृ० १५७ पर भी उद्धृत है। उसमें 'एसा'के स्थानपर 'अम्हेहि' रूप पाया जाता है। उपर्युक्त गद्य भागमें एक राजुके जितने अर्द्धच्छेद बतलाये हैं उनकी समता 'तिलोयपण्णत्ती'के अर्द्धच्छेदोंसे नहीं होती। इसीपर मुख्तार साहबका अनुमान है कि धवलासे यह गद्यांश 'तिलोय-पण्णत्ती'में लिया गया है; पर हमें ऐसा प्रतीत नहीं होता। हमारा अनुमान है कि धवलाकारके समक्ष यतिवृषभकी 'तिलोयपण्णत्ती' रही है, जिसके आधारपर यत्किञ्चित् परिवर्तनके साथ 'तिलोयपण्णत्ती'का प्रस्तुत संस्करण निबद्ध किया गया है।

यतिवृषभको अन्य रचनाएँ

पं० हीरालालजी शास्त्रीके[1] मतानुसार आचार्य यतिवृषभकी एक अन्य रचना 'कम्मपयडि' चूर्णि भी है। यतिवृषभके नामसे करणसूत्रोंका निर्देश भी प्राप्त होता है, पर आज इन करणसूत्रोंका संकलित रूप प्राप्त नहीं है।

उच्चारणाचार्य

उच्चारणाचार्यका निर्देश कसायपाहुडकी जयधवला-टीकामें अनेक स्थानों पर आया है। मौखिकरूपसे चली आयी श्रुतपरम्पराको शुद्ध उच्चरित रूप बनाये रखनेके लिए उच्चारणकी शुद्धतापर विशेष जोर दिया जाने लगा। बहुत दिनों तक उच्चारणाचार्योंकी यह परम्परा मौखिक रूपमें चलती रही। गाथासूत्रों-की रचना करके उनके रचयिता आचार्य अपने सुयोग्य शिष्योंको उन सूत्रोंके द्वारा सूचित अर्थके उच्चारण करनेकी विधि और व्याख्यान करनेका प्रकार बतला देते थे, और वे लोग जिज्ञासु जनोंको गुरु-प्रतिपादित विधिसे उन गाथा-सूत्रोंका उच्चारण और व्याख्यान किया करते थे। इस प्रकारके गाथासूत्रोंके

---

१. कसायपाहुडसुत्त चूर्णिसूत्रसमन्वित, वीरशासन संघ कलकत्ता, १९५५, प्रस्तावना, पृ० ३८

उच्चारण व व्याख्यान करनेवाले आचार्योंको उच्चारणाचार्य व व्याख्यानाचार्य कहा जाने लगा।

जयधवलामें अनेक स्थानों पर उच्चारणाचार्य नामके व्यक्तिविशेषका उल्लेख आया है। इस उल्लेखके अध्ययनसे अवगत होता है कि उच्चारणाचार्यने यतिवृषभ द्वारा रचित चूर्णिसूत्रोंकी विशेष उच्चारणविधि और व्याख्यानका प्रवर्तन किया है। लिखा है—"*संपहि मंदबुद्धिजणाणुग्गहट्ठमुच्चारणाइरियमुहविणिग्गयमूलपयडिविवरणं भणिस्सामो*।"[1] अर्थात् मूलप्रकृति विभक्तिके विषयमें आठ अनुयोगद्वार हैं। आचार्य यतिवृषभने सुगम होनेके कारण आठ अर्थाधिकारोंका विवरण नहीं किया, पर मंदबुद्धिजनोंके उपकारहेतु उच्चारणाचार्यके मुखसे निकले हुए मूलप्रकृतिके विवरणको कहते हैं,—समुत्कीर्तना, सादि विभक्ति, अनादिविभक्ति, ध्रुवविभक्ति, अध्रुव विभक्ति, एकजीवकी अपेक्षा स्वामित्व, काल और अन्तर तथा नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्वका निर्देश किया जायेगा।

स्पष्ट है कि यतिवृषभाचार्यने अपने चूर्णिसूत्रोंमें जिन सुगम तथ्योंकी *विवरणवृत्ति नहीं लिखी है, उनका स्पष्टीकरण उच्चारणाचार्यने किया है।*

उच्चारणाचार्य और यतिवृषभाचार्यके विषय-निरूपणमें भी यत्र-तत्र अन्तर दिखलायी पड़ता है। इस अन्तरका समाधान वीरसेन स्वामीने विभिन्न नयोंकी अपेक्षा किया है। बताया है—"उच्चारणाइरिएहि मूलपयडिविहत्तीए अत्थाहियारा जइवसहाइरियेण अट्ठेव अत्थाहियारा परूविदा। कथमेदेसि दोण्ह वक्खाणाणं ण विरोहो? ण, पज्जवट्ठिय-दव्वट्ठियणयावलंबणाए विरोहाभावादो।"[2] अर्थात् उच्चारणाचार्यने मूलप्रकृतिविभक्तिके विषयमें सत्रह अर्थाधिकार कहे हैं, और यतिवृषभाचार्यने आठ ही अर्थाधिकार बतलाये हैं। अतएव इन दोनों व्याख्यानोंमें विरोध क्यों नहीं आता?

पर्यायार्थिकनय और द्रव्यार्थिकनयका अवलम्बन करने पर उन दोनोंमें कोई विरोध नहीं है। यतिवृषभका कथन द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे है और उच्चारणाचार्यका पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे।

इसी प्रकार यतिवृषभाचार्यने ग्यारह अनुयोगद्वार और उच्चारणाचार्यने चौबीस अनुयोगद्वार बतलाकर मोहनीयविभक्तिवाले जीवोंका विवेचन किया है। इस सन्दर्भमें भी यतिवृषभाचार्य और उच्चारणाचार्यके कथनमें कोई

१. जयधवलासहित कसायपाहुड, भाग २, पृ० २३।

२. जयधवलासहित कसायपाहुड, भाग २, पृ० २२।

विरोध नहीं है, क्योंकि यतिवृषभाचार्यका कथन द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे है और उच्चारणाचार्यका पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे।[1]

यतिवृषभाचार्य और उच्चारणाचार्यके कथनमें कई स्थानों पर मतभेद है। यतिवृषभके दो उपदेश हैं, उनमेंसे कृतकृत्यवेदक जीव मरण नहीं करता है। इस उपदेशका आश्रय लेकर—'बावीसाए विहत्तीओ को होदि' सूत्र प्रवृत्त हुआ है। इसलिए मनुष्य ही बाईस प्रकृतिक स्थानके स्वामी होते हैं, यह बात सिद्ध होती है। आशय यह है कि कृतकृत्यवेदक जीव यदि कृतकृत्य होनेके प्रथम समयमें मरण करता है तो नियमसे देवोंमें उत्पन्न होता है। किन्तु जो कृतकृत्यवेदक जीव नारकी, तिर्यंच और मनुष्योंमें उत्पन्न होता है, वह नियमसे अन्तर्मुहूर्त्त कालतक कृतकृत्यवेदक ही रहकर मरता है, ऐसा यति-वृषभ द्वारा कहे गये चूर्णि-सूत्रसे जाना जाता है। परन्तु उच्चारणाचार्यके उपदेशानुसार 'कृतकृत्य-वेदक-सम्यग्दृष्टि जीव' नहीं ही मरता है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि उच्चारणाचार्यने चारों ही गतियोंमें बाईस प्रकृतिक विभक्ति स्थानका सत्त्व स्वीकार किया है। इस प्रकार जयधवला टीकामें आये हुए यतिवृषभ और उच्चारणाचार्यके मत-वैविध्योंसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उच्चारणाचार्यकी उच्चारणवृत्ति चूर्णिसूत्रोंपर अवश्य रही है। यही कारण है कि धवला टीकामें उच्चारणाचार्यका मत जहाँ तहाँ दिखलायी पड़ता है। निः-सन्देह उच्चारणाचार्य सिद्धान्तग्रन्थ, उनकी उच्चारणविधि एवं उनकी व्या-ख्यानप्रक्रियासे परिचित थे। आर्यमंक्षु और नागहस्तिसे ज्ञान प्राप्तकर यति-वृषभने चूर्णिसूत्रोंका प्रणयन किया, और उच्चारणाचार्यने यतिवृषभ द्वारा सूचित अर्थको पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे विवृत किया है। धवला-टीकामें आये हुए उच्चारणाचार्यके मतोंसे यह स्पष्ट व्यञ्जित होता है कि उच्चारणा-चार्य कसायपाहुडके मर्मज्ञ थे। उन्होंने उच्चारणकी विधियोंका ही प्ररूपण नहीं किया है, अपितु अर्थोंका मौलिक व्याख्यान एवं गाथासूत्रोंमें निहित तत्त्वका स्फोटन भी किया है।

उच्चारणाचार्यका समय-निर्धारण

यतिवृषभ द्वारा सूचित अर्थका व्याख्यान करनेके कारण उच्चारणाचार्यका समय यतिवृषभके पश्चात् होना चाहिये। धवला-टीकामें लिखा है—"संपहि जइवसहाइरियसूइदाणं दोण्हमत्याहियाराणमुच्चारणाइरियपरूविदमुच्चारणं वत्तइस्सामो"[2] एवं चुण्णिसुत्तोघं परूविय संपहि जहण्णाजहण्णट्ठिदीणं काल-

१. जयधवला सहित कषायापाहुड, भाग २, पृ० ८१।

२. जयधवला सहित कसायपाहुड, भाग २, पृ० ४२५।

परूवणट्ठमुच्चारणाइरियवक्खाणं भणिस्सामो।"[1]

अर्थात् यतिवृषभ द्वारा सूचित अर्थका उच्चारणाचार्यने व्याख्यान किया है। चूर्णिसूत्रकी अपेक्षा ओघका कथन करके जघन्य और अजघन्य स्थितियोंके कालानुसार उच्चारणाचार्य द्वारा अभिमत व्याख्यान करते हैं।

इस कथनसे दो तथ्य निःसृत होते हैं। प्रथम यह कि यतिवृषभके पश्चात् उच्चारणाचार्यने अपनी व्याख्या उपस्थित की। दूसरा यह कि यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंके आधारपर उच्चारणाचार्यने अपना व्याख्यान अंकित किया। इससे यह अवगत होता है कि उच्चारणाचार्यका समय यतिवृषभके पश्चात् अथवा उनके समकालीन है।

यतिवृषभका समय ई० सन् की द्वितीय शती है। अतएव उच्चारणाचार्यका समय भी ई० सन् की द्वितीय शतीका अंतिम पाद अथवा तृतीय शतीका प्रथम पाद संभव है।

वप्पदेवाचार्य

श्रुतधराचार्यो में शुभनन्दि, रविनन्दि और वप्पदेवाचार्यके नाम भी आते हैं। शुभनन्दि और रविनन्दि नामके दो आचार्य अत्यन्त कुशाग्रबुद्धिके हुए हैं। इनसे वप्पदेवाचार्यने समस्त सिद्धान्तग्रन्थका अध्ययन किया। यह अध्ययन भीमरथि और कृष्णामेख नदियोंके मध्यमें स्थित उत्कलिकाग्रामके समीप मगणवल्लि ग्राममें हुआ था। भीमरथि कृष्णानदीकी शाखा है और इनके बीचका प्रदेश अब बेलगाँव या धारवाड कहलाता है। वप्पदेवाचार्यने यहींपर उक्त दोनों गुरुओंसे सिद्धान्तका अध्ययन किया होगा। इस अध्ययनके पश्चात् उन्होंने महाबन्धको छोड़ शेष पाँच खण्डोंपर व्याख्याप्रज्ञप्तिनामकी टीका लिखी है और छठे खण्डकी संक्षिप्त विवृति भी लिखी है। इन छहों खण्डोंके पूर्ण हो जानेके पश्चात् उन्होंने कषायप्राभृतकी भी टीका रची। उक्त पाँचों खण्डों और कषायप्राभृतकी टीकाका परिमाण ६०००० और महाबन्धकी टीकाका '५ अधिक ८००० बताया जाता है। ये सभी रचनाएँ प्राकृत भाषामें की गयी थीं। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें लिखा है—

एवं व्याख्यानक्रममवाप्तवान् परमगुरुपरम्परया।
आगच्छन् सिद्धान्तो द्विविधोऽप्यतिनिशितबुद्धिभ्याम्॥
शुभ-रविनन्दिमुनिभ्यां भीमरथि-कृष्णमेखयोः सरितोः।
मध्यमविषये रमणीयोत्कलिकाग्रामसामीप्यम्॥

---

१. जयधवला सहित कसायपाहुड, भाग ३, पृ० २९२।

विख्यातमगणवल्लीग्रामेऽथ विशेषरूपेण।
श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेषं वप्पदेवगुरुः॥
अपनीय महाबन्धं षट्खण्डाच्छेषपंचखंडे तु।
व्याख्याप्रज्ञप्ति च षष्ठं खंडं च ततः सक्षिप्य॥
षण्णां खडानामिति निष्पन्नानां तथा कषायाख्य-।
प्राभृतकस्य च षष्ठिसहस्रग्रन्थप्रमाणयुताम्॥
व्यालखत्प्राकृतभाषारूपां सम्यक्पुरातनव्याख्याम्।
अष्टसहस्रग्रंथां व्याख्यां पञ्चाधिकां महाबन्धे[1]॥

इन पद्योंमें प्राकृतभाषारूप पुरातन व्याख्या लिखनेका निर्देश आया है। द्वितीय पद्यमें गुरुओंके नाम दिये गये हैं। श्रुतावतारके आगेवाले पद्योंके अध्ययनसे ऐसा प्रतीत होता है कि व्याख्याप्रज्ञप्तिको मिलाकर छः खण्ड किये गये थे। षट्खण्डोंमेंसे महाबन्धको पृथक् कर शेष पाँच खण्डोंमें व्याख्याप्रज्ञप्तिको मिलाकर वप्पदेवने षट्खण्ड निष्पन्न किये और उनपर टीका लिखी। वीरसेन स्वामोने उक्त षट्खण्डोंमेंसे व्याख्याप्रज्ञप्तिको प्राप्त कर सत्कर्म नामक छठे खण्डको मिलाकर छः खण्डोंपर धवला टीका लिखी है। यह सत्कर्म १५वीं पुस्तकमें प्रकाशित है। इसपर सत्कर्मपंजिका भी है, जो उसीके साथ परिशिष्ट रूपमें प्रकाशित है। इसके प्रारम्भमें पंजिकाकारने लिखा है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोग हैं, उनमेंसे कृति और वेदनाका वेदनाखण्डमें और स्पर्श, कर्म प्रकृतिका वर्गणाखण्डमें कथन किया है। बन्धन अनुयोगद्वार बन्ध, बन्धनीय, बन्धक और बन्धविधान इन चार अवान्तर अनुयोगद्वारोंमें विभक्त है। इनमेंसे बन्ध और बन्धनीय अधिकारोंकी प्ररूपणा वर्गणाखण्डमें, बन्धन अधिकारकी प्ररूपणा खुद्दाबन्धक नामक दूसरे खण्डमें और बन्धविधानका कथन महाबन्ध नामक छठे खण्डमें है। शेष १८ अनुयोगद्वारोंकी प्ररूपणा मूल षट्खण्डागममें नहीं है। किन्तु आचार्य वीरसेनने वर्गणाखण्डके अन्तिम सूत्रको देशावमर्शक मानकर, उसकी प्ररूपणा धवलाके अन्तमें की है। उसीका नाम सत्कर्म है। इसका ज्ञान उन्होंने ऐलाचार्यसे प्राप्त किया था। धवलाके अध्ययनसे ऐसा ज्ञात होता है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति प्राकृतभाषारूप पुरातन व्याख्या रही है। यह वप्पदेव द्वारा लिखित नहीं है। इस कथनको सिद्धि सम्यक्पुरातनपद द्वारा होती है। इस पदका अर्थ है पर्याप्त प्राचीन। अतः सम्यक्पुरातनको व्याख्याप्रज्ञप्तिका विशेषण माननेपर यह प्राचीन व्याख्या सिद्ध हो जाती है। षट्खण्डागममें आये हुए मतभेदसे भी उक्त तथ्य पुष्ट होता

---

१. इन्द्रनंदि श्रुतावतार, पद्य १७१-१७६।

है—"एदेण वियाहपण्णत्तिसुत्तेण सह कधं ण विरोहो ? ण, एदम्हादो तस्स पुधभूदस्स आइरियभेएण भेदमावण्णस्स एयत्ताभावादो"[1] इस व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्रके साथ विरोध क्यों नहीं है ? आचार्यभेदसे भिन्नता होनेके कारण इन दोनोंमें एकत्व नहीं हो सकता।

इस कथनमें व्याख्याप्रज्ञप्तिके वचनोंको सूत्र कहा है और आचार्यभेदसे भिन्न कहा है। अतः यह व्याख्याप्रज्ञप्ति विचारणीय है। सम्भवतः यह वही हो, जिसका इन्द्रनन्दिने उल्लेख किया है और जो वीरसेन स्वामीको प्राप्त थी। आचार्य अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें भी दो स्थलोंपर २।४९।८ और ४।२६।५ में व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकका उल्लेख किया है और दोनों ही स्थानों-में षट्खण्डागमसे उसका भेद बतलाया है। अतएव हमारा अनुमान है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति अन्य किसी आचार्यकी कृति है, वप्पदेवकी नहीं। वप्पदेवने व्याख्याप्रज्ञप्तिको जोड़कर षट्खण्डोंपर अपनी टीका लिखी है। यह सत्य है कि वप्पदेव सिद्धान्तविषयके मर्मज्ञ विद्वान् थे।

समय-विचार

वप्पदेवका समय वीरसेन स्वामीके पूर्व है। वीरसेनाचार्यके समक्ष वप्पदेव-की व्याख्या वर्तमान थी। वीरसेनका समय डॉ० हीरालालजीके मतानुसार ई० सन् ८१६ है, अतः इसके पूर्व वप्पदेवका समय सुनिश्चित है। वप्पदेवने शुभ-नन्दि और रविनन्दिसे आगमग्रन्थोंका अध्ययन किया है और इन दोनों आचार्योंकी प्राचीनता श्रुतधरोंके रूपमें प्रसिद्ध है। एलाचार्यका समय ई० सन् ७६६-७७६ है, और इनसे पूर्व वप्पदेवका समय होना चाहिए। इस क्रमसे हम यतिवृषभ और आर्यमंक्षु-नागहस्तिके समकालीन वप्पदेवको मान सकते हैं। संक्षेपमें वप्पदेवका समय ५ वीं-६ वीं शती है।

वप्पदेवका वैदुष्य और प्रतिभा

वप्पदेवकी रचना कोई भी उपलब्ध नहीं है। धवला एवं जयधवलामें इनके नामसे जो उद्धरण आते हैं, उनसे इनके वैदुष्यपर प्रकाश पड़ता है। षट्-खण्डागममें इनका यत्र-तत्र उल्लेख है। अतएव आचार्यके रूपमें वप्पदेव-प्रतिष्ठित हैं। जयधवलामें इनकी मतभिन्नताका उल्लेख करते हुए कहा है—

'चुण्णिसुत्तम्मि वप्पदेवाइरियलिहिदुच्चारणाए अंतोमुहुत्तमिति भणिदो। अम्हेहि लिहिदुच्चारणाए पुण जह० एगसमयो उक्क० संखेज्जा समया त्ति

---

१. षट्खण्डागम, पु० १०, पृ० २३८।

परूविदो'।[1]

उच्चारणसम्बन्धी इस मतभेदसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आचार्य वप्पदेवके अभिमतका प्रचार पृथक् रूपमें वर्तमान था। वप्पदेवकी जिन सिद्धान्तोंमें मत-भिन्नता वर्तमान थी, उसका निर्देश यथास्थान जयधवला और धवलाटीकामें प्राप्त है।

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका साहित्य

श्रुतधर आचार्योंकी परम्परामें कुन्दकुन्दाचार्यका स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनकी गणना ऐसे युगसंस्थापक आचार्यके रूपमें की गयी है, जिनके नामसे उत्तरवर्ती परम्परा कुन्दकुन्द-आम्नायके नामसे प्रसिद्ध हुई है। किसी भी कार्यके प्रारम्भमें मंगलरूपमें इनका स्तवन किया जाता है। मङ्गलस्तवनका प्रसिद्ध पद्य निम्न प्रकार है—

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

जिसप्रकार भगवान् महावीर, गौतम गणधर और जैनधर्म मङ्गलरूप हैं, उसी प्रकार कुन्दकुन्द आचार्य भी। इन जैसा प्रतिभाशाली अध्यात्म और द्रव्यानुयोगके क्षेत्रमें प्रायः दूसरा आचार्य दिखलाई नहीं पड़ता।

इनकी रचनाओंसे इनके जीवन-वृत्तके सम्बन्धमें कुछ भी निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं होती। इन्होंने 'वारसअणुवेक्खा' ग्रन्थमें अपने नामका निर्देश किया है। लिखा है—

इदि णिच्छय-ववहारं जं भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं॥[2]

'इस प्रकार कुन्दकुन्द मुनिराजने निश्चय और व्यवहारका अवलम्बन लेकर जो कथन किया है, उसकी शुद्ध हृदयसे जो भावना करता है वह परम-निर्वाणको प्राप्त कर लेता है।'

स्पष्ट है कि 'वारसअणुवेक्खा'में कुन्दकुन्दके नामका उल्लेख मिलता है। कुन्दकुन्दके टीकाकार जयसेन और श्रुतसागरसूरिने भी कुन्दकुन्दकी रचनाएँ बतलाती हैं। बोधपाहुडमें कुन्दकुन्दने अपने गुरुका नाम भद्रबाहु बतलाया है। गाथाएँ निम्न प्रकार हैं—

---

१. जयधवलाटीका, पृ० १८५।

२. वारसअणुवेक्खा, गाथा ९१, कुन्दकुन्दभारती संस्करण।

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं ।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥
बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं ।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ[1] ॥

अर्थात् कुन्दकुन्दने अपनेको श्रुतकेवली भद्रबाहुका शिष्य कहा है ।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें 'कसायपाहुड' और षट्खण्डागम' नामक सिद्धान्तग्रन्थोंकी रचनाका इतिवृत्त अंकित करनेके पश्चात् लिखा है कि ये दोनों सिद्धान्तग्रन्थ कौण्डकुन्दपुरमें पद्मनन्दिमुनिको प्राप्त हुए और उन्होंने षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर साठ हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक ग्रन्थकी रचना की[2] । दर्शनसारमें देवसेनने भी आचार्य पद्मनन्दिकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण ।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥[3]

अर्थात् पद्मनन्दि स्वामीने सीमन्धर स्वामीसे दिव्यज्ञान प्राप्तकर अन्य मुनियोंको प्रबोधित किया । यदि वे इस प्रबोधन कार्यको न करते तो श्रमण किस प्रकार सुमार्गको प्राप्त करते ।

कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंके दो आचार्य टीकाकार हैं—अमृतचन्द्र और जयसेन । अमृतचन्द्रने अपने मूलग्रन्थकर्त्ताके सम्बन्धमें कुछ भी निर्देश नहीं किया है; पर जयसेनने लिखा है—"पद्मनन्दि जयवन्त हों, जिन्होंने महातत्त्वोंका कथन करनेवाले समयप्राभृतरूपी पर्वतको बुद्धि····उद्धार करके भव्यजीवोंको अर्पित किया ।"[4]

पञ्चास्तिकायकी[5] टीका प्रारम्भ करते हुए भी जयसेनने कुन्दकुन्दका

---

१. बोधपाहुड, गाथा ६०-६१, कुन्दकुन्दभारती संस्करण ।
२. श्रुतावतार, पद्य १६०-१६१.
३. दर्शनसार, गाथा ४३.
४. जयउ रिसिपउमणंदी जेण महातच्चपाहुडसेलो ।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वलोयस्स ॥
समयसार, स्याद्वादाधिकार, अहिंसा-मन्दिर प्रकाशन १, दरियागंज, दिल्ली–६ टीकाका अन्तिम पद्य ।
५. पञ्चास्तिकाय, जयसेनटीका, 'अथश्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यै····'प्रथम पृष्ठ, ग्रन्थारम्भ !

अपरनाम पद्मनन्दि बताया है। इनके उल्लेखानुसार कुन्दकुन्द कुमारनन्दि सिद्धान्तदेवके शिष्य थे।

जयसेनने टीकाके प्रारम्भमें कुन्दकुन्दके पूर्व विदेहमें जानेकी कथाकी ओर भी संकेत करते हुए लिखा है कि इन्होंने पूर्वविदेहमें वीतराग सर्वज्ञ सीमन्धर स्वामीके दर्शन किये थे। और उनके मुखकमलसे निस्सृत दिव्यवाणीको सुनकर अध्यात्मतत्त्वका सार ग्रहण कर वे वापस लौट आये थे। उन्होंने अन्तस्तत्त्व और बाह्यतत्त्वकी मुख्यता एवं गौणताका ज्ञान करानेके लिये शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्योंके प्रतिबोधनार्थ पञ्चास्तिकायप्राभृत शास्त्रकी रचना की।

कुन्दकुन्दके जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्वके सम्बन्धमें अबतक प्राप्त सूचनाओंमें ऐसी दो कथाएँ प्राप्त हैं, जिनसे उनके जीवनपर प्रकाश पड़ता है। कथाओंमें कितना अंश सत्य और तथ्य है, यह तो नहीं कहा जा सकता है, पर इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द अध्यात्मशास्त्रके महान् प्रणेता एवं युगसंस्थापक आचार्य थे।

प्रथम कथा ब्रह्मनेमिदत्त विरचित आराधनाकथाकोषमें शास्त्रदानके फल-स्वरूप आई है।

दूसरी कथा 'ज्ञानप्रबोध' नामक ग्रन्थमें आई है, जिसका प्रकाशन पं० नाथूराम जी प्रेमीने जैन हितैषीमें[1] किया था। कथामें बताया है कि मालव देशके वारांपुर नगरमें कुमुदचन्द्र नामका राजा राज्य करता था। उसकी रानीका नाम कुमुदचन्द्रिका था। इस राजाके राज्यमें कुन्दश्रेष्ठी अपनी पत्नी कुन्दलताके साथ निवास करता था। इनके कुन्दकुन्द नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। यह शिशु शैशवसे ही गंभीर, चिन्तनशील और प्रतिभाशाली था। जब यह ग्यारह वर्षका था, उस समय नगरके उद्यानमें एक मुनिराज आये। उनका उपदेश सुननेके लिए नगरके नरनारी एकत्र हुए। कुन्दकुन्द भी उसमें सम्मिलित हुआ था। मुनिराजका उपदेश सुनकर विरक्त हो गया और दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर मुनि बन गया। ३३ वर्षकी अवस्थामें इन्हें आचार्य-पद मिला। इनके गुरुका नाम जिनचन्द्र बताया गया है।

एक दिन आचार्य कुन्दकुन्द आगमग्रन्थोंका स्वाध्याय कर रहे थे कि उनके मनमें एक शंका उत्पन्न हुई। वे ध्यानमग्न हो गये और विदेह क्षेत्रमें स्थित सीमन्धरस्वामीके प्रति एकाग्र हुए। सीमन्धरस्वामीने 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' कह-कर आशीर्वाद दिया। समवशरणमें स्थित व्यक्तियोंको इस आशीर्वादको सुनकर

१. जैन हितैषी, भाग १०, पृ० ३६९.

बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने जिज्ञासा प्रकट की कि आपने किसको आशीर्वाद दिया है ? उत्तरमें बताया गया कि भरतक्षेत्रमें स्थित कुन्दकुन्द मुनिको आशीर्वाद दिया है। वहाँपर कुन्दकुन्दके पूर्वजन्मके चारणऋद्धिधारी दो मित्र-मुनि उपस्थित थे। वे वारांपुर गये और वहाँसे आकाशमार्ग द्वारा कुन्दकुन्दको ले आये। आकाशमार्गमें जाते समय उनकी मयूरपिच्छी गिर गई और उन्होंने गृद्धपिच्छीसे अपना काम चलाया। कुन्दकुन्द वहाँ एक सप्ताह तक रहे और अपनी शंकाका समाधान किया। लौटते समय वे अपने साथ एक तन्त्रमन्त्रका ग्रन्थ भी लाये थे, किन्तु वह मार्गमें लवणसमुद्रमें गिर गया। कुन्दकुन्दने भरतक्षेत्रमें अपना धार्मिक उपदेश प्रारम्भ किया और इनके सहस्रों अनुयायी हो गये। तत्पश्चात् गिरिनार पर्वतपर श्वेताम्बरोंके साथ उनका विवाद हो गया और वहाँकी ब्राह्मी देवीके मुखसे यह कहलवाया गया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है। उन्होंने अपना आचार्यपद अपने शिष्य उमास्वाति-को प्रदान किया और सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग किया।

'ज्ञानप्रबोध' की इस कथाका परीक्षण करनेपर अवगत होता है कि 'जम्बू-दीवपण्णत्ती' के कर्त्ता पद्मनन्दिको कुन्दकुन्दसे अभिन्न समझकर उनका स्थान बारांपुरनगर बताया है। माता-पिताके नाम कुन्दलता और कुन्दश्रेष्ठि भी कल्पित प्रतीत होते हैं। विदेहगमनकी कथा जो पहलेसे प्रचलित थी उसे भी जोड़कर प्रामाणिकता लानेका प्रयास किया गया है।

कुन्दकुन्दके जीवन-परिचयके सम्बन्धमें विद्वानोंने सर्वसम्मतिसे जो स्वीकार किया है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये दक्षिण भारतके निवासी थे। इनके पिताका नाम कर्मण्डु और माताका नाम श्रीमती था। इनका जन्म 'कौण्डकुन्दपुर' नामक स्थानमें हुआ था। इस गाँवका दूसरा नाम 'कुरूमरई' भी कहा गया है। यह स्थान पेदथनाडु नामक जिलेमें है। कहा जाता है कि कर्मण्डुदम्पतिको बहुत दिनों तक कोई सन्तान नहीं हुई। अनन्तर एक तपस्वी ऋषिको दान देनेके प्रभावसे पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई, जिसका नाम आगे चलकर ग्रामके नामपर कुन्दकुन्द प्रसिद्ध हुआ। बाल्यावस्थासे ही कुन्द-कुन्द प्रतिभाशाली थे। इनकी विलक्षण स्मरणशक्ति और कुशाग्र बुद्धिके कारण ग्रन्थाध्ययनमें इनका अधिक समय व्यतीत नहीं हुआ। युवावस्थामें इन्होंने दीक्षा ग्रहणकर आचार्य-पद प्राप्त किया।

कुन्दकुन्दका वास्तविक नाम क्या था, यह अभी तक विवादग्रस्त है। द्वादशअनुप्रेक्षाकी अन्तिम गाथामें उसके रचयिताका नाम कुन्दकुन्द दिया हुआ है। जयसेनाचार्यने समयसारकी टीकामें पद्मनन्दिका जयकार किया है। इन्द्र-

नन्दिने भी अपने श्रुतावतारमें कौण्डकुन्दपुके पद्मनन्दिका निर्देश किया है? श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ४० में तथा ४२, ४३, ४७ और ५० वें अभिलेखमें भी उक्त कथन पुनरावृत्त हुआ है। लिखा है—

> तस्यान्वये भू-विदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
> श्रीकोण्डकुन्दादि-मुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गत-चारणर्द्धिः॥[1]

स्पष्ट है कि इनका पद्मनन्दि नाम था। पर वे जन्मस्थानके नामपर कुन्दकुन्दनामसे अधिक प्रसिद्ध हुए।

कुन्दकुन्दके षट्प्राभृतोंके टीकाकार श्रुतसागरने प्रत्येक प्राभृतके अन्तमें जो पुष्पिका अंकित की है उसमें इनके पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ ये नाम दिये हैं। जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १ किरण ४ में शक सं० १३०७ का विजयनगरका एक अभिलेखांश प्रकाशित है, जिसमें लिखा है—

> "आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
> एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पंचधा॥"

पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ ये पाँच नाम कुन्दकुन्दके बताये हैं। डा० हार्नलेने दिगम्बर पट्टावलियोंके सम्बन्धमें एक निबन्ध लिखा था, जिसमें उन्होंने कुन्दकुन्दके पाँच नाम बताये थे। अतः इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दके दो नामोंकी प्रवृत्ति तो निस्संदेह रही है; पर शेष तीन नामोंके सम्बन्धमें विवाद है। शिलालेखोंसे तथा अन्य प्रमाणोंसे न तो वक्रग्रीव और न एलाचार्य या गृद्धपिच्छ नाम की ही सिद्धि होती है। वक्रग्रीवका उल्लेख ई० सन् ११२५ के ४९३ संख्यक अभिलेखमें द्रविड संघ और अरुंगलान्वयके आचार्योंकी नामावलीमें आता है; किन्तु उसमें उनके सम्बन्धमें कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। ११२९ ई० के श्रवणबेलगोलाभिलेख नं० ५४ में वक्रग्रीव नाम आया है; पर इस अभिलेखसे यह कुन्दकुन्दका नामान्तर है, ऐसा सिद्ध नहीं होता।

श्रवणबेलगोलके अभिलेख नं० ३०५ में समन्तभद्र और पात्रकेसरीके पश्चात् वक्रग्रीवका नाम आया है और इन्हें द्रमिल संघका अग्रेसर कहा है। इसी प्रकार अभिलेख नं० ३४७ और ३१९ में भी वक्रग्रीवका नाम अंकित है; पर इन सभी अभिलेखोंसे कुन्दकुन्दके साथ वक्रग्रीवका सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता।

श्रवणबेलगोलके शिलालेखोंसे एलाचार्यके सम्बन्धमें भी कतिपय तथ्य प्राप्त होते हैं; पर यह कुन्दकुन्दका नामान्तर सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार गृद्धपिच्छ

---

१. जैन शिलालेख-संग्रह, प्रथम भाग, लेख नं० ४०, पृ० २४।

भी कुन्दकुन्दका नामान्तर घटित नहीं होता है। संभवतः यह नाम उमास्वातिका रहा है। संक्षेपमें कुन्दकुन्दका अपर नाम पद्मनन्दि अवश्य प्रमाणित होता है।

गुरु-परम्परा

आचार्य कुन्दकुन्दके गुरुका क्या नाम था और उन्होंने किस गुरु-परम्पराको सुशोभित किया, इसके सम्बन्धमें संक्षेपमें विचार करना आवश्यक है।

कुन्दकुन्द-ग्रन्थोंके टीकाकार जयसेनाचार्यके मतानुसार ये कुमारनन्दि सिद्धान्तदेवके शिष्य थे। नन्दिसंघकी[1] पट्टावलीके अनुसार कुन्दकुन्दके गुरु जिन-चन्द्र थे। कुन्दकुन्दने स्वयं अपने गुरुका नाम भद्रबाहु माना है।

मथुरासे प्राप्त एक अभिलेखमें उच्चनागर शाखाके एक कुमारनन्दिका निर्देश प्राप्त होता है। यह अभिलेख हुविष्क वर्ष सत्तासीका है। इस आधार पर भी कुमारनन्दिका गुरु-शिष्यत्व कुन्दकुन्दके साथ घटित नहीं होता। यतः उच्च-नागर शाखाके साथ कुन्दकुन्दका सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार नन्दिसंघकी पट्टावलिमें माघनन्दि, जिनचन्द्र और कुन्दकुन्दका क्रमशः उल्लेख आता है। इससे यह फलित होता है कि माघनन्दिके पश्चात् जिनचन्द्र और जिनचन्द्रके पश्चात् कुन्दकुन्दको उत्तराधिकार प्राप्त हुआ होगा। अतः हमारा अनुमान है कि कुन्दकुन्दके गुरुका नाम 'जिनचन्द्र' होना चाहिए।

कुन्दकुन्दने अपने 'बोधपाहुड' में अपनेको भद्रबाहुका शिष्य कहा है। पर इस सन्दर्भमें यह विचारणीय है कि कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहुके साक्षात् शिष्य थे या पारम्पर्य ? कुन्दकुन्दने लिखा है—

> सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
> सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥
> बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
> सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयऊ ॥६२॥[2]

जिनेन्द्रने—तीर्थंकर महावीरने अर्थरूपसे जो कथन किया है वह भाषा-सूत्रोंमें शब्दविकारको प्राप्त हुआ है—अनेक प्रकारके शब्दोंमें ग्रथित हुआ है। भद्रबाहुके मुझ शिष्यने उन भाषासूत्रोंपरसे उसको उसी रूपमें जाना है। और बारह अङ्गों एवं चौदह पूर्वोंके विपुल विस्तारके ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रबाहुको 'गमकगुरु' कह कर उनका कुन्दकुन्दने जयघोष किया है।

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृ० ७८, यह पट्टावलि मूलतः इन्डियन एन्टीक्वयरीमें प्रकाशित हुई है।

२. बोधपाहुड, गाथा ६१-६२।

द्वितीय गाथाके आलोकमें प्रथम गाथाका अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु कुन्दकुन्दके साक्षात् गुरु नहीं थे, 'गमक गुरु' थे। आचार्य श्रीजुगलकिशोर मुख्तारने उक्त दोनों गाथाओंमें प्रथम गाथाका सम्बन्ध द्वितीय भद्रबाहुके साथ और द्वितीय गाथाका सम्बन्ध श्रुतकेवली भद्रबाहुके साथ बतलाया है। उन्होंने लिखा है—"इकसठवीं गाथामें कुन्दकुन्दने अपनेको भद्र-बाहुका शिष्य प्रकट किया है। जो संभवतः भद्रबाहु द्वितीय जान पड़ते हैं। क्योंकि भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समयमें जिनकथित श्रुतमें ऐसा विकार उपस्थित उपस्थित नहीं हुआ था, जिसे उक्त गाथामें 'सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणें कहियं' इन शब्दों द्वारा सूचित किया गया है—वह अविच्छिन्न चला आया था। परन्तु दूसरे भद्रबाहुके समयमें ऐसी स्थिति नहीं थी—कितना ही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था, वह अनेक भाषासूत्रोंमें परि-वर्तित हो गया था। इससे इकसठवीं गाथाके भद्रबाहु द्वितीय ही जान पड़ते हैं। बासठवीं गाथामें उसी नामसे प्रसिद्ध होनेवाले प्रथम भद्रबाहुका, जो कि बारह अङ्गों और चौदह पूर्वोंके ज्ञाता श्रुतकेवली थे, अन्त्य मंगलके रूपमें जयघोष किया गया और उन्हें साफ तौर पर गमकगुरु लिखा है। इस तरह अन्तकी दोनों गाथाओंमें दो अलग-अलग भद्रबाहुओंका उल्लेख होना अधिक युक्तियुक्त और बुद्धिगम्य जान पड़ता है।[1] मुख्तार साहबका उक्त कथन विचारणीय है। यहाँ दो भद्रबाहुओंका कथन न कर कुन्दकुन्दने पूर्व गाथामें प्रतिपादित भद्र-बाहुके कथित गुरुत्वका गमक गुरुके रूपमें उल्लेख आया है। 'गमक' शब्दका अर्थ शब्दकल्पद्रुममें 'गमयति, प्रापयति, बोधयति वा गमक', √गम् + णिच् + ण्वल् बोधक मात्र या सुझाव देनेवाला अथवा तत्त्व प्राप्तिके लिए प्रेरणा करने-वाला बतलाया है। मातंगलीलामें[2] 'गमकं-पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः', अर्थात् पाण्डित्य या वैदग्ध्य प्राप्तिको गमक कहते हैं। यहाँ पर 'गमक' शब्द 'परम्परया' या 'प्रेरणया' के रूपमें प्रयुक्त है। अतएव 'गमक' शब्द परम्पराप्राप्त श्रुतकेवलीके लिए ही व्यवहृत हुआ है। दो भद्रबाहुओंकी कल्पना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। भद्रबाहु श्रुतकेवली कुन्दकुन्दके साक्षात् गुरु न होकर 'गमक गुरु' या प्रेरक गुरु थे। श्री प० कैलाशचन्द्र शास्त्रीने भी इसी तथ्यकी पुष्टि की है।[3]

श्रवणबेलगोलाके अभिलेखोंसे भी इस तथ्यको पुष्ट किया जा सकता है। यतः श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्तके साथ दक्षिण भारत गये थे और वहाँ श्रवणबेलगोला स्थानमें समाधिमरण प्राप्त किया था। अतः दक्षिणमें

१. जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश, पृ० ९३।

२. मातंगलीला ११७।

३. कुन्दकुन्दप्राभृतसंग्रह, प्रस्तावना, पृ० ११-१२।

श्रुतकेवली भद्रबाहुकी परम्पराका अस्तित्व सिद्ध होता है। कुन्दकुन्द मूल संघके आचार्य थे और दक्षिण भारतके निवासी। अतः इन्हें श्रुतकेवली भद्रबाहुकी परम्परा प्राप्त हुई थी। इसी कारण कुन्दकुन्दने उन्हें 'गमकगुरु' कहा है। पट्टावलीके अनुसार इनके गुरुका नाम जिनचन्द्र और दादा गुरुका नाम माघनन्दि है।

कुन्दकुन्दके जीवनमें घटित घटनाएं

आचार्य कुन्दकुन्दके जीवनमें प्रमुख दो घटनाओंके घटित होनेकी कथा प्रसिद्ध है। एक है विदेहयात्रा और दूसरी है गिरनार पर्वतपर हुए दिगम्बर-श्वेताम्बर वाद-विवादमें उनकी विजय।

जहाँ तक विदेहयात्राकी बात है, उसके साधक यद्यपि अभिलेखीय या अन्य ऐतिहासिक प्रमाण अभीतक उपलब्ध नहीं हुए, किन्तु आचार्य देवसेन, आचार्य जयसेन और श्रुतसागरसूरिके उल्लेख बतलाते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द विदेह गये थे और वहाँसे भगवान् सीमन्धर स्वामीका उपदेश ग्रहण कर लौटे थे तथा सीमन्धरस्वामीसे प्राप्त दिव्यज्ञानका श्रमणोंको उपदेश दिया था। देवसेन (ई० सन् ९ वीं शती) ने दर्शनसारमें लिखा है—

> जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
> ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥४३॥

इसमें कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ सीमन्धरस्वामीद्वारा प्राप्त दिव्य ज्ञानसे बोध न देते, तो श्रमण—मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते।

देवसेनका यह उल्लेख काफी प्राचीन है और उसपर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता।

इसी तरह आचार्य जयसेन (ई० सन् १२ वीं शती) ने भी पञ्चास्तिकायकी टीकाके आरम्भमें आचार्य कुन्दकुन्दके विदेहगमनको 'प्रसिद्धकथान्याय' बतलाते हुए उसकी स्पष्ट चर्चा की है।

षट्प्राभृतके संस्कृत-टीकाकार श्रुतसागरसूरिने भी टीकाके अन्तमें कुन्दकुन्दस्वामीके विदेहगमनका उल्लेख किया है।

ये उल्लेख अकारण नहीं हो सकते। वे अवश्य विचारणीय हैं।

दिगम्बर-श्वेताम्बर वाद-विवादमें विजयप्राप्तिके भी उल्लेख मिलते हैं। शुभचन्द्राचार्यने पाण्डवपुराणमें लिखा है कि कुन्दकुन्दगणीने ऊर्ज्जयन्तगिरिपर अपने प्रभावसे पाषाण-निर्मित सरस्वतीको वादिता—शास्त्रार्थकर्त्री बना दिया था। यथा—

कुन्दकुन्दगणी येनोज्जयंन्तगिरिमस्तके।
सोऽवताद् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ ॥[1]

जिन्होंने कलिकालमें ऊर्जयन्त गिरिके मस्तक पर—गिरनार पर्वतके ऊपर पाषाणनिर्मित ब्राह्मीकी मूर्तिको बुलवा दिया।

इसी तरहका उल्लेख शुभचन्द्रकी गुर्वावलिके अन्तमें निबद्ध उन दो पद्योंमें भी है, जो निम्न प्रकार हैं—

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥
उज्जयन्तगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने ॥[2]

बलात्कारगणाग्रणी पद्मनन्दी गुरु हुए। जिन्होंने ऊर्जयन्तगिरि पर पाषाण-निर्मित सरस्वतीकी मूर्तिको वाचाल कर दिया था। उससे सारस्वत गच्छ हुआ। अतः उन पद्मनन्दी मुनीन्द्रको नमस्कार हो।

कवि वृन्दावनके एक उल्लेखसे भी ज्ञात होता है, कि कुन्दकुन्दस्वामी संघ सहित गिरनारकी यात्राके लिए गये। वहाँ पर उन दिनों श्वेताम्बरोंका भी संघ ठहरा हुआ था। दोनों संघोंमें वादविवाद हुआ और इसकी मध्यस्थता अम्बिका देवीने की। उसने प्रकट होकर कहा कि दिगम्बर निर्ग्रंथ पन्थ ही सच्चा है।

श्री नाथूरामजी प्रेमीने 'तीर्थोंके झगड़ों पर ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार' शीर्षक निबन्धमें बताया है—"जान पड़ता है, गिरनार पर्वत पर दिगम्बरों और श्वेताम्बरोंके बीच वह विवाद कभी न कभी अवश्य हुआ, जिसका उल्लेख धर्मसागर उपाध्यायने किया है। यह कोई ऐतिहासिक घटना अवश्य है, क्योंकि इसका उल्लेख दिगम्बर साहित्यमें भी एक दूसरे रूपमें मिलता है।"[3]

इस सबपर विचार करनेसे प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बरोंका शास्त्रार्थ तो अवश्य हुआ है, पर यह शास्त्रार्थ नन्दिसंघके आचार्य पद्मनन्दि, जिनका अपर नाम कुन्दकुन्द था, के साथ नहीं हुआ है। यह अन्य पद्मनन्दिके साथ हुआ होगा, जिनका समय विक्रमकी १२वीं शताब्दी है।

---

१. पाण्डवपुराण।

२. जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृ० ५८।

३. जैन साहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण, पृ० २४५।

समय-निर्धारण

आचार्य कुन्दकुन्दके समय पर विचार करने वालोंमें श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी; श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार; डॉ० के०बी० पाठक, प्रो० ए० चक्रवर्ती, और डॉ० ए० एन० उपाध्येके नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० उपाध्येने सभी मतोंकी समीक्षा कर अपने मतकी संस्थापना की है। हम यहाँ संक्षेपमें उक्त विद्वानोंके मतोंकी विवेचना करेंगे।

प्रमीजीने इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके आधार पर बताया है कि गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य द्वारा रचित गाथासूत्र, चूर्णिसूत्र और उच्चारण-सूत्रोंके रूपमें 'कसायपाहुड' निबद्ध हुआ। धरसेनकी परम्परामें पुष्पदन्त और भूतबलिने षट्खण्डागमकी रचना की। इन दोनों ग्रन्थोंको कुन्दकुन्दपुरमें पद्म-नन्दि मुनिने गुरुपरम्परासे प्राप्त किया और षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डों पर १२००० श्लोकप्रमाण परिकर्मनामक ग्रन्थकी रचना की। प्रेमीजीने इस आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि वीरनिर्वाण संवत् ६८३ के पश्चात् कुन्द-कुन्द हुए हैं। धरसेन, उच्चारणाचार्य आदिके समयको पचास-पचास वर्ष मान लेने पर कुन्दकुन्दका समय विक्रमको तीसरी शताब्दीका अन्तिम चरण सिद्ध हाता है।

प्रेमीजीने एक अन्य प्रमाण यह भी दिया है कि ऊर्ज्जयन्तगिरिपर श्वेता-म्बरोंके साथ कुन्दकुन्दका ही शास्त्रार्थ हुआ था। उनके सुत्तपाहुडसे भी यह प्रकट है। देवसेनके दर्शनसारके अनुसार विक्रमकी मृत्युके १३६ वर्ष बीतनेपर यह संघभेद हुआ। प्रेमीजीने इसे शालिवाहन शकाब्द मानकर १३६ + १३५ = २७१ विक्रम सं० में संघभेद माना है। इस कालका श्रुतावतार-में उल्लिखित समयके साथ समन्वय हो जाता है। अतएव प्रेमीजीके मतानुसार कुन्दकुन्दका समय विक्रमकी तृतीय शताब्दीका अन्तिम चरण है।

डा० पाठकको[1] राष्ट्रकूट नरेश गोविन्दराज तृतीयके दो ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं। उनमेंसे एक शक सं० ७१९ का है और दूसरा शक सं० ७२४ का है। इनमें कोण्डकोन्दान्वयके तोरणाचार्यके शिष्य पुष्पनन्दिका तथा उसके शिष्यका निर्देश किया है। डॉ०पाठकका अभिमत है कि प्रभाचन्द्र शक सं० ७१९ में और उनके दादागुरु तोरणाचार्य शक सं० ६०० में हुए होंगे। कुन्दकुन्दको इनसे डेढ़ सौ वर्ष पूर्व माना जा सकता है। अतएव कुन्दकुन्दका समय शक सं० ४५० के लगभग है।

डॉ० पाठकने अपने इस अनुमानका समर्थन एक अन्य आधारसे भी किया है।

---

१. समयप्राभृत, काशी संस्करण, संस्कृत-प्रस्तावना।

उन्होंने बताया है कि चालुक्यनरेश कीर्तिवर्मा शक सं० ५०० में राज्यसिंहासनपर आसीन थे। उन्होंने बादामीको जीता और कदम्ब राज्यवंशको नष्ट कर दिया। अतः यह निश्चित हुआ कि कदम्ब राजवंशका शिवमृगेश वर्मा लगभग ५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक स० ४५० के आस-पास विद्यमान था। बालचन्द्रने पचास्तिकायकी कनड़ी टीका और जयसेनने संस्कृतटीकामें बताया है कि कुन्दकुन्दने शिवकुमार महाराजके सम्बोधनके लिए यह ग्रन्थ लिखा। यह शिवकुमार महाराज कदम्बवंशी शिवमृगेश वर्मा ही प्रतीत होता है। अतः कुन्दकुन्दका समय शक स० ४५० (ई० सन् ५२८) आता है।

विचार करनेपर डॉ० पाठकका उक्त मत नितान्त असमीचीन है। आज इस मतको कोई भी प्रामाणिक नहीं मानता है।

प्रो० ए० चक्रवर्तीने[1] डॉ० हारनले द्वारा प्रकाशित सरस्वती-गच्छकी दिगम्बर पट्टावलिके आधारपर कुन्दकुन्दके आचार्यपदपर प्रतिष्ठित होनेका काल ई० पूर्व ८ माना है और उनका जन्म ई० पूर्व ५२ बतलाया है। चक्रवर्तीने डॉ० पाठकके मतका विरोध किया है और पौराणिक प्रमाणोंके आधारपर कुन्दकुन्दका पट्टावलि-उल्लिखित समय बतलाया है।

इन्होंने पल्लवराजवंशके शिवस्कन्दको शिवकुमार माननेपर जोर दिया है। क्योंकि स्कन्द और कुमार पर्यायवाची शब्द है। अन्य परिस्थितियोंसे भी उन्होंने एकरूपता सिद्ध की है। पल्लवोंकी राजधानी 'कांजीपुरम्' में थी। ये 'थोण्डमण्डलम्' पर शासन करते थे। यह प्रदेश विद्वानोंकी भूमि माना जाता था। 'कांजीपुरम्' के शासक ज्ञानके भी संरक्षक थे। ईसाकी प्रारम्भिक शताब्दियोंसे लेकर आठवीं शताब्दी तक 'कांजीपुरम्' के चारों ओर जैनधर्मका प्रचार होता रहा है। इसके अतिरिक्त 'मयीडबोलु' दानपत्रकी भाषा प्राकृत है। इस दानपत्रको शिवस्कन्दवर्माने प्रचारित किया है। इसकी विषयवस्तु और भाषा मथुराके अभिलेखोंसे मिलती-जुलती है। अतः प्रो० चक्रवर्तीने यह निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्दने जिस शिवकुमार महराजके लिए प्राभृतत्रय लिखे थे, वह सम्भवतः पल्लववंशका शिवस्कन्द वर्मा है।

आचार्य श्री जुगलकिशोर मुख्तारने[2] समन्तभद्रके समयविचार-प्रसंगमें लिखा है—कुन्दकुन्दाचार्य वीर नि० सं० ६८३ से पहले नहीं हुए, किन्तु पीछे हुए हैं। परन्तु कितने पीछे, यह अस्पष्ट है। यदि अन्तिम आचारांगधारी लोहाचार्यके बाद होनेवाले विनयधारी आदि चार आरातीय मुनियोंका एकत्र समय

१. पंचास्तिकायके अंग्रेजी अनुवादकी प्रस्तावना।

२. रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावना, पृ० १५८–१८७।

२० वर्षका और अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि तथा कुन्दकुन्दके गुरुका स्थूल समय दश-दश वर्षका ही मान लिया जाय, जिसका मान लेना कुछ अधिक नहीं है, तो यह सहजमें ही कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द उक्त समयसे ८० वर्ष अथवा वीर नि० ७६३ (६८३ + २० + ६०) वर्ष बाद हुए हैं और यह समय उस समयके करीब पहुँच जाता है जो 'विद्वज्जनबोधक' से उद्धृत किये हुए उक्त पदमें दिया है, और इसलिए इसके द्वारा उसका बहुत कुछ समर्थन होता[1] है।"

मुख्तार साहब पट्टावलिपर विश्वास नहीं करते। पट्टावलिमें कुन्दकुन्दका समय वि० संवत् ४९ दिया गया है। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें वर्णित दोनों सिद्धांत-ग्रन्थोंकी उत्पत्तिकी कथा तथा गुरुपरिपाटीसे दोनों सिद्धांतग्रन्थोंका अध्ययन कर कुन्दकुन्दके द्वारा षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर १२००० श्लोक प्रमाण टीका लिखनेकी बातको साधार मानकर यही निष्कर्ष निकलता है कि कुन्दकुन्द वीर निर्वाण संवत् ६७० के लगभग हुए हैं।

मुख्तारसाहबने शिवकुमार महराजवाली चर्चाको उठाकर डॉ० पाठकके मतका निरसन किया है और प्रो० चक्रवर्तीके मतको भी मान्य नहीं ठहराया है। इस प्रकार मुख्तारसाहबने कुन्दकुन्दका समय वीर निर्वाण संवत् ६०८-६९२ के मध्य माना है।

कुन्दकुन्दके समयपर विस्तारसे विचार करनेवाले डॉ० ए० एन० उपाध्ये हैं। उन्होंने अपनी प्रवचनसारको विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावनामें अपनेसे पूर्व प्रचलित सभी मतोंकी समीक्षा करते हुए स्वमतका निर्धारण किया है। डॉ० उपाध्येने अपने मतके निर्णयके हेतु निम्नलिखित तथ्योंपर विचार किया है—

१. भद्रबाहुका शिष्यत्व

२. श्रुतावतारानुसार षट्खण्डागमका टीकाकारित्व

३. संघभेदानन्तर प्राप्त सूचनाओंका आधारत्व

४. जयसेन एवं बालचन्द्रके उल्लेखानुसार शिवकुमार महराजका समकालीनत्व

५. कुरलकर्तृत्व

१. डॉ० उपाध्येका विचार है कि कुन्दकुन्द दिगम्बर-श्वेताम्बर संघभेद उत्पन्न होनेके पश्चात् ही हुए हैं। यदि वे पहले हुए होते तो अचेलकत्वका समर्थन और स्त्रीमुक्तिका निषेध नहीं करते, यत: संघभेदकी उत्पत्ति चन्द्रगुप्त मौर्यके समकालीन श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें हो चुकी थी। यही कारण है कि कुन्दकुन्दने अपने ग्रन्थोंमें श्वेताम्बर प्रवृत्तियोंका निषेध किया है।

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावना पृ० १६१।

२. प्रथम तथ्यपर विचार करते हुए कुन्दकुन्दको श्रुतकेवली भद्रबाहुका परम्पराशिष्य माना है। डॉ० उपाध्येने बतलाया है कि दक्षिणमें जो मुनिसंघ आया था, उनमें प्रधान भद्रबाहु श्रुतकेवली थे। अतः उनके संन्यासमरणके पश्चात् भी प्रधान गुरुके रूपमें उनकी मान्यता प्रचलित रही। दक्षिणमें जो साधुसंघ था उसे धार्मिक ज्ञान उत्तराधिकारके रूपमें भद्रबाहुसे ही प्राप्त हुआ था। अतः सुदूर दक्षिण देशवासी कुन्दकुन्दने उन्हें अपना गुरु माना, तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। यह यथार्थ है कि कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहुके साक्षात् शिष्य नहीं हैं, *यतः उनका नामोल्लेख अंगधारियोंमें* नहीं मिलता है और न ऐसी कोई किंवदन्ती ही प्राप्त होती है, जिसके आधारपर कुन्दकुन्दको श्रुतकेवली भद्रबाहुका समकालीन माना जा सके।

३. श्रुतावतारमें आया है कि कोण्डकुन्दपुरके पद्मनन्दिने 'कषायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' इन दोनों ग्रन्थोंका ज्ञान प्राप्त किया और षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर टीका लिखी, यह तथ्य असंदिग्ध नहीं है। कुन्दकुन्दकी ऐसी कोई भी टीका आज नहीं मिलती और न कहीं उसके अवशेष ही मिलते हैं। अतः इन्द्रनन्दिके उक्त कथनका समर्थन अन्य किसी ग्रन्थसे नहीं होता है। विबुध श्रीधरने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि कुन्दकीर्त्तिने कुन्दकुन्दाचार्यसे दोनों सिद्धान्तग्रन्थोंका ज्ञान प्राप्त करके 'षट्खण्डागम'के आदिके तीन खण्डोंपर बारह हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक शास्त्र लिखा। डॉ० उपाध्येका एक अन्य तर्क यह है कि कुन्दकुन्दको प्रतिभा मौलिक ग्रन्थोंके सृजनकी ओर ही अधिक है। टीका या टीकाकारिका लिखनेकी ओर नहीं। अतएव श्रुतावतारके आधारपर कुन्दकुन्दका समय वीर निर्वाण संवत् ६८३ के पश्चात् माना जाना चाहिए, यह कोई सबल प्रमाण नहीं है। सम्भव है कि कुन्दकुन्द इसके पहले हुए हों।

४. डॉ० उपाध्ये प्रो० चक्रवर्तीके इस तथ्यको समुचित मानते हैं कि शिवकुमार महराज पल्लवराजवंशी हैं। किन्तु पल्लवराजवंशका समय अभीतक अनिर्णीत है। अतएव डा० उपाध्ये डा० पाठकके मतसे असहमत होते हुए प्रो० चक्रवर्ती द्वारा मान्य शिवकुमार महराज और शिवस्कन्दकी एकताको स्वीकार करते हैं।

५. कुरलकाव्यकर्त्ताके रूपमें कुन्दकुन्दकी मान्यतापर विचार करते हुए डॉ० उपाध्येने बतलाया है कि कुरलकाव्यका जैन होना सम्भव है, उसमें ऐसे अनेक तथ्य आये हैं जो अन्य धर्मोंमें प्राप्त नहीं होते। इस काव्यका समस्त वर्ण्य विषय जैन आचार और तत्त्वज्ञानसे सम्बद्ध है। अतएव कुरलका कर्त्ता कोई जैन कवि तो अवश्य है, पर आचार्य कुन्दकुन्द हैं, इसके समर्थनमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। कुन्दकुन्दका अन्य नाम एलाचार्य बताया गया है उसकी

पुष्टि भी अन्य प्रमाणोंसे नहीं होती। अतएव कुन्दकुन्दको ई० सन् प्रथम शताब्दीका विद्वान् स्वीकार किया जा सकता है।

आधुनिक विचारक डॉ० ज्योति प्रसादजीने विभिन्न मतोंकी समीक्षा करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित किया है—All this Shows that he may Safely be assigned to the ealry part of the first century A. D. or, to be exact, to 8 B. C—A. D. 44.[1]

अर्थात् इस आधारपर कुन्दकुन्दका समय ई० सन्की प्रथम शताब्दी आता है।

कुन्दकुन्दकी रचनाएँ

दिगम्बर साहित्यके महान् प्रणेताओंमें कुन्दकुन्दका मूर्धन्य स्थान है। इनकी सभी रचनाएँ शौरसेनी प्राकृतमें हैं। १. प्रवचनसार, २. समयसार और ३. पञ्चास्तिकाय ये तीन ग्रन्थ विश्रुत हैं और तत्त्वज्ञानको अवगत करनेके लिए कुञ्जी हैं। शेष रचनाओंका भी आध्यात्मिक दृष्टिसे विशेष महत्त्व है।

१. प्रवचनसार

यह ग्रन्थ अमृतचन्द्रसूरि और जयसेनाचार्यकी संस्कृतटीकाओं सहित रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई द्वारा प्रकाशित है। इसमें तीन अधिकार हैं—ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र। ज्ञानाधिकारमें आत्मा और ज्ञानका एकत्व एवं अन्यत्व, सर्वज्ञकी सिद्धि, इन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुख, शुभ, अशुभ और शुद्धोपयोग तथा मोहक्षय आदिका प्ररूपण है। ज्ञेयाधिकारमें द्रव्य, गुण, पर्यायका स्वरूप, सप्तभंगी, कर्म और कर्मफलका स्वरूप, मूर्त और अमूर्त द्रव्योंके गुण, कालादिकके गुण और पर्याय, प्राण, शुभ और अशुभ उपयोग, जीवका लक्षण, जीव और पुद्गलका सम्बन्ध, निश्चय और व्यवहारका अविरोध एवं शुद्धात्मा आदिका प्रतिपादन है। चारित्र-अधिकारमें श्रामण्यके चिह्न, छेदोपस्थापक श्रमण, छेदका स्वरूप, युक्त आहार, उत्सर्ग और अपवाद मार्ग, आगमज्ञानका लक्षण और मोक्षतत्त्व आदिका कथन किया है।

आचार्य अमृतचन्द्रकी टीकाके अनुसार इसमें २७५ गाथाएँ हैं और जयसेनकी टीकाके अनुसार ३१७ हैं। इन बढ़ी हुई गाथाओंका तीन वर्गोंमें विभाजन किया जा सकता है—

१. नमस्कारात्मक
२. व्याख्यानविस्तारविषयक
३. अपरविषयविज्ञापनात्मक

---

1. The jaina Sources of the history of ancient India P. 124=125.

प्रथम दो विषयोंकी गाथाएँ इस प्रकारकी तटस्थ हैं कि जिनका अभाव खटकता नहीं है। उनके रहनेपर भी प्रवचनसारके विषयमें किसी प्रकारकी वृद्धि नहीं होती। तृतीय विभागकी चौदह गाथाएँ विचारणीय हैं। ये गाथाएँ निर्ग्रन्थ साधुओंके लिए वस्त्रपात्रादिकका तथा स्त्रियोंके लिए मुक्तिका निषेध करती हैं। इन गाथाओंके विषय यद्यपि कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंके विपरीत नहीं है, पर श्वेताम्बर सम्प्रदायके विरुद्ध अवश्य हैं। अत: अमृतचन्द्राचार्यके द्वारा इनके छोड़े जानेके सम्बन्धमें डॉ० उपाध्येका कथन है—"अमृतचन्द्र इतने आध्यात्मिक व्यक्ति थे कि वे साम्प्रदायिक वाद-विवादमें पड़ना नहीं चाहते थे। अत: इस बातकी इच्छा रखते थे कि उनकी टीका संक्षिप्त हो एवं तीक्ष्ण साम्प्रदायिक आक्रमणोंको न करती हुई कुन्दकुन्दके अति उदात्त उद्गारोंके साथ सभी सम्प्रदायोंको स्वीकृत हो।"

डॉ० उपाध्येका उपर्युक्त मत सर्वथा समीचीन नहीं है, क्योंकि अमृतचन्द्र-ने तत्त्वार्थसारके निम्न पद्यमें लिखा है—

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली।
रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम्॥[1]

इस पद्यमें श्वेताम्बर मान्यताके केवली-कवलाहार और सचेलकत्वका निषेध किया गया है। अत: श्वेताम्बर मान्यताके सिद्धान्तोंकी समीक्षा छोड़ देने की बात युक्त नहीं है।

२. **समयसार**—यह सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रन्थ है। यहाँ समयशब्दके दो अर्थ विवक्षित हैं—समस्त पदार्थ और आत्मा। जिस ग्रन्थमें समस्त पदार्थों अथवा आत्माका सार वर्णित हो, वह समयसार है। यह भेदविज्ञानका निरूपण करता है। अनेक पदार्थोंको 'स्व'-'स्व' लक्षणोंसे पृथक्-पृथक् नियत कर देना और उनसे उपादेय पदार्थको लक्षित तथा अन्य समस्त पदार्थोंको उपेक्षित कर देनेको भेद-विज्ञान कहा जाता है। यह ग्रन्थ दश अधिकारोंमें विभक्त है—प्रथम जीवा-धिकारमें 'स्व' समय, 'पर' समय, शुद्धनय, आत्मभावना और सम्यक्त्वका प्ररूपण है। जीवको कामभोगविषयक बन्धकथा ही सुलभ है किन्तु आत्माका एकत्व दुर्लभ है। एकत्व-विभक्त आत्माको निजानुभूति द्वारा ही जाना जाता है। जीव प्रमत्त, अप्रमत्त दोनों दशाओंसे पृथक् ज्ञायकभावमात्र है। ज्ञानीके दर्शन, ज्ञान, चारित्र व्यवहारसे कहे जाते हैं, निश्चयसे नहीं। निश्चयसे ज्ञानी एक शुद्ध ज्ञायकमात्र ही है। इस अधिकारमें व्यवहारनयको अभूतार्थ और निश्चयको भूतार्थ कहा है। दूसरे कर्तृकर्माधिकारमें आस्रव, बन्ध आदिकी

१. तत्त्वार्थसार, पद्य, ५।६।

पर्यायोंका विवेचन किया गया है। आत्माके मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीन परिणाम अनादि हैं। जब इन तीन प्रकारके परिणामोंका कर्तृत्व होता है, तब पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणमन करता है। परद्रव्यके भावका जीव कभी भी कर्त्ता नहीं है।

तीसरे पुण्य-पाप अधिकारमें शुभाशुभ कर्मस्वभाव वर्णित हैं। अज्ञान-पूर्वक किये गये व्रत, नियम, शील और तप मोक्षके कारण नहीं हैं। जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान, उनका अधिगम और रागादिभावका त्याग मोक्षका मार्ग बतलाया है। चौथे आस्रवाधिकारमें मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय आस्रव बतलाये गये हैं। वस्तुतः राग, द्वेष, मोहरूप परिणाम ही आस्रव हैं। ज्ञानीके आस्रवका अभाव रहता है। यतः राग-द्वेष-मोहरूप परिणामके उत्पन्न न होनेसे आस्रवप्रत्ययोंका अभाव कहा जाता है। पाँचवें संवर अधि-कारमें संवरका मूल भेदविज्ञान बताया है। इस अधिकारमें संवरके क्रमका भी वर्णन है। छठवें निर्जरा अधिकारमें द्रव्य, भावरूप निर्जराका विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। ज्ञानी व्यक्ति कर्मोंके बीच रहने पर भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है, पर अज्ञानी कर्मरजसे लिप्त रहता है। सातवें बन्धाधिकारमें बन्धके कारण रागादिका विवेचन किया है। आठवें मोक्षाधिकारमें मोक्षका स्वरूप और नववें सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारमें आत्माका विशुद्ध ज्ञानकी दृष्टिसे अकर्तृत्व आदि सिद्ध किया है। अन्तिम दशम अधिकारमें स्याद्वादकी दृष्टिसे आत्म-स्वरूपका विवेचन किया है।

इस ग्रन्थमें आचार्य अमृतचन्द्रके टीकानुसार ४१५ गाथाएँ और जयसेना-चार्यकी टीकाके अनुसार ४३९ गाथाएँ हैं। शुद्ध आत्माका इतना सुन्दर और व्यवस्थित विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

३. **पञ्चास्तिकाय**—इस ग्रन्थमें कालद्रव्यसे भिन्न जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच अस्तिकायोंका निरूपण किया गया है। बहुप्रदेशी द्रव्यको आचार्यने अस्तिकाय कहा है। द्रव्य-लक्षण, द्रव्यके भेद, सप्तभंगी, गुण, पर्याय, कालद्रव्य एवं सत्ताका प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ दो अधि-कारोंमें विभक्त है। प्रथम अधिकारमें द्रव्य, गुण और पर्यायोंका कथन है और द्वितीय अधिकारमें पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एव मोक्ष इन नव पदार्थोंके साथ मोक्ष-मार्गका निरूपण किया है।

इस ग्रन्थमें अमृतचन्द्राचार्यकी टीकाके अनुसार १७३ गाथाएँ और जय-सेनाचार्यके टीकानुसार १८१ गाथाएँ हैं। द्रव्यके स्वरूपको अवगत करनेके लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

४. **नियमसार**—आध्यात्मिक दृष्टिसे यह ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको नियमसे मोक्ष-प्राप्तिका मार्ग कहा है। अतएव सम्यग्दर्शनादिका स्वरूप कथन करते हुए उसके अनुष्ठान करने एवं मिथ्यादर्शनादिके त्यागका विधान किया है। इसपर पद्मप्रभमलधारीदेवकी संस्कृतटीका भी उपलब्ध है।

५. **बारस-अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)**—इसमें अध्रुव, अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ इन बारह भावनाओंका ९१ गाथाओंमें वर्णन है। संसारसे विरक्ति प्राप्त करनेके लिए यह रचना अत्यन्त उपादेय है।

६. **दंसणपाहुड**—इस लघुकाय ग्रन्थमें धर्मके सम्यग्दर्शनका ३६ गाथाओंमें विवेचन किया गया है। सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट व्यक्तिको निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता है।

७. **चारित्त पाहुड**—सम्यक्चारित्रका निरूपण ४४ गाथाओंमें किया गया है। सम्यक्चारित्रके दो भेद किये हैं—सम्यक्त्वचरण और संयमचरण। संयमचरणके सागार और अनगार इन दो भेदों द्वारा श्रावक और मुनि-धर्मका संक्षेपमें निर्देश किया है।

८. **सुत्तपाहुड**—२७ गाथाओंमें आगमका महत्त्व बतलाते हुए उसके अनुसार चलनेकी शिक्षा दी गयी है।

९. **बोहपाहुड**—६२ गाथाएँ हैं। इनमें आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनविम्ब, जिनमुद्रा, आत्मज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हन्त और प्रव्रज्या इन ग्यारह बातोंका बोध दिया गया है।

१०. **भावपाहुड**—१६३ गाथाओंमें चित्त-शुद्धिकी महत्ताका वर्णन किया है। बताया है कि परिणामशुद्धिके बिना संसार-परिभ्रमण नहीं रुक सकता है और न बिना भावके कोई पुरुषार्थ ही सिद्ध होता है। इसमें कर्मकी अनेक महत्त्वपूर्ण बातोंका विवेचन आया है।

११. **मोक्खपाहुड**—इस ग्रन्थमें १०६ गाथाओंमें मोक्षके स्वरूपका निरूपण किया गया है। आत्माके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—इन तीन भेदोंका स्वरूप समझाया है। मोक्ष—परमात्म-पदकी प्राप्ति किस प्रकार होती है इसका निर्देश किया है।

१२. **लिंगपाहुड**—इस लघुकाय ग्रन्थमें २२ गाथाएँ हैं। श्रमणलिंगको लक्ष्य कर मुनि-धर्मका निरूपण किया गया है।

१३. सीलपाहुड—४० गाथाएँ हैं। शील ही विषयासक्तिको दूरकर मोक्ष-प्राप्तिमें सहायक होता है। जीव-दया, इन्द्रिय-दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, असन्तोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तपको शीलके अन्तर्गत परिगणित किया है।

१४. रयणसार—इस ग्रंथमें रत्नत्रयका विवेचन है। १६७ पद्य हैं। और किसी-किसी प्रतिमें १५५ पद्य भी मिलते हैं। गृहस्थ और मुनियोंको रत्नत्रयका पालन किस प्रकार करना चाहिए, यह इसमें वर्णित है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये इस ग्रन्थको गाथा-विभेदविचार, पुनरावृत्ति, अपभ्रंशपद्योंकी उपलब्धि एवं गण-गच्छादिके उल्लेख मिलनेसे कुन्दकुन्दके होनेमें आशंका प्रकट करते हैं। वस्तुतः शैलीकी भिन्नता और विषयोंके सम्मिश्रणसे यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द रचित प्रतीत नहीं होता। परम्परासे यह कुन्दकुन्दद्वारा प्रणीत माना जाता है।

१५. सिद्ध-भत्ति—यह स्तुतिपरक ग्रन्थ है। १२ गाथाओंमें सिद्धोंके गुण-भेद, सुख, स्थान, आकृति और सिद्धि-मार्गका निरूपण किया गया है। इसपर प्रभाचन्द्राचार्यकी एक संस्कृत टीका है। इस टीकाके अन्तमें लिखा है कि संस्कृतकी सब भक्तियाँ पूज्यपादस्वामी द्वारा विरचित हैं और प्राकृतकी भक्तियाँ कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा निर्मित[1] हैं।

१६ सुदभत्ति—इस भक्तिपाठमें ११ गाथाएँ हैं। इसमें आचारांग, सूत्रकृतांग आदि द्वादश अंगोंका भेद-प्रभेद सहित उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है। साथ ही १४ पूर्वोंमेंसे प्रत्येकको वस्तुसंख्या और प्रत्येक वस्तुके प्राभृतोंकी संख्या भी दी है।

१७. चारित्त-भत्ति—१० अनुष्टुप् गाथाछन्द हैं। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात नामके चारित्रों, अहिंसादि २८ मूलगुणों, दस धर्मों, त्रिगुप्तियों, सकलशीलों, परीषहोंके जय और उत्तरगुणोंका उल्लेख करते हुए मुक्तिसुख देनेवाले चारित्रकी भावना की गयी है।

१८. जोइभत्ति—२३ गाथाओंमें योगियोंकी अनेक अवस्थाओं, ऋद्धियों, सिद्धियों एवं गुणोंके साथ उन्हें नमस्कार किया गया है।

१९. आइरियभत्ति—इसमें १० गाथाएँ हैं और इनमें आचार्योंके उत्तम गुणोंका उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया है।

---

१. संस्कृताः सर्वा विभक्तयः पूज्यपादस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः।
—प्रभाचन्द्रटीका, अन्तिम अंश।

२०. **णिव्वाणभत्ति**—इस भक्तिपाठमें २७ गाथाएँ हैं। इनमें निर्वाणका स्वरूप एवं निर्वाणप्राप्त तीर्थंकरोंकी स्तुति की गयी है।

२१. **पंचगुरुभत्ति**—इस भक्तिपाठमें सात पद्य हैं। प्रारम्भिक पाँच पद्योंमें क्रमशः अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठियोंका स्तवन है। छठे पद्यमें स्तवनका फल अङ्कित है। सप्तम पद्यमें इन पाँच परमेष्ठियोंका अभिधान पंच नमस्कारमें किया है।

२२. **थोस्सामि थुदि (तित्थयर-भत्ति)** 'थोस्सामि' पदसे आरम्भ होनेवाली अष्टगाथात्मक स्तुति है। इसे तीर्थंकर-भक्ति भी कहा गया है। इस स्तुतिपाठमें वृषभादि वर्धमान पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी उनके नामोल्लेखपूर्वक वन्दना की गई है और तीर्थंकरोंके लिए जिन, जिनवर, जिनेन्द्र, केवली, अनन्तजिन, लोकमहित, धर्मतीर्थंकर, विधूतरजोमल, लोकोद्योतकर आदि विशेषणोंका प्रयोग किया गया है। अन्तमें समाधि, बोधि और सिद्धिकी प्रार्थना की गयी है।

इस भक्तिपाठके कतिपय पद्य श्वेताम्बर सम्प्रदायके पद्योंके समान हैं। और कुछ भिन्न हैं। यथा—

लोयस्सुज्जोययरे धम्मं-तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणे ॥ —दिगम्बर पाठ
लोगस्स उज्जोअगरे धम्मतित्थयरे जिणे।
अरहंते कित्तइस्सं चउवीसं पि केवली ॥ —श्वेताम्बर पाठ

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द अपूर्व प्रतिभाके धनी और शास्त्रपारंगत विद्वान् हैं। इन्होंने पंचास्तिकाय और प्रवचनसारमें आध्यात्मिक दृष्टिके साथ शास्त्रीय दृष्टिको भी प्रश्रय दिया है। अतएव इन दोनों ग्रन्थोंमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंका भी वर्णन प्राप्त होता है। सम्यक्दर्शनके विषयभूत जीवादि पदार्थोंका विवेचन करनेके लिए शास्त्रीय दृष्टिको अंगीकृत किये बिना कार्य नहीं चल सकता। अतएव द्रव्यार्थिक नयसे जहाँ जीवके नित्य—अपरिणामी स्वभावका वर्णन किया जाता है वहाँ पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे जीवके अनित्य—परिणामी स्वभावका भी वर्णन रहता है। यों तो द्रव्य—गुण और पर्यायोंका एक अखण्ड पिण्ड है, तो भी उनका अस्तित्व प्रकट करनेके लिए भेदको स्वीकार किया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार और नियमसारमें आध्यात्मिक दृष्टिसे आत्मस्वरूपका विवेचन किया है। इस दृष्टिमें गुणस्थान और मार्गणाओंके भेदोंका अस्तित्व स्वीकृत नहीं रहता। यह दृष्टि परनिरपेक्ष आत्मस्वभावको और उसके

प्रतिपादक निश्चयनयको ही भूतार्थ तथा व्यवहारको हेय मानती है। यहाँ एक निश्चय ही मोक्षमार्ग है, व्यवहार नहीं। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दने आध्यात्मिक और शास्त्रीय दृष्टियोंका विश्लेषण एवं विवेचनकर आत्मतत्त्वका निरूपण किया है। इन दोनों दृष्टियोंके सम्बन्धमें सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है—"शास्त्रीय[1] दृष्टि वस्तुका विश्लेषण करके उसकी तह तक पहुँचनेकी चेष्टा करती है। उसकी दृष्टिमें निमित्तकारणके व्यापारका उतना ही मूल्य है, जितना उपादानकारणके व्यापारका और परसंयोग-जन्य अवस्था भी उतनी ही परमार्थ है, जितनी स्वाभाविक अवस्था। जैसे उपादानकारणके बिना कार्य नहीं होता, वैसे ही निमित्तकारणके बिना भी कार्य नहीं होता। अतः कार्यकी उत्पत्तिमें दोनोंका समव्यापार है……शास्त्रीय दृष्टिका किसी वस्तु-विशेषके साथ कोई पक्षपात नहीं है।"

"शास्त्रीय दृष्टिके सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। इसके द्वारा आत्म-तत्त्वको लक्ष्यमें रखकर वस्तुका विचार किया जाता है[2]।"

अतएव संक्षेपमें कुन्दकुन्दका अपूर्व पाण्डित्य, उनकी शास्त्रग्रथन-प्रतिभा एवं सिद्धान्तग्रन्थोंके सार-भागको आध्यात्मिक और द्रव्यानुयोगके रूपमें प्रस्तुतीकरण आदि उनकी विशेषताएँ हैं।

आचार्य वट्टकेर और उनका साहित्य

आचार्य वट्टकेर कुन्दकुन्दाचार्यसे भिन्न हैं या अभिन्न, इस सम्बन्धमें मतभेद है। श्री जुगलकिशोर मुख्तारने इन्हें कुन्दकुन्दसे अभिन्न माना है। डॉ० ज्योतिप्रसाद भी इसी मतके समर्थक हैं।

डॉ० हीरालाल जैनने वट्टकेरको कुन्दकुन्दसे भिन्न स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है—"वट्टकेरस्वामीकृत· मूलाचार दिगम्बर सम्प्रदायमें मुनिधर्मके लिए सर्वोपरि प्रमाण माना जाता है। कहीं-कहीं यह ग्रन्थ कुन्द-कुन्दाचार्यकृत भी कहा गया है। यद्यपि यह बात सिद्ध नहीं होती, तथापि उससे इस ग्रन्थके प्रति समाजका महान् आदरभाव प्रकट होता है।"[3]

---

१. कुन्दकुन्दप्राभृतसंग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ—८२।

२. वही, पृष्ठ—८३।

३. भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान, प्रकाशक, मध्यप्रदेश-शासन-साहित्य परिषद्, भोपाल, पृष्ठ १०५।

डॉ० जैनके उक्त उद्धरणसे दो निष्कर्ष उपस्थित होते हैं।

१. श्रद्धा, भक्ति और मान्यताके अतिरेकके कारण मूलाचारके कर्त्ता कुन्दकुन्द मान लिये गये हैं। कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्पराके युगसंस्थापक और युगान्तरकारी आचार्य हैं, अतएव वट्टकेरके नामपर उत्तरवर्ती साक्षियोंमें मूलाचारका नाम निर्देश कर दिया गया।

२. मूलाचार दिगम्बर परम्पराका आचारांग ग्रन्थ है। इसी कारण इस ग्रन्थका सम्बन्ध कुन्दकुन्दसे जोड़ा गया है। वट्टकेर आचार्यकी अन्य कृतियाँ उपलब्ध नहीं होतीं। अतएव इतने महान् ग्रन्थका रचयिता इनको स्वीकार करनेमें उत्तरवर्ती लिपिकारोंको आशंका हुई।

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमालामें प्रकाशित सटीक मूलाचार प्रतिकी पुष्पिकाके आधारपर इस ग्रन्थको कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत बतलाया है। पुष्पिका निम्न प्रकार है—

"इति मूलाचारविवृतौ द्वादशो अध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रीश्रमणस्य"।

इस पुष्पिकाके आधारसे श्रीजुगलकिशोर मुख्तार वट्टकेरको कुन्दकुन्दसे अभिन्न मानते हैं।

डॉ० ए० एन० उपाध्येने अपनी प्रवचनसारकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावनामें मूलाचारको दक्षिण भारतकी पाण्डुलिपियोंके आधारपर कुन्दकुन्दकृत लिखा है। पर एक निबन्धमें[1] मूलाचारको संग्रह-ग्रन्थ सिद्ध किया है, और इसके संग्रहकर्त्ता सम्भवतः वट्टकेर थे, यह अनुमान लगाया है।

आचार्य वसुनन्दिने मूलाचारकी संस्कृत-टीका लिखी है और इस टीकाकी प्रशस्तिमें इस ग्रन्थके कर्त्ताको वट्टकेर, वट्टकेर्याचार्य, तथा वट्टेरकाचार्यके रूपमें उल्लिखित किया है। इन नामोंमें पहला नाम टीकाके प्रारम्भिक प्रस्तावना वाक्यमें, दूसरा नवम, दशम और एकादश अधिकारोंके सन्धिवाक्योंमें और तृतीय नाम सप्तम अधिकारके सन्धिवाक्यमें पाया जाता है।

यह सत्य है कि वट्टकेर नामका समर्थन न तो किसी गुर्वावलिसे होता है, न पट्टावलिसे, न अभिलेखोंसे और न ग्रन्थ-प्रशस्तियोंसे ही। इसी कारण श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने एक निबन्धमें इस समस्याका समाधान प्रस्तुत करनेका प्रयास किया[2] है। उन्होंने बताया है कि दक्षिण भारतमें वेट्टगेरि या वेट्टकेरी

१. प्राच्य-विद्या-सम्मेलन, अलीगढ़ (उ० प्र०) में पठित।

२. जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १२, किरण १, पृ० ३८।

नामके ग्रामका अस्तित्व पाया जाता है। अतः इस ग्रामके निवासी होनेके कारण मूलाचारके कर्त्ताको वट्टकेर या वेट्टकेरि कहा गया होगा। जिस प्रकार कोण्डकुन्दपुरके रहनेवाले होनेसे कुन्दकुन्द नाम प्रसिद्ध हुआ, उसी प्रकार वेट्टकेरिके रहनेवाले होनेसे मूलाचारके कर्त्ता वट्टकेर कहलाये। अतः मूलाचार कुन्दकुन्दको रचना नहीं है और न वट्टकेर ही कुन्दकुन्दसे अभिन्न हैं।

श्रीजुगलकिशोर मुख्तारने अपना अभिमत प्रकट करते हुए लिखा है कि—"वट्टकका अर्थ वर्तक—प्रवर्तक है, इर गिरा, वाणी, सरस्वतीको कहते है, जिसकी वाणी प्रवर्त्तिका हो—जनतामें सन्मार्ग तथा सदाचारमें लगानेवाली हो—उसे वट्टकेर समझना चाहिये। दूसरे, वट्टकों—प्रवर्त्तकोंमें जो 'इरि' गिरि, प्रधान, प्रतिष्ठित हो, अथवा ईरि-समर्थ—शक्तिशाली हो, उसे वट्टकेरि जानना चाहिए। तीसरे वट्ट नाम वर्त्तन—आचरणका है और 'ईरक' प्रेरक तथा प्रवर्त्तकको कहते हैं, सदाचारमें जो प्रवृत्ति करानेवाला हो उसका नाम वट्टकेर[1] है"। इस प्रकार मुख्तार साहबने वट्टकेरका अर्थ प्रवर्त्तक, प्रधानपदपर प्रतिष्ठित अथवा श्रेष्ठ आचारनिष्ठ किया है, और इसे कुन्दकुन्दाचार्यका विशेषण बतलाया है। अतएव इनके मतसे कुन्दकुन्द ही वट्टकेर हैं।

उपर्युक्त मत-भिन्नताओंके आलोकमें मूलाचारका अध्ययन करनेसे ज्ञात होता है कि वट्टकेर एक स्वतन्त्र आचार्य हैं और ये कुन्दकुन्दाचार्यसे भिन्न हैं। ग्यारहवीं शताब्दीके विद्वान् वसुनन्दिने वट्टकेरका उल्लेख स्पष्ट रूपसे किया है। अतः इस ग्रन्थके रचयिता आचार्य वट्टकेर हैं और वे आचार्य कुन्दकुन्दसे भिन्न सम्भव हैं।

समय-निर्धारण और ग्रन्थकी मौलिकता

वट्टकेरके सम्बन्धमें अभी तक पट्टावलि, गुर्वावलि, अभिलेख एवं प्रशस्तियोंमें सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है। अतः निश्चित रूपसे उनके समयके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। मूलाचारकी विषयवस्तु-के अध्ययनसे इतना स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ प्राचीन है। इससे मिलती-जुलती अनेक गाथाएँ श्वेताम्बर प्राचीन सूत्रग्रन्थ दशवैकालिकमें भी उपलब्ध हैं। प्रत्येक प्रकरणके आदिमें मंगलस्तवनके अंकित रहनेसे इसे संग्रह-ग्रन्थ होनेका अनुमान किया जाता है, पर हमारी नम्र सम्मतिमें यह संग्रह-ग्रन्थ न होकर स्वतंत्र ग्रन्थ है। प्रत्येक प्रकरणके आदि अथवा ग्रन्थके आदि, मध्य और अन्त-में मंगलस्तवन लिखनेकी प्रथा प्राचीन समयमें स्वतन्त्ररूपसे लिखित ग्रन्थोंमें वर्तमान थी। तिलोयपण्णत्तीमें इस प्रथाको देखा जा सकता है। गोम्मटसारके आदि, मध्य और अन्तमें भी मंगलस्तवन निबद्ध है।[2]

१. जैन साहित्य इतिहासपर विशद प्रकाश, पृ० १०० ।

२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड और तिलोयपण्णत्ती ।

मूलाचारका ग्रथन एक निश्चित रूपरेखाके आधारपर हुआ है। अतः उसके सभी प्रकरण आपसमें एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं। यदि यह संकलन होता, तो इसके प्रकरणोंमें आद्यन्त एकरूपता एवं प्रौढ़ताका निर्वाह सम्भव नहीं था। अतएव आचार्य वट्टकेरका समय कुन्दकुन्दके समकालीन या उनसे कुछ ही पश्चाद्वर्ती होना चाहिए।

वस्तुतः प्राचीन गुरुपरम्परामें ऐसी अनेक गाथाएं विद्यमान थीं, जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही मान्यताओंके ग्रन्थोंका स्रोत हैं। एक ही स्थानसे अथवा गुरुपरम्पराके प्रचलनसे गाथाओंको ग्रहण कर, दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही मान्यताओंके आचार्योंने समानरूपसे उनका उपयोग किया है। मुनि-आचार-सम्बन्धी, या कर्मप्राभृत-सम्बन्धी जिन सिद्धान्तोंमें मतभेद नहीं था, उन सिद्धान्तों सम्बन्धी गाथाओंको एक ही स्रोतसे ग्रहण किया गया है।

तथ्य यह है कि परम्पराभेद होनेके पूर्व अनेक गाथाएँ आरातियोंके मध्य प्रचलित थीं, और ऐसे कई आरातीय थे, जो दोनों ही सम्प्रदायोंमें समानरूपसे प्रतिष्ठित थे। अतः वर्तमानमें मूलाचार, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक प्रभृति ग्रन्थोंमें उपलब्ध होनेवाली समान गाथाओंका जो अस्तित्व पाया जाता है, उसका कारण यह नहीं है कि वे गाथाएँ किसी एक सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें, दूसरे सम्प्रदायके ग्रन्थोंसे ग्रहण की गयी हैं, बल्कि इसका कारण यह है कि उन गाथाओंका मूल स्रोत अन्य कोई प्राचीन भाण्डार रहा है, जो प्राचीन श्रुतपरम्परामें विद्यमान था।

रचना

वट्टकेर आचार्यका यही एक ग्रन्थ उपलब्ध है। इसमें १२ अधिकार और १२५२ गाथाएँ हैं। पहले मूलगुण-अधिकारमें पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पंच-इन्द्रियोंका निरोध, षट्आवश्यक, केशलुञ्च, अचेलकत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थित-भोजन और एक बार भोजन, इस प्रकार मुनिके अट्ठाईस मूलगुणोंका निरूपण किया है। बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तव-अधिकारमें क्षपकको समस्त पापोंका त्यागकर मृत्युके समयमें दर्शनाराधना आदि चार आराधनाओंमें स्थिर रहने और क्षुधादि परीषहोंको जीतकर निष्कषाय होनेका कथन किया है। संक्षेपमें प्रत्याख्यानाधिकारमें सिंह, व्याघ्र आदिके द्वारा आकस्मिक मृत्यु उपस्थित होनेपर कषाय और आहारका त्यागकर समताभाव धारण करनेका निर्देश किया है। सम्यक्आचाराधिकारमें दश प्रकारके आचारोंका वर्णन है। आर्यिकाओंके लिए भी विशेष नियम वर्णित हैं। पंचाचाराधिकारमें दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि पाँच आचारों और उनके प्रभेदोंका विस्तार सहित वर्णन है।

लोकादि मूढ़ताओंमें प्रसिद्ध होनेवालोंके उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। स्वाध्याय-सम्बन्धी नियमोंमें आगम और सूत्रग्रन्थोंके स्वरूप भी बतलाये गये हैं। पिण्डशुद्धि-अधिकारके आठ भेद हैं। इन सभी भेदोंका विस्तारपूर्वक कथन किया है। मुनियोंके आहार-सम्बन्धी नियम, उसके दोष तथा उन दोषोंके भेद-प्रभेदोंका कथन आया है। मुनि शरीरधारणके हेतु आहार ग्रहण करते हैं और शरीर धर्म-साधनाका कारण है। अतः उसका भरण-पोषण कर आत्म साधना-के मार्गमें गतिशील होना परमावश्यक है। एषणा समिति, आहारयोग्य काल, भिक्षार्थगमन करनेकी प्रवृत्ति-विशेष आदिका भी वर्णन आया है।

सप्तम षडावश्यकाधिकार है। आवश्यकशब्दका निरुक्ति, सामायिकके छः भेद, भावसामायिक और द्रव्यसामायिककी व्याख्याएँ, छेदोपस्थापनाका स्वरूप, चतुर्विंशतिस्तव, नाम और भाव स्तवन, तीर्थका स्वरूप, वन्दनीय साधु, कृति कर्म, कायोत्सर्गके दोष आदिका वर्णन है। आठवें अनगारभावना-धिकारमें लिंग, व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, शरीर, संस्कारत्याग, वाक्य, तप और ध्यानसम्बन्धी शुद्धियोंके पालनपर जोर दिया गया है। नवम द्वादशानुप्रेक्षाधिकार है। इसमें अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, संवर, निर्जरा, धर्म, बोधि आदि अनुप्रेक्षाओंके चिन्तनका वर्णन है। दशम समयसाराधिकार है। इसमें शास्त्रके सारका प्रतिपादन करते हुए चारित्र-को सर्वश्रेष्ठ कहा है। तप, ध्यानका वर्णन भी इसी अधिकारके अन्तर्गत है। अचेलकत्व, अनौद्देशिकाहार, शय्यागृहत्याग, राजपिण्डत्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मासस्थितिकल्प और पर्यास्थितिकल्पका भी प्रतिपादन आया है। प्रतिलेखनक्रियाका वर्णन करते हुए पाँच गुणोंका चित्रण किया है। आहार-शुद्धिके प्रकरणमें विभिन्न प्रकारकी शुद्धियोंका निरूपण आया है। यह अधिकार बहुत विस्तृत है। ग्यारहवें पर्याप्ति-अधिकारमें षड्पर्याप्तियोंका निरूपण है। पर्याप्तिके संज्ञा, लक्षण, स्वामित्व, संख्या, परिमाण, निवृत्ति और स्थिति कालके छः भेद किये हैं। इन सभी भेदोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। बारहवें शीलगुणाधिकारमें शीलोंके उत्पत्तिका क्रम, पृथिव्यादि भेदोंका विवेचन, श्रमण-धर्मका स्वरूपविवेचन, अक्षसंक्रमणके द्वारा शीलका उच्चारण, गुणोंकी उत्पत्ति-का क्रम, आलोचनाके दोष, गुणोंकी उत्पत्तिका प्रकार, संख्या और प्रस्तारके निकालनेकी विधिका विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। नष्टोद्दिष्ट द्वारा अक्षानयन-की विधिका भी निरूपण है।

इस प्रकार इस महाग्रन्थमें मुनिके आचारका बहुत ही विस्तृत एवं सुन्दर वर्णन किया गया है। यतिधर्मको अवगत करनेके लिए एक स्थानपर इससे

अधिक सामग्रीका मिलना दुष्कर है। भाषा और शैलीकी दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ प्राचीन प्रतीत होता है। उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकारोंने इसकी गाथाओंके उद्धरणपूर्वक उसकी प्रामाणिकता प्रकट की है।

शिवार्य और उनकी रचना

जीवन-परिचय—मुनि-आचारपर शिवार्यकी 'भगवती आराधना' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके अन्तमें जो प्रशस्ति दी गयी है उससे उनकी गुरु-परम्परा एवं जीवनपर प्रकाश पड़ता है। प्रशस्तिमें बताया है—

अज्जजिणणंदिगणि-सव्वगुत्तगणि-अज्जमित्तणंदीणं।
अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च॥
पुव्वायरियणिबद्धा उपजीवित्ता इमा ससत्तीए।
आराहणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा॥
छदुमत्थदाइ एत्थ दु जं वद्धं होज्ज पवयण-विरुद्धं।
सोधंतु सुगीदत्था पवयणवच्छल्लदाए दु॥
आराहणा भगवदी एवं भत्तीए वण्णिदा संती।
संघस्स सिवज्जस्स य समाधिवरमुत्तमं देउ[1]॥

अर्थात् आर्य जिननन्दि गणि, आर्य सर्वगुप्त गणि और आर्य मित्रनन्दिके चरणोंके निकट मूलसूत्रों और उनके अर्थको अच्छी तरह समझकर पूर्वाचार्यों द्वारा निबद्ध की गयी रचनाके आधारसे पाणितलभोजी शिवार्यने यह आराधना अपनी शक्तिके अनुसार रची है। छद्मस्थता या ज्ञानकी अपूर्णताके कारण इसमें कुछ प्रवचनविरुद्ध लिखा गया हो, तो विद्वज्जन प्रवचन-वात्सल्यसे उसे शुद्ध कर लें। इस प्रकार भक्तिपूर्वक वर्णन की हुई भगवती आराधना संघको और शिवार्यको उत्तम समाधि दे।

उपर्युक्त प्रशस्तिसे निम्नलिखित तथ्य निःसृत होते हैं—

१. शिवार्य पाणितलभोजी होनेके कारण दिगम्बर परम्परानुयायी हैं।

२. आर्यशब्द एक विशेषण है। अतः प्रेमीजीके अनुमानके अनुसार इनका नाम शिवनन्दि, शिवगुप्त या शिवकोटि होना चाहिए।

३. भगवती अराधनाकी रचना पूर्वाचार्यों द्वारा निबद्ध ग्रन्थोंके आधारपर हुई है।

४. शिवार्य विनीत, सहिष्णु और पूर्वाचार्योंके भक्त हैं।

---

१. भगवती आराधना, सोलापुर संस्करण, गाथा २१६५–२१६८।

५. इन्होंने गुरुओंसे सूत्र और उसके अर्थकी सम्यक् जानकारी प्राप्त की है। जिनसेनाचार्यने आदिपुराणके प्रारम्भमें शिवकोटि मुनिको नमस्कार किया है।

शीतीभूतं जगद्यस्य वाचाराध्य चतुष्टयम्।
मोक्षमार्गं स पायान्नः शिवकोटिर्मुनीश्वरः[1]॥

अर्थात् जिनके वचनोंसे प्रकट हुए चारों आराधनारूप मोक्ष-मार्गको आराधना कर जगत्के जीव सुखी होते हैं वे शिवकोटि मुनीश्वर हमारी रक्षा करें।

उपर्युक्त पद्यमें जिस रूपमें जिनसेन आचार्यने शिवकोटि मुनीश्वरका स्मरण किया है उससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि शिवकोटि मुनीश्वर भगवती आराधनाके कर्त्ता हैं। अतएव दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप चार प्रकारकी आराधनाओंका विस्तृत वर्णन करनेवाले शिवार्यका ही शिवकोटि नाम होना चाहिए है।

प्रभाचन्द्रके आराधनाकथाकोष और देवचन्द्रके राजावलिकथे (कन्नडग्रन्थ) में शिवकोटिको स्वामी समन्तभद्रका शिष्य बतलाया है। ये शिवकोटि काशी या कांचीके शैव राजा थे और समन्तभद्रके चमत्कारको देखकर उनके शिष्य बन गये थे। पर इन कथाओंका ऐतिहासिक मूल्य कितना है, यह नहीं कहा जा सकता। यदि वस्तुतः शिवकोटि समन्तभद्रके शिष्य होते, तो इतने बड़े ग्रन्थमें वे अपने उपकारी गुरु समन्तभद्रका उल्लेख न करें, यह सम्भव नहीं है।

हरिषेणकृत कथाकोषमें समन्तभद्रकी उक्त कथा नहीं है। यह ग्रन्थ विक्रम सं० ९८८ में लिखा गया है। अतः उपलब्ध कथाकोषोंमें यह सबसे प्राचीन है। इस कथाकोषमें शिवकोटिसे सम्बद्ध समन्तभद्रवाली कथाके न मिलनेसे शिवकोटिका समन्तभद्रका शिष्य होना शंकास्पद है।

शिवकोटिका सबसे पुरातन उल्लेख आदिपुराणमें मिलता है। आदिपुराणके रचयिता जिनसेनके समयमें यदि शिवकोटि और समन्तभद्रका शिष्य-गुरुत्व प्रसिद्ध होता तो वे समन्तभद्रके पश्चात् ही शिवकोटिकी स्तुति करते। पर ऐसा न कर उन्होंने श्रीदत्त, यशोभद्र और प्रभाचन्द्रकी स्तुति लिखकर शिवकोटिका स्मरण किया है।

कवि हस्तिमल्लने विक्रान्तकौरवमें समन्तभद्रके शिवकोटि और शिवायन दो शिष्य बतलाये हैं और उन्हींके अन्वयमें वीरसेन, जिनसेनको बतलाया है। पर इस बातका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है कि समन्तभद्रकी शिष्यपरम्परामें

---

१. आदिपुराण १।४९।

वीरसेन एवं जिनसेन हुए हैं। शिवकोटिका तो उल्लेख मिलता भी है। पर शिवायनका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। शिवायनका अन्यत्र भी कहीं नाम नहीं आता। भगवती-आराधनाके रचयिता शिवकोटि समन्तभद्रके शिष्य थे, इसका साधक कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता।

श्रवणवेलगोलके अभिलेख नं० १०५ में शिवकोटिको तत्त्वार्थसूत्रका टीकाकार बतलाया है। यह अभिलेख विक्रम सं० १४५५ का है। इसमें आया हुआ 'एतत्' शब्द विचारणीय है। श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारका यह अनुमान है कि—

"तस्यैव शिष्यश्शिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेहयष्टिः।
संसार-वाराकर-पोतमेतत्तत्त्वार्थसूत्रं तदलञ्चकार[1]॥

उपर्युक्त पद्य तत्त्वार्थसूत्रकी उसी शिवकोटिकृत टीकाकी प्रशस्तिका एक पद्य है जो शिलालेखमें एक विचित्र ढंगसे शामिल कर लिया गया है। अन्यथा शिलालेखके पद्योंके अनुक्रममें 'एतद्' शब्दकी संगति नहीं बैठ सकती। अतएव शिवार्यकी तत्त्वार्थसूत्रपर कोई अवश्य टीका रही है। भले ही वे शिवार्य आराधनाके कर्तासे भिन्न हों। यह भी सम्भव है कि शिलालेखमें उल्लिखित समन्तभद्र ही उनके गुरु हों। अष्टसहस्रीपर विषमपदतात्पर्य टीकाके रचयिता एक लघुसमन्तभद्र हुए हैं, जिनका समय अनुमानतः विक्रमकी १३ वीं शताब्दी है।"

यदि भगवती आराधनाके रचयिता शिवार्य या शिवकोटिकी तत्त्वार्थसूत्रकी कोई टीका होती तो उसका उल्लेख तत्त्वार्थसूत्रके अन्य टीकाकार अवश्य करते। पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि टीकामें भी उसका निर्देश अवश्य मिलता। अतः न तो भगवती आराधनाके रचयिता शिवकोटिकी तत्त्वार्थसूत्रपर कोई टीका ही है, और न वे समन्तभद्रके शिष्य ही जान पड़ते हैं।

एक अन्य प्रमाण श्रीपण्डित परमानन्दजी शास्त्रीने अपने एक निबन्धमें उपस्थित किया है। उन्होंने लिखा है कि शिवार्यने गाथा २०७९—८३ में स्वामी समन्तभद्रकी तरह गुणव्रतोंमें भोगोपभोगपरिमाणको न गिनाकर देशावकाशिकको ग्रहण किया है और शिक्षाव्रतोंमें देशावकाशिकको न लेकर भोगोपभोगपरिमाणका विधान किया है। यदि वे समन्तभद्रके शिष्य होते तो इस विषयमें उनका अवश्य अनुसरण करते।[2] इस प्रकार आराधनाके रचयिताके साथ समन्तभद्रका सम्बन्ध घटित नहीं होता।

---

१. जैनशिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, पृ० १९८।

२. अनेकान्त, वर्ष २, किरण ६।

गुरु-परम्परा और सम्प्रदाय

दिगम्बर सम्प्रदायकी पट्टावलियों, अभिलेखों, ग्रन्थ-प्रशस्तियों एवं श्रुतावतार आदिमें जो परम्पराएँ उपलब्ध होती हैं, उनमेंसे किसी भी परम्परामें शिवार्य द्वारा उल्लिखित अपने गुरुओं—जिननन्दि, सर्वगुप्त और मित्रनन्दिके नाम नहीं मिलते। शाकटायन व्याकरणमें—"उपसर्वगुप्तं व्याख्यातारः[1]।" अर्थात् समस्त व्याख्याता सर्वगप्तसे नीचे हैं—उन जैसा कोई दूसरा व्याख्याता नहीं। बहुत सम्भव है कि इन्हीं सर्वगुप्तके चरणोंमें बैठकर शिवार्यने सूत्र और उनका अर्थ अच्छी तरह ग्रहण किया हो और तत्पश्चात् आराधनाकी रचना की हो। श्रा प्रेमोजीने शाकटायनके उक्त उल्लेखके आधारपर शिवार्य या शिवकोटि को यापनीय संघका आचार्य बताया है। उन्होंने अपने कथनकी पुष्टिके लिए निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किये हैं—

१. भगवती आराधनाकी उपलब्ध टीकाओंमें सबसे पुरानी टीका अपराजित सूरिकी है और जैसा कि आगे बतलाया जायगा वे निश्चयसे यापनीय संघके हैं। ऐसो दशामें मूलग्रन्थकर्त्ता शिवार्यको भी यापनीय होनेकी अधिक सम्भावना है।

२. यापनोय संघ श्वेताम्बरोंके समान सूत्रग्रन्थोंको मानता है और अपराजित सूरिकी टीकामें सैकड़ों गाथाएँ ऐसी हैं जो सूत्रग्रन्थोंमें मिलती हैं।

३. दश स्थितकल्पोंके नामों वाली गाथा जातकल्पभाष्य और अनेक श्वेताम्बर टीकाओं और निर्युक्तियोंमें मिलती हैं। आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्डमें भी इसे श्वेताम्बर गाथा माना है।

४. आराधनाकी ५६५-५६६ नम्बरकी गाथाएँ दिगम्बर मुनियोंके आचारसे मेल नहीं खातीं। उनमें बीमार मुनिके लिए चार मुनियोंके द्वारा भोजन-पान लानेका निर्देश है।

५. आराधनाकी ४२८वीं गाथा आचारांग और जीतकल्प ग्रन्थोंका उल्लेख करती है, जो श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

६. शिवार्यने अपनेको पाणितलभोजी लिखा है। यापनीय संघके साधु श्वेताम्बर साधुओंके समान पात्रभोजी नहीं बल्कि दिगम्बरोंके समान करपात्रभोजी थे।[2]

इस प्रकार श्री प्रेमीजीने शिवार्य या शिवकोटिको यापनीय संघका आचार्य माना है और इनके गुरुका नाम प्रशस्तिके आधारपर सर्वगुप्त सिद्ध किया है।

---

१. शाकटायन-व्याकरण—१।३।१०४।

२. जैन साहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २९-३०।

समय-निर्धारण

भगवती आराधना या मूलाराधनाके कर्त्ता शिवार्य कब हुए, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। उन्होंने अपने समयका निर्देश कहीं नहीं किया है। परवर्त्ती आचार्योंमें जिनसेनाचार्यने ही सर्वप्रथम उनका उल्लेख किया है। जिनसेनका समय नवम शताब्दी होनेसे शिवार्यके समयकी सबसे ऊपरी सीमा ई० सन् नवम शताब्दी मानी जा सकती है। शाकटायनके निर्देशानुसार सर्वगुप्त उनके गुरु हैं। शाकटायनका काल भी शिवार्यके समयकी अपनी सीमा हो सकता है। अब प्रश्न यह है कि शिवार्यको जिनसेन और पाल्यकीर्तिसे कितना पहले माना जाय। ग्रन्थका अन्तरङ्ग अध्ययन करनेपर ज्ञात होता है कि आराधनाके ४० वें विजहना नामक अधिकारमें आराधक मुनियोंके मृतक संस्कार वर्णित हैं, उनसे ग्रन्थकी प्राचीनतापर प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार उस समय मुनिके मृतक शरीरको वनमें किसी अच्छी जगहपर यों ही छोड़ दिया जाता था। और उसे पशु-पक्षी समाप्त कर देते थे।

इस ग्रन्थपर अपराजित सूरि द्वारा विरचित 'विजयोदया' नामक संस्कृत टीका उपलब्ध है। इस टीकासे भी इस ग्रन्थकी प्राचीनता प्रकट होती है। अन्य टीका-टिप्पणोंसे यह अवगत होता है कि इस ग्रन्थपर प्राकृत-टीकाएँ भी उपलब्ध थीं। इन टीकाओंका उल्लेख उत्तरवर्त्ती टीकाकारोंने "प्राकृतटीकायाम्" कहकर किया है। मूलाराधनादर्पण-टीकामें अनेक स्थलोंपर प्राकृतटीकाका निर्देश आया है। यथा—"प्राकृतटीकायां तु अष्टाविंशतिमूलगुणाः। आचारवत्वादयश्चाष्टौ इति षट्त्रिंशत्।"[1]

× × × ×

प्राकृतटीकायां पुनरिदमुक्तं—उत्तरापथे चर्मरंगम्लेच्छविषये म्लेच्छा जलौकाभिर्मानुषरुधिरं गृहीत्वा भंडकेषु स्थापयन्ति। ततस्तेन रुधिरेण कतिपयदिवसोत्पन्नविपन्नकृमिकेणोर्णासूत्रं रंजयित्वा कंबलं वयंति। सोऽयं कृमिरागकंबल इत्युच्यते। स चातीव रुधिरवर्णो भवति, तस्य हि वन्हिना दग्धस्यापि स कृमिरागो नापगच्छतीति। सोधो शुक्लतापादनं। जदुरागवच्छसोधी सिन्धुदेशलाक्षारक्तटसरिवस्त्रशुद्धिः। अवि अपिः सम्भावने। किह्इ कथंचित्। आयासेन। ण इमा सल्लुद्धरणसोधो इयं गुरूपचारपूर्विकालोचनया रत्नत्रयशुद्धिः।[2]

× × × ×

१. मूलाराधना, सोलापुर संस्करण, सन् १९३५, गाथा ५२६, पृ० ७४४।
२. वही, गाथा ५६७, पृ० ७७८।

प्राकृतटीकायां तु कम्ममलविप्पमुक्को कम्ममलेण मेल्लिदो सिद्धि णिव्वाणं पत्तो त्ति प्राप्त इति।[1]

इन अवतरणोंसे यह स्पष्ट है कि मूलाराधना या भगवती आराधनापर प्राकृत-टीका रही है। प्राकृतटीका लिखे जानेका समय विक्रम संवत् ६ ठी शताब्दीसे पूर्व है। प्राकृतग्रन्थोंकी प्राकृत भाषामें टीका लिखनेकी परम्परा ५ वीं-६ ठी शताब्दी तक ही मिलती है। इसके पश्चात् तो संस्कृत भाषामें टीका लिखनेकी परम्परा प्रारम्भ हो चुकी थी। अतएव मूलाराधनाका समय विक्रम ६ठी शतीके पूर्व होना चाहिए। डॉ० हीरालालजी जैनने लिखा है—"कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमें एक शिवभूति आचार्यका उल्लेख आया है तथा आवश्यकमूलभाष्यमें शिवभूतिको वीरनिर्वाणसे ६०९ वर्ष पश्चात् वोडिक—दिगम्बर संघका संस्थापक कहा है। कुन्दकुन्दाचार्यने भावपाहुडमें कहा है कि शिवभूतिने भाव-विशुद्धि द्वारा केवल-ज्ञान प्राप्त किया। जिनसेनने अपने हरिवंशपुराणमें लोहार्यके पश्चाद्वर्ती आचार्यो में शिवगुप्त मुनिका उल्लेख किया है। जिन्होंने अपने गुणोंसे अर्हद्-बलि पदको धारण किया था..........ग्रन्थ सम्भवतः ई० की प्रारम्भिक शता-ब्दियोंका है।"[2]

स्पष्ट है कि डॉ० हीरालालजी इस ग्रन्थका रचनाकाल ई० सन् द्वितीय-तृतीय शती मानते हैं। इस ग्रन्थपर अपराजित सूरि द्वारा लिखी गयी टीका ७वीं-८वीं शताब्दीकी है। अतः इससे पूर्व शिवार्यका समय सुनिश्चित है। डॉ० ज्योतिप्रसाद जैनने शिवार्यके समयका विचार करते हुए लिखा है[3]—

शिवार्य सम्भवतः श्वेताम्बर परम्पराके शिवभूति हैं। ये उत्तरापथकी मथुरा नगरीसे सम्बद्ध हैं और इन्होंने कुछ समय तक पश्चिमी सिन्धमें निवास किया था। बहुत सम्भव है कि शिवार्य भी कुन्दकुन्दके समान सरस्वती आन्दोलनसे सम्बद्ध रहे हों। वस्तुतः शिवार्य ऐसी जैन मुनियोंकी शाखासे सम्बन्धित हैं जो उन दिनों न तो दिगम्बर शाखाके ही अन्तर्गत थी और न श्वेताम्बर शाखाके ही। यापनीय संघके ये आचार्य थे। अतएव मथुरा अभिलेखोंसे प्राप्त संकेतोंके आधारपर इनका समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी माना जा सकता है।

---

१. मूलाराधना, गाथा १९९९, पृ० १७५५।

२. भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान, पृ० १०६।

३. The Jaina Sources of the History of Ancient India, P. 130-31.

भगवती आराधनाके वर्ण्य-विषयके अध्ययनसे स्पष्ट है कि इसके अनेक तथ्य ऐसे हैं, जो ई० पू० तीसरी-चौथी शताब्दीमें प्रचलित थे। मुनियोंकी अन्त्येष्टिका चित्रण, सल्लेखनाके समय मुनि-परिचर्या, मरणोंके भेद-प्रभेद आदि विषय पर्याप्त प्राचीन हैं। भाषा और शैलीके अध्ययनसे भी यह ध्वनित होता है कि यह ग्रन्थ ई० की आरम्भिक शताब्दियोंमें अवश्य लिखा जा चुका था। आराधनापर यह एक ऐसी सांगोपांग रचना है, जिसकी समता अन्यत्र नहीं मिलती है।

रचना

शिवार्यकी भगवती आराधना या मूलाराधना नामकी एक ही रचना उपलब्ध है। इस ग्रन्थमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चार आराधनाओंका निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थमें २१६६ गाथाएँ और चालीस अधिकार हैं। यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय रहा है, जिससे सातवीं शताब्दीसे ही इसपर टीकाएँ और विवृतियाँ लिखी जाती रही हैं। अपराजित-सूरिकी विजयोदया टीका, आशाधरकी मूलाराधनादर्पणटीका, प्रभाचन्द्रकी 'आराधनापंजिका' और शिवजित अरुणकी भावार्थदीपिका नामक टीकाएँ उपलब्ध हैं। इसकी कई गाथाएँ 'आवश्यकनिर्युक्ति', 'बृहत्कल्पभाष्य', 'भक्ति-पइण्णा', 'संथारण' आदि श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें भी पायी जाती हैं। हम यहाँ आदान-प्रदानकी चर्चा न कर इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं कि प्राचीन गाथाओंका स्रोत कोई एक ही भण्डार रहा है, जिस मूलस्रोतसे ग्रन्थका सृजन किया गया है, वह स्रोत सम्भवतः आचार्यों की श्रुतपरम्परा ही है।

वस्तुतः इस ग्रन्थमें आराध्य, आराधक, आराधना और आराधनाफल इनका सम्यक् वर्णन किया गया है। यहाँ रत्नत्रय आराध्य है, निर्मल परिणाम-वाले भव्यजीव आराधक हैं. जिन उपायोंसे रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है, वे उपाय आराधना हैं और इस रत्नत्रयकी आराधना करनेसे अभ्युदय और मोक्ष-रूप फलकी प्राप्ति होती है, यह आराधनाफल है।

इन चार आराध्यादि पदार्थों की आराधना उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन ओर निस्तरण इन उपायोंसे होती है। सम्यक्दर्शनादिको अतिचारोंसे अलिप्त रखना, उनमें दोष उत्पन्न न होने देना उद्योतन है। आत्मामें बार-बार सम्यक्दर्शनादिकी परिणति करते जाना उद्यवन है। परीषहादिक प्राप्त होनेपर स्थिर चित्त होकर सम्यक्दर्शनादिसे च्युत न होना निर्वहण है। अन्य कार्यों में चित्त लगनेसे यदि सम्यग्दर्शनादि तिरोहित होने लगें, तो पुनः उपायोंसे

उन्हें पूर्ण करना साधन है। आमरण सम्यक्दर्शनादिकको निर्दोष धारण करना निस्तरण है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चारोंकी उन्नति होनेके लिए पूर्वोक्त पाँचोंकी आवश्यकता है। इस प्रकार प्रत्येकमें उद्योतनादिक पाँच उपाय मान लेने पर बीस भेद होते हैं। इस भगवती आराधनामें इन सभी भेद-प्रभेदोंका उल्लेख आया है।

इस ग्रन्थमें १७ प्रकारके मरण बतलाये गये हैं। इनमें पंडितमरण, पंडित-पंडितमरण और बालपंडितमरणको श्रेष्ठ कहा है। पंडितमरणमें भी भक्त प्रतिज्ञामरणको श्रेष्ठ माना गया है। लिंगाधिकारमें आचेलक्य, लोच, देहसे ममत्वत्याग और प्रतिलेखन ये चार निर्ग्रन्थलिंगके चिह्न बताये हैं। अनियताधिकारमें नाना देशोंमें विहार करनेके गुणोंके साथ अनेक रीति-रिवाज, भाषा और शास्त्र आदिकी कुशलता प्राप्त करनेका विधान है। भावनाधिकारमें तपोभावना, श्रुतभावना, सत्यभावना, एकत्वभावना और धृतिबलभावनाका प्ररूपण है। सल्लेखनाधिकारमें सल्लेखनाके साथ बाह्य और अन्तरङ्ग तपोंका वर्णन किया है। आर्यिकाओंको संघमें किस प्रकार रहना चाहिए, उनके लिए कौन-कौन विधेय कर्त्तव्य हैं तथा कौन-कौनसे कार्य त्याज्य हैं आदिका प्रतिपादन किया है। मार्गणाधिकारमें आचार्यजीत और कल्पका वर्णन है। इस अधिकारमें आचेलक्यका भी समर्थन किया है। अतः इस ग्रन्थकी मान्यता दिगम्बर सम्प्रदायमें रही है। प्रसंगवश ध्यान, परिषह, कषाय, छपकश्रेणी आदिका भी वर्णन है।

धार्मिक विषयके साथ काव्यात्मकता भी इस ग्रन्थमें विद्यमान है। कई ऐसी गाथाएँ भी हैं, जिनमें उपमाका प्रयोग बहुत सुन्दर रूपमें किया गया है। अन्तरङ्ग शुद्धि पर बल देते हुए बताया है—

घोडयलद्दिसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स।
बाहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स ॥[1]

अर्थात् जैसे घोड़ेकी लीद बाहरसे चीकनी दिखलाई पड़ती है, पर भीतरसे दुर्गन्धके कारण महामलिन है, उसी प्रकार जो मुनि बाह्याडम्बर तो धारण करता है, पर अन्तरंग शुद्ध नहीं रखता, उसका आचरण बगुलेके समान होता है।

---

१ भगवती आराधना, गाथा १३४७।

शरीर, आहार और रसलोलुपताका वर्णन भी उपमाओं द्वारा किया गया है। सूक्तिकी दृष्टिसे इस ग्रन्थकी अनेक गाथाएँ रसमय, एवं बोधोत्पादक हैं। यहाँ दो-एक गाथा उदाहरणार्थ प्रस्तुत करते हैं—

जिब्भामूलं बोलेइ वेगऊ वर-हओ व्व आहारो।
तत्थे व रसं जाणइ ण य परदो ण वि य से परदो ॥[1]

जिस प्रकार उत्तम जातिका अश्व वेगपूर्वक दौड़ता है, उसी प्रकार जिह्वा भी आहारका रसास्वादन करनेके लिए वेगसे दौड़ती है। यद्यपि जिह्वाका अग्र भाग ही रसास्वाद लेता है, तो भी उदरस्थ आहारका अत्यल्प अंश सुखानुभूतिका कारण होता है। आहारका अधिक भाग तो उदरमें समाविष्ट हो जाता है, और उसके उदरस्थ होनेपर रसास्वाद नहीं आता। अतएव रसास्वादजन्य सुखानुभूति अत्यल्प है।

आहारके प्रति गृद्धताका त्याग करानेके लिए आचार्य दरिद्री पुरुषकी उपमाका प्रयोग करते हैं। उनका कथन है कि आहारलम्पटता अत्यधिक दुःखका कारण है। जिसप्रकार धनादि पदार्थोंकी चिरकालसे अभिलाषा करनेवाला दारद्री पुरुष दुःख प्राप्त करता है, उसी प्रकार आहारलम्पटी भी। आहारके प्रति साधकका विचार-जन्य वितृष्णाका होना परमावश्यक है—

दुक्खं गिद्धीधत्थस्साहट्टंतस्स होइ बहुगं च ॥
चिरमाहट्टियदुग्गयचडस्स व अण्णगिद्धीए[2] ॥

इस गाथामें प्रयुक्त उपमान-उपमेयभाव विषयके स्पष्टीकरणमें सशक्त है।

जो क्षपक मृत्युके समय अनुचित आहारकी अभिलाषा करता है, वह मधुलिप्त तलवारकी धारको चाटनेके समान कष्ट प्राप्त करता है।

महुलित्तं असिधारं लेहइ भुंजइ य सो सविसमण्णं ॥
जो मरणदेसयाले पत्थिज्ज अकप्पियाहारं[3] ॥

अर्थात् मृत्युके समय आहारकी अभिलाषासे संक्लेश परिणाम होते है, जो दुर्गतिका कारण हैं। क्षपक मृत्युके समय यदि आहारकी अभिलाषा करता है, तो उसकी यह अभिलाषा विषमिश्रित अन्न अथवा मधुलिप्त तलवारकी धारके समान कष्टदायक है।

१. भगवती आराधना, गाथा १६६१।
२. भगवती आराधना, गाथा १६६३।
३. वही १६६५।

सुभासित या सूक्तिके रूपमें अनेक गाथाएँ अंकित की गयी हैं। यहाँ केवल दो गाथाएँ उद्धृत की जाती है—

> असिधारं व विसं वा दोसं पुरिसस्स कुणइ एयभवे ॥
> कुणइ हु मुणिणो दोसं अकप्पसेवा भवसएसु[1] ॥

तलवार या विष एक ही भवमें मनुष्यको हानि पहुँचाते हैं, पर मुनियोंके लिए अयोग्य आहारका सेवन सैकड़ों भवोंमें हानिकर होता है।

> छंडिय रयणाणि जहा रयणद्दीवे हरिज्ज कट्ठाणि ॥
> माणुसभवे वि छंडिय धम्मं भोगेऽभिलसदि तहा[2] ॥

जैसे कोई मनुष्य रत्नद्वीपमें जाकर रत्नोंका त्यागकर काष्ठ खरीद लेता है, उसी प्रकार मनुष्य भवमें भी कोई धर्म छोड़कर विषय-भोगोंकी अभिलाषा करता है। अभिप्राय यह है कि बड़ी कठिनाईसे रत्नद्वीपमें पहुँचनेपर कोई रत्न न खरीदकर ईंधन खरीदे, तो वह व्यक्ति मूर्ख ही समझा जायगा। इसी प्रकार इस अलभ्य मनुष्यजन्मको प्राप्तकर रत्नत्रयकी साधना न करे और विषयसुखोंमें इस मनुष्यभवको व्यतीत कर दे, तो वह व्यक्ति भी उपर्युक्त व्यक्तिके समान ही मूर्ख माना जायगा।

कोई व्यक्ति नन्दनवनमें पहुंचकर अमृतका त्यागकर विषपान करे, तो उसे महामूर्ख ही कहा जायगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्मको छोड़ विषय-भोगोंकी अभिलाषा करता है वह भी विवेकहीन है और नन्दनवनमें पहुँचे हुए व्यक्तिके समान ही मूर्ख है।

इसप्रकार भगवती आराधनामें मनुष्यभवको सार्थक करनेके लिए सल्लेखना या समाधिमरणकी सिद्धिकी आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है। शिवार्यने इस ग्रन्थमें प्राचीन समयकी अनेक परम्पराओंको निबद्धकर साधक जीवनकी सफलतापर प्रकाश डाला है।

पाण्डित्य और प्रतिभा

शिवार्य आराधनाके अतिरिक्त तत्कालीन स्वसमय और परसमयके भी ज्ञाता थे। उन्होंने अपने विषयका उपस्थितिकरण काव्यशैलीमें किया है। वे आगम-सिद्धान्तके साथ नीति सदाचार एवं प्रचलित परम्पराओंसे सुपरिचित थे। आचार्यने जीवनके अनेक चित्रोंके रंग, नाना अनुभूतियोंके माध्यमसे प्रस्तुत

1. भगवती आराधना, गाथा १६६६।
2. वही, गाथा १/२ ।

किये हैं। विविध दशाओंमें आयी हुई ये अनुभूतियाँ मनोविज्ञानके एक प्रदर्शनी कक्षमें सुसज्जित की जा सकती हैं। आचार्यकी अभिव्यञ्जना-प्रतिभा न तो कथाकारके समान कल्पनात्मक ही है और न कविकी प्रतिभाके समान चमत्कारात्मक ही। तथ्य-निरूपणकी यथार्थ भूमिपर स्थित हो आचार्यने संसार, शरीर और भोगोंकी निस्सारताको निदर्शना, दृष्टान्त, उदाहरण, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलङ्कारों द्वारा अभिव्यक्तकर ग्राह्यता प्रदान की है। साहित्य-निर्माताके लिए मानव-प्रवृत्तियोंके विश्लेषण और प्रस्तुतीकरणमें जिस रागात्मकताकी आवश्यकता होती है वह रागात्मकता भी आचार्यमें विद्यमान है। शब्द और अर्थका ऐसा रुचिर योग कम ही स्थानों पर पाया जाता है। कतिपय गाथाओंमें तो भावोंका इतना सघन सन्निवेश विद्यमान है, जिससे अभिव्यंजना-कौशलद्वारा भाव-स्फोटनकी क्रिया उपस्थित रहती है।

आचार्यने निदानका वर्णन करते हुए अपनी अभिव्यञ्जना-कलाका सुन्दर प्रस्तुतीकरण किया है। जिसके मनमें भोगका निदान है वह मुनि नटके समान अपने शील-व्रतका प्रदर्शन करता है। निदान करनेसे भोग-लालसा तृप्त नहीं हो सकती है। निदान बाँधनेवाला व्यक्ति अहर्निश भोग-वृत्तिको वृद्धिगत करता रहता है। यथा—

> सपरिग्गहस्स अब्बंभचारिणो अविरदस्स से मणसा।
> काएण सील-वहणं होदि हु णडसमणरूवं व[1]॥
> रोगं कंखेज्ज जहा पडियारसुहस्स कारणा कोई।
> तह अण्णेसदि दुक्खं सणिदाणो भोगतण्हाए[2]॥
> जह कोढिल्लो अग्गि तप्पंतो णेव उवसमं लभदि।
> तह भोगे भुंजंतो खणं पि णो उवसमं लभदि[3]॥
> कच्छुं कंडुयमाणो सुहाभिमाणं करेदि जह दुक्खे।
> दुक्खे सुहाभिमाणं मेहुण-आदीहिं कुणदि तहा[4]॥

भोग निदान करनेवाले मुनिके मनमें विषयाभिलाषा है। अतः वह परिग्रही है। उसका मन मैथुनकर्ममें प्रवृत्त होनेकी अभिलाषासे पराङ्मुख नहीं है। अतः वह शरीरसे शील-व्रत धारण करनेवाले नटके समान अन्तरङ्गमें

---

१. मूलाराधना, शोलापुर संस्करण, गाथा नं०–१२४५।
२. वही, गाथा नं०–१२४६।
३. वही, गाथा नं०–१२५१।
४. वही गाथा नं०–१२५२।

मुनि-भावसे च्युत है। यहाँ निदर्शना द्वारा आचार्यने निदानकी निस्सारता व्यक्त की है। प्रस्तुत सन्दर्भमें दो वाक्यखण्ड हैं—पहला वाक्य निदान बाँधनेवाला शीलधारी मुनि और दूसरा वाक्य शीलका अभिनय प्रदर्शित करनेवाला नट है। ये दोनों वाक्यखण्ड परस्परमें सापेक्ष हैं। अर्थके लिए दोनों एक दूसरेपर निर्भर हैं। साधारणत: दोनों वाक्यखण्ड असम्बद्ध दिखलाई पड़ते हैं, पर है दोनोंमें अर्थसंगति और इस अर्थसंगतिका आधार है सादृश्ययोजना। इस प्रकार निदर्शनाद्वारा आचार्यने भावाभिव्यक्ति की है।

औषधि द्वारा जैसे कोई व्यक्ति नीरोग देखा जाता है, अत: इस सुखाभिलाषासे कि औषधिका सेवन कर रोग-मुक्त हो जाऊँगा, अत: रोगोत्पत्तिकी इच्छा करे, उसी प्रकार भोगकी लालसासे निदान करनेवाला मुनि भी दु:खप्राप्तिकी इच्छा करता है। यहाँपर भी आचार्यने दो वाक्योंकी योजना की है। प्रथम वाक्यमें सादृश्यमूलक उदाहरण है, जिसके द्वारा द्वितीय वाक्यकी पुष्टि हो रही है। इस गाथामें लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियाँ भी समाविष्ट हैं। औषधिलाभकी आकांक्षासे कोई रोगोत्पत्ति नहीं करता। यदि वह रोगोत्पत्ति करता है तो उससे बढ़कर अन्य कोई बुद्धिहीन नहीं। इसी प्रकार भोगोपभोगोंकी लालसासे प्रेरित होकर जो निदान करता है वह मुनि भी निर्बुद्धि ही है।

इस गाथामें दृष्टान्तालङ्कारकी योजना है। कुष्ठी मनुष्यके अग्नि-तापका उदाहरण देकर निदानकी असारता चित्रित की गयी है। जिस प्रकार कुष्ठी मनुष्य अग्निसे शरीर तपनेपर भी उपशमको प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत वृद्धिगत होता है, उसी प्रकार विषयभोगोंकी अभिलाषा भोग-शक्तिकी उपशामक नहीं, अपितु वर्धक है।

खुजलीरोगको नखोंसे खुजलानेवाला मनुष्य अपनेको सुखी समझता है, उसी प्रकार स्पर्शन, आलिङ्गन आदि दु:खोंसे भी अपनेको सुखी मानता है।

उक्त दोनों गाथाओंमें आचार्यने उदाहरणालङ्कारकी योजना की है। यहाँ यथा और तथा शब्द प्रयुक्त होकर भाव-साम्य उपस्थित करते हैं। उपमेय और उपमान इन दोनोंमें बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है। निदानजन्य भोगाभिलाषाको व्यर्थ सिद्ध करनेके लिए आचार्यने कुष्ठीका अग्नि-ताप एवं कण्डूयमानताकी तुष्टि आदिके उदाहरण प्रयुक्त किये हैं। इस प्रकार धार्मिक विषयोंको सरस और चमत्कृत बनानेके लिए अलङ्कृत शैलीका व्यवहार किया है।

कुमार या स्वामी कुमार अथवा कार्तिकेय और उनकी रचनाएँ

कुमार या कार्तिकेयके सम्बन्धमें अभी तक निर्विवाद सामग्री उपलब्ध

नहीं हुई है। हरिषेण, श्रीचन्द्र और ब्रह्मनेमिदत्तके कथाकोषोंमें बताया गया है कि कार्तिकेयने कुमारावस्थामें ही मुनि-दीक्षा धारण की थी। इनकी बहनका विवाह रोहेड नगरके राजा क्रौञ्चके साथ हुआ था और उन्होंने दारुण उपसर्ग सहन कर स्वर्गलोकको प्राप्त किया। ये अग्निनामक राजाके पुत्र थे।

'तत्त्वार्थवार्तिकमें'[1] अनुत्तरोपपाददशांगके वर्णन-प्रसंगमें दारुण उपसर्ग सहन करनेवालोंमें कार्तिकेयका भी नाम आया है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि कार्तिकेय नामके कोई उग्र तपस्वी हुए हैं। ग्रन्थके अन्तमें जो प्रशस्ति-गाथाएँ दी गयी हैं वे निम्न प्रकार हैं—

जिणवयणभावणठ्ठं, सामिकुमारेण परमसद्धाए।
रइया अणुवेहाओ, चंचलमणरुंभणट्ठं च॥
वारसअणुवेक्खाओ, भणिया हु जिणागमाणुसारेण।
जो पढइ सुणइ भावइ, सो पावइ सासयं सोक्खं॥
तिहुयणपहाणसामि, कुमारकालेण तवियतवयरणं।
वसुपुज्जसुयं मल्लि, चरमतियं संथुवे णिच्चं[2]॥

यह अनुप्रेक्षानामक ग्रन्थ स्वामी कुमारने श्रद्धापूर्वक जिनवचनकी प्रभावना तथा चंचल मनका रोकनेके लिए बनाया।

ये बारह अनुप्रेक्षाएँ जिनागमके अनुसार कहा हैं, जो भव्य जीव इनको पढ़ता, सुनता और भावना करता है, वह शाश्वत सुख प्राप्त करता है। यह भावनारूप कर्त्तव्य अर्थका उपदेशक है। अतः भव्य जीवोंको इन्हें पढ़ना, सुनना और इनका चिंतन करना चाहिए।

कुमार-कालमें दीक्षा ग्रहण करनेवाले वासुपूज्यजिन, मल्लिजिन, नेमिनाथ-जिन, पार्श्वनाथजिन एवं वर्धमान इन पाँचों बाल-यतियोंका मैं सदैव स्तवन करता हूँ।

इन प्रशस्ति-गाथाओंसे निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

१. वारस अनुप्रेक्षाके रचयिता स्वामी कुमार हैं।

२. ये स्वामी कुमार बालब्रह्मचारी थे। इसी कारण इन्होंने अन्त्य मंगलके रूपमें पाँच बाल-यतियोंको नमस्कार किया है।

३. चञ्चल मन एवं विषय-वासनाओंके विरोधकेलिए ये अनुप्रेक्षाएँ लिखी गई हैं।

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक।

२. वारस अणुवेक्खा, गाथा न० ४८७, ४८८, ४८९।

मथुराके एक अभिलेखमें उच्चनागरके कुमारनन्दिका उल्लेख आया है—
क्षुणे उच्चैर्नागरस्यार्य्यकुमारनन्दिशिष्यस्य मित्रस्य[1]।

एक अन्य अभिलेखमें भी कुमारनन्दिका नाम प्राप्त होता है[2]।

इन अभिलेखोंमें कुमारनन्दिका नाम आया है और उन्हें नागर शाखाका आचार्य कहा है। इस शाखाका अस्तित्व ई० सन् की आरम्भिक शताब्दियोंमें था और इस शाखाके आचार्योंने सरस्वतो-आन्दोलनमें ग्रन्थ-निर्माणका कार्य किया। अतः कुमारनन्दि और स्वामी कुमार यदि एक व्यक्ति हों, तो उनका समय ई० सन् को आरम्भिक शताब्दो माना जा सकता है; पर अभी तक उपलब्ध प्रमाणोंके आधारपर इन दोनोंका अभिन्नत्व सिद्ध नहीं है।

संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि स्वामी कार्तिकेय प्रतिभाशाली, आगमपारगामी और अपने समयके प्रसिद्ध आचार्य हैं। यों परम्परासे कार्तिकेयकी द्वादश अनुप्रेक्षाएँ मानी जाती हैं। इस ग्रन्थमें कहीं पर भी कार्तिकेयका नाम नहीं आया है और न ग्रन्थको ही कार्तिकेयानुप्रेक्षा कहा गया है। ग्रन्थके प्रतिज्ञा[3] और समाप्ति वाक्योंमें ग्रन्थका नाम सामान्यतः 'अणुपेहा' या 'अणुपेक्खा' और विशेषतः 'बारस अणुवेक्खा' नाम आया है। भट्टारक शुभचन्द्रने इस ग्रन्थपर विक्रम संवत् १६१३ (ई० सन् १५५६) में संस्कृत टोका लिखी है। इस टोकामें अनेक स्थानोंपर ग्रन्थका नाम कार्तिकेयानुप्रेक्षा दिया है और ग्रन्थकारका नाम कार्तिकेय मुनि प्रकट किया है।

बहुत सम्भव है कि कार्तिकेयशब्द कुमार या स्वामी कुमारका पर्यायवाची यहाँ व्यवहृत किया गया हो। यह सत्य है कि शुभचन्द्र भट्टारकके पूर्व अन्य किसी भी ग्रन्थमें बारस-अणुवेक्खाके रचयिताका नाम कार्तिकेय नहीं आया है। शुभचन्द्रने ३९४ संख्यक गाथाकी टीकामें कार्तिकेय मुनिका उदाहरण प्रस्तुत किया है। लिखा है—"स्वामीकार्तिकेयमुनिः क्रौञ्चराजकृतोपसर्गं सोढ्वा साम्यपरिणामेन समाधिमरणेन देवलोकं प्राप्तः।" स्पष्ट है कि स्वामी कार्तिकेय मुनि क्रौञ्चराजकृत उपसर्गको समभावसे सहकर समाधिपूर्वक मरणके द्वारा देवलोकको प्राप्त हुए।

भगवती आराधनाकी गाथा-संख्या १५४९ में क्रौञ्च द्वारा उपसर्गको प्राप्त हुए एक व्यक्तिका निर्देश आया है। साथमें उपसर्गस्थान रोहेडक और शक्ति

१. जैन शिलालेख संग्रह, द्वितीयभाग, मथुरा अभिलेख संख्या–६४, पृ०-४५।

२. वही, अभिलेख-१२१, पृ० १११–१२।

३. स्वामिकार्तिकेयो मुनीन्द्रो अनुप्रेक्षाव्याख्यातुकामः। गाथा नं०–१।

हथियारका भी उल्लेख है। पर कार्तिकेय नामका स्पष्ट निर्देश नहीं है। उस व्यक्तिको 'अग्निदयितः' लिखा है, जिसका अर्थ अग्निप्रिय है। मूलाराधना-दर्पणमें लिखा है—"रोहेडयम्मि रोहेटकनाम्नि नगरे। सत्तीए शक्त्या शस्त्र-विशेषेण क्रौंचनाम्ना राज्ञा। अग्गिदइदो अग्निराजनाम्नो राज्ञः पुत्रः कार्तिकेय-संज्ञः।"[1] अर्थात् रोहेडनगरमे क्रौंच राजाने अग्निराजाके पुत्र कार्तिकेय मुनिको शक्तिनामक शस्त्रसे मारा था और मुनिराजने उस दुःखको समतापूर्वक सहनकर रत्नत्रयकी प्राप्ति की थी। इस टीकासे प्रकट होता है कि कार्तिकेयने कुमारावस्थामें मुनिदीक्षा ली थी। बताया गया है कि कार्तिकेयकी बहन रोहेड नगरके क्रौंच राजाके साथ विवाहित थी। राजा किसी कारणवश कार्तिकेयसे असन्तुष्ट हो गया और उसने कार्तिकेयको दारुण उपसर्ग दिये। इन उपसर्गोंको समतासे सहनकर कार्तिकेयने देवलोक प्राप्त किया। इस कथाके आधारपर इतना तो स्पष्ट है कि इस ग्रन्थके रचयिता कार्तिकेय सम्भव हैं और ग्रन्थका नाम भी कार्तिकेयानुप्रेक्षा कल्पित नहीं है।

समय-निर्धारण

मूलाचार, भगवती-आराधना और कुन्दकुन्दकृत 'बारह अणुवेक्खा'में बारह भावनाओंका क्रम और उनकी प्रतिपादक गाथाएँ एक ही हैं। यहाँतक कि उनके नाम भी एक ही हैं। किन्तु कार्तिकेयको 'बारहअणुवेक्खा'में न वह क्रम है और न वे नाम हैं। इसमें क्रम और नाम तत्त्वार्थसूत्रकी तरह हैं। तत्त्वार्थसूत्रमें[2] अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इस क्रम तथा नामोंसे १२ भावनाएँ आयी हैं। ठीक यही क्रम और नाम कार्तिकेयकी 'अणुवेक्खामें हैं। अतएव इस भिन्नतासे कार्तिकेय न केवल वट्टकेर, शिवार्य और कुन्दकुन्दके उत्तरवर्ती प्रतीत होते हैं, अपितु तत्त्वार्थसूत्रकारके भी उत्तरवर्ती जान पड़ते हैं।

परन्तु यहाँ कहा जा सकता है कि तत्त्वार्थसूत्रकारके समक्ष भी कोई क्रम रहा है, तभी उन्होंने अपने ग्रन्थमें उस क्रमको निबद्ध किया है। साथ ही यह भी सम्भावना है कि भावनाओंके दोनों ही क्रम प्रचलित रहे हों, एक क्रमको कुन्दकुन्द, शिवार्य, वट्टकेर आदिने अपनाया और दूसरे क्रमको स्वामी कार्तिकेय, गृद्धपिच्छ आदिने। अतः भावनाक्रमके अपनानेके आधारपर कार्तिकेयके समयका

---

१. भगवती आराधनाकी मूलाराधना-दर्पणटीका, सोलापुर संस्करण, गाथा—१५४९। पृ० १४४३।

२. त० सू० ९-७।

निर्धारण नहीं किया जा सकता और न उनके 'बारह अणुवेक्खा' ग्रन्थको अर्वाचीनता ही सिद्ध की जा सकती है।

स्वामि कार्तिकेयके समयका विचार करते हुए डॉ० ए० एन० उपाध्येने 'बारस-अणुवेक्खा'का अन्तःपरीक्षणकर बतलाया है कि इस ग्रन्थकी २७९ वीं गाथामें 'णिसुणहि' ओर 'भावहि' ये दो पद अपभ्रशके आ घुसे हैं, जो वर्त्तमान-काल तृतीय पुरुषके बहुवचनके रूप हैं। यह गाथा 'जोइन्दु'के योगसारके ६५ वें दोहेके साथ मिलती-जुलती है और दोहा तथा गाथा दोनोंका भाव भी एक है। अतएव इस गाथाको 'जोइन्दु' के दोहेका परिवर्तित रूप माना जा सकता है। यथा—

विरला जाणहि तत्तु बहु विरला णिसुणहि तत्तु।
विरला झायहि तत्तु जिय विरला धारहि तत्तु[1]॥

× × × ×

विरला णिसुणहि तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होदि[2]॥

अत: इन दोनों सन्दर्भोंके तुलनात्मक अध्ययनके आधारपर कात्तिकेयका समय जोइन्दुके पश्चात् होना चाहिए।

श्री जुगलकिशोर मुख्तारने डॉ० उपाध्येके इस अभिमतका परीक्षण करते हुए लिखा है कि "यह गाथा कार्तिकेय द्वारा लिखित नहीं है। जिस लोक-भावनाके प्रकरणमें यह आयी है, वहाँ इसकी संगति नहीं बैठती।" आचार्य मुख्तारने अपने कथनको पुष्टिके लिए गाथाओंका क्रम भी उपस्थित किया है। उन्होंने लिखा है- "स्वामीकुमारने ही योगसारके दोहेको परिवर्तित करके बनाया है, समुचित प्रतीत नहीं होता—खासकर उस हालतमें जबकि ग्रन्थ-भरमें अपभ्रंष भाषाका और कोई प्रयोग भी न पाया जाता हो। बहुत सम्भव है कि किसी दूसरे विद्वानने दोहेको गाथाका रूप देकर उसे अपनी ग्रन्थ-प्रतिमें नोट किया हो, और यह भी सम्भव है कि यह गाथा साधारणसे पाठभेदके साथ अधिक प्राचीन हो, और योगेन्दुने ही इसपरसे थोड़ेसे परिवर्तनके साथ अपना उक्त दोहा बनाया हो; क्योंकि योगेन्दुके परमार्थप्रकाश आदि ग्रन्थोंमें और भी कितने ही दोहे ऐसे पाये जाते हैं, जो भावपाहुड तथा समाधितंत्रादिके पद्योंपरसे परिवर्तन करके बनाये गये हैं और जिसे डॉ० साहबने स्वयं स्वीकार

---

१. योगसार, पद्य संख्या ६५।

२. कार्तिकेय, बारसणुअवेक्खा, गाथा न० २७९।

किया है; जब कि स्वामीकुमारके इस ग्रन्थकी ऐसी कोई बात अभी तक सामने नहीं आयी।"[1]

आचार्य मुख्तार साहबका यह निष्कर्ष उचित मालूम होता है, क्योंकि योगसारका विषय क्रमबद्ध रूपसे नहीं है। इसमें कुन्दकुन्दको अनेक गाथाओंका रूपान्तरण मिलता है। कुन्दकुन्दने कर्मविमुक्त आत्माको परमात्मा बतलाते हुए; उसे ज्ञानी, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख और बुद्ध कहा है। योगसारमें भी उसके जिन, बुद्ध, विष्णु, शिव आदि नाम बतलाये[2] हैं। इसके अतिरिक्त जो इन्दुने कुन्दकुन्दके समान हो निश्चय और व्यवहार नयों द्वारा आत्माका कथन किया है। योगसार और परमार्थप्रकाश इन दोनोंका विषय समान होने पर भो योगसार संग्रहग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। इसमें कई तथ्य छूट भो गये हैं। दोहा ९९-१०३ द्वारा सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय संयमका स्वरूप बतलाया है। यहाँ यथाख्यात चारित्रका स्वरूप छूट गया है। अतएव योगसारके दोहेका परिवर्तित रूप कार्तिकेयानुप्रेक्षामें होनेके आधारपर कार्तिकेयको अर्वाचीन बताना युक्त नहीं है।

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने समय-निर्णय करते हुये लिखा है—"मेरी समझमें यह ग्रन्थ उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रसे अधिक बादका नहीं, उसके निकटवर्ती किसो समयका होना चाहिये, और उसके कर्त्ता वे अग्निपुत्र कार्तिकेय मुनि नहीं हैं, जो साधारणत: इसके कर्त्ता समझे जाते हैं, और क्रौंच राजाके द्वारा उपसर्गको प्राप्त हुए थे, बल्कि स्वामीकुमार नामके आचार्य ही हैं, जिस नामका उल्लेख उन्होंने स्वयं 'अन्त्यमंगल'की गाथामें श्लेष रूपसे किया[3] है"।

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारके उक्त मतसे यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्त्तिकेय गृद्धपिच्छके समकालीन अथवा कुछ उत्तरकालीन हैं। अर्थात् वि० सं० को दूसरी-तीसरी शती उनका समय होना चाहिए।

रचना

द्वादशानुप्रेक्षामें कुल ४८९ गाथाएँ हैं। इनमें अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधदुर्लभ और धर्म इन बारह अनुप्रेक्षाओंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। प्रसंगवश जीव,

---

१. जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश, पृ० ४९९।

२. भावपाहुड, गाथा १४९ तथा योगसार पद्य ९।

३. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० ५००।

अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका स्वरूप भी वर्णित है। जीवसमास तथा मार्गणाके निरूपणके साथ, द्वादशव्रत, पात्रोंके भेद, दाताके सात गुण, दानकी श्रेष्ठता, माहात्म्य, सल्लेखना, दश धर्म, सम्यक्त्वके आठ अंग, बारह प्रकारके तप एवं ध्यानके भेद-प्रभेदोंका निरूपण किया गया है। आचार्यका स्वरूप एवं आत्मशुद्धिकी प्रक्रिया इस ग्रन्थमें विस्तारपूर्वक वर्णित है।

अध्रुवानुप्रेक्षामें ४-२२ गाथाएँ हैं। अशरणानुप्रेक्षामें २३-३१; संसारानुप्रेक्षामें ३२-७३; एकत्वानुप्रेक्षामें ७४-७९; अन्यत्वानुप्रेक्षामें ८०-८२, अशुचित्वानुप्रेक्षामें ८३-८७; आस्रवानुप्रेक्षामें ८८-९४; संवरानुप्रेक्षामें ९५-१०१, निर्जरानुप्रेक्षामें १०२-११४; लोकानुप्रेक्षामें ११५-२८३; बोधिदुर्लभानुप्रेक्षामें २८४-३०१ एवं धर्मानुप्रेक्षामें ३०२-४३५ गाथाएँ हैं। ४३६ गाथासे अन्ततक द्वादश तपोंका वर्णन आया है। अध्रुवानुप्रेक्षामें समस्त वस्तुओंकी अनित्यता बतलाते हुए वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषात्मक कहा है। सामान्य द्रव्यरूप है, और विशेष गुण-पर्यायरूप। द्रव्यरूपसे वस्तु नित्य है किन्तु पर्यायकी अपेक्षासे वस्तु अनित्य है। यह संसारका प्राणी पर्यायबुद्धि है, जिससे पर्यायोंको उत्पन्न और नष्ट होते देखकर हर्ष-विषाद करता है, और उसको नित्य रखना चाहता है। यह शरीर जीव-पुद्गलकी संयोग जनित पर्याय है धन-धान्यादिक पुद्गल परणुओंकी स्कन्ध पर्याय है। इनके संयोग और वियोग नियमसे अवश्य हैं, जो स्थिरताकी बुद्धि करता है, वह मोहजनित भावके कारण संक्लेश प्राप्त करता है।

संसारकी समस्त अवस्थाएँ विरोधी भावोंसे युक्त हैं। जब जन्म होता है, तब उसे स्थिर समझकर हर्ष उत्पन्न होता है, मरण होनेपर नाश मानकर शोक करता है। इस प्रकार इष्टकी प्राप्तिमें हर्ष, अप्राप्तिमें विषाद तथा अनिष्ट प्राप्तिमें विषाद, अप्राप्तिमें हर्ष करता है, यह भी सब मोहका माहात्म्य है। आचार्य सादृश्यमूलक उपमा प्रस्तुतकर परिवार, बन्धुवर्ग, स्त्री, पुत्र, मित्र, धनधान्यादिको अनित्यताका चित्रण करते हुए कहते है—

> अथिरं परियण-सयणं, पुत्त-कलत्तं सुमित्त-लावण्णं।
> गिह-गोहणाइ सव्वं, णव-घण-विंदेण सारित्थं[1]॥

परिवार, बन्धुवर्ग, पुत्र, स्त्री, मित्र, सौन्दर्य, गृह, धन, पशु सम्पत्ति इत्यादि सभी वस्तुएँ नवीन मेघ-समूहके समान अस्थिर हैं। इन्द्रियोंके विषय, भृत्य, अश्व, गज, रथ आदि सभी पदार्थ इन्द्रधनुषके समान अस्थिर हैं।

पुण्यके उदयसे प्राप्त होने वाली चक्रवर्तीकी लक्ष्मी भी नित्य नहीं हैं, तब

---

१. स्वामिकुमार, द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ६।

वह पुण्यहीन अथवा अल्पपुण्यवाले व्यक्तियोंसे कैसे प्रेम करेगी ? कविने इसी को समझाते हुए लिखा है—

कत्थ वि ण रमइ लच्छी, कुलीण-धीरे वि पंडिए सूरे।
पुज्जे धम्मिट्ठे वि य, सरूव-सुयणे महासत्ते[1]॥

अर्थात् यह लक्ष्मी कुलवान, धैर्यवान, पंडित, सुघट, पूज्य, धर्मात्मा, रूपवान, सुजन, महापराक्रमी इत्यादि किसी भी पुरुषसे प्रेम नहीं करती, यह जलकी तरंगोंके समान चंचल है। इसका निवास एक स्थानपर अधिक समय तक नहीं रहता। इस प्रकार आचार्य स्वामिकुमारने संसार, शरीर, भोग और लक्ष्मीकी अस्थिरताके चिन्तनको अध्रुवानुप्रेक्षा कहा है।

अशरण भावनामें बताया है कि मरण करते समय कोई भी प्राणीकी शरण नहीं। जिसप्रकार वनमें सिंह मृगके बच्चेको जब पैरके नीचे दबा लेता है, तब कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता। देव, मन्त्र, तन्त्र, क्षेत्रपाल आदि सभी मृत्युसे रक्षा करनेमें असमर्थ हैं। रक्षा करनेके लिए जितने उपाय किये जाते हैं, वे सब व्यर्थ सिद्ध होते हैं। आयुके क्षय होनेपर कोई एक क्षणके लिए भी आयुदान नहीं सकता—

आउक्खयेण मरणं आउं दाउं ण सक्कदे को वि।
तम्हा देविंदो वि य, मरणाउ ण रक्खदे को[2] वि॥

आयुकर्मके क्षयसे मरण होता है और आयुकर्मको कोई देनेमें समर्थ नहीं, अतएव देवेन्द्र भी मृत्युसे किसीको रक्षा नहीं कर सकता है। इस प्रकार अशरणरूप चिन्तनका समावेश अशरण-भावनामें होता है।

संसार-अनुप्रेक्षामें बताया है कि संसार-परिभ्रमणका कारण मिथ्यात्व और कषाय है। इन दोनोंके निमित्तसे ही जीव चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता है। हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रहरूप भावनाके कारण विभिन्न गतियोंमें इस जीवको परिभ्रमण करना पड़ता है। आचार्यने इस भावनामें चतुर्गतिके दुःखोंका वर्णन भी संक्षेपमें किया है। मनुष्यगतिके दुःखोंका प्रतिपादन करते हुए संसार स्वभावका विश्लेषण विश्लेषण किया है—

कस्स वि दुट्ठकलित्तं, कस्स वि दुव्वसणवसणिओ पुत्तो।
कस्स वि अरिसमबंधू, कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया॥

---

१. वही, गाथा ११।
२. स्वामिकुमार, द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा २८।

मरदि सुपुत्तो कस्स वि, कस्स वि महिला विणस्सदे इट्ठा।
कस्स वि अग्गीपलित्तं, गिहं कुडंबं च डज्झेई[1]॥

संसारमें सुख नहीं है। इस मनुष्यगतिमें नानाप्रकारके दु:ख हैं। किसीकी स्त्री दुराचारिणी है, किसीका पुत्र व्यसनी है, किसीका भाई शत्रुके समान कलहकारी है। एवं किसीकी पुत्री दुश्चरित्रा है। इस प्रकार संसारकी विषम परिस्थिति मनुष्यको सुखका कण भी प्रदान नहीं करती है।

किसीके पुत्रका मरण हो जाता है, किसीकी भार्याका मरण हो जाता है और किसीके घर एवं कुटुम्ब जलकर भस्म हो जाते हैं। इसप्रकार मनुष्यगतिमें अनेक प्रकारके दु:खोंको सहन करता हुआ यह जीव धर्माचरणबुद्धिके अभावके कारण कष्ट प्राप्त करता है। मनुष्यगतिकी तो बात ही क्या, देवगतिमें भी नानाप्रकारके दु:ख इस प्राणीको सहन करने पड़ते हैं। इसप्रकार संसारानुप्रेक्षामें संसारके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंचपरावर्तनोंका वर्णन आया है।

एकत्वानुप्रेक्षामें बताया गया है कि जीव अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही नाना प्रकारके कष्टोंको सहन करता है। नानाप्रकारकी पर्याएँ यह जीव धारणकर सांसारिक कष्टोंको भोगता है। रोग, शोक जन्य अनेक प्रकारके कष्टोंको अकेला ही भोगता है। पुण्यार्जनकर अकेला ही स्वर्ग जाता है और पापार्जन द्वारा अकेला ही नरक प्राप्त करता है। अपना दु:ख अपनेको ही भोगना पड़ता है, उसका कोई भी हिस्सेदार नहीं है। इसप्रकार एकत्वभावनामें आचार्यने जीवको शरीरसे भिन्न बताया है—

सव्वायरेण जाणह, एक्कं जावं सरीरदो भिण्णं।
जम्हि दु मुणिदे जीवे, होदि असेसं खणे हेयं[2]॥

अर्थात् सब प्रकारके प्रयत्नकर शरीरसे भिन्न अकेले जीवको अवगत करना चाहिये। यह जीव समस्त परद्रव्योंसे भिन्न है। अत: स्वयं ही कर्त्ता और भोक्ता है। इसप्रकार एकत्वानुप्रेक्षामें अकेले जीवको ही कर्त्ता और भोक्ता होनेके चिन्तनका वर्णन किया है।

अन्यत्वानुप्रेक्षामें शरीरसे आत्माको भिन्न अनुभव करनेका वर्णन किया है। सभी बाह्य पदार्थ आत्मस्वरूपसे भिन्न हैं। आत्मा ज्ञानदर्शन सुखरूप है और यह संसारके समस्त पुद्गलादि पदार्थोंके स्वरूपसे भिन्न है। इसप्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षामें आत्माके भिन्न स्वरूपके चिन्तनका कथन आया है।

---

१. स्वामिकुमार, द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ५३-५४।
२. वही, गाथा ७९।

अशुचित्वानुप्रेक्षामें शरीरको समस्त अपवित्र वस्तुओंका समूह मानकर विरक्त होनेका संदेश दिया गया है। शरीर अत्यन्त अपवित्र है। इसके सम्पर्कमें आनेवाले चन्दन, कपूर, केसर आदि सुगन्धित पदार्थ भी दुर्गन्धित हो जाते हैं। अतः इसकी अशुचिताका चिन्तन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

आस्रवानुप्रेक्षामें आस्रवके स्वरूप, कारण, भेद एवं उसके महत्वके चिन्तन का वर्णन आया है। मन, वचन, कायका निमित्त प्राप्तकर जीवके प्रदेशोंका चंचल होना योग हैं, इसीको आस्रव कहते हैं। बन्धका कारण आस्रव है, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगके निमित्तसे बन्ध होता है। यह आस्रव पुण्य और पापरूप होता है। शुभास्रव पुण्यरूप है और अशुभास्रव पापरूप है। इसी सन्दर्भमें कषायोंके तीव्र और मन्द भेदोंका भी विवेचन आया है। आस्रवानुप्रेक्षामें आस्रवके स्वरूपका विचार करते हुये उससे अलिप्त रहने का उपदेश है।

संवरानुप्रेक्षामें संवरके स्वरूप और कारणोंका विवेचन करते हुए सम्यक्त्व, व्रत, गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, परिगहजय आदिका चिन्तन आवश्यक माना है। इसी सन्दर्भमें आर्त और रौद्र परिणतिके त्यागका भी कथन किया है, जो व्यक्ति इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होता हुआ संवररूप परिणतिको प्राप्त करता है उसीके संवरभावना होती है।

निर्जराभावनाका विवेचन करते हुये बताया है कि जो अहंकार रहित होकर तप करता है, उसीके निर्जरानुप्रेक्षा होती है। ख्याति, लाभ, पूजा और इन्द्रियों-के विषयभोग बन्धके निमित्त हैं। निदानरहित तप ही निर्जराका कारण है। आचार्यने प्रारम्भमें ही वैराग्य-भावनाकी उद्दीप्तिका वर्णन करते हुए कहा है—

वारसविहेण तवसा, णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्गभावणादो, णिरहंकारस्स णाणिस्स[1]॥

निदानरहित, अहंकाररहित, ज्ञानीके बारह प्रकारके तपसे तथा वैराग्य भावनासे निर्जरा होती है। समभावसे निर्जराकी वृद्धि होती है। निर्जरा दो प्रकारकी है—सविपाक और अविपाक। कर्म अपनी स्थितिको पूर्णकर, उदय-रस देकर खिर जाते हैं उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा सब जीवोंके होती है। और तपके कारण जो कर्म स्थिति पूर्ण हुये बिना ही खिर जाते हैं, वह अविपाक निर्जरा कहलाती है। सविपाक निर्जरा कार्यकारी नहीं है। अविपाक निर्जरा ही कार्यकारी है। अतएव इन्द्रियों और कषायोंका निग्रह करके परम

१. स्वामिकुमार, द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा १०२।

वीतरागभावरूप आत्मध्यानमें लीन होना उत्कृष्ट निर्जरा है।

लोकानुप्रेक्षामें लोकके स्वरूप और आकार-प्रकारका विस्तारसे वर्णन है। आकाशद्रव्यका क्षेत्र अनन्त है और उसके बहुमध्य देशमें स्थित लोक है। यह किसी-के द्वारा निर्मित नहीं है। जीवादि द्रव्योंका परस्पर एक क्षेत्रावगाह होनेसे यह लोक कहलाता है। वस्तुतः द्रव्योंका समुदाय लोक कहा जाता है। लोक द्रव्य-की दृष्टिसे नित्य है, पर परिवर्तनशील पर्यायोंकी अपेक्षासे परिणामी है। यह पूर्व-पश्चिम दिशामें नीचेके भागमें सात राजु चौड़ा है। वहाँसे अनुक्रमसे घटता हुआ मध्यलोकमें एक राजु रहता है। पुनः ऊपर अनुक्रमसे बढ़ता-बढ़ता ब्रह्म स्वर्ग तक पाँच राजु चौड़ा हो जाता है, पश्चात् घटते-घटते अन्तमें एक राजु रह जाता है। इसप्रकार खड़े किये गये डेढ़ मृदंगकी तरह लोकका पूर्व-पश्चिम-में आकार होता है। उत्तर-दक्षिणमें भी सात राजु विस्तार है। मेरुके नीचे भी सात राजु अधोलोक है। लोकशब्दका अर्थ बतलाते हुए लिखा है—

दीसंति जत्थ अत्था जीवादीया स भण्णदे लोओ।
तस्स सिहरम्मि सिद्धा, अंतविहीणा विरायंते[1]॥

जहाँ जीवादिक पदार्थ देखे जाते हैं, वह लोक कहलाता है। लोकमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छः द्रव्योंका निवास है। इस अनु-प्रेक्षामें इन छहों द्रव्योंका विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। लोकानुप्रेक्षामें द्रव्योंके स्वभाव-गुणको बतलाते हुये, शरीरसे भिन्न आत्माकी अनुभूति करनेका चित्रण किया है। इस भावनामें गुणस्थानोंके स्वरूप और भेदोंका भी कथन आया है तथा सप्त नयोंकी अपेक्षासे जीवादि पदार्थोंका विवेचन भी किया गया है।

बोधिदुर्लभभावनामें आत्मज्ञानकी दुर्लभतापर प्रकाश डाला गया है। आरम्भमें बतलाया गया है कि संसारमें समस्त पदार्थोंकी प्राप्ति सुलभ है, पर आत्मज्ञानकी प्राप्ति होना अत्यन्त दुष्कर है। सम्यक्त्वके बिना आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। जिसे मन्द कर्मोदयसे रत्नत्रय भी प्राप्त हो गया हो, वह व्यक्ति यदि तीव्र कषायके अधीन रहे, तो उसका रत्नत्रय नष्ट हो जाता है और वह दुर्गति-का पात्र बनता है। प्रथम तो मनुष्यगतिकी प्राप्ति ही दुर्लभ है और इस पर्यायके प्राप्त हो जानेपर भी सम्यक्त्वका मिलना दुष्कर है। सम्यक्त्वके प्राप्त होनेपर भी सम्यक् बोधका मिलना और भी कठिन है। इसप्रकार स्वामिकार्तिकेयने बोधिकी दुर्लभताका कथन करते हुये रत्नत्रयके स्वरूप आदि पर प्रकाश डाला है।

---

१. स्वामिकुमार, द्वादशानुप्रेक्षा, १२१।

धर्मानुप्रेक्षामें धर्मका यथार्थ स्वरूप अतीन्द्रिय बतलाया है। धर्मका वास्तविक रूप सर्वज्ञता है। सर्वज्ञताके अस्तित्वमें किसीप्रकारका सन्देह नहीं किया जा सकता है। इस धर्मानुप्रेक्षामें कर्मबन्धके चक्रवालका भी विश्लेषण आया है। बताया गया है कि सर्वज्ञदेव सब द्रव्य, क्षेत्र, काल भावोंकी अवस्थाओंको जानते हैं। सर्वज्ञके ज्ञानमें सब कुछ प्रकाशित होता है। उनके ज्ञानमें जिस प्रकारके पदार्थोंकी पर्यायें प्रतिविम्बित होती हैं, उन पर्याय जन्य फल वैसा ही घटित होता है। उसमें कोई किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं कर सकता है। निम्न दोनों गाथाओंसे पर्यायोंकी नियत स्थिति सिद्ध होती है—

जं जस्स जम्मि देसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं, जम्मं वा अहव मरणं वा॥
तं तस्स तम्मि देसे, तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि वारेदुं, इंदो वा अह जिणिंदो वा॥[1]

जो जिस जीवके जिस देशमें, जिस कालमें, जिस विधानसे जन्म-मरण, दुःख-सुख, रोग-दारिद्र आदि सर्वज्ञदेवके द्वारा जाने गये हैं, वे नियमसे ही उस प्राणीको उसी देशमें, उसी कालमें और उसी विधानसे प्राप्त होते हैं। इन्द्र, जिनेन्द्र या तीर्थंकरदेव अन्य कोई भी उसका निवारण नहीं कर सकते। इस प्रकारके निश्चयसे सब द्रव्य, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्यों और इनकी समस्त पर्यायोंका जो श्रद्धान करता है, वह शुद्ध सम्यक्दृष्टि है। यह स्मरणीय है कि जीव मिथ्यात्वकर्मके, उपशम, क्षयोपशम या क्षयके बिना तत्त्वार्थको ग्रहण नहीं कर पाता। इसप्रकार धर्मानुप्रेक्षामें व्यवहारधर्म और निश्चयधर्मका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

१८६ गाथाओंमें इस अनुप्रेक्षाका वर्णन आया है। अनशनादि बारह तप भी इसी वर्णनसदर्भमें समाविष्ट हैं। बारह व्रतोंके निरूपणमें गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंका क्रम वही है, जो कुन्दकुन्दके 'चारित्रपाहुड'में पाया जाता है। भेद केवल इतना ही है कि अन्तिम शिक्षाव्रत सल्लेखना नहीं, किंतु देशावकाशिक ग्रहण किया गया है। यह गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंकी व्यवस्था तत्त्वार्थसूत्रसे संख्याक्रममें भिन्न है, और श्रावकप्रज्ञप्तिकी व्यवस्थाके तुल्य है।

इस प्रकार धर्मानुप्रेक्षामें तपों और व्रतोंका विस्तारपूर्वक कथन आया है। श्रावकधर्म और मुनिधर्मको संक्षेपमें अवगत करनेके लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है।

---

१. स्वामिकुमार, द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ३२१, ३२२।

रचना-प्रतिभा

स्वामी कार्तिकेयकी रचना-शक्ति शिवार्य और कुन्दकुन्दके समान है। विषयको सरल और सुबोध बनानेके लिए उपमानोंका प्रयोग पद-पदपर किया गया है। लेखक जिस तथ्यका प्रतिपादन करना चाहता है, उस तथ्यको बड़ी ही दृढ़ताके साथ उपस्थित कर देता है। प्रश्नोत्तर-शैलीमें लिखी गयी गाथाएँ तो विशेष रोचक और महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ उदाहरणार्थ दो गाथाओंको उपस्थित कर लेखककी रचना-प्रतिभाका परिचय प्रस्तुत किया जाता है—

को ण वसो इत्थिजणे, कस्स ण मयणेण खंडियं माणं।
को इंदिएहिँ ण जियो, को ण कसाएहिं संतत्तो॥

सो ण वसो इत्थिजणे, सो ण जिओ इंदिएहिं मोहेण।
जो ण य गिण्हदि गंथं, अब्भंतर बाहिरं सव्वं॥[1]

इस लोकमें स्त्रीजनके वशमें कौन नहीं? कामने किसका मान खण्डित नहीं किया? इन्द्रियोंने किसे नहीं जीता और कषायोंसे कौन सतप्त नहीं हुआ? ग्रन्थकारने इन समस्त प्रश्नोंका उत्तर तर्कपूर्ण और सुबोध शैलीमें अंकित किया है। वह कहता है, जो मनुष्य बाह्य और आभ्यन्तर समस्त परिग्रहको ग्रहण नहीं करता, वह मनुष्य न तो स्त्रीजनके वशमें होता है, न कामके अधीन होता है और न मोह और इन्द्रियोंके द्वारा ही जीता जा सकता है।

इस ग्रन्थकी अभिव्यंजना बड़ी ही सशक्त है। ग्रन्थकारने छोटी-सी गाथामें बड़े-बड़े तथ्योंको संजो कर सहजरूपमें अभिव्यक्त किया है। भाषा सरल और परिमार्जित है। शैलीमें अर्थसौष्ठव, स्वच्छता, प्रेषणीयता, सूत्रात्मकता अलंकारात्मकता समवेत है।

गृद्धपिच्छाचार्य

परिचय

तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता आचार्य गृद्धपिच्छ हैं। इनका अपरनाम उमास्वामी या उमास्वाति भी प्राप्त होता है। आचार्य वीरसेनने जीवस्थानके काल अनुयोगद्वारमें तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्त्ता गृद्धपिच्छाचार्यके नामोल्लेखके साथ उनके तत्त्वार्थसूत्रका एक सूत्र उद्धृत किया है—

'तह गिद्धपिंछाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्ते वि "वर्तनापरिणामक्रियाः पर-

---

१. स्वामिकुमार, द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा २८१।२८२।

त्वापरत्वे च कालस्य'' 'इदि दव्वकालो परूविदो' ।[1]

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य हैं। इस नामका समर्थन आचार्य विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकसे भी होता है—

'एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता' ।[2]

यहाँ विद्यानन्दने भी तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ताका नाम गृद्धपिच्छाचार्य बतलाया है।

तत्त्वार्थसूत्रके किसी टीकाकारने भी निम्न पद्यमें तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताका नाम गृद्धपिच्छाचार्य दिया है—

'तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम् ।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥[3]'

इसमें गृद्धपिच्छाचार्य नामके साथ उनका दूसरा नाम 'उमास्वामिमुनीश्वर' भी बतलाया गया है। वादिराजने भी अपने पार्श्वनाथचरित्रमें गृद्धपिच्छ नामका उल्लेख किया है—

'अतुच्छगुणसम्पातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तम् ।
पक्षीकुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पतिष्णवः ॥'[4]

आकाशमें उड़नेकी इच्छा करनेवाले पक्षी जिस प्रकार अपने पंखोंका सहारा लेते हैं उसी प्रकार मोक्षरूपी नगरको जानेके लिए भव्यलोग जिस मुनीश्वरका सहारा लेते हैं उस महामना अगणित गुणोंके भण्डारस्वरूप गृद्धपिच्छ नामक मुनिमहराजके लिए मेरा सविनय नमस्कार है।

इन प्रमाणोल्लेखोंसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ता गृद्धपिच्छाचार्य हैं।

श्रवणबेलगोलाके एक अभिलेखमें गृद्धपिच्छ नामकी सार्थकता और कुन्द-कुन्दके वंशमें उनकी उत्पत्ति बतलाते हुए उनका उमास्वाति नाम भी दिया है। यथा—

अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी ।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन ॥

---

१. षट्खण्डागम, धवला टीका, जीवस्थान, काल अनुयोगद्वार, पृ० ३१६ ।

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६ ।

३. तत्त्वार्थसूत्रकी अनेक प्रतियोंके अन्तमें उपलब्ध पद्य ।

४. पार्श्वनाथचरित १।१६ ।

स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृद्ध्रपक्षान् ।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्ध्रपिच्छम् ॥[1]

अन्य शिलालेखमें भी गृद्धपिच्छका उल्लेख प्राप्त होता है—

अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्ध्रपिच्छः ।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी[2] ॥

आचार्य कुन्दकुन्दके पवित्र वंशमें सकलार्थके ज्ञाता उमास्वाति मुनीश्वर हुए, जिन्होंने जिनप्रणीत द्वादशांगवाणीको सूत्रोंमें निबद्ध किया। इन आचार्यने प्राणिरक्षाके हेतु गृद्धपिच्छोंको धारण किया। इसी कारण वे गृद्धपिच्छाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। आभलेखीय प्रमाणमें गृद्धपिच्छाचार्यको श्रुतकेवलिदेशीय भी कहा गया है। इससे उनका आगमसम्बन्धी सातिशय ज्ञान प्रकट होता है।

तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता गृद्धपिच्छाचार्यका उल्लेख श्रवणबेलगोलाके अभिलेखोंमें ४०, ४२, ४३, ४७ और ५० संख्यकमें भी पाया जाता है। अभिलेखसंख्या-१०५ और १०८ में तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ताका नाम उमास्वाति भी आया है और गृद्धपिच्छ उनका दूसरा नाम बतलाया है। यथा—

श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार ।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानां ॥
तस्यैव शिष्योऽजनि गृद्ध्रपिच्छ-द्वितीयसंज्ञस्य बलाकपिच्छः ।
यत्सूक्तिरत्नानि भवन्ति लोके मुक्त्यङ्गनामोहनमण्डनानि[3] ॥

यतियोंके अधिपति श्रीमान् उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रको प्रकट किया, जो मोक्षमार्गके आचरणमें उद्यत मुमुक्षुजनोंके लिए उत्कृष्ट पाथेय है। उन्हींका गृद्धपिच्छ दूसरा नाम है। इन गृद्धपिच्छाचार्यके एक शिष्य बलाकपिच्छ थे, जिनके सूक्तिरत्न मुक्त्यङ्गनाके मोहन करनेके लिए आभूषणोंका काम देते हैं।

इस प्रकार दिगम्बर साहित्य और अभिलेखोंका अध्ययन करनेसे यह ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य, अपरनाम उमास्वामि या उमास्वाति हैं।

कुछ विद्वानोंने तत्त्वार्थसूत्रका रचयिता कुन्दकुन्दको माना है। आचार्य

---

१. जैनशिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसं० १०८, पृ० २१०-११।
२. जैनशिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसंख्या–४३, पृ० ४३।
३. वही, अभिलेखसंख्या–१०५, पृ० १९८।

श्री जुगलकिशोर मुख्तारने इस मतकी समीक्षा की है।[1]

तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताके सम्बन्धमे एक अन्य मत यह है कि वाचक उमास्वाति इस सूत्रग्रन्थके रचयिता हैं। पण्डित सुखलालजीने तत्त्वार्थसूत्र (विवेचन) की प्रस्तावनामें वाचक उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका कर्त्ता माना है, गृद्धपिच्छ उमास्वातिको नहीं। वे कहते हैं कि गृद्धपिच्छ उमास्वाति नामके आचार्य हुए अवश्य हैं, पर उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र या तत्त्वार्थाधिगम शास्त्रकी रचना नहीं की है। उन्होंने इस सूत्रग्रन्थका उल्लेख 'तत्त्वार्थाधिगम' शास्त्रके नामसे किया है। पर यह नाम तत्त्वार्थसूत्रका न होकर उसके 'तत्त्वार्थाधिगम' भाष्यका है।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकी रचनाके पूर्व तत्त्वार्थसूत्रपर अनेक टीकाएँ लिखी जा चुकी थीं। सर्वार्थसिद्धिका निम्न सूत्र तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमें कुछ परिवर्धनके साथ पाया जाता है, जिससे भाष्यकी सर्वार्थसिद्धिसे उत्तरकालीनता अवगत होती है—

(क) 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु'।[2]

(ख) मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।[3]

यहाँ तत्त्वार्थाधिगमभाष्यमें सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठकी अपेक्षा द्रव्यपदके साथ विशेषणरूपसे 'सर्व' पद स्वीकार किया गया है। किन्तु जब वे ही भाष्यकार इस सूत्रके उत्तरार्धको १।२० के भाष्यमें उद्धृत करते हैं तो उसका रूप सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ ले लेता है। यथा—'अत्राह—मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्वं वक्ष्यति "द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु"[4] इति।'

इससे ज्ञात होता है कि भाष्यके पूर्व तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि-टीका लिखी जा चुकी थी और उसमें तत्त्वार्थसूत्रका एक सूत्रपाठ निर्धारित किया जा चुका था। सिद्धसेनगणि और हरिभद्रने भी तत्त्वार्थाधिगमभाष्यके इस अंशको इसी रूपमें स्वीकार किया है। अब प्रश्न यह है कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकारने जब उल्लिखित सूत्रके उत्तरार्धका 'सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' पाठ स्वीकार किया, तब उसे उद्धृत करते समय उसमेंसे 'सर्व' पद क्यों छोड़ दिया? यदि 'सर्व' पदकी 'द्रव्य' पदके विशेषणके रूपमें आवश्यकता थी तो उन्होंने उद्धृत करते समय क्यों नहीं इस बातका ध्यान रखा? यह ऐसा प्रश्न

---

१. जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश, पृ० १०२-१०५।

२. सर्वार्थसिद्धि, १।२६।

३. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य–१।२७।

४. वही, १।२० भाष्य।

है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। बहुत सम्भव है कि उन्होंने प्राचीन सूत्रपाठकी परम्पराको ध्यानमें रखकर ही प्रथम अध्यायके २०वें सूत्रके भाष्यमें उसे दिया, जो सर्वार्थसिद्धिमें उपलब्ध था। इससे विदित होता है कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य लिखते समय वाचक उमास्वातिके समक्ष सर्वार्थसिद्धि अथवा उसमें मान्य सूत्रपाठ रहा है।

अर्थविकासकी दृष्टिसे विचार करनेपर प्रतीत होगा कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्यको सर्वार्थसिद्धिके बाद लिखा गया है। कालके उपकारप्रकरणमें सर्वार्थसिद्धिमें परत्व और अपरत्व ये दो ही भेद किये गये हैं, जबकि तत्त्वार्थाधिगमभाष्यमें उसके तीन भेद उपलब्ध होते हैं। अतएव प्रज्ञाचक्षु पण्डित सुखलालजीका यह अभिमत कि तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकार एक ही व्यक्ति हैं, समीचीन प्रतीत नहीं होता।

तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ हो जानेपर भी ऐसे अधिकतर सूत्र हैं जो दोनों परम्पराओंमें मान्य हैं और उनमें भी कुछ ऐसे सूत्र अपने मूलरूपमें उपलब्ध हैं, जिनके रचयिताकी स्थितिपर प्रकाश पड़ता है। पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्रीने (१) तीर्थंकरप्रकृतिके बन्धके कारणोंका प्रतिपादक सूत्र, (२) बाइस परीषहोंका प्रतिपादक सूत्र, (३) केवलीजिनके ११ परिषहोंके सद्भावका प्रतिपादक सूत्र और (४) एक जीवके एक साथ परीषहसंख्याबोधक सूत्र—इन चार सूत्रोंको उपस्थित कर तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थाधिगमभाष्यके रचयिताओंको भिन्न-भिन्न व्यक्ति सिद्ध किया है।[1] पण्डित फूलचन्द्रजीने 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' पदके पण्डित सुखलालजी द्वारा किये गये अर्थकी समीक्षा करते हुए लिखा है—'पण्डितजी, भाष्यकार और सूत्रकार एक ही व्यक्ति हैं—इस पक्षमें उसका अर्थ लगानेका प्रयत्न करते हैं, किंतु इस पदका सीधा अर्थ है—उमास्वातिवाचकद्वारा बनाया हुआ सूत्रभाष्य। यहाँ 'उमास्वातिवाचकोपज्ञ' पदका सम्बन्ध सूत्रसे न होकर उसके भाष्यसे है। दूसरा प्रमाण पण्डितजीने ९वें अध्यायके २२वें सूत्रकी सिद्धसेनीय टीका उपस्थित की है, किंतु यह प्रमाण भी सन्देहास्पद है, क्योंकि सिद्धसेन गणिकी टीकाकी जो प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं उनमें "स्वकृतसूत्रसन्निवेशमाश्रित्योक्तम्" पाठके स्थानमें "कृतस्तत्र सूत्रसन्निवेशमाश्रित्योक्तम्" पाठ भी उपलब्ध होता है। बहुत सम्भव है कि किसी लिपिकारने तत्त्वार्थसूत्रका वाचक उमास्वाति कर्तृत्व दिखलानेके अभिप्रायसे 'कृतस्तत्र' का संशोधन कर 'स्वकृत' पाठ बनाया हो

१. सर्वार्थसिद्धि, प्रस्तावना, पृ० ६५-६८।

और बादमें यह पाठ चल पड़ा हो।'[1]

अतः तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थाधिगमभाष्य दो पृथक्-पृथक् रचनाएँ हैं। तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धिसे पूर्ववर्त्ती और तत्त्वार्थाधिगमभाष्य उससे उत्तरवर्ती रचना है। अतएव तत्त्वार्थाधिगमभाष्यके कर्त्ता वाचक उमास्वाति रहे होंगे। पर मूल तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ता गृद्धपिच्छाचार्य हैं। इस नामका उल्लेख नवीं शताब्दीके आचार्य वीरसेन और विद्यानन्द जैसे आचार्योंके साहित्यमें मिलता है। उत्तरकालमें अभिलेखों और ग्रन्थोंमें उमास्वामी और उमास्वाति इन दो नामोंसे भी इनका उल्लेख किया गया है। लगभग इसी समय श्वेताम्बर सम्प्रदायमें हुए सिद्धसेन गणिके उल्लेखोंसे तत्त्वार्थाधिगम-भाष्यका रचयिता वाचक उमास्वातिको माना गया और इन्हें ही तत्त्वार्थ-सूत्रका रचयिता भी बता दिया गया। पर मूल और भाष्य दोनोंका अन्तःपरी-क्षण करनेपर वे दोनों पृथक्-पृथक् दो विभिन्नकालीन कर्तृक सिद्ध होते हैं, जैसा कि ऊपरके विवेचनसे प्रकट है।

गुरुपरम्परा

गृद्धपिच्छाचार्य किस अन्वयमें हुए, यह विचारणीय है। नन्दिसंघकी पट्टावलि और श्रवणबेलगोलाके अभिलेखोंसे यह प्रमाणित होता है कि गृद्धपि-च्छाचार्य कुन्दकुन्दके अन्वयमें हुए हैं। नन्दिसंघकी पट्टावलि विक्रमके राज्या-भिषेकसे प्रारम्भ होती है। वह निम्न प्रकार है—

१ भद्रबाहु द्वितीय (४), २ गुप्तिगुप्त (२६), ३ माघनन्दि (३६), ४ जिनचन्द्र (४०), ५ कुन्दकुन्दाचार्य (४९), ६ उमास्वामि (१०१), ७ लोहाचार्य (१४२), ८ यशःकीर्ति (१५३), ९ यशोनन्दि (२११), १० देवनन्दि (२५८), ११ जयनन्दि (३०८), १२ गुणनन्दि (३५८), १३ वज्रनन्दि (३६४), १४ कुमार-नन्दि (३८६), १५ लोकचन्द (४२७), १६ प्रभाचन्द्र (४५३), १७ नेमिचन्द्र (४७२), १८ भानुनन्दि (४८७), १९ सिंहनन्दि (५०८), २० वसुनन्दि (५२५), २१ वीरनन्दि (५३१), २२ रत्ननन्दि (५६१), २३ माणिक्यनन्दि (५८५). २४ मेघचन्द्र (६०१), २५ शान्तिकीर्ति (६२७), २६ मेरुकीर्ति (६४२),।[2]

उपर्युक्त पट्टावलिमें आया हुआ गुप्तिगुप्तका नाम अर्हद्वलिके लिये आया है। अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध है कि नन्दिसंघकी स्थापना अर्हद्वलिने की थी, और इसके प्रथम पट्टधर आचार्य माघनन्दि हुए। इस क्रमसे गृद्धपिच्छ नन्दिसंघके

१. स० सि० प्रस्तावना, पृ० ६८।

२. जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृ० ७८।

पट्टपर बैठनेवाले आचार्योंमें चतुर्थ आते हैं और इनका समय वीर निर्वाण सं० ५७१ सिद्ध होता है। अतएव गृद्धपिच्छके गुरुका नाम कुन्दकुन्दाचार्य होना चाहिये। श्रवणवेलगोलाके अभिलेख न० १०८ में गृद्धपिच्छ उमास्वामिका शिष्य बलाकपिच्छाचार्यको बतलाया है। अत: इनके शिष्य बलाकपिच्छ हैं।

तत्त्वार्थसूत्रके निर्माणमें कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंका सर्वाधिक उपयोग किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्दने अपने पंचास्तिकायमें द्रव्यका लक्षण बताते हुये लिखा है—

दव्वं सल्लक्खणियं उपादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं त भण्णंति सव्वण्हू[1]॥

इस गाथाके आधारपर तत्त्वार्थसूत्रमें तीन सूत्र उपलब्ध होते हैं। ये तीनों सूत्र क्रमशः गाथाके प्रथम, द्वितीय और तृतीय पाद हैं—

(१) सद्द्रव्यलक्षणम्[2]।
(२) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्[3]।
(३) गुणपर्ययवद् द्रव्यम्[4]।

अतएव गृद्धपिच्छने कुन्दकुन्दका शाब्दिक और वस्तुगत अनुसरण किया है। अत: आश्चर्य नहीं कि गृद्धपिच्छके गुरु कुन्दकुन्द रहे हों। श्रवणवेलगोलाके उक्त अभिलेखानुसार गृद्धपिच्छके शिष्य बलाकपिच्छ हैं। इनकी गणना नन्दिसंघके आचार्योंमें है।

यद्यपि पंडित सुखलालजीने इन्हें ही तत्वार्थाधिगमभाष्यका कर्त्ता मानकर उच्चैर्नागर शाखाका आचार्य माना है और यह शाखा कल्पसूत्रकी स्थविरावलिके अनुसार आर्यशान्तिश्रेणिकसे निकली है। आर्यशान्तिश्रेणिक आर्यसुहस्तिसे चौथी पीढ़ीमें आते हैं, तथा वह शान्तिश्रेणिक आर्यवज्रके गुरु आर्यसिंहगिरिके गुरुभाई होनेसे, आर्यवज्रकी पहली पीढ़ीमें आते हैं। तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकी प्रशस्तिमें वाचक उमास्वातिने अपनेको शिवश्रीनामक वाचकमुख्यका प्रशिष्य और एकादशांगवेत्ता घोषनन्दि श्रमणका दीक्षा शिष्य तथा प्रसिद्धकीर्तिवाले महावाचक श्रमण श्रीमुण्डपादका विद्या-प्रशिष्य बतलाया है।

पर यह गुरुशिष्य-परम्परा तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकार वाचक उमास्वातिकी

---

१. पंचास्तिकाय, गाथा १०
२. तत्त्वार्थसूत्र ५।२९
३. वही ५।३०
४. वही ५।३८

है, तत्त्वार्थसूत्रकार गृद्धपिच्छकी नहीं। गृद्धपिच्छ उमास्वामि कुन्दकुन्दान्वयमें हुये हैं और ये कुन्दकुन्दाचार्यके उत्तराधिकारी भी हैं।

समय-निर्धारण

इनका समय नन्दिसंघकी पट्टावलिके अनुसार वीर-निर्वाण सम्वत् ५७१ है, जो कि वि० सं० १०१ आता है। 'विद्वज्जनबोधक' में निम्नलिखित पद्य आया है—

वर्षसप्तशते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ।
उमास्वामिमुनिर्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च[1]॥

अर्थात् वीर निर्वाण संवत् ७७० में उमास्वामि मुनि हुए, तथा उसी समय कुन्दकुन्दाचार्य भी हुये। नन्दिसंघकी पट्टावलिमें बताया है कि उमास्वामी ४० वर्ष ८ महीने आचार्यपदपर प्रतिष्ठित रहे। उनकी आयु ८४ वर्षकी थी और विक्रम संवत् १४२ में उनके पट्टपर लोहाचार्य द्वितीय प्रतिष्ठित हुए। प्रो० हार्नले[2], डा० पिटर्सन[3] और डा० सतीशचन्द्रने इस पट्टावलिके आधारपर उमास्वातिको ईसाकी प्रथम शताब्दीका विद्वान माना है।

'विद्वज्जनबोधक' के अनुसार उमास्वातिका समय विक्रम सम्वत् ३०० आता है और वह पट्टावलिके समयसे १५० वर्ष पीछे पड़ता है।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें ६८३ वर्षकी श्रुतधर आचार्योंकी परम्परा दी है और इसके बाद अंगपूर्वके एकदेशधारी विनयधर, श्रीदत्त और अर्हद्दत्तका नामोल्लेखकर नन्दिसंघ आदि संघोंकी स्थापना करनेवाले अर्हद्वलिका नाम दिया है। श्रुतावतारमें इसके पश्चात् माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलिके उल्लेख हैं। उसके बाद कुन्दकुन्दका नाम आया है। अतः आचार्य गृद्धपिच्छ कुन्दकुन्दके पश्चात् अर्थात् ६८३ वर्षके अनन्तर हुए हैं। यदि इस अनन्तरकालको १०० वर्ष मान लिया जाये, तो वीर-निर्वाण सम्वत् ७८३ के लगभग आचार्य गृद्धपिच्छका समय होगा।

यद्यपि श्रुतधरआचार्योंकी परम्पराका निर्देश धवला[5], आदिपुराण[6], नन्दि-

---

१. सर्वार्थसिद्धि, प्रस्तावना, पृ० ७८ से उद्धृत।

२. And. ant, XX, P. 341, 351.

३. Peerrsons fourth oreport on Sanskrit manuseripts P. XVI.

४. History of the Mediaval school of Indian Logic P. 8, 9.

६. धवला पुस्तक ९, पृ० १३०.

६. आदिपुराण २।१३७.

संघकी प्राकृत पट्टावलि[1] और त्रिलोकप्रज्ञप्ति[2] आदिमें आया है, पर ये सभी परम्पराएँ ६८३ वर्ष तकका ही निर्देश करती हैं। इसके आगेके आचार्योंका कथन नहीं मिलता। अतएव श्रुतावतार आदिके आधारसे गृद्धपिच्छका समय निर्णीत नहीं किया जा सकता है।

डॉ० ए० एन उपाध्येने बहुत ऊहापोहके पश्चात् कुन्कुन्दके समयका निर्णय किया है, और जिससे गृद्धपिच्छ, आचार्य कुन्दकुन्दके शिष्य प्रकट होते हैं। उपाध्येजीके मतानुसार कुन्दकुन्दका समय ई० प्रथम शताब्दीके लगभग है। अतः गृद्धपिच्छाचार्य उसके पश्चात् ही हुए हैं।

कुन्दकुन्दका समय निर्णीत हो जानेके पश्चात् आचार्य गृद्धपिच्छका समय अवगत करनेमें कठिनाई नहीं है। यतः पट्टावलियों और शिलालेखोंमें आचार्य कुन्दकुन्दके पश्चात् गृद्धपिच्छका नाम आया है। अतएव इनका समय ई० प्रथम शताब्दीका अन्तिम भाग और द्वितीय शताब्दीका पूर्वभाग घटित होता है।

निष्कर्ष यह कि पट्टावलियों, प्रशस्तियों और अभिलेखोंके अध्ययनसे गृद्ध-पिच्छका समय ई० सन् द्वितीय शताब्दी प्रतीत होता है।

तत्त्वार्थसूत्रकी रचना

आचार्य गृद्धपिच्छकी एकमात्र रचना 'तत्त्वार्थसूत्र' है। इस सूत्रग्रन्थका प्राचीन नाम 'तत्त्वार्थ' रहा है। 'तत्त्वार्थ' की तीन टीकाएँ प्रसिद्ध हैं, जिनके साथ तत्त्वार्थपद लगा है, पूज्यपादकी 'तत्त्वार्थवृत्ति', जिसका दूसरा नाम 'सर्वार्थसिद्धि' है, अकलंकका 'तत्त्वार्थवार्तिक' और विद्यानन्दका तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक'। अतएव इस ग्रन्थका प्राचीन नाम 'तत्त्वार्थ' ही रहा है। सूत्रशैलीमें निबद्ध होनेसे उत्तरकालमें इसका 'तत्त्वार्थसूत्र' नाम प्रचलित हुआ। इस ग्रन्थकी रचनाके हेतुका वर्णन करते हुए, तत्त्वार्थसूत्रके कन्नड़-टीकाकार बाल-चंद्रने लिखा है—

"सौराष्ट्रदेशके मध्य उर्जयन्तगिरिके निकट गिरिनगर नामके पत्तनमें आसन्नभव्य स्वहितार्थी द्विजकुलोत्पन्न श्वेताम्बरभक्त सिद्धय्य नामका एक विद्वान् श्वेताम्बर शास्त्रोंका जाननेवाला था। उसने 'दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह सूत्र बनाकर एक पटियेपर लिख दिया था। एक दिन चर्याके लिये गृद्धपिच्छाचार्य मुनि वहाँ आये और उन्होंने उस सूत्रके पहले 'सम्यक्' पद जोड़ दिया। जब वह विद्वान बाहरसे लौटा और उसने पटिये पर 'सम्यक्'

१. जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृ० ७१।

२. त्रिलोकप्रज्ञप्ति ४।१४९०–९१।

शब्द लगा देखा, तो वह अपनी मातासे मुनिराजके आनेका समाचार मालूम करके खोजता हुआ उनके पास पहुँचा और पूछने लगा—"आत्माका हित क्या है"[1]। इसके बादका प्रश्नोत्तर प्राय: वही सब है, जो 'सर्वार्थसिद्धि' के प्रारम्भमें आचार्य पूज्यपादने दिया है। प्रभाचन्द्राचार्यने सर्वार्थसिद्धिपर एक टिप्पण लिखा है और उस टिप्पणमें उन अव्याकृत पदोंकी व्याख्या की है, जो 'सर्वार्थसिद्धि' में छूट गये हैं। इस टिप्पणमें प्रभाचन्द्रने प्रश्नकर्त्ता भव्यका नाम तो सिद्धय्य ही दिया है, किन्तु कथा नहीं दी है। उक्त कथामें कितना तथ्यांश है, यह नहीं कहा जा सकता।

श्रुतसागरसूरिने 'तत्त्वार्थवृत्ति' के प्रारम्भमें लिखा है कि किसी समय आचार्य उमास्वामि गृद्धपिच्छ आश्रममें बैठे हुए थे। उस समय द्वैपायक नामक भव्यने वहाँ आकर उनसे प्रश्न किया—भगवन्! आत्माके लिये हितकारी क्या है? भव्यके ऐसा प्रश्न करनेपर आचार्यवर्यने मंगलपूर्वक उत्तर दिया, मोक्ष। यह सुनकर द्वैपायकने पुन: पूछा—उसका स्वरूप क्या है, और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है? उत्तरस्वरूप आचार्यवर्यने कहा कि यद्यपि प्रवादिजन इसे अन्यथा प्रकारसे मानते हैं, कोई श्रद्धानमात्रको मोक्षमार्ग मानते हैं, कोई ज्ञाननिरपेक्ष चारित्रको मोक्षमार्ग मानते हैं। परन्तु जिस प्रकार ओषधिके केवल ज्ञान, श्रद्धान या प्रयोगसे रोगकी निवृत्ति नहीं हो सकती है, उसी प्रकार केवल श्रद्धान, केवल ज्ञान या केवल चारित्रसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। भव्यने पूछा—तो फिर किस प्रकार उसकी प्राप्ति होती है? इसीके उत्तरस्वरूप आचार्यने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:" यह सूत्र रचा है और इसके पश्चात् अन्य सूत्रोंकी रचना हुई है। ऐसी ही उत्थानिका प्राय: तत्त्वार्थवार्त्तिकमें भी आयी है। अत: उपर्युक्त कथामें कुछ तथ्य तो अवश्य प्रतीत होता है।

कनड़ी टीकाके रचयिता बालचन्द्र विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें हुए हैं।

पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि' 'तत्त्वार्थसूत्र' की उपलब्ध टीकाओंमें आद्य एवं प्राचीन टीका है। इसके आरम्भमें ग्रन्थ-रचनाका जो संक्षिप्त इतिवृत्त निबद्ध है उसके आधारसे स्पष्ट रूपमें कहा जा सकता है कि तत्त्वार्थसूत्रकारने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना किसी आसन्नभव्यके प्रश्नके उत्तरमें की है। इस भव्यका नामोल्लेख सर्वार्थसिद्धिकारने नहीं किया। उत्तरवर्त्ती लेखकोंने किया है। उनका

---

१. अनेकान्त, वर्ष १, पृ० २७०।

आधार क्या है, कुछ कहा नहीं जा सकता। वह अन्वेषणीय है। इतना स्पष्ट तथ्य है कि तत्त्वार्थसूत्र किसी आसन्नभव्य मुमुक्षुके हितार्थ लिखा गया है।

तत्त्वार्थसूत्रका महत्त्व

इस ग्रन्थमें जिनागमके मूल तत्त्वोंको बहुत ही संक्षेपमें निबद्ध किया है। इसमें कुल दश अध्याय और ३५७ सूत्र हैं। संस्कृत-भाषामें सूत्रशैलीमें लिखित यह पहला सूत्रग्रन्थ है। इसमें करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोगका सार समाहित है। इसकी सबसे बड़ी महत्ता यह है कि इसमें साम्प्रदायिकता नहीं है। अतएव यह श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंको थोड़े-से पाठभेदको छोड़कर समानरूपसे प्रिय है। इसकी महत्ताका सबसे बड़ा दूसरा प्रमाण यह है कि दोनों ही सम्प्रदायोंके महान् आचार्योंने इसपर टीकाएँ लिखी हैं। पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्दने दार्शनिक टीकाएँ लिखकर इस ग्रन्थका महत्त्व व्यक्त किया है। विद्यानन्दने अपनी 'आप्तपरीक्षा' में इसे बहुमूल्य रत्नोंका उत्पादक, सलिलनिधि—समुद्र कहा है—

> श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
> प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
> स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्,
> विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै[1]॥

प्रकृष्ट रत्नोंके उद्भवके स्थानभूत श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रकी उत्पत्तिके प्रारम्भकालमें महान् मोक्षपथको प्रसिद्ध करनेवाले और तीर्थोपमस्वरूप जिस स्तोत्रको शास्त्रकार गृद्धपिच्छाचार्यने समस्त कर्ममलके भेदन करनेके अभिप्रायसे रचा है और जिसकी स्वामीने मीमांसा की है, उसी स्तोत्रका सत्यवाक्यार्थ (यथार्थता) की सिद्धिके लिए मुझ विद्यानन्दने अपनी शक्तिके अनुसार किसी प्रकार व्याख्यान किया है।

तत्त्वार्थसूत्र जैन धर्मका सारग्रन्थ होनेसे इसके मात्र पाठ या श्रवणका फल एक उपवास बताया गया है, जो उसके महत्त्वको सूचित करता है। वर्तमानमें इस ग्रन्थको जैन परम्परामें वही स्थान प्राप्त है, जो हिन्दू धर्ममें 'भगवद्गीता' को, इस्लाममें 'कुरान' को और ईसाई धर्ममें 'बाइबिल' को प्राप्त है। इससे पूर्व प्राकृत भाषामें ही जैन ग्रन्थोंकी रचना की जाती थी। इसी भाषामें भगवान् महावीरकी देशना हुई थी और इसी भाषामें गौतम गणधरने अंगों

---

१. डॉ० दरबारीलाल कोठिया, आप्तपरीक्षा, उपसंहार-पद्य, पद्य-संख्या १२३, वीर-सेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)।

और पूर्वोंकी रचना की थी। पर जब देशमें संस्कृत-भाषाका महत्त्व वृद्धिगत हुआ और विविध दर्शनोंके मन्तव्य सूत्ररूपमें निबद्ध किये जाने लगे, तो जैन परम्पराके आचार्योंका ध्यान भी उस ओर आकृष्ट हुआ और उसीके फलस्वरूप तत्त्वार्थसूत्र जैसे महत्त्वपूर्ण संस्कृत-सूत्रग्रन्थको रचना हुई। इस तरह जैन वाङ्मयमें संस्कृत-भाषाके सर्वप्रथम सूत्रकार गृद्धपिच्छ हैं और सबसे पहला संस्कृत-सूत्रग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र है।

वर्ण्य विषय

तत्त्वार्थसूत्र धर्म एवं दर्शनका सूत्रग्रन्थ है। इसकी रचना वैशेषिक दर्शनके 'वैशेषिकसूत्र' ग्रन्थके समान हुई है। वैशेषिक दर्शनके प्रारम्भमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन सात पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष-प्राप्तिकी बात कही गयी है। अतः इस सूत्रग्रन्थमें मुख्यरूपसे उक्त सात पदार्थोंका विवेचन आया है। सांख्य दर्शनमें प्रकृति और पुरुषका विचार करते हुए जगत्के मूलभूत पदार्थोंका ही विचार किया है। इसी प्रकार वेदान्तदर्शनम जगतके मूलभूत तत्त्व ब्रह्मकी मीमांसा की गयी है। न्यायदर्शनमें प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वा-भास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति बतलायी है। न्यायदर्शनमें अर्थपरीक्षाके साधनोंका ही कथन आया है। योगदर्शनमें जीवनमें अशुद्धता लानेवाली चित्तवृत्तियोंका और उनके निरोधका तथा तत्सम्बन्धी प्रक्रियाका प्रतिपादन आया है। इस प्रकार पूर्वोक्त दर्शनोंका विषय ज्ञेयप्रधान या ज्ञानसाधनप्रधान अथवा चारित्रप्रधान है।

पर 'तत्त्वार्थसूत्र'में ज्ञान, ज्ञय और चारित्रका समानरूपसे विवेचन आया है। इसका प्रधान कारण यह है कि जहाँ वैशेषिक आदि दर्शनोंमें केवल तत्त्वज्ञानसे 'निःश्रेयस्' प्राप्ति बतलायी गयी है वहाँ जैनदर्शनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके समुच्चयको मोक्षका मार्ग कहा है। तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम अध्यायके द्वितीयसूत्रमें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंके सम्यक्दर्शन और छठे सूत्रमें इनके यथार्थज्ञानको सम्यक्ज्ञान कहा है। तत्त्वार्थसूत्रकारने हेय और उपादेयरूपमें केवल इन्हीं सात तत्त्वोंको श्रद्धेय एवं अधिगम्य बतलाया है। मोक्षमार्गमें इन्हींका उपयोग है। अन्य अनन्त पदार्थोंका नहीं। इससे पूर्व समयसारमें भी निश्चयनय और व्यव-हारनयसे इन्हीं सातों तत्त्वोंका निरूपण किया है।

अतएव आचार्य गृद्धपिच्छने इस तत्त्वार्थसूत्रमें दश अध्याओंकी परिकल्पना

करके प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्यायमें जीवतत्त्वका, पंचम अध्याय-में अजीवतत्त्वका, षष्ठ और सप्तम अध्यायोंमें आस्रवतत्त्वका, अष्टम अध्यायमें बन्धतत्त्वका, नवम अध्यायमें संवर और निर्जरातत्त्वोंका एवं दशम अध्यायमें मोक्षतत्त्वका विवेचन किया है। प्रथम अध्यायके आरम्भमें सम्यग्दर्शनका स्वरूप और उसके भेदोंकी व्याख्या करनेके पश्चात् "प्रमाणनयैरधिगमः" [१-६] सूत्रसे ज्ञान-विषयक चर्चाका प्रारम्भ होता है। प्रमाणका कथन तो सभी भारतीय दर्शनोंमें आया है, पर नयका विवेचन इस ग्रन्थका अपना वैशिष्ट्य है और यह है जैनदर्शनके अनेकान्तवादकी देन। नय प्रमाणका ही भेद है। सकल-ग्राही ज्ञानको प्रमाण और वस्तुके एक अंशको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं।

तत्त्वार्थसूत्रमें ज्ञानको ही प्रमाण माना है और ज्ञानके पाँच भेद बतलाये हैं—(१) मति, (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मनःपर्यय और (५) केवलज्ञान। प्रमाणके दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। उक्त ज्ञानोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो परोक्ष हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होती है। शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि ये आत्मासे ही उत्पन्न होते हैं—उनमें इन्द्रियादिकी अपेक्षा नहीं होती। तत्त्वार्थसूत्रमें उक्त पाँचों ज्ञानोंका प्रतिपादन किया है। मतिज्ञानकी उत्पत्तिके साधन, उनके भेद-प्रभेद, उनकी उत्पत्तिका क्रम, श्रुतज्ञानके भेद, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके भेद तथा उनमें पार-स्परिक अन्तर, पाँचों ज्ञानोंका विषय एवं एकसाथ एक जीवमें कितने ज्ञानोंका रहना सम्भव है आदिका कथन इसमें आया है। अन्तमें मति, श्रुत और अवधि-ज्ञानके मिथ्या होनेके कारणका भी विवेचन कर नयोंके भेद परिगणित किये गये हैं। इस अध्यायमें ३३ सूत्र हैं।

द्वितीय अध्यायमें ५३ सूत्रों द्वारा जीवतत्त्वका कथन किया है। सर्वप्रथम जीवके स्वतत्त्वरूप पंच भावों और उनके भेदोंका निरूपण आया है। पश्चात् जीवके संसारी और मुक्त भेद बतलाकर संसारी जीवोंके भेद-प्रभेदोंका कथन किया गया है। जीवोंकी इन्द्रियोंके भेद-प्रभेद, उनके विषय, संसारी जीवों-में इन्द्रियोंकी स्थिति, मृत्यु और जन्मके बीचकी स्थिति, जन्मके भेद, उनकी योनियाँ, जीवोंमें जन्मोंका विभाग, शरीरके भेद उनके स्वामी, एक जीवके एक-साथ सम्भव हो सकनेवाले शरीर, लिंगका विभाग तथा पूरी आयु भोगकर मरण करनेवाले जीवोंका कथन किया है।

तृतीय अध्याय ३९ सूत्रोंमें निबद्ध है। इसमें अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन आया है। अधोलोकका कथन करते हुए सात पृथिवियाँ तथा उनका

आधार बतलाकर उनमें नरकोंकी संख्या और उन नरकोंमें बसनेवाले नारकी जीवोंकी दशा एवं उनकी दीर्घ आयु आदि बतलायी गयी है। मध्यलोकके वर्णनमें द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदियाँ एवं क्षेत्रोंका वर्णन करनेके पश्चात् मध्य-लोकमें निवास करनेवाले मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी आयु भी बतलायी गयी है।

चतुर्थ अध्यायमें ४२ सूत्रों द्वारा ऊर्ध्वलोक या देवलोकका वर्णन किया गया है। इसमें देवोंके विविध भेदों, ज्योतिर्मण्डल, तथा स्वर्गलोकका वर्णन है।

दार्शनिक दृष्टिसे पंचम अध्याय महत्त्वपूर्ण है। यह ४२ सूत्रोंमें निबद्ध है। इसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छः द्रव्योंका वर्णन आया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक द्रव्यके प्रदेशोंकी संख्या उनके द्वारा अवगाहित क्षेत्र और प्रत्येक द्रव्यका कार्य आदि बतलाये हैं। पुद्गलका स्वरूप बतलाते हुए उसके भेद, उसकी उत्पत्तिके कारण, पौद्गलिक बन्धकी योग्यता-अयोग्यता आदि कथन है। अन्तमें सत्, द्रव्य, गुण, नित्य और परिणामका स्वरूप प्रतिपादित कर कालको भी द्रव्य बतलाया है।

षष्ठ अध्याय २७ सूत्रोंमें ग्रथित है। इस अध्यायमें आस्रवतत्त्वका स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद और किन-किन कार्यों के करनेसे किस-किस कर्मका आस्रव होता है, का वर्णन आया है।

सप्तम अध्यायमें ३९ सूत्रों द्वारा व्रतका स्वरूप, उसके भेद, व्रतोंको स्थिर करनेवाली भावनाएँ, हिंसादि पाँच पापोंका स्वरूप सप्त शील, सल्लेखना, प्रत्येक व्रत और शीलके अतिचार, दानका स्वरूप एवं दानके फलमें तारतम्य होनेके कारणका कथन आया है।

अष्टम अध्यायमें २६ सूत्र हैं। कर्म-बन्धके मूल हेतु बतलाकर उसके स्वरूप तथा भेदोंका विस्तारपूर्वक कथन करते हुए आठों कर्मोंके नाम प्रत्येक कर्मकी उत्तरप्रकृतियां, प्रत्येक कर्मके स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका स्वरूप बतलाया है।

नवम अध्यायमें ४७ सूत्रों द्वारा संवरका स्वरूप, संवरके हेतु, गुप्ति, समिति, दश धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा बाईस परीषह, चारित्र और अन्तरंग तथा बहिरंग तपके भेद बतलाये गये हैं। ध्यानका स्वरूप, काल, ध्याता, ध्यानके भेद एवं पाँच प्रकारके निर्ग्रन्थ साधुओंका वर्णन आया है।

दशम अध्यायमें केवल ९ सूत्र हैं। इसमें केवलज्ञानके हेतु, मोक्षका स्वरूप, मुक्तिके पश्चात् जीवके उर्ध्वगमनका दृष्टान्तपूर्वक सयुक्तिक समर्थन तथा मुक्त जीवोंका वर्णन आया है।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रका वर्ण्य विषय जैनधर्मके मूलभूत समस्त सिद्धान्तोंसे सम्बद्ध है। इसे जैन सिद्धान्तकी कुंजी कहा जा सकता है।

तत्त्वार्थसूत्रको रचनाका स्रोत

तत्त्वार्थसूत्रके सूत्र कुन्दकुन्दके नियमसार, पंचास्तिकाय, भावपाहुड, षट्खण्डागम प्रवचनसार, आदिके आधारपर निर्मित हुए हैं। "सम्यग्दर्शनज्ञाचारित्राणि मोक्षमार्ग" [१-१] सूत्रका मूल स्रोत नियमसार है। कुन्दकुन्दने अपने नियमसारको प्रारम्भ करते हुए लिखा है कि जिनशासनमें मार्ग और मार्गफलको उपादेय कहा है। मोक्षके उपायको मार्ग कहते हैं और उसका फल निर्वाण है। ज्ञान, दर्शन और चारित्रको नियम कहा जाता है तथा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका परिहार करनेके लिए उसके साथ 'सार' पद लगाया है। तत्त्वार्थसूत्रमें भी मिथ्यादर्शनादिका परिहार करनेके लिए दर्शनादिकके साथ सम्यक् पद लगाया है।

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं॥
णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं॥[1]

तत्त्वार्थसूत्रके द्वितीय सूत्र तथा चतुर्थ सूत्रका आधार भी कुन्दकुन्दके ग्रन्थ हैं। कुन्दकुन्दने सम्यक्दर्शनका स्वरूप वतलाते हुए लिखा है—

"अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्त॥"[2]

आप्त, आगम और तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यक्दर्शन कहते हैं और तत्त्वार्थ आगममें कहे हुए पदार्थ हैं।[3]

तत्त्वार्थसूत्रकारने नियमसारके उक्त सन्दर्भको स्रोत मानकर 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्दर्शनम्'[१-२]सूत्र लिखा है। वस्तुतः यह सूत्र "तच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्त"का अनुवाद है। सात तत्त्वोंके नाम कुन्दकुन्दके 'भावपाहुड' आदि ग्रन्थोंमें मिलते हैं। "सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च" [१-८] सूत्रका स्रोत 'षट्खण्डागम'का निम्नलिखित सूत्र है—

"संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि।" [१-१-७]

---

१. नियमसार, गाथा २,३।

२. वही, गाथा ५।

३. वही, गाथा ८।

गृद्धपिच्छाचार्यने षट्खण्डागमके इन आठ अनुयोगद्वारोंको लेकर उक्त सूत्रकी रचना की है। मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञानोंका जैसा वर्णन तत्त्वासूत्रमें आया है वह स्रोतकी दृष्टिसे षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डके अन्तर्गत कर्मप्रकृति-अनुयोगद्वारसे अधिक निकट प्रतीत होता है। इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्रमें 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता'[१।१३]को मतिज्ञानके नामान्तर कहा है। इसका स्रोत षट्खण्डागमके कर्म-प्रकृति-अनुयोगद्वारका 'सण्णा सदो मदी चिन्ता चेदि'[५-५-४१] सूत्र है। इसी प्रकार 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्'[तत्त्वार्थसूत्र १।२१]का स्रोत षट्खण्डागमके कर्म-प्रकृति-अनुयोगद्वारका 'जं तं भवपच्चइयं तं देव-णेरइयाणं' [५-५-५४] सूत्र है।

तत्त्वार्थसूत्रमें पाँच ज्ञानोंको प्रमाण मानकर उनके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद किये गये हैं। इन भेदोंका स्रोत प्रवचनसारकी निम्नलिखित गाथा है—

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमत्थेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥[१]

अर्थात् पदार्थविषयक जो ज्ञान परकी सहायतासे होता है, वह परोक्ष कहलाता है और जो ज्ञान केवल आत्माके द्वारा जाना जाता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है।

द्वितीय अध्यायके प्रारम्भमें प्रतिपादित पाँच भावोंके बोधक सूत्रका स्रोत पञ्चास्तिकायकी निम्न लिखित गाथा है—

उदयेण उवसमेण य खयेण दुहिं मिस्सदेहिं परिणामे।
जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु अत्थेसु विच्छिण्णा ॥[२]

पञ्चम अध्यायमें प्रतिपादित द्रव्य, गुण, पर्याय, अस्तिकाय आदि विषयोंके स्रोत आचार्य कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और नियमसारकी अनेक गाथाओंमें प्राप्य हैं। तत्त्वार्थसूत्रमें द्रव्यलक्षणका निरूपण दो प्रकारसे आया है। उसके लिए सत्की परिभाषाके पश्चात् "सद्द्रव्यलक्षणम्" (५।२९) और "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" (५।३८) सूत्रोंकी रचना की है। ये सभी सूत्र कुन्दकुन्दकी निम्न गाथासे सृजित हैं—

"दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्त संजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥[३]

पंचम अध्यायमें 'स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः', 'न जघन्यगुणानां', 'गुणसाम्ये सदृशानाम्'; 'द्व्यधिकादिगुणनां तु' [५-३३,३४,३५,३६] सूत्रोंद्वारा स्निग्ध और

१. प्रवचनसार, ज्ञानाधिकार, गाथा–५८।
२. पञ्चास्तिकाय, गाथा ५६।
३. पञ्चास्तिकाय, गाथा १०।

रूक्ष गुणवाले परमाणुओंके बन्धका विधान आया है। वे सूत्र प्रवचनसारकी निम्न गाथाओंपरसे रचे गये हैं—

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि वज्झंति हि आदिपरिहीणा॥
णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु वज्झदि पंचगुणजुत्तो॥
दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते॥[1]

अपने शक्त्यंशोंमें परिणमन करनेवाले परमाणु यदि स्निग्ध हों अथवा रूक्ष हों, दो, चार, छह, आदि अंशोंकी गणनाकी अपेक्षा सम हों, अथवा तीन, पाँच, सात आदि अंशोंकी अपेक्षा विषम हों, अपने अंशोंसे दो अधिक हों, और जघन्य अंशसे रहित हों, तो परस्पर बन्धको प्राप्त होते हैं।

स्निग्ध गुणके दो अंशोंको धारण करनेवाले परमाणु चतुर्गुण स्निग्धके साथ बंधते हैं। रूक्षगुणके तीन अंशोंको धारण करनेवाला परमाणु पांचगुणयुक्त रूक्ष अंशको धारण करनेवाले परमाणुके साथ बन्धको प्राप्त होता है।

दो प्रदेशोंको आदि लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्तपर्यन्त प्रदेशोंको धारण करनेवाले सूक्ष्म अथवा बादर विभिन्न आकारोंसे सहित तथा पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप स्कन्ध अपने-अपने स्निग्ध और रूक्ष गुणोंके परिणमनसे होते हैं।

इसी प्रकार "बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ" [५।३७] सूत्रका स्रोत षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डका बन्ध-विधान है।

तत्त्वार्थसूत्रके षष्ठ अध्यायमें तीर्थंकरनामकर्मके बन्धमें कारणभूत सोलह कारणोंका निर्देशक सूत्र निम्न प्रकार है—

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य-बहुश्रुतप्रवचनभक्ति-रावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य॥ [६-२४]

अर्थात् १ दर्शनविशुद्धि, २ विनयसम्पन्नता, ३ शीलव्रतोंमें अनतिचार, ४ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ५ संवेग, ६ शक्तितः त्याग, ७ शक्तितः तप, ८ साधुसमाधि,

१ प्रवचनसार, ज्ञेयाधिकार, गाथा ७३, ७४, ७५।

११

९ वैयावृत्यकरण, १० अर्हद्भक्ति, ११ आचार्यभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति, १४ आवश्यकापरिहाणि, १५ मार्गप्रभावना और १६ प्रवचन-वत्सलत्व ये सोलह भावनाएँ तीर्थंकरनामकर्मके बन्धकी कारण हैं।

उपर्युक्त सूत्रका स्रोत 'षट्खण्डागम'के 'बंधसामित्तविचओ' का निम्न सूत्र है—"दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाय सीलव्वदेसु निरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खण-लव-पडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तधातवे साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोग-जुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयण-प्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए, इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्म बधंति[1]॥

दोनों सूत्रोंके अध्ययनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि गृद्धपिच्छाचार्यने प्राकृत-सूत्रका संस्कृत रूपान्तर कर दिया है।

तत्त्वार्थसूत्रके नवम अध्यायमें बारह अनुप्रेक्षाओंका कथन आया है। इनका स्रोत 'भगवती आराधना', 'मूलाचार' एवं कुन्दकुन्दाचार्यकी 'बारसअणुवेक्खा' है। इन तीनों ग्रन्थोंमें द्वादश अनुप्रेक्षाओंको गिनाने वाली गाथा एक ही है। तत्त्वार्थसूत्रकारने द्वादश अनुप्रेक्षाओंके क्रममें मात्र कुछ अन्तर किया है तथा प्रथमानुप्रेक्षाका नाम अनित्य रखा है, जबकि इन ग्रन्थोंमें अध्रुव है।

तत्त्वार्थसूत्रके नवम अध्यायके नवम सूत्रमें २२ परीषहोंके नाम गिनाये गए हैं। उनमें एक 'नाग्न्य' परिषह भी है। 'नाग्न्य'का अर्थ नंगापना है। यहाँ आचार्यने अचेलकी अपेक्षा 'नाग्न्य' पदके प्रयोगको अधिक महत्त्व दिया है। इससे ज्ञात होता है कि सूत्रकर्त्ताको साधुओंकी नग्नता इष्ट थी और उन्हें उसका परीषह सहना ही चाहिए, यह भी मान्य था।

इस तरह षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द-साहित्यमें तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंके अनेक बीज वर्त्तमान हैं।

सूत्रपाठ

तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ उपलब्ध होते हैं। पहला सूत्रपाठ वह है जिसपर पूज्यपाद, अकलंकदेव और विद्यानन्दने टीकाएँ लिखी हैं। यह पाठ दिगम्बर परम्परामें प्रचलित है। दूसरा पाठ वह है, जिसपर तत्त्वार्थाधिगमभाष्य पाया जाता है तथा सिद्धसेन गणि और हरिभद्रने अपनी टीकाएँ लिखी है। इस दूसरे

१. षट्खण्डागम, पुस्तक ८, पृ० ७९।

सूत्रपाठका प्रचार श्वेताम्बर परम्परा है। इन दोनों सूत्रपाठोंमें जो अन्तर है, वह निम्न प्रकार अवगत किया जा सकता है—

दोनों पाठोंके अनुसार दशों अध्यायोंके सूत्रोंकी संख्या—

प्रथमपाठ—३३ + ५३ + ३९ + ४२ + ४२ + २७ + ३९ + २६ + ४७ + ९ = ३५७
द्वितीयपाठ—३५ + ५२ + १८ + ५३ + ४४ + २६ + ३४ + २६ + ४९ + ७ = ३४४

दोनों पाठोंके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि प्रथम अध्यायमें दो सूत्रोंकी हीनाधिकता है। प्रथम पाठकी अपेक्षा द्वितीय पाठमें दो सूत्र अधिक हैं। प्रथम सूत्र 'द्विविधोऽवधिः' [१।२१]—अवधिज्ञानके दो भेद हैं। इस सूत्रमें कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। अन्तिम दो सूत्र विचारणीय हैं—"नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः" [१।३४] 'आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ' [१।३५] ये दोनों सूत्र द्वितीय पाठमें मिलते हैं। प्रथम पाठमें नयके सात भेद माने गये हैं, और इन सातोंके नामोंको बतलाने वाला एक ही सूत्र है। पर दूसरे पाठके अनुसार नयके मूल पाँच भेद हैं, और उनमेंसे प्रथम 'नैगमनय'के दो भेद हैं और 'शब्दनय'के साम्प्रत, समभिरूढ़ और एवंभूत ये तीन भेद हैं। सप्तनयकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यह दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही आगमोंमें पायी जाती है। तत्त्वार्थसूत्रमें यह जो द्वितीय मान्यता आयी है, उसका समन्वय दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओंके साथ सम्भव नहीं है। यह तो एक नयी परम्परा है, जिसका आरम्भ तत्त्वार्थाधिगमभाष्यसे होता है।

पन्द्रहवें सूत्रमें मतिज्ञानका तीसरा भेद भाष्यके अनुसार 'अपाय' है और सर्वार्थसिद्धिके अनुसार 'अवाय' है। पंडित सुखलालजी द्वारा सम्पादित 'तत्त्वार्थसूत्र'में 'अपाय'के स्थानपर 'अवाय' पाठ ही मिलता है। नन्दिसूत्रमें भी 'अवाय' पाठ है। अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें दोनों पाठोंमें केवल शब्दभेद बतलाया है। किन्तु उभयपरम्परासम्मत प्राचीन पाठ 'अवाय' ही है, 'अपाय' नहीं। सोलहवें सूत्र 'बहुबहुविध' आदिमें प्रथम पाठमें 'अनिसृतानुक्त' पाठ है और दूसरी मान्यतामें 'अनिसृतासन्दिग्ध' पाठ है। इसी प्रकार अवधिज्ञानके दूसरे भेदके प्रतिपादक सूत्रमें प्रथमपाठमें 'क्षयोपशमनिमित्तः' पाठ है और दूसरेमें 'यथोक्तनिमित्तः' पाठ है। इन दोनों पाठोंके आशयमें कोई अन्तर नहीं है।

द्वितीय अध्यायमें प्रथमपाठके अनुसार 'तैजसमपि' [२।४८] तथा 'शेषास्त्रिवेदाः' [२।५२] ये दो सूत्र अधिक हैं। इसी तरह दूसरे सूत्रपाठमें 'उपयोगः स्पर्शादिषु' [२।१९] सूत्र अधिक है। शेष सूत्रोंमें समानता होते हुए भी कतिपय स्थलोंमें अन्तर पाया जाता है। प्रथम सूत्रपाठमें 'जीवभव्याभव्यत्वानि च'

[२।७] पाया जाता है, और द्वितीय सूत्रपाठमें इसके स्थानपर 'जीवभव्याभव्यत्वादीनि च' [२।७] सूत्र है। प्रथम पाठमें जिन पारिणामिक भावोंका ग्रहण 'च' शब्दसे किया है, द्वितीय पाठमें उन्हींका ग्रहण आदि पदसे किया है। अकलंकदेवने आदिपदको सदोष बतलाया है।[1]

संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर ये दो भेद आये हैं। स्थावरके पाँच भेद हैं। इनकी मान्यता दोनों सूत्रपाठोंमें तुल्य है, पर त्रसका अर्थ भाष्यमें बताया है कि जो चलता है, वह त्रस है। इस अपेक्षासे दूसरे सूत्रपाठमें तेजस्कायिक और वायुकायिकको भी त्रस कहा गया है, क्योंकि वायु और अग्नि कायमें चलनक्रिया पायी जाती है। अतएव द्वितीय अध्यायके तेरह और चौदहवें सूत्रमें अन्तर पड़ गया है। द्वितीय अध्यायके अन्य सूत्रोंमें भी कतिपय स्थलोंपर अन्तर विद्यमान है।

प्रथमसूत्रपाठ	द्वितीय सूत्रपाठ	
१. एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥	एकसमयोऽविग्रहः	॥३०॥
२. एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारक ॥३०॥	एकं द्वौ वाऽनाहारकः	॥३१॥
३. जरायुजाण्डज-पोतानां गर्भः ॥३३॥	जराय्वण्डपोतजानां गर्भः	॥३४॥
४. देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥	नारकदेवानामुपपातः	॥३५॥
५. परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥	परं परं सूक्ष्मम्	॥३८॥
६. औपपादिक-चरमोत्तमदेहाऽसंख्येय-वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥	औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येय-वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः	॥५२॥

इन सूत्रोंमे शाब्दिक अन्तर रहनेके कारण सैद्धान्तिक दृष्टिसे भी मतभिन्नता है।[2]

तृतीय अध्यायमें प्रथम पाठके अनुसार द्वितीय पाठसे २१ सूत्र अधिक है। द्वितीय पाठमें वे सूत्र नहीं हैं। तृतीय अध्यायके प्रथम सूत्रके पाठमें थोड़ा अन्तर पाया जाता है। द्वितीय पाठमें 'अधोऽध' और 'पृथुतराः' पाठ है जबकि पहलेमें 'पृथुतराः' पाठ नहीं है। अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्त्तिकमें इस पाठकी आलोचना की है और उसे सदोष बताया है।

चतुर्थ अध्यायमें स्वर्गोंके संख्या-सूचक सूत्रमें अन्तर है। प्रथम पाठके अनुसार सोलह स्वर्ग गिनाये गये हैं, पर द्वितीय पाठके अनुसार बारह ही स्वर्ग परिगणित हैं। स्वर्गके देवोंमें प्रविचारको बतलाने वाले सूत्रमें 'शेषाः स्पर्शरूप-

१. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ११३।

२. पंडित सुखलालजी द्वारा सम्पादित तत्त्वार्थसूत्रकी भूमिका।

शब्दमनःप्रवीचाराः' [४।८] के स्थानपर 'शेषाः प्रविचाराः द्वयोर्द्वयोः' [४।९] पाठ आया है। इस द्वितीयपाठमें 'द्वयोर्द्वयोः' पाठ अधिक है। अकलंकने इस पाठकी आलोचनाकर इसे आर्षविरुद्ध बतलाया है। प्रथम सूत्रपाठमें लौकान्तिक देवोंकी स्थितिका प्रतिपादक सूत्र आया है, पर द्वितीय सूत्रपाठमें वह नहीं है।

पाँचवें अध्यायमें द्वितीय सूत्रपाठमें "द्रव्याणि जीवाश्च" यह एक सूत्र है। किन्तु प्रथम सूत्रपाठमें 'द्रव्याणि' [५।२] और 'जीवाश्च' [५।३] ये दो सूत्र हैं। तत्त्वार्थवार्तिकमें अकलंकदेवने 'द्रव्याणि जीवाः'—इस प्रकारके एक सूत्रकी मीमांसा करते हुए एक ही सूत्र रखनेका समर्थन किया है। इसी प्रकार प्रथम सूत्रपाठके 'असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्' [५।८] ये दो सूत्र द्वितीय सूत्रपाठमें स्वीकृत हैं। प्रथम सूत्रपाठमें 'सद् द्रव्यलक्षणम्' [५।२९] यह सूत्र आया है। पर द्वितीय सूत्रपाठमें यह सूत्र नहीं मिलता। इस सूत्रका आशय भाष्यकारने अवश्य स्पष्ट किया है।

इसी प्रकार प्रथम सूत्रपाठमें "बन्धेऽधिको पारिणामिकौ" [५।३६] सूत्र आया है। इसके स्थानपर द्वितीय सूत्रपाठमें "बन्धे समधिकौ पारिणामिकौ" [५।३६] सूत्र है। आचार्य अकलंकदेवने 'समधिकौ' पाठका आलोचना करते हुए उसे आर्षविरुद्ध बतलाया है और अपने पक्षके समर्थनमें षट्खण्डागमका प्रमाण दिया है।

प्रथम सूत्रपाठके "कालश्च" [५।३९] सूत्रके स्थानपर दूसरे सूत्रपाठमें "कालश्चेत्येके" [५।३८] सूत्र आया है। इस अन्तरका कारण यह है कि दिगम्बर परम्परामें कालको द्रव्य माना गया है। पर श्वेताम्बर परम्परामें कालद्रव्यके सम्बन्धमें मतभेद है।

द्वितीय सूत्रपाठके 'अनादिरादिमांश्च' [५।४२], 'रूपिष्वादिमान्' [५।४३] और 'योगोपयोगौ जीवेषु' [५।४४] ये तीन सूत्र प्रथम सूत्रपाठमें नहीं है। इन सूत्रोंमें आये हुए सिद्धान्तोंकी समीक्षा अकलंकदेवने की है।

षष्ठ अध्यायमें आये हुए सूत्र दोनों ही सूत्रपाठोंमें सिद्धान्तकी दृष्टिसे समान हैं। पर कहीं-कहीं प्रथम सूत्रपाठके एक ही सूत्रके दो सूत्र द्वितीय सूत्रपाठमें मिलते हैं। प्रथम सूत्रपाठमें "शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य" [६।३] सूत्र आयाहै। द्वितीय सूत्रपाठमें इसके "शुभः पुण्यस्य" [६।३] और "अशुभः पापस्य" [६।४] ये दो सूत्र मिलते हैं। इसी प्रकार प्रथम सूत्रपाठमें "अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य" [६।१७] और "स्वभावमार्दवञ्च" [६।१८] ये दो सूत्र आये हैं। पर द्वितीय सूत्रपाठमें इन दोनोंके स्थानपर "अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य" [६।१८] यह एक सूत्र प्राप्त होता है।

इस षष्ठ अध्यायमें प्रथम सूत्रपाठमें "सम्यक्त्वञ्च" [६।२१] सूत्र आया है। पर द्वितीय सूत्रपाठमें यह सूत्र नहीं मिलता है।

सप्तम अध्यायमें कई सूत्रोंमें शाब्दिक अन्तर आया है। कुछ सूत्र ऐसे भी हैं जो प्रथम सूत्रपाठमें उपलब्ध हैं, पर द्वितीयमें नहीं। प्रथम सूत्रपाठमें व्रतोंको स्थिर करनेके लिए अहिंसादिव्रतोंकी पाँच-पाँच भावनाएँ बतलायी गयी हैं। इन भावनाओंका अनुचिन्तन करनेसे व्रत स्थिर रहते हैं। अतः प्रथम सूत्रपाठमें अहिंसाव्रतकी "वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च" [७।४] सत्याणुव्रतकी "क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणञ्च पञ्च" [७।५] अचौर्यव्रतकी "शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्य-शुद्धि-सधर्माविसंवादाः पञ्च।" [७।६], ब्रह्मचर्यव्रतकी "स्त्रीरागकथाश्रवण-तन्मनोहराङ्गनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च" [७।७] और परिग्रहत्यागव्रतके "मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषय-राग-द्वेष-वर्जनानि पञ्च" [७।८]—भावनाबोधक सूत्र आये हैं। ये पाँचों सूत्र द्वितीय सूत्रपाठमें नहीं हैं। किन्तु तृतीय सूत्रके भाष्यमें इनका भाव आ गया है।

अष्टम अध्यायमें प्रथम सूत्रपाठमें "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः" [८।२] सूत्र आया है। द्वितीय सूत्रपाठमें इसके दो रूप मिलते हैं। प्रथम सूत्रमें "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्दपुद्गलानादत्ते" [८।२] अंश आया है और दूसरे सूत्रमें "स बन्धः" [८।३] सूत्र आया है। इस प्रकार एक ही सूत्रके दो सूत्र रूप द्वितीय सूत्रपाठमें हो गये हैं। प्रथम सूत्रपाठमें "मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानाम्" [८।६] सूत्र आया है। पर द्वितीय सूत्रपाठमें इसका संक्षिप्त रूप "मत्यादीनाम्" [८।७] उपलब्ध होता है। आचार्य अकलंकदेवने "मत्यादीनाम्" पाठकी समीक्षा कर प्रथम सूत्रपाठमें आये हुए सूत्रको तर्कसंगत बतलाया है। इसी प्रकार प्रथमसूत्रपाठके "दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम्" [८।१३] सूत्रके स्थानपर द्वितीय सूत्रपाठमें "दानादीनाम्" [८।१४] संक्षिप्त सूत्र आया है। भाष्यकारने "अन्तरायः पञ्चविधः। तद्यथा—दानस्यान्तरायः लाभस्यान्तरायः, भोगस्यान्तराय उपभोगस्यान्तरायः, वीर्यान्तराय इति" उपर्युक्त प्रथम सूत्रपाठमें आये हुए अन्तरायके भेदोंका नामोल्लेख किया है। पुण्यप्रकृतियोंका प्रतिपादन करनेवाले सूत्रोंमें मौलिक अन्तर आया है। प्रथम सूत्रपाठमें पुण्यप्रकृतियोंकी गणना करते हुए लिखा है "सद्वेद्य-शुभायुर्नाम-गोत्राणि पुण्यम्" [८।२५] और "अतोऽन्यत् पापम्" [८।२६] कहकर पापप्रकृतियोंकी गणना की है। द्वितीय सूत्रपाठमें पुण्यप्रकृतियोंका कथन करते हुए "सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुष-वेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्" [८।२६] लिखा है। इस सूत्रके भाष्यमें "अतोऽ-

न्यत् पापम्" कहकर पापप्रकृतियोंकी गणना की है। मूल सूत्रपाठमें पापप्रकृतियोंकी परिगणना करानेवाला कोई सूत्र नहीं आया है।

नवम अध्यायके अनेक सूत्रोंमें शाब्दिक भेद पाया जाता है। प्रथम सूत्रपाठमें "सामायिक-छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातमिति चारित्रम्' [९।१८] सूत्र आया है। द्वितीय सूत्रपाठमें इस सूत्रका रूप प्रारम्भमें ज्यों-का-त्यों है, पर अन्तमें 'यथाख्यातानि चारित्रम्' कर दिया गया है। ध्यानका स्वरूप बतलाते हुए प्रथम सूत्रपाठमें "उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्" सूत्र आया है। पर द्वितीय सूत्रपाठमें इस सूत्रके दो रूप उपलब्ध होते है। प्रथम सूत्र "उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्" [९।२७] और द्वितीय सूत्र "आ मुहूर्तात्" [९।२८] प्राप्त होता है। इस प्रकार एक ही सूत्र दो सूत्रोंमें विभक्त है। धर्मध्यानका कथन करने वाले प्रसंगमें धर्मध्यानके स्वामीको लेकर दोनों सूत्रपाठोंमें मौलिक अन्तर है। प्रथम सूत्रपाठमें धर्मध्यानके प्रतिपादक "आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्म्यम्" [९।३६] सूत्रके अन्तमें स्वामीका विधायक 'अप्रमत्तसंयतस्य' अंश नहीं है। जबकि द्वितीय सूत्रपाठमें है तथा दूसरे सूत्रपाठमें इस सूत्रके बाद जो "उपशान्तक्षीणकषाययोश्च" [९।३८] सूत्र आया है वह भी प्रथम सूत्रपाठमें नहीं है।

दशम अध्यायमें प्रथम सूत्रपाठका "बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" [१०।२] सूत्र द्वितीय सूत्रपाठमें "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्" [१०।२] तथा "कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः" इन दो सूत्रोंके रूपमें मिलता है। इसी प्रकार प्रथम सूत्रपाठके दशम अध्यायके तृतीय-चतुर्थ सूत्र द्वितीय सूत्रपाठमें एक सूत्रके रूपमें संयुक्त मिलते हैं। "औपशमिकादिभव्यत्वानाञ्च" [१०।३] सूत्रके स्थानपर "औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः" [१०।४] पाठ मिलता है। प्रथम सूत्रपाठके सप्तम और अष्टम सूत्र द्वितीय सूत्रपाठमें नहीं हैं। उनकी पूर्ति भाष्यमें की गयी है।

इस प्रकार दोनों सूत्रपाठोंका समीक्षात्मक अध्ययन करनेसे अवगत होता है कि गृद्धपिच्छाचार्यके मूल सूत्रपाठमें वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थाधिगमभाष्य लिखते समय मूल सूत्रपाठमें यत्किञ्चित् अन्तर कर किन्हीं सूत्रोंको छोड़ दिया और कुछ नये सूत्र जोड़ दिये हैं। तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका अध्ययन करनेसे यह भी स्पष्ट होता है कि भाष्यमें जो सूत्रपाठ आये हैं उनमेंसे सिद्धसेनगणिकी टीकामें अनेक पाठभेदोंका उल्लेख किया गया है। अतः भाष्यसम्मत सूत्रपाठसे सिद्धसेनगणि और हरिभद्रके सूत्रपाठोंमें अन्तर पाया जाता है।

मङ्गलाचरण

तत्त्वार्थसूत्रके मङ्गलाचरणके विषयमें पर्याप्त विवाद रहा। कुछ विद्वानोंका मत था कि सर्वार्थसिद्धिकी उत्थानिकामें दिये गये प्रश्नोत्तरको देखते हुए तत्त्वार्थसूत्रकारने मङ्गलाचरण किये बिना ही तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की है। 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मङ्गल-पद्यको जो तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण बताया जाता है वह सर्वार्थसिद्धिके आरम्भमें निबद्ध होने तथा सर्वार्थसिद्धिकारकी उसपर व्याख्या उपलब्ध न होनेसे उसीका मङ्गलाचरण है, तत्त्वार्थसूत्रका नहीं। पर इसके विपरीत दूसरे अनेक विद्वानोंका मत है कि सूत्रकारने तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें मङ्गलाचरण किया है और वह 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि श्लोक उसीका मङ्गलाचरण है। सर्वार्थसिद्धिमें वह मूल ग्रन्थसे अनुसृत हुआ है। तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ परम आस्तिक थे। वे मङ्गलाचरणकी प्राचीन परम्पराका उल्लंघन नहीं कर सकते। अतः 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि पद्य उन्हीं द्वारा तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें निबद्ध मङ्गलाचरण है। टीकाकार पूज्यपाद-देवनन्दिने उसे अपनी टीका सर्वार्थसिद्धिमें अपना लिया है और इसीसे उसकी उन्होंने व्याख्या भी नहीं की।

डॉक्टर दरबारीलाल कोठियाने 'तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण' शीर्षक दो विस्तृत निबन्धोंमें[1] आचार्य विद्यानन्दके प्रचुर ग्रन्थोल्लेखों एवं अन्य प्रमाणोंसे सबलताके साथ सिद्ध किया है कि तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' [१।१] सूत्रसे पहले मङ्गलाचरण किया गया है और वह उक्त महत्त्वपूर्ण मङ्गलश्लोक ही है, जिसे विद्यानन्दने[2] सूत्रकार एवं शास्त्रकार-रचित 'स्तोत्र' प्रकट करते हुए 'तीर्थोपम', 'प्रथित-पृथु-पथ' और 'स्वामिमीमांसित' बतलाया है। विद्यानन्दके इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि स्वामी समन्तभद्रने इसी मङ्गलश्लोकके व्याख्यानमें अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'आप्तमीमांसा' लिखी और स्वयं विद्यानन्दने भी उसीके व्याख्यानमें आप्तपरीक्षा रची। सूत्रकार एवं शास्त्रकार पदोंसे विद्यानन्दका अभिप्राय तत्त्वार्थसूत्रकारसे है, तत्त्वार्थवृत्तिकारसे नहीं है। सर्वार्थसिद्धिमें उसे अपना मङ्गलाचरण बना लिया गया है और इसी कारण उसकी व्याख्या भी नहीं की गयी।

अतः 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मङ्गल-पद्य तत्त्वार्थसूत्रका ही आचार्य गृद्धपिच्छ द्वारा रचित मङ्गलाचरण है।

---

१. अनेकान्त वर्ष ५, अङ्क ६, ७ व १०, ११, वीर सेवा मन्दिरः सरसावा (सहारनपुर)

२. आप्तपरीक्षा, कारिका ३ एवं १२३, वीर सेवामन्दिर-संस्करण, सन् १९४९।

रचना-प्रतिभा एवं रचना-शैली

गृद्धपिच्छाचार्यके तत्त्वार्थसूत्रका अध्ययन करनेसे अवगत होता है कि उन्होंने 'षट्खण्डागम', 'कषायपाहुड', 'कुन्दकुन्द-साहित्य', 'भगवती आराधना' 'मूलाचार' आदि ग्रन्थोंका सम्यक् परिशीलन कर इस सूत्रग्रन्थकी रचना की है। द्रव्यानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोगका कोई भी विषय उनसे छूटने नहीं पाया है। आधुनिक विषयोंकी दृष्टिसे भूगोल, खगोल, आचार, अध्यात्म, द्रव्य, गुण, पर्याय, पदार्थ, सृष्टिविद्या, कर्म-विज्ञान आदि विषय भी चर्चित हैं। आगमके अन्य प्रतिपाद्य पदार्थोंका भी प्रतिपादन इस सूत्रग्रन्थमें पाया जाता है। अतएव गृद्धपिच्छाचार्य श्रुतधरपरम्पराके बहुज्ञ आचार्य हैं। अनेक विषयोंको संक्षेपमें प्रस्तुत कर 'गागरमें सागर' भर देनेकी कहावत उन्होंने चरितार्थ की है।

शैलीकी दृष्टिसे यह ग्रन्थ वैशेषिकदर्शनके वैशेषिकसूत्रशैलीमें लिखा गया है। वैशेषिकसूत्रोंमें जहाँ अपने मन्तव्यके समर्थन हेतु तर्क प्रस्तुत किये गये हैं वहाँ तत्त्वार्थसूत्रमें भी सिद्धान्तोंके समर्थनमें तर्क दिये गये हैं।[1]

सूत्रशैलीकी जो विशेषताएँ पहले कही जा चुकी हैं, वे सभी विशेषताएँ इस सूत्रग्रन्थमें विद्यमान हैं। यह रचना इतनी सुसम्बद्ध और प्रामाणिक है कि भगवान् महावीरकी द्वादशाङ्गवाणीके समान इसे महत्व प्राप्त है। गृद्ध-पिच्छाचार्य स्वसमय और परसमयके निष्णात ज्ञाता थे। उन्होंने दार्शनिक विषयोंको सूत्रशैलीमें बड़ी स्पष्टताके साथ प्रस्तुत किया है। संस्कृत-भाषामें सूत्रग्रन्थकी रचनाकर इन्होंने जैन परम्परामें नये युगका आरम्भ किया है। ये ऐसे श्रुतधराचार्य हैं, जिन्होंने एक ओर नवोपलब्ध दृष्टि प्राप्तकर परम्परासे प्राप्त तथ्योंको युगानुरूपमें प्रस्तुत किया है तो दूसरी ओर सांस्कृतिक और आगमिक व्यवस्थाके दायित्वका निर्वाह भी भलीभाँति किया है। फलतः इनके पश्चात् संस्कृत भाषामें भी दार्शनिक, सैद्धान्तिक और काव्यादि ग्रन्थोंका प्रणयन हुआ।

•

---

१. देखिए त० सू० १-३२, ५-३२, ५-३३, १०-६,७,८ आदि सूत्र।

द्वितीय परिच्छेद

सारस्वताचार्य

सारस्वताचार्योंने धर्म-दर्शन, आचार-शास्त्र, न्याय-शास्त्र, काव्य एव पुराण प्रभृति विषयक ग्रन्थोंकी रचना करनेके साथ-साथ अनेक महत्त्वपूर्ण मान्य ग्रन्थोंकी टोकाएं, भाष्य एवं वृत्तियाँ भी रची हैं। इन आचार्योंने मौलिक ग्रन्थ-प्रणयनके साथ आगमकी वशवर्तिता और नई मौलिकताको जन्म देनेकी भीतरी बेचेनीसे प्रेरित हो ऐसे टीका-ग्रन्थोंका सृजन किया है, जिन्हें मौलिकताकी श्रेणीमें परिगणित किया जाना स्वाभाविक है। जहाँ श्रुतधराचार्योंने दृष्टि-प्रवाद सम्बन्धी रचनाएं लिखकर कर्मसिद्धान्तको लिपिबद्ध किया है, वहाँ सारस्वताचार्योंने अपनी अप्रतिम प्रतिभा द्वारा बिभिन्नविषयक वाङ्मयकी रचना की है। अतएव यह मानना अनुचित नहीं है कि सारस्वताचार्यों द्वारा रचित वाङ्मयकी पृष्ठभूमि अधिक विस्तृत और विशाल है।

सारस्वताचार्योंमें कई प्रमुख विशेषताएं समाविष्ट हैं। यहाँ उनकी समस्त

विशेषताओंका निरूपण तो सम्भव नहीं, पर कतिपय प्रमुख विशेषताओंका निर्देश किया जायगा—

१. आगमके मान्य सिद्धान्तोंकी प्रतिष्ठाके हेतु तर्कविषयक ग्रन्थोंका प्रणयन।

२. श्रुतधराचार्यों द्वारा संकेतित कर्म-सिद्धान्त, आचार-सिद्धान्त एवं दर्शन-विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थोंका निर्माण।

३ लोकोपयोगी पुराण, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष प्रभृति विषयोंसे सम्बद्ध ग्रन्थोंका प्रणयन और परम्परासे प्राप्त सिद्धान्तोंका पल्लवन।

४. युगानुसारी विशिष्ट प्रवृत्तियोंका समावेश करनेके हेतु स्वतन्त्र एवं मौलिक ग्रन्थोंका निर्माण।

५. महनीय और सूत्ररूपमें निबद्ध रचनाओंपर भाष्य एवं विवृतियोंका लेखन।

६. संस्कृतकी प्रबन्धकाव्य-परम्पराका अवलम्बन लेकर पौराणिक चरित और आख्यानोंका ग्रथन एवं जैन पौराणिक विश्वास, ऐतिह्य वंशानुक्रम, सम-सामायिक घटनाएं एवं प्राचीन लोककथाओंके साथ ऋतु-परिवर्तन, सृष्टि-व्यवस्था, आत्माका आवागमन, स्वर्ग-नरक, प्रमुख तथ्यों एवं सिद्धान्तोंका संयोजन।

७. अन्य दार्शनिकों एवं तार्किकोंकी समकक्षता प्रदर्शित करने तथा विभिन्न एकान्तवादोंकी समीक्षाके हेतु स्याद्वादकी प्रतिष्ठा करनेवाली रचनाओंका सृजन।

सारस्वताचार्यों में सर्वप्रमुख स्वामीसमन्तभद्र हैं। इनकी समकक्षता श्रुत-धराचार्यों से की जा सकती है। विभिन्नविषयक ग्रन्थ-रचनामें ये अद्वितीय हैं।

आचार्य समन्तभद्र

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः[१]॥

समन्तभद्रादिमहाकवीश्वराः कुवादिविद्याजयलब्धकीर्तयः।
सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कवित्वकांक्षिणि[२]॥

श्रीमत्समन्तभद्रादिकविकुञ्जरसञ्चयम्।
मुनिवन्द्यं जनानन्दं नमामि वचनश्रिये[३]॥

---

१. ज्ञानार्णव १।४१

२. वर्द्धमानसूरि, वराङ्गचरित, सोलापुर-संस्करण १।७

३. अलंकारचिन्तामणि १।३

सारस्वताचार्योंमें सबसे प्रमुख और आद्य आचार्य समन्तभद्र हैं। जिस प्रकार गृद्धपिच्छाचार्य संस्कृतके प्रथम सूत्रकार है, उसी प्रकार जैन वाङ्मयमें स्वामी समन्तभद्र प्रथम संस्कृत-कवि और प्रथम स्तुतिकार हैं। ये कवि होनेके साथ प्रकाण्ड दार्शनिक और गम्भीर चिन्तक भी हैं। इन्हें हम श्रुतधर आचार्यपरम्परा और सारस्वत आचार्यपरम्पराको जोड़नेवाली अटूट शृंखला कह सकते हैं। इनका व्यक्तित्व श्रुतधर आचार्यों से कम नहीं है।

स्तोत्र-काव्यका सूत्रपात आचार्य समन्तभद्रसे ही होता है। ये स्तोत्र-कवि होने के साथ ऐसे तर्ककुशल मनीषी हैं, जिनकी दार्शनिक रचनाओंपर अकलंक और विद्यानन्द जैसे उद्भट आचार्यों ने टीका और विवृत्तियाँ लिखकर मौलिक ग्रन्थ रचयिताका यश प्राप्त किया है। वीतरागी तीर्थंकरकी स्तुतियोंमें दार्शनिक मान्यताओंका समावेश करना असाधारण प्रतिभाका ही फल है।

आदिपुराणमें आचार्य जिनसेनने इन्हें वादित्व, वाग्मित्व, कवित्व और गमकत्व इन चार विशेषणोंसे युक्त बताया है। इतना ही नहीं, जिनसेनने इनको कवि-वेधा कहकर कवियोंको उत्पन्न करनेवाला विधाता भी लिखा है—

कवीनां गमकानाञ्च वादिनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते॥
नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे।
यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः॥[1]

मैं कवि समन्तभद्रको नमस्कार करता हूँ, जो कवियोंसे ब्रह्मा हैं, और जिनके वचनरूप वज्रपातसे मिथ्यामतरूपी पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं।

स्वतन्त्र कविता करनेवाले कवि, शिष्योंको मर्मतक पहुँचानेवाले गमक, शास्त्रार्थ करनेवाले वादी और मनोहर व्याख्यान देनेवाले वाग्मियोंके मस्तक पर समन्तभद्रस्वामीका यश चूड़ामणिके समान आचरण करनेवाला है। वादीभसिंहने अपने 'गद्यचिन्तामणि' ग्रन्थमें समन्तभद्रस्वामीकी तार्किक प्रतिभा एव शास्त्रार्थ करनेकी क्षमताकी सुन्दर व्यंजना की है। समन्तभद्रके समक्ष बड़े-बड़े प्रतिपक्षी सिद्धान्तोंका महत्त्व समाप्त हो जाता था और प्रतिवादी मौन होकर उनके समक्ष स्तब्ध रह जाते थे।

सरस्वतीस्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः।
जयन्ति वाग्वज्रनिपातपाटितप्रतीपराद्धान्तमहीध्रकोटयः[2]॥

---

१. महापुराण, भाग १, १।४३-४४।

२. गद्यचिन्तामणि.।

श्रीसमन्तभद्र मुनीश्वर सरस्वतीकी स्वच्छन्द विहारभूमि थे। उनके वचन-रूपी वज्रके निपातसे प्रतिपक्षी सिद्धान्तरूपी पर्वतोंकी चोटियाँ चूर-चूर हो गयी थीं। उन्होंने जिनशासनकी गौरवमयी पताकाको नीले आकाशमें फहरानेका कार्य किया था। परवादी-पंचानन बर्द्धमानसूरिने समन्तभद्रको 'महाकवीश्वर' और 'सुतर्कशास्त्रामृतसागर' कहकर उनसे कवित्वशक्ति प्राप्त करनेकी प्रार्थना-की है—

समन्तभद्रादिमहाकवीश्वराः कुवादिविद्याजयलब्धकीर्त्तयः।
सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कवित्वकांक्षिणि[1]॥

श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं० १०५ में समन्तभद्रकी सुन्दर उक्तियोंको वादीरूपी हस्तियोंको वश करनेके लिए वज्राकुंश कहा गया है तथा बतलाया है कि समन्तभद्रके प्रभावसे यह सम्पूर्ण पृथ्वी दुर्वादोंकी वार्तासे भी रहित हो गयी थी

समन्तभद्रस्स चिराय जीयाद्वादीभवज्रांकुशसूक्तिजालः।
यस्य प्रभावात्सकलावनीयं वन्ध्यास दुर्व्वादुकवार्त्तयापि॥

स्यात्कारमुद्रित-समस्त-पदार्थपूर्णत्रैलोक्य-हर्म्यमखिलं स खलु व्यनक्ति।
दुर्व्वादुकोक्तितमसा पिहितान्तरालं सामन्तभद्र-वचन-स्फुटरत्नदीपः[2]॥

ज्ञानार्णवके रचयिता शुभचन्द्राचार्यने समन्तभद्रको 'कवीन्द्र-भास्वान्' विशेषणके साथ स्मरण करते हुये उन्हें श्रेष्ठ कवीश्वर कहा है—

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः[3]॥

अजितसेनका 'अलकारचिन्तामणि' और ब्रह्म अजितके 'हनुमच्चरित्' एवं श्रवणबेलगोलाके अभिलेख नं० ५४ और अभिलेख नं० १०८ में समन्तभद्रका स्मरण महाकविके रूपमें किया गया है।

इस प्रकार जैन वाङ्मयमें समन्तभद्र पूर्ण तेजस्वी विद्वान्, प्रभावशाली दार्शनिक, महावादिविजेता और कवि-वेधाके रूपमें स्मरण किये गये हैं। जैन-धर्म और जैनसिद्धान्तके मर्मज्ञ विद्वान होनेके साथ तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार एवं काव्य-कोषादि विषयोंमे पूर्णतया निष्णात थे। अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा इन्होंने तात्कालिक ज्ञान और विज्ञानके प्रायः समस्त विषयोंको आत्मसात्

---

१. वाराङ्गचरित, वर्द्धमानसूरि, प्रकाशक रावजी सखाराम दोशी, १।७।
२. जैनशिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसंख्या १०५, पद्य १७-१८।
३. ज्ञानार्णव १।१४।

कर लिया था। संस्कृत, प्राकृत आदि विभिन्न भाषाओंके पारंगत विद्वान् थे। स्तुतिविद्याग्रन्थसे इनके शब्दाधिपत्यपर पूरा प्रकाश पड़ता है।

दक्षिण भारतमें उच्च कोटिके संस्कृत-ज्ञानको प्रोत्तेजन, प्रोत्साहन और प्रसारण देने वालोंमें समंतभद्रका नाम उल्लेखनीय है। आप ऐसे युगसंस्थापक हैं, जिन्होंने जैन विद्याके क्षेत्रमें एक नया आलोक विकीर्ण किया है। अपने समयके प्रचलित नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, क्षणिकवाद, ब्रह्माद्वैतवाद, पुरुष एवं प्रकृतिवाद आदिको समीक्षाकर स्याद्वाद-सिद्धांतकी प्रतिष्ठा की है। 'अलंकारचिन्तामणि'में 'कविकुञ्जर', 'मुनिबंद्य' और 'जनानन्द' आदि विशेषणों द्वारा अभिहित किया गया है। श्रवणवेलगोलाके अभिलेखोंमें तो इन्हें जिनशासनके प्रणेता और भद्र-मूर्ति कहा गया है। इस प्रकार वाङ्मयसे समन्तभद्रके शास्त्रीय ज्ञान और प्रभाव-का परिचय प्राप्त होता है।

जीवन-परिचय

समन्तभद्रका जन्म दक्षिणभारतमें हुआ था। इन्हें चोल राजवंशका राज-कुमार अनुमित किया जाता है। इनके पिता उरगपुर (उरैपुर)के क्षत्रिय राजा थे। यह स्थान कावेरी नदीके तटपर फणिमण्डलके अंतर्गत अत्यंत समृद्धिशाली माना गया है। श्रवणवेलगोलाके दौरबलि जिनदास शास्त्रीके भण्डारमें पायी जाने वाली आप्तमीमांसाकी प्रतिके अंतमें लिखा है—"इति फणिमंडलालंकारस्योरग-पुराधिपसूनोः श्रीस्वामीसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्"—इस प्रशस्ति-वाक्यसे स्पष्ट है कि समन्तभद्र स्वामीका जन्म क्षत्रियवंशमें हुआ था और उनका जन्मस्थान उरगपुर है। 'राजावलिकथे'में आपका जन्म उत्कलिका ग्राममें होना लिखा है, जो प्रायः उरगपुरके अंतर्गत ही रहा होगा। आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारका अनुमान है कि यह उरगपुर उरैपुरका ही संस्कृत अथवा श्रुतमधुर नाम है, चोल राजाओंकी सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी थी। 'त्रिचिना-पोली'का ही प्राचीन नाम उरयूर था। यह नगर कावेरीके तटपर बसा हुआ था, बन्दरगाह था और किसी समय बड़ा ही समृद्धशाली जनपद था।

इनका जन्म नाम शांतिवर्मा बताया जाता है। 'स्तुतिविद्या' अथवा 'जिन-स्तुतिशतम्'में, जिसका अपर नाम 'जिनशतक' अथवा 'जिनशतकालंकार' है, "गत्वैकस्तुतमेव"[1] आदि पद्य आया है। इस पद्यमें कवि और काव्यका नाम चित्रबद्धरूपमें अंकित है। इस काव्यके छह आरे और नव बलय वाली चित्ररचना परसे 'शांतिवर्मकृतम्' और 'जिनस्तुतिशतम्' ये दो पद निकलते हैं। लिखा

१. स्तुतिविद्या, पद्य ११६।

है—"षडरं नववलयं चक्रमालिख्य सप्तमवलये शांतिवर्मकृतं इति भवति।" "चतुर्थवलये जिनस्तुतिशतं इति च भवति अतः कवि-काव्यनामगर्भं चक्रवृत्तं भवति"[1]। इससे स्पष्ट है कि आचार्य समन्तभद्रने 'जिनस्तुतिशतम्'का रचयिता शांतिवर्मा कहा है, जो उनका स्वयं नामांतर संभव है। यह सत्य है कि यह नाम मुनि अवस्थाका नहीं हो सकता, क्योंकि वर्मान्त नाम मुनियोके नहीं होते। संभव है कि माता-पिताके द्वारा रखा गया यह समन्तभद्रका जन्मनाम हो। 'स्तुतिविद्या' किसी अन्य विद्वान द्वारा रचित न होकर समन्तभद्रकी ही कृति मानी जाती है। टीकाकार महाकवि नरसिंहने—"तार्किकचूड़ामणि श्रीमत् समन्तभद्राचार्यविरचित" सूचित किया है और अन्य आचार्य और विद्वानोंने भी इसे समन्तभद्रकी कृति कहा है। अतएव समन्तभद्रका जन्मनाम शांतिवर्मा रहा हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है।

मुनिपद और भस्मक व्याधि

मुनि-दीक्षा-ग्रहण करनेके पश्चात् जब ये मणुवकहल्ली स्थानमें विचरण कर रहे थे कि उन्हें भस्मक व्याधि नामक भयानक रोग हो गया, जिससे दिगम्बर मुनिपदका निर्वाह उन्हें अशक्य प्रतीत हुआ। अतएव उन्होंने गुरुसे समाधिमरण धारण करनेकी अनुमति माँगी। गुरुने भविष्णु शिष्यको आदेश देते हुए कहा—"आपसे धर्म और साहित्यको बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं, अतः आप दीक्षा छोड़कर रोग-शमनका उपाय करें। रोग दूर होनेपर पुनः दीक्षा ग्रहण कर लें"। गुरुके इस आदेशानुसार समन्तभद्र रोगोपचारके हेतु नाग्न्यपदको छोड़कर सन्यासी बन गये और इधर-उधर विचरण करने लगे। पश्चात् वाराणसीमें शिवकोटि राजाके भीमलिंग नामक शिवालयमें जाकर राजाको आशीर्वाद दिया और शिवजीको अर्पण किये जाने वाले नैवेद्यको शिवजीको ही खिला देनेकी घोषणा की। राजा इससे प्रसन्न हुआ और उन्हें शिवजीको नैवेद्य भक्षण करानेकी अनुमति दे दी। समन्तभद्र अनुमति प्राप्त कर शिवालयके किवाड़ बन्द कर उस नैवेद्यको स्वयं ही भक्षण कर रोगको शांत करने लगे। शनैः शनैः उनकी व्याधिका उपशम होने लगा और भोगकी सामग्री बचने लगी। राजाको इसपर सन्देह हुआ। अतः गुप्तरूपसे उसने शिवालयके भीतर कुछ व्यक्तियोंको छिपा दिया। समन्तभद्रको नैवेद्यका भक्षण करते हुए छिपे व्यक्तियोंने देख लिया। समन्तभद्रने इसे उपसर्ग समझ कर चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी स्तुति आरंभ की। राजा शिवकोटिके डरानेपर भी समन्तभद्र एकाग्रचित्तसे स्तवन करते रहे, जब ये चन्द्रप्रभ स्वामीकी स्तुति कर रहे थे कि भीमलिंग शिवकी पिण्डी विदीर्ण हो

१. स्तुतिविद्यां, वसुनन्दि, पद्य ११६, पृ० १४१।

गयी और मध्यसे चन्द्रप्रभ स्वामीका मनोज्ञ स्वर्णविम्ब प्रकट हो गया। समन्तभद्रके इस महात्म्यको देखकर शिवकोटि राजा अपने भाई शिवायन सहित आश्चर्य चकित हुआ। समन्तभद्रने वर्द्धमान पर्यन्त चतुर्विंशशति तीर्थङ्करोंकी स्तुति पूर्ण हो जानेपर राजाको आशीर्वाद दिया।

यह कथानक 'राजाबलिकथे'में उपलब्ध है। सेनगणकी पट्टावलिसे भी इस विषयका समर्थन होता है। पट्टावलीमें भीमलिंग शिवालयमें शिवकोटि राजाके समन्तभद्र द्वारा चमत्कृत और दीक्षित होनेका उल्लेख मिलता है। साथ ही उसे नवतिलिंग देशका राजा सूचित किया है, जिसकी राजधानी सम्भवतः काञ्ची रही होगी। यहाँ यह अनुमान लगाना भी अनुचित नहीं है कि सम्भवतः यह घटना काशीकी न होकर काञ्चीकी है। काञ्चीको दक्षिण काशी भी कहा जाता रहा है—"नवतिलिंगदेशाभिरामद्राक्षाभिरामभीमलिङ्गस्त्रयन्वादिस्तोटकोत्कीरण ? रुद्रसान्द्रचंद्रिकाविशदयशःश्रीचन्द्रजिनेन्द्रसद्दर्शनसमुत्पन्नकौतूहलकलितशिवकोटिमहाराजतपोराज्यस्थापकाचार्यश्रीमत्समन्तभद्रस्वामिनाम्"[1]

इस तथ्यका समर्थन श्रवणबेलगोलाके एक अभिलेखसे भी होता है। अभिलेखमें समन्तभद्र स्वामीके भस्मक रोगका निर्देश आया है। आपत्काल समाप्त होने पर उन्होंने पुनः मुनि-दीक्षा ग्रहण की। बताया है—

> "वन्द्यो भस्मक-भस्म-सात्कृति-पटुः पद्मावतीदेवता-
> दत्तोदात्त-पदस्व-मन्त्र-वचन-व्याहूत-चन्द्रप्रभः ।
> आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ,
> जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः ॥"[2]

अर्थात् जो अपने भस्मक रोगको भस्मसात् करनेमें चतुर हैं, पद्मावती नामक देवीकी दिव्यशक्तिके द्वारा जिन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति हुई, जिन्होंने अपने मन्त्रवचनोंसे चन्द्रप्रभको प्रकट किया और जिनके द्वारा यह कल्णाणकारी जैन मार्ग इस कलिकालमें सब ओरसे भद्ररूप हुआ, वे गणनायक आचार्य समन्तभद्र बार-बार वन्दना किये जाने योग्य हैं।

यह अभिलेख शक संवत् १०२२ का है। अतः समन्तभद्रकी भस्मक व्याधिकी कथा ई० सन्के १०वीं, ११वीं शताब्दीमें प्रचलित रही है।

ब्रह्म नेमिदत्तके आराधनाकथाकोशमें भी शिवकोटि राजाका उल्लेख है। राजाके शिवालयमें शिव-नैवेद्यसे भस्मक-व्याधिका शान्ति और चन्द्रप्रभजिनेन्द्रकी स्तुति पढ़ते समय जिनबिम्बका प्रादुर्भूत होना साथ-साथ वर्णित है। यह

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण १, पृ० ३८।

२. जैन शिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख संख्या ५४, पृ० १०२।

भी बताया गया है कि शिवकोधि महाराजने जिनदीक्षा भी धारण की थी।

ब्रह्मनेमिदत्तने शिवकोटिको काञ्ची अथवा नव तैलङ्ग देशका राजा न लिखकर वाराणसीका राजा लिखा है। भारतीय इतिहासके आलोडनसे न तो काशीके शिवकोटि राजाका ही उल्लेख मिलता है और न काञ्चीके ही।

प्रो० ए० चकवर्तीने पञ्चास्तिकायकी अपनी अंग्रेजी प्रस्तावनामें बताया है कि काञ्चीका एक पल्लवराजा शिवस्कन्ध वर्मा था, जिसने 'मायदावोलु' का दान-पत्र लिखाया है। इस राजाका समय विष्णुगोपसे पूर्व प्रथम शताब्दी ईस्वी है। यदि यही शिवकोटि रहा हो, तो समन्तभद्रके साथ इसका सम्बन्ध घटित हो सकता है। 'राजावलि कथे', पट्टावलि, एवं श्रवणबेलगोलाके अभिलेखमें शिवकोटिका निर्देश जिस रूपमें किया गया है उस रूपके अध्ययनसे उसके अस्तित्वसे इंकार नहीं किया जा सकता है।

ब्रह्म नेमिदत्तने समन्तभद्रकी कथामें काशीका उल्लेख किया है। पर यह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता। कथाके ऐसे भी कुछ अंग हैं जो यथार्थ नहीं मालूम होते। कथामें आया है—"काञ्चीमें उस समय भस्मक व्याधिको नाश करनेके लिए स्निग्ध भोजनोंकी सम्प्राप्तिका अभाव था। अतः वे काञ्ची छोड़कर उत्तरकी ओर चल दिये। वे पुण्ड्रेन्द्रनगरमें पहुँचे। यहाँ बौद्धोंकी महती दानशाला देखकर उन्होंने बौद्ध भिक्षुका रूप धारण किया। पर जब वहाँ भी महाव्याधिका उपशम नहीं हुआ तो वे वहाँसे निकलकर अनेक नगरोंमें घूमते हुए दशपुर नगरमें पहुँचे। यहाँ भागवतोंका उन्नत मठ देखकर वे विशिष्ट आहारप्राप्तिकी इच्छासे बौद्ध भिक्षुका वेष त्याग वैष्णव संन्यासी बन गये। यहाँके विशिष्ट आहार द्वारा भी जब उनकी भस्मक व्याधि शान्त न हुई, तो वे नाना देशोंमें घूमते हुए वाराणसी पहुँचे और वहाँ उन्होंने योगि-लिङ्ग धारण करके शिवकोटि राजाके शिवालयमें प्रवेश किया। यहाँ घी-दूध-दही-मिष्टान्न आदि नाना प्रकारके नैवेद्य शिवके भोगके लिए तैयार किये जाते थे। समन्तभद्रने शिवकोटि राजासे निवेदन किया कि वे अपनी दिव्यशक्ति द्वारा समस्त नैवेद्यको शिवको खिला सकते हैं। राजाका आदेश प्राप्त कर समन्तभद्रने मन्दिरके कपाट बन्द कर समस्त नैवेद्य स्वयं ग्रहण किया और आचमनके पश्चात् किवाड़ खोल दिये। राजा शिवकोटिको महान आश्चर्य हुआ कि मनोंकी परिमाणमें उपस्थित किया गया नैवेद्य साक्षात् शिवने ही अवतरित होकर ग्रहण किया है। योगिराजकी शक्ति अपूर्व है, अतएव उनको शिवालयका प्रधान पुरोहित नियुक्त किया। समन्तभद्र प्रतिदिन नैवेद्य प्राप्त करने लगे और शनैः शनैः उनकी भस्मक व्याधि शान्त होने लगी। मन्दिरके प्रमुख पुरोहितोंने

ईर्ष्यावश समन्तभद्रकी देखरेख की और राजाको सूचना दी कि तथाकथित योगि शिवको नैवेद्य न ग्रहण कराकर स्वयं नैवेद्य ग्रहण कर लेता है। राजाके आदेशानुसार एक दिन समन्तभद्रको भोजन करते हुए पकड़ लिया गया और उनसे शिवको नमस्कार करनेके लिए कहा। समन्तभद्रने उत्तर दिया, "रागी-द्वेषी देव मेरे नमस्कारको सहन नहीं कर सकता है। राजाने आज्ञा दी कि अपना सामर्थ्य दिखलाकर स्ववचनको सिद्ध करो।

रात्रिमें समन्तभद्रको वचन-निर्वाहकी चिन्ता हुई, क्योंकि प्रातःकाल ही उनको अपनी परीक्षामें उत्तीर्ण होना था। उनकी चिन्ताके कारण अम्बिका देवीका आसन कम्पित हुआ और वह दौड़कर समन्तभद्रके समक्ष उपस्थित हुई और उन्हें आश्वासन दिया। प्रातःकाल होनेपर अपार भीड़ एकत्र हुई और समन्तभद्रने अपना स्वयंभूस्तोत्र आरम्भ किया। जिस समय वे चन्द्रप्रभ भगवानकी स्तुति करते हुए 'तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम्' यह वाक्य पढ़ रहे थे, उसी समय वह शिवलिङ्ग खण्ड-खण्ड हो गया और उसके स्थानपर चन्द्रप्रभ भगवानकी चतुर्मुखी प्रतिमा प्रकट हुई। राजा शिवकोटि समन्तभद्रके इस महत्त्वको देखकर आश्चर्यचकित हो गया और उसने समन्तभद्रसे उनका परिचय पूछा। समन्तभद्रने उत्तर देते हुए कहा—

"काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः।
पुण्ड्रोण्डे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्॥
वाराणस्यामभूवं शशकरधवलः पाण्डुराङ्गस्तपस्वी।
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी[1]॥"

मैं काञ्चीमें नग्नदिगम्बर यतिके रूपमें रहा, शरीरमें रोग होनेपर पुण्ड्र-नगरीमें बौद्ध भिक्षु बनकर मैंने निवास किया। पश्चात् दशपुर नगरमें मिष्टान्न-भोजी परिव्राजक बनकर रहा। अनन्तर वाराणसीमें आकर शैव तपस्वी बना। हे राजन्! मैं जैननिर्ग्रन्थवादी—स्याद्वादी हूँ। यहाँ जिसकी शक्ति वाद करनेकी हो वह मेरे सम्मुख आकर वाद करे। द्वितीय पद्यमें आया है—

पूर्वं पाटलिपुत्र-मध्य-नगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सङ्कटं
वादार्थी विचराम्यहन्नरपते शार्दूलविक्रीडितम्[2]॥

1. विद्वद्रत्नमाला, पृ० १६६।
2. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख संख्या-५४, पद्य-७, पृ० १०२।

मैंने पहले पाटलिपुत्र नगरमें वादकी भेरी बजाई। पुनः मालवा, सिन्धु देश, ढक्क—ढाका(बंगाल), काञ्चीपुर और वैदिश—विदिशा—भेलसाके आसपासके प्रदेशोंमें भेरी बजाई। अब बड़े-बड़े वीरोंसे युक्त इस करहाटक-कराड़, जिला सतारा, नगरको प्राप्त हुआ हूँ। इस प्रकार हे राजन्! मैं वाद करनेके लिए सिंहके समान इतस्ततः क्रीड़ा करता फिरता हूँ।

राजा शिवकोटिको समन्तभद्रका चमत्कारक उक्त आख्यान सुनकर विरक्ति हो गयी और वह अपने पुत्र श्रीकण्ठको राज्य देकर प्रव्रजित हो गया। समन्तभद्रने भी गुरुके पास जाकर प्रायश्चित्त ले पुनः दीक्षा ग्रहण की।

ब्रह्म नेमिदत्तके आराधनाकथा-कोषकी उक्त कथा प्रभाचन्द्रके गद्यात्मक लिखे गये कथाकोषके आधारपर लिखी गयी है। बुद्धिवादीको दृष्टिसे उक्त कथाका परीक्षण करनेपर समस्त तथ्य बुद्धिसंगत प्रतीत नहीं होते हैं, फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि समन्तभद्रको भस्मक व्याधि हुई थी और उसका शमन किसी शिवकोटिनामक राजाके शिवालयमें जानेपर हुआ था। हमारा अनुमान है कि यह घटना दक्षिण काशी अर्थात् काञ्चीकी होनी चाहिए।

गुरु-शिष्यपरम्परा

समन्तभद्रकी गुरु-शिष्यपरम्पराके सम्बन्धमें अभी तक निर्णीत रूपसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। समस्त जैन वाङ्मयमें समन्तभद्रके सम्बन्धमें प्रशंसात्मक उक्तियाँ मिलती हैं। समन्तभद्र वर्धमान स्वामीके तीर्थको सहस्रगुनी वृद्धि करने वाले हुए और इन्हें श्रुतकेवलिऋद्धि प्राप्त थी। चन्नरायपट्टण ताल्लुकेके अभिलेख न० १४९में श्रुतकेवली-संतानको उन्नत करने वाले समन्तभद्र बताये गये हैं—

"श्रुतकेवलिगलु पलवरुम्
अतीतर् आद् इम्बलिक्के तत्सन्तानो—।
न्नतियं समन्तभद्र—
वृतिपर् त्रलेन्दरू समस्तविद्यानिधिगल्॥"[1]

यह अभिलेख शक संवत् १०८७का है। इसमें समन्तभद्रको श्रुतकेवलियोंके समान कहा गया है। एक अभिलेखमें बताया है कि श्रुतकेवलियों और अन्य आचार्योंके पश्चात् समन्तभद्रस्वामी श्रीवर्धमानस्वामीके तीर्थकी सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए अभ्युदयको प्राप्त हुए।

"श्रीवर्द्धमानस्वामिगलु तीर्त्थदोलु केवलिगलु ऋद्धिप्राप्तरूं श्रुतकेवलिगलुं

१. एपिग्राफिया कर्णाटिका, पंचम जिल्द, अभिलेखन नं०-१४९।

पलरूं सिद्धसाध्यर् आगे तत्.........त्थ्यंमं सहस्रगणं माडि समन्तभद्र—स्वामिगलु सन्दर्...........।"[1]

इन अभिलेखोंसे इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि समन्तभद्र श्रुतधरोंकी परम्पराके आचार्य थे। इन्हें जो श्रुतपरम्परा प्राप्त हुई थी, उस श्रुतपरम्पराको इन्होंने बहुत ही वृद्धिगत किया।

विक्रमकी १४ वीं शताब्दीके विद्वान् कवि हस्तिमल्ल और 'अय्यप्पार्यने' 'श्रीमूलसंघव्योमनेन्दु' विशेषण द्वारा इनकी मूलसंघरूपी आकाशका चन्द्रमा बताया हैं। इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र मूलसंघके आचार्य थे।

श्रवणबेलगोल्के अभिलेखोंसे ज्ञात होता है कि भद्रबाहु श्रुतकेवलीके शिष्य चन्द्रगुप्त, चन्द्रगुप्त मुनिके वंशज पद्मनन्दि अपरनाम कुन्दकुन्द मुनिराज, उनके वंशज गृद्धपिच्छाचार्य और गृद्धपिच्छके शिष्य बलाकपिच्छाचार्य और उनके वंशज समन्तभद्र हुए। अभिलेखमें बताया है—

"श्रीगृद्धपिच्छ-मुनिपस्य बलाकपिच्छः
शिष्योऽजनिऽष्टभुवनत्रयवर्त्तिकीर्तिः।
चारित्रचञ्चुरखिलावनिपाल-मौलि-
माला-शिलीमुख-विराजितपादपद्मः॥
एवं महाचार्यपरम्परायां स्यात्कारमुद्राङ्कितत्त्वदीपः।
भद्रस्समन्ताद्गुणतो गणीशस्समन्तभद्रोऽजनि वादिसिंहः॥"[2]

इन पद्योंसे विदित है कि समन्तभद्र कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छाचार्य आदि महान् आचार्योंकी परम्परामें हुए थे।

सेनगणकी पट्टावलिमें[3] समन्तभद्रको सेनगणका आचार्य सूचित किया है। यद्यपि इस पट्टावलीमें आचार्योंकी क्रमबद्ध परम्परा अंकित नहीं की गयी है, तो भी इतना स्पष्ट है कि समन्तभद्रको उसमें सेनगणका आचार्य परिगणित किया है।

श्रवणबेलगोलाके अभिलेख नं० १०८ में नन्दि, सेन आदि चार प्रकारके संघ-भेदका भट्टाकलंकदेवके स्वर्गारोहणके पश्चात् उल्लेख है। परन्तु समन्तभद्र अकलंकदेवसे बहुत पहले हो चुके हैं। अकलंकदेवसे पहलेके साहित्यमें इन चार प्रकारके गणोंका कोई उल्लेख भी दिखलाई नहीं पड़ता है। यद्यपि इन्द्रनन्दिके श्रुतावतार एवं अभिलेख नं० १०५में इन चारों संघोंका प्रवर्तक अर्हद्बलि आचार्यको

१. बेलूर तालुकेका कन्नड़ी अभिलेख न०-१७।
२. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख संख्या ४०, पद्य ८-९, पृ० २५।
३. जैन सिद्धान्त भास्कर, १।१, जैन सिद्धान्त भवन, आरा।

लिखा है। पर श्रुतावतार अकलंकदेवसे पश्चात्वर्ती रचना है।

तिरूमकूडलू नरसिपुर ताल्लुकेके शिलालेख नं० १०५में समन्तभद्रको द्रमिल संघके अन्तर्गत नन्दिसंघकी अरूंगल शाखाका विद्वान् सूचित किया है।

अतः यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है कि समन्तभद्र अमुक गण या संघके थे। इतना तथ्य है कि समन्तभद्र गृद्धपिच्छाचार्यके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलस्तोत्रमें स्तुत आप्तके मीमांसक होनेसे वे उनके तथा कुन्दकुन्दके अन्वयमें हुए हैं।

समय-निर्धारण

आचार्य समन्तभद्रके समयके सम्बन्धमें विद्वानोंने पर्याप्त ऊहापोह किया है। मि० लेविस राईसका अनुमान है[१] कि समन्तभद्र ई० की प्रथम या द्वितीय शताब्दीमें हुए हैं।

'कर्नाटक कविचरिते' नामक कन्नड़ी ग्रन्थके रचयिता आर नरसिंहाचार्यने समन्तभद्रका समय शक संवत् ६० (ई० सन् १३८)के लगभग माना है। उनके प्रमाण भी राईसके समान ही हैं।

श्रीयुत् एम० एस० रामस्वामी आयंगरने अपनी 'Studies in Sowth Indian Jainism' नामक पुस्तकमें लिखा है—"समन्तभद्र उन प्रख्यात दिगम्बर लेखकोंकी श्रेणीमें सबसे प्रथम थे, जिन्होंने प्राचीन राष्ट्रकूट राजाओंके समयमें महान् प्राधान्य प्राप्त किया।"

मध्यकालीन भारतीय न्यायके इतिहास (हिस्ट्री ऑफ दी मिडिआवल स्कूल ऑफ इण्डियन लाजिक) में डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषणने यह अनुमान प्रकट किया है कि समन्तभद्र ई० सन् ६००के लगभग हुए हैं। उन्होंने अपने इस कथनके लिए कोई तर्क नहीं दिया। केवल इतना ही बतलाया है कि बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिका समकालीन कुमारिलभट्ट है और इनका समय ई० सन् सातवीं शताब्दी है। कुमारिलने समन्तभद्रका निर्देश किया है। अतः कुमारिल-के पूर्व समन्तभद्रका समय मानना उचित है।

सिद्धसेनने अपने न्यायावतारमें समन्तभद्रके रत्नकरण्डकश्रावकाचारका निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है—

"आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥[२]

---

१. Inscriptions at shravan Belgol नामक पुस्तककी प्रस्तावना।

२. रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्य ९।

इस पद्यको लेकर विवाद है। पंडित सुखलालजीका मत है कि यह न्यायावतारका मूल पद्य है। वहींसे यह रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें गया है। पर विचार करनेसे यह तर्क संगत प्रतीत नहीं होता है। यतः रत्नकरण्डश्रावकाचारमें जिस स्थान पर यह पद्य आया है वहाँ वह क्रमबद्धरूपमें नियोजित है। समन्तभद्रने सम्यग्दर्शनकी परिभाषा करते हुए आप्त, आगम और तपोभृतके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है।[1] इस प्रसंगमें उन्होंने सर्व प्रथम आप्तका स्वरूप बतलाया है और तत्पश्चात् आगमका। शास्त्रका स्वरूप बतलाते हुए उक्त पद्य लिखा है। इसके अनन्तर तपोभृतका स्वरूप बतलाया है। अतः क्रमबद्धताको देखते हुए उक्त पद्यका उद्भवस्थान समन्तभद्रका रत्नकरण्डश्रावकाचार है। वह अन्यत्र से उद्धृत नहीं है। परन्तु यह स्थिति न्यायावतारमें नहीं है। न्यायावतारमें स्वार्थानुमानका लक्षणनिरूपणके पश्चात् शाब्द—आगम प्रमाणका कथन करनेके लिए एक पद्य, जिसमें शाब्दका पूरा लक्षण आ गया है, निबद्ध कर इस पद्यको उपस्थित किया है, जिसे वहाँसे अलग कर देनेपर ग्रन्थका भङ्ग भी नहीं होता। परन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचारमेंसे उसे हटा देने पर ग्रन्थ-भङ्ग हो जाता है। अतः इस पद्यको न्यायावतारमें मूल ग्रन्थरचयिताका नहीं माना जा सकता है। न्यायावतारमें शाब्दप्रमाणका लक्षण निम्न प्रकार है—

दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्परमार्थाभिधायिनः ।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥[2]

इस पद्यके पश्चात् ही उक्त 'आप्तोपज्ञ' आदि पद्य दिया है, जो व्यर्थ, पुनरुक्त और अनावश्यक है। आचार्य श्री जुगलकिशोरने अपने 'स्वामी समन्तभद्र' शीर्षक प्रबन्धमें विस्तारसे इसपर विचार किया है। अतएव न्यायावतारमें उल्लिखित उक्त पद्यके आधार पर समन्तभद्रको उसके कर्त्ता सिद्धसेनसे उत्तरवर्त्ती बतलाना समुचित नहीं है।

स्वामी समन्तभद्रके समयपर विचार करनेवाले जैन विचारकोंमें दो विचारधाराएँ उपलब्ध हैं। प्रथम विचारधाराके प्रवर्तक पंडित नाथरामजी प्रेमी हैं और उसके समर्थक डॉ० हीरालालजी आदि हैं। प्रेमीजीने स्वामी समन्तभद्रका समय छठीं शताब्दी माना[3] है। उनका तर्क है कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' मंगलाचरण सूत्रकार उमास्वामीका न होकर सर्वार्थसिद्धिटीकाकार देव-

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्य ४।

२. न्यायावतार, सम्पादक डा० पी० एल० वैद्य, सन् १९२८।

३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४५,४६।

नन्दि-पूज्यपादका है और इसी मंगलाचरणके आधार पर स्वामी समन्तभद्रने 'आप्तमीमांसा' नामक ग्रन्थकी रचना की है। अतएव इनका समय देवनन्दि-पूज्यपाद (ई० ५वीं शती)के अनन्तर होना चाहिये। प्रेमीजीके इस मतका समर्थन कुछ भिन्न युक्तियों द्वारा आचार्य श्रीसुखलालजी संघवी[1] एवं डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने भी किया[2] है। पंडित सुखलालजीने समन्तभद्रपर प्रसिद्ध बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिका प्रभाव अनुमित कर उनका समय धर्मकीर्तिके उपरान्त बतलाया है। पं० महेन्द्रकुमारजीने 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' मंगलाचरणको देवनन्दि-पूज्यपादका सिद्ध कर उसपर आप्तमीमांसा लिखनेवाले समन्तभद्रका समय उनके बाद अर्थात् छठी शताब्दी माना है।

किन्तु उल्लेखनीय है कि जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ९, किरण १ में 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' शीर्षकसे जो उन्होंने निबन्ध लिखा था और जिसके आधार पर आचार्य समन्तभद्रका उक्त छठी शताब्दी समय निर्धारित किया था, जिसका उल्लेख न्यायकुमुदचन्द्रके द्वितीय भागकी प्रस्तावनामें किया था, उसपर डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक दो विस्तृत निबन्धों द्वारा 'अनेकान्त' वर्ष ५, किरण ६, ७ तथा १०, ११ में गहरा विचार करके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलस्तोत्रको तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छका सिद्ध किया है। फलतः डॉ० महेन्द्रकुमारजीने अपने पुराने विचारमें परिवर्तन कर समन्तभद्रका समय 'सिद्धिविनिश्चयटीका'की प्रस्तावना एवं 'जैन दर्शन' ग्रन्थोंमें ई० सन् द्वितीय शताब्दी स्वीकार कर लिया है,[3] जो आचार्य मुख्तार आदि विद्वानोंको दृढ़ मान्यता है।

आचार्य श्री जुगलकिशोर जी मुख्तारने[4] समन्तभद्रके साहित्यका गम्भीर आलोडन कर उनका समय विक्रमकी द्वितीय शती माना है। इनके इस मतका समर्थन डॉ० ज्योति प्रसाद जैनने अनेक युक्तियोंसे किया है। उन्होंने लिखा है—स्वामी समन्तभद्रका समय १२०–१८५ ई० निर्णित होता है और यह सिद्ध होता है कि उनका जन्म पूर्वतटवर्ती नागराज्य संघके अन्तर्गत उरगपुर (वर्तमान त्रिचनापल्ली)के नागवंशी चोल नरेश कीलिकवर्मन्के कनिष्ठ पुत्र एवं

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २ का प्राक्कथन।

२. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २ की प्रस्तावना।

३. सिद्धिविनिश्चयटीका, प्रस्तावना, पृ० १७, भारतीयज्ञानपीठ, तथा जैनदर्शन, पृ० २२, श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी।

४. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, माणिचन्द्रग्रन्थमाला, स्वामी समन्तभद्र शीर्षक प्रबन्ध, तथा अनेकान्त वर्ष १४, किरण १, पृ० ३-८।

उत्तराधिकारी सर्ववर्मन (शेषनाग)के अनुज राजकुमार शान्तिवर्मनके रूपमें सम्भवतया ई० सन् १२०के लगभग हुआ था, सन् १३८ ई० (पट्टावलि प्रसत्त शक सं० ६०)में उन्होंने मुनिदीक्षा ली और १८५ ई०के लगभग वे स्वर्गस्थ हुए प्रतीत होते हैं। अतएव समन्तभद्रका समय अनेक प्रमाणोंके आधार पर ईस्वी सन्‌की द्वितीय शती अवगत होती है।[1]

इनके चित्रालंकार सम्बन्धी स्तुतिविद्याके आधार पर जो यह कहा जाता है कि समन्तभद्र अलंकृत काव्ययुगके कवि हैं और इनका समय भारविके आस-पास मानना चाहिये। यह तर्क भी अधिक सबल नहीं है। एकाक्षरी या द्व्यक्षरी या अन्य चित्रकाव्योंकी परम्परा वैदिक कालसे ही यत्किंचित् रूपमें प्राप्त होने लगती है। दक्षिण भारतमें चित्रकाव्योंकी परम्परा बहुत प्राचीन समयसे चली आ रही है। समन्तभद्रने चित्रकाव्यका प्रयोग उसी परम्पराके आधारपर किया है। अत: उसके आधापर पर उनका समय अर्वाचीन बतलाना युक्त नहीं है। अतएव संक्षेपमें समन्तभद्रका समय ई० सन् द्वितीय शताब्दी है और 'मोक्ष-मार्गस्य नेतारं'को आचार्य विद्यानन्दने सूत्रकार गृद्धपिच्छका ही मंगलाचरण माना है, सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद-देवनन्दिका नहीं।

समन्तभद्रकी रचनाएं

संस्कृत-काव्यका प्रारम्भ ही स्तुति-काव्यसे हुआ है। जिसप्रकार वैदिक ऋषियोंने स्वानुभूति—जीवनकी जीवन्तधारा और सौन्दर्यभावनाको स्तुति-काव्यकी पटभूमिपर ही अंकित किया है, उसीप्रकार स्वामी समन्तभद्रने भी दर्शन, सिद्धान्त एवं न्यायसम्बन्धी मान्यताओंको स्तुति-काव्यके माध्यमसे अभिव्यक्त किया है। अतएव स्तुतियोंकी विभिन्न परम्परामें आद्य जैन स्तुति-कार समन्तभद्रने बौद्धिक चिन्तन और मानवजीवनकी प्रोज्जवल कल्पनाको स्तुति-काव्यके रूपमें ही मूर्तिमत्ता प्रदान की है। इनके द्वारा रचित स्तुतियोंमें तरल भावनाओंके साथ मस्तिष्कका चिन्तनभी समवेत है। समन्तभद्र द्वारा लिखित निम्नलिखित रचनाएँ मानी जाती हैं—

१. बृहत् स्वम्भूस्तोत्र
२. स्तुतिविद्या—जिनशतक
३. देवागमस्तोत्र—आप्तमीमांसा
४. युक्त्यनुशासन
५. रत्नकरण्डकश्रावकाचार

---

१. अनेकान्त, वर्ष १४, किरण ११-१२, पृ० ३२४।

६. जीवसिद्धि
७. तत्त्वानुशासन
८ प्राकृतव्याकरण
९. प्रमाणपदार्थ
१०. कर्मप्राभृतटीका
११. गन्धहस्तिमहाभाष्य

१. बृहत् स्वम्भूस्तोत्र—इसका अपर नाम स्वम्भूस्तोत्र अथवा चतुर्विंशति स्तोत्र भी[१] है। इसमें ऋषभदेवसे लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरोंकी क्रमशः स्तुतियाँ है। इस स्तोत्रके भक्तिरसमें गम्भीर अनुभूति एवं तर्कणायुक्त चिन्तन निबद्ध है। अतः इसे सरस्वतीको स्वच्छन्द विहारभूमि कहा जा सकता है। इस 'स्तोत्र'के संस्कृत-टीकाकार प्रभाचन्द्रने इसे 'निःशेषजिनोक्त-धर्म' कहा है। इसमें कुल पद्योंकी संख्या निम्न प्रकार है—

१. श्रीऋषभजिन स्तवन, पद्य ५, २. श्रीअजितजिन स्तवन, पद्य ५, ३. श्री सम्भवजिन स्तवन, पद्य ५, ४. श्रीअभिनन्दनजिन स्तवन पद्य ५, ५. श्रीसुमति जिन स्तवन पद्य ५, ६. श्रीपद्मप्रभजिन स्तवन पद्य ५, ७. श्रीसुपार्श्वजिन स्तवन पद्य ५, ८. श्रीचन्द्रप्रभजिन स्तवन पद्य ५, ९. श्रीसुबिधजिन स्तवन पद्य ५, १०. श्रीशीतलजिन स्तवन पद्य ५, ११. श्रीश्रेयोजिन स्तवन पद्य ५, १२. श्रीवासुपूज्यजिन स्तवन पद्य ५, १३. श्रीविमल जिनस्तनन पद्य ५, १४. श्रीअनन्तजिन स्तवन पद्य ५, १५. श्रीधर्मजिन स्तवन पद्य ५, १६. श्रीशान्तिजिन स्तवन पद्य ५, १७. श्रीकुन्थुजिन स्तवन पद्य ५, १८. श्रीअरजिन स्तवन पद्य २०, १९ श्रीमल्लिजिन स्तवन पद्य. ५, २० श्रीमुनिसुव्रतजिन स्तवन पद्य ५, २१. श्रीनमिजिन स्तवन पद्य ५, २२. श्रीअरिष्टनेमिजिन स्तवन पद्य १०, २३. श्री पार्श्वजिन स्तवन पद्य ५, २४. श्रीवीरजिन स्तवन पद्य ८ = १४३।

इस स्तोत्रमें कविने प्रबन्ध-पद्धतिके बीजोंको निहित कर इतिवृत्त सम्बन्धी अनेक तथ्योंको प्रस्तुत किया है। प्रथम तीर्थंकरको प्रजापतिके रूपमें असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्यका उपदेष्टा कहा है। इस स्तोत्रमें आये हुए 'निर्दय-भस्मसात्क्रियाम्' पदसे सम्भतः आचार्यने अपनी भस्मक व्याधिका संकेत किया है तथा सम्भवनाथको स्तुतिमें सम्भवजिनको वैद्यका रूपक देकर अपनी जीवन-घटनाओंकी ओर संकेत किया है। इसी प्रकार "यस्याङ्ग-लक्ष्मी-परिवेश भिन्नं

---

१. अनुवादक और सम्पादक श्री पंडित जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर', प्रकाशक : वीर मन्दिर, २१ दरियागंज दिल्ली।

तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम्[1]" पदसे राजा शिवकोटिके शिवालयमें घटित हुई घटनाका संकेत प्राप्त होता है।

समन्तभद्रने वाद (शास्त्रार्थ) द्वारा जैन सिद्धान्तोंका प्रचार किया था। श्रवण-बेलगोलके अभिलेखोंके अनुसार पाटलिपुत्र, ढक्क, मालव, कांची आदि देशोंमें उन्होंने शास्त्रार्थ कर जिनसिद्धान्तोंकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। इस ओर भी उनका संकेत "स्व-पक्ष-सौस्थित्य-मदाऽवलिप्ता वाक्सिंह-नादैर्विमदा बभूवुः"[2] पद्यांशसे मिलता है।

शान्तिनाथतीर्थंकरने चक्रवर्तित्वपद प्राप्त किया था और उन्होंने षट्खण्ड-की दिग्विजयकर समस्त राजाओंको करद बनाया था। उनके राज्यकालमें प्रजा अत्यन्त सुखी और समृद्ध थी। इस बातकी सूचना निम्नलिखित पद्यांशोंसे प्राप्त होती है—

"चक्रेण यः शत्रु-भयङ्करेण जित्वा नृपः सर्व-नरेन्द्र-चक्रम्[3]"

× × × ×

"विधाय रक्षां परतः प्रजानां राजा चिरं योऽप्रतिम-प्रतापः[4]"

मल्लिजिन आजन्म ब्रह्मचारी थे। उनकी गणना बालयतियोंमें है। इसी प्रकार अरिष्ट नेमिको भी बालयति कहा गया है। इन दोनों तीर्थंकरोंके स्तवन-में 'महर्षि' या 'ऋषि' शब्दके प्रयोग आये हैं, जो इन तीर्थंकरोंके बालयतित्वको अभिव्यक्त करते हैं।

पार्श्वनाथस्तोत्रमें तीर्थंकर पार्श्वनाथके मुनिजीवनमें तपश्चर्या करते समय वैरी कमठ द्वारा किये उपसर्ग तथा पद्मावती और धरणेन्द्र द्वारा उसके निवारण-का वर्णन निम्नलिखित पद्योंमें किया है—

"तमाल-नीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः प्रकीर्ण-भीमाशनि-वायु-वृष्टिभिः।
बलाहकैर्वैरि-वशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगतः॥
बृहत्फणा-मण्डल-मण्डपेन यं स्फुरत्-तडित्पिङ्ग-रुचोपसर्गिणम्।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विराग-संध्या-तडिदम्बुदो यथा[5]॥

इस प्रकार इस स्तोत्र-काव्यमें प्रबन्धात्मक बीजसूत्र सर्वत्र विद्यमान हैं।

---

१. चन्द्रप्रभजिन स्तवन, पद्य २।
२. वही, पद्य ३।
३. शांतिजिन स्तवन, पद्य २।
४. वही, पद्य १।
५. पार्श्वनाथ स्तवन, पद्य १, २।

स्तोत्रसाहित्यका निर्माता वही सफल माना जाता है, जो स्तोत्रोंके मध्यमें प्रबन्धात्मक बीजोंकी योजना करता है। इस योजनासे स्तोत्र सरस तो बनते ही हैं, साथ ही उनमें प्रेषणीयता विशेष उत्पन्न होती है। समन्तभद्राचार्यने वैदिक मन्त्रोंके समान ही प्रबन्धगर्भित स्तोत्रोंका प्रणयनकर दार्शनिक और काव्यात्मक क्षेत्रमें नये चरणचिन्ह उपस्थित किये हैं।

वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वसन्ततिलका, रथोद्धता, पथ्या-वक्त्र-अनुष्टुप्, सुभद्रिका-मालतीमिश्रित, वानवासिका, वैतासीय, शिखरिणी, उद्गता एवं आर्यागीति इन तेरह प्रकारके छन्दोंका प्रयोग पाया जाता है। अलंकार-योजनाकी दृष्टिसे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अर्थान्तरन्यास, उदाहरण, दृष्टान्त एवं अन्योक्ति प्रभृति अलंकार उल्लेख्य हैं। अतिशयोक्तिका निम्न उदा-हरण ध्यातव्य है—

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान्[1]।
द्व्यक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहु-विस्मयः॥

यहाँ भगवान्‌के सौन्दर्यको दो नेत्रोंसे देखनेमें अतृप्तिका अनुभव करते हुए इन्द्रने सहस्र नेत्र धारणकर भगवान्‌के रूप-सौन्दर्यका अवलोकन कर आश्चर्य प्राप्त किया है। इस सन्दर्भमें अतिशयोक्ति है।

उदाहरणालंकार

सुखाभिलाषाऽनलदाहमूर्च्छितं मनो निजं ज्ञानमयाऽमृताम्बुभिः।
व्यदिध्यपस्त्वं विषदाहमोहितं यथा भिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहम्[2]॥

जिसप्रकार वैद्य विषदाहसे मूर्च्छित हुए अपने शरीरको विषापहारमन्त्रके गुणोंसे उसकी अमोघशक्तियोंसे निर्विष एवं मूर्छा रहित कर देता है, उसीप्रकार हे शीतलजिन! आपने सांसारिक सुखोंकी अभिलाषारूप अग्निके दाहसे मूर्च्छित हुए अपने आत्माको ज्ञानमय अमृतके सिञ्चनसे मूर्च्छारहित—शान्त किया है।

रूपकालंकार

स चन्द्रमा भव्यकुमुद्वतीनां विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलेपः।
व्याकोश-वाङ्-न्याय-मयूखमालः पूयात्पवित्रो भगवन्मनो मे[3]॥

यहाँ—'भव्यकुमुद्वतीनां' और 'दोषाभ्र-कलङ्क-लेपः'में रूपककी योजना है।

---

१. स्वयम्भू स्तोत्र, अरजिनस्तव, पद्य ४।
२. वही, शीतलजिनस्तवन पद्य २।
३. वही, चन्द्रप्रभजिन, पद्य ५।

इन रूपकोंने भावोंको सहज ग्राह्य तो बनाया ही है, साथ ही चन्द्रप्रभ भगवान्‌के गुणोंका प्रभाव भी दिखलाया है। भव्यकुमुदनियोंको विकसित करनेके लिए चन्द्रप्रभ चन्द्रमा हैं।

उपमा

पद्मप्रभ: पद्मपलाश-लेश्य: पद्मालयाऽऽलिङ्गितचारुमूर्त्ति:।
बभौ भवान् भव्य-पयोरुहाणां पद्माकराणामिव पद्मबन्धु:[1]॥

पद्मपत्रके समान द्रव्यलेश्याके धारक हे पद्मप्रभजिन! आपकी सुन्दरमूर्त्ति पद्मालय-लक्ष्मीसे आलिङ्गित रही है और आप भव्यकमलोंको विकसित करनेके लिए उसी तरह भासमान हुए हैं, जिसप्रकार सूर्य कमलसमूहका विकास करता हुआ सुशोभित होता है।

संक्षेपमें स्तोत्रकाव्यमें एकान्ततत्त्वकी समीक्षापूर्वक स्याद्वादनयसे अनेकान्तामृततत्त्वकी स्थापना की गयी है।

२. स्तुतिविद्या[2]

जिनशतक और जिनशतकालंकार भी इसके नाम आये हैं। इसमें चित्रकाव्य और बन्धरचनाका अपूर्व कौशल समाहित है। शतककाव्योंमें इसकी गणना की गयी है। सौ पद्योंमें किसी एक विषयसे सम्बद्ध रचना लिखना असाधारण बात मानी जाती थी। प्रस्तुत जिनशतकमें चौबीस तीर्थंकरोंकी चित्रबन्धोंमें स्तुति की गयी है। भावपक्ष और कलापक्ष दोनों नैतिक एवं धार्मिक उपदेशके उपस्कारक बनकर आये हैं। समन्तभद्रकी काव्यकला इस स्तोत्रमें आद्यन्त व्याप्त है। मुरजादि चक्रबन्धकी रचनाके कारण चित्र काव्यका उत्कर्ष इस स्तोत्रकाव्यमें पूर्णतया वर्त्तमान है।

समन्तभद्रकी इस कृतिसे स्पष्ट है कि चित्रकाव्यका विकास माघोत्तरकालमें नहीं हुआ, बल्कि माघ कविसे कई सौ वर्ष पूर्व हो चुका है। चित्र, श्लेष और यमकका समावेश वाल्मीकि रामायणमें भी पाया जाता है, अत: यह सम्भव है कि दाक्षिणत्य भाषाओंके विशिष्ट सम्पर्कके कारण समन्तभद्रने चित्र-श्लेष और यमकका पर्याप्त विकास कर उक्त काव्यकी रचना की। इस कृतिमें मुरजबन्ध, अर्धभ्रम, गतप्रत्यागतार्ध, चक्रबन्ध, अनुलोम, प्रतिलोम क्रम एवं सर्वतोभद्र आदि चित्रोंका प्रयोग आया है। एकाक्षर पद्योंकी सुन्दरता कलाकी दृष्टिसे अत्यन्त प्रशंसनीय है।

---

१. पद्मप्रभजिनस्तवन, पद्य १।

२. अनुवादक पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य, प्रकाशक, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली।

कुछ विद्वानोंका इस कृतिको देखकर यह अनुमान है कि जिस कृत्रिम शैलीमें समन्तभद्रने स्तुतिविद्याका प्रणयन किया है वह कृत्रिम शैली ई० सन्‌की चौथी शताब्दीसे विकसित होती है। अतः कृत्रिम शैलीके कारण यह कृति द्वितीय-तृतीय शतीकी रचना नहीं हो सकती। विचार करनेपर उक्त मत निर्भ्रान्त प्रतीत नहीं होता, यतः कृत्रिम शैलीके विकासका मूल कारण आर्य-भाषाके साथ द्रविड़ भाषाका सम्पर्क है। द्राविड़-परिवारकी भाषाओंमें चित्र, श्लेष और यमककी अधिक क्षमता है। अतः समन्तभद्रने दाक्षिणात्य होनेके कारण ही इस शैलीका प्रयोग किया है।

इस स्तोत्रमें कुल ११६ पद्य हैं और अन्तिम पद्यमें "कविकाव्यनामगर्भ-चक्रवृत्तम" है। जिसके बाहरके षष्ठ वलयमें 'शान्तिवर्मकृतम्' और चतुर्थ-वलयमें 'जिनस्तुतिशतम्' की उपलब्धि होती है। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकका एक साथ प्रयोग काव्यकलाकी दृष्टिसे श्लाघनीय है। यहाँ उदाहरणार्थ काव्य-लिंगको प्रस्तुत किया जा रहा है—

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरो नतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते[1]॥

जिनेन्द्र भगवानकी आराधना करनेवाले मनुष्यकी आत्मा आत्मीय तेजसे जगमगा उठती है। वह सर्वोत्कृष्ट पुरुष गिना जाने लगता है। तथा उसके महान पुण्यका बन्ध होता है। यहाँ स्मरण, पूजन, अञ्जलि-बन्धन, कथा-श्रवण, दर्शन आदिका क्रमशः नियोजन होनेसे परिसंख्या-अलंकार है। आचार्यने हेतु-वाक्यों-का प्रयोग कर काव्यलिंगकी भी योजना की है। इस प्रकार यह स्तुति-विद्या स्तोत्र-काव्य और दर्शनगुणोंसे युक्त है। और है सविवेक भक्ति-रचना।

३. आप्तमीमांसा या देवागमस्तोत्र[2]

स्तोत्रके रूपमें तर्क और आगमपरम्पराकी कसौटीपर आप्त—सर्वज्ञदेवकी मीमांसा की गयी है। समन्तभद्र अन्धश्रद्धालु नहीं हैं, वे श्रद्धाको तर्ककी कसौटीपर कसकर युक्ति-आगमद्वारा आप्तकी विवेचना करते हैं। आप्त-विषयक मूल्यांकनमें सर्वज्ञाभाववादी मीमांसक, भावैकान्तवादी सांख्य,

---

१. स्तुतिविद्या, पद्य ११५।

२. आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा सम्पादित वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी।

एकान्तपर्यायवादी बौद्ध एवं सर्वथा उभयवादो वैशेषिकका तर्कपूर्वक विवेचन करते हुए निराकरण किया गया है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभावका सप्तभंगीन्यायद्वारा समर्थन कर वीरशासनकी महत्ता प्रतिपादित की है। सर्वथा अद्वैतवाद, द्वैतवाद, कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत प्रभृतिका निरसन कर अनेकान्तात्मकता सिद्ध की गयी है। इसमें अनेकान्तवादका स्वस्थ स्वरूप विद्यमान है। उदाहरणके लिए—

"द्रव्यपर्यायोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः।
परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः॥
संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा"[1] ॥

द्रव्य और पर्याय कथंचित् एक हैं, क्योंकि वे भिन्न उपलब्ध नहीं होते तथा वे कथंचित् अनेक हैं क्योंकि परिणाम, संज्ञा, संख्या, आदिका भेद है। दैव-पुरुषार्थ, पुण्य-पाप आदिको सिद्धि अनेकान्तके द्वारा हा होती है। एकान्तवादियोंकी समस्त समस्याओंका समाधान अनेकान्तवादके द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

इस स्तोत्रमें ११५ पद्य हैं। 'देवागम' पदद्वारा स्तोत्रका आरम्भ होनेके कारण यह 'देवागम' स्तोत्र भी कहा जाता है। समन्तभद्रकी परीक्षाप्रधान दृष्टि इस स्तोत्रकाव्यमें समाहित है। कवित्वकी दृष्टिसे यह काव्य बोझिल है। काव्य रस-दर्शनका चट्टानके भीतर प्रवेश करनेपर ही क्वचित् प्राप्त होता है, अप्रस्तुत विधानका भी अभाव है। जोवन और जगत्की विभिन्न समस्याओंका समाधान इस स्तोत्रकाव्यमें अवश्य वर्तमान है।

४. युक्त्यनुशासन[2]—वीरके सर्वोदय तीर्थका महत्त्व प्रतिपादित करनेके लिए उनको स्तुति की गयी है। युक्तिपूर्वक महावीरके शासनका मण्डन और विरुद्धमतोंका खण्डन किया गया है। समस्त जिनशासनको केवल ६४ पद्योंमें ही समाविष्ट कर दिया है। अर्थगौरवकी दृष्टिसे यह काव्य उत्तम है, 'गागरमें सागर'को भर देनेकी कहावत चरितार्थ होती है। महावीरके तीर्थको सर्वोदय तीर्थ कहा है—

"सर्वान्तवत्तद् गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव[3] ॥

१. देवागम, पद्य ७१,७२, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा सम्पादित, वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी।
२. सम्पादन आचार्य जुगलकिशोर, वीर सेवा मन्दिर प्रकाशन।
३. वही—६२।

इसप्रकार महावीरके तीर्थको ही समस्त विपत्तियोंका अन्त करनेवाला सर्वोदय तीर्थ कहा है।

५. रत्नकरण्डश्रावकाचार[1]—जीवन और आचारकी व्याख्या इस ग्रन्थमें की गयी है। १५० पद्योंमें विस्तारपूर्वक सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका विवेचन करते हुए कुन्दकुन्दके[2] निर्देशानुसार सल्लेखनाको श्रावकके व्रतोंमें स्थान दिया है। अन्तमें श्रावककी एकादश प्रतिमाएँ वर्णित हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालने समीचीन धर्मशास्त्र—रत्नकरण्डश्रावकाचारकी भूमिकामें लिखा है—"स्वामी समन्तभद्रने अपनी विश्वलोकोपकारिणी वाणीसे न केवल जैनमार्गको सब ओरसे कल्याणकारी बनानेका प्रयत्न किया है। (जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तात् मुहुः). किन्तु शुद्धमानवी दृष्टिसे भी उन्होंने मनुष्यको नैतिक धरातलपर प्रतिष्ठित करनेके लिए बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपनाया। उनके इस दृष्टिकोणमें मानव-मात्रकी रुचि हो सकती है। समन्तभद्रकी दृष्टिमें मनकी साधना हृदयका परिवर्तन सच्ची साधना है। बाह्य आचार तो आडम्बरोंसे भरे भी हो सकते हैं। उनकी गर्जना है कि मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है (कारिका-३३)। किसीने चाहे चाण्डाल योनिमें भी शरीर धारण किया हो, किन्तु यदि उसमें सम्यक् दर्शनका उदय हो गया है तो देवता ऐसे व्यक्तिको देव समान ही मानते हैं। ऐसा व्यक्ति भस्मसे ढँके हुए किन्तु अन्तरमें दहकते हुए अंगारेकी तरह होता है[3]।"

इस ग्रन्थकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१. श्रावकके अष्टमूलगुणोंका विवेचन
२. अर्हत्पूजनका वैयावृत्यके अन्तर्गत स्थान
३. व्रतोंमें प्रसिद्धि पानेवालोंके नामोल्लेख
४. मोही मुनिकी अपेक्षा निर्मोही श्रावककी श्रेष्ठता
५. सम्यक्दर्शनसम्पन्न मातंगको देवतुल्य कहकर उदार दृष्टिकोणका उपन्यास।
६. कुन्दकुन्द और उमास्वामीकी श्रावकधर्म सम्बन्धी मान्यताओंको आत्मसात्कर स्वतन्त्र रूपमें श्रावकधर्मसम्बन्धी ग्रन्थका प्रणयन।

---

१. इस ग्रन्थके अनेक संस्करण प्रकाशित हैं। वीर सेवा मन्दिर, दिल्लीसे प्रकाशित संस्करण अध्ययनीय है।

२. कुन्दकुन्दका चारित्रपाहुड गाथा २५-२६।

३. समीचीन धर्मशास्त्र, वीर सेवा मन्दिर दिल्ली, प्राक्कथन, पृ० १६।

इस कृतिमें कर्त्ताके रूपमें समन्तभद्रका नाम कहीं भी उपलब्ध नहीं है। टीकाकार प्रभाचन्द्रने इसे समन्तभद्रकृत लिखा है। अतः डॉ० हीरालाल जैन आप्तमीमांसामें निरूपित आप्तके लक्षणकी शैलीकी अपेक्षा इसकी शैलीमें भिन्नता प्राप्तकर और पार्श्वनाथचरितकी उत्थानिकामें योगीन्द्रकी रचनाके निर्देशको पाकर इसे योगीन्द्रदेवकी रचना मानते हैं। ग्रन्थके उपान्त्य श्लोकमें 'वीतकलङ्क', विद्या' और 'सर्वार्थसिद्धि' शब्दोंको तत्तद् आचार्य और ग्रन्थोंका सूचक मानकर आठवीं-ग्यारहवीं शतीके मध्यकी रचना इसे स्वीकार करते हैं।[1]

अतः डॉ० जैनके मतानुसार यह कृति आप्तमीमांसाके रचयिता स्वामी समन्तभद्रकी नहीं है। भले ही कोई दूसरा समन्तभद्र इसका रचयिता रहा हो। डॉ० साहबने उक्त मन्तव्यको प्रकट करनेके लिए एक निबन्ध अनेकान्त, वर्ष ८, किरण १–३, पृ० २६–३३, ८६—९० और १२५—१३२ में लिखा था, जिसका प्रतिवाद डॉ० प्रो० दरबारीलाल कोठियाने अनेकान्त वर्ष ८ किरण ४–५ में किया है। डॉ० कोठियाने डॉ० जैनके तर्कोंका उत्तर देते हुए प्रस्तुत कृतिको आचार्य समन्तभद्रकी ही रचना सिद्ध किया है। मैं इस विवादमें न पड़कर इतना अवश्य कहूँगा कि समन्तभद्रके अन्य ग्रन्थोंके समान इस ग्रन्थके भी दो नाम उपलब्ध हैं—१. समीचीन धर्मशास्त्र और २. वर्ण्य विषयके अनुसार रत्नकरण्डकश्रावकाचार। स्वामी समन्तभद्रकी यह शैली है कि वे अपने प्रत्येक ग्रन्थके दो नाम रखते हैं—प्रथम नामका निर्देश प्रथम पद्यके प्रारम्भिक वाक्यमें कर देते हैं और दूसरेका निर्देश ग्रन्थके वर्ण्य विषयके आधारपर रहता है।

यह निर्विवाद सत्य है कि इस ग्रन्थमें प्रतिपादित विषय बहुत प्राचीन है। श्रुतधर कुन्दकुन्दके चारित्रपाहुड, प्रवचनसार, दर्शनपाहुड, सीलपाहुड आदिसे विषयको सूत्ररूपमें ग्रहणकर नये रूपमें श्रावकाचारसम्बन्धी सिद्धान्तोंका प्रणयन किया है। अतः विद्वानोंके मध्य मूलगुणसम्बन्धी जो प्रश्न उठाया जाता है उसका समाधान यहाँ सम्भव है। जब समन्तभद्रने श्रावकाचारका प्रणयन नये रूपमें किया, तो उन्होंने बहुत-सी ऐसी बातोंको भी इस ग्रन्थमें स्थान दिया, जो पहलेसे प्रचलित नहीं थीं। हमारा तो दृढ़ मत है कि तृतीय अध्याय-की यह ६६ वीं कारिका प्रक्षिप्त है। पीछेके किसी विद्वान्ने प्रतिलिपि करते समय अहिंसाणुव्रतके विशुद्ध्यर्थ इस कारिकाको जोड़ दिया है। यहाँसे इसे हटा देनेपर भी ग्रन्थके वर्ण्य विषयमें किसीप्रकारकी कमी नहीं आती। यह कारिका एक प्रकारसे विषयका पुनरुक्तीकरण ही करती है। मद्य, मांस, मधु-

---

१. भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान, पृ० ११३।

के त्याग तथा पंचाणुव्रतोंके पालनको अष्टमूलगुण कहा गया है। अहिंसाणुव्रत-के लक्षणमें संकल्पपूर्वक मन-वचन-काय, कृत, कारित, अनुमोदनारूप व्यापारसे द्वीन्द्रियादि प्राणियोंका घात न करना अहिंसाणुव्रत है। इस परिभाषाके अन्तर्गत मद्य, मांस, मधुका त्याग स्वयमेव समाविष्ट हो जाता है। पंचाणुव्रतोंकी चर्चा तो स्पष्टरूपसे पुनरुक्त है ही। अतएव वर्ण्य-विषयकी दृष्टिसे इस पद्यकी कोई आवश्यकता नहीं है।

यदि आचार्य समन्तभद्रको अष्टमूलगुणोंका निर्देश करना अभीष्ट होता, तो वे इस पद्यको अहिंसाणुव्रतके लक्षणके आस-पास निबद्ध करते। अहिंसादि व्रतोंका पालन करनेवाले व्यक्तियोंके नामोल्लेखके पश्चात् इस कारिकाका संयोजन अनुपयोगी जैसा प्रतीत होता है। यदि यह तर्क दिया जाय कि अणुव्रतोंका वर्णन करनेके पश्चात् मूलगुणोंका निर्देश आवश्यक था, तो यह तर्क भी बहुत सबल नहीं है। अणुव्रत और गुणव्रतोंके बीच इस पद्यका स्थान नहीं होना चाहिए। अतएव हमारी दृष्टिसे यह पद्य प्रक्षिप्त है।

अनेक आचार्योंने बताया है कि कोई नदी और समुद्रके स्नानको धर्म समझता है, कोई मिट्टी और पत्थरके स्तूपाकार ढेर बनाकर धर्मकी इतिश्री मानता है। कोई पहाड़से कूदकर प्राणान्त कर लेने अथवा अग्निमें शरीरको जला देनेमें ही कल्याण मानता है। ये सब बातें लोकमूढ़ता है—

"आपगा-सागर-स्नानमुच्चयः सिकताऽश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते[1]॥"

उपर्युक्त पद्यमें गतानुगतिक रूपसे अनुसरण किये जानेवाले मूढतापूर्ण दृष्टिकोणोंका विवेचन किया है और (१) आपगासागरस्नान, (२) सिकताऽश्मनामुच्चयः, (३) गिरिपात, (४) अग्निपातको लोकमूढ़ता कहा है। भारतीय संस्कृतिके विकासक्रमका विचार करनेसे अवगत होता है कि उक्त ये चारों प्रथाएँ ई० सन्के पूर्व अत्यधिक रूपमें प्रचलित थीं। उत्तरकालमें इन प्रथाओंमेंसे एक-दोको छोड़कर शेष सभीका लोप हो गया। ऋग्वेदकालमें जीवन तथा जीवन-भोगोंके प्रति आसक्तिकी प्रवृत्ति वर्तमान थी। अतः इस युगमें संन्यास और आत्मबलका निर्देश नहीं मिलता। प्रो० हिलब्रैंटने[2] दीक्षाविधिमें प्रयुक्त होनेवाले

१. समीचीन धर्मशास्त्र, प्रथम अध्याय, कारिका २२।

२. Hillbrandt suggests that Diksha ceremony is in reality a fadad form of the older practice of suicide by fire.—Suicide—Encyclopidea of Religion and Ethics Vol. XII, Page 33-36,(1921)

अग्निपातसे अग्निपात द्वारा आत्मबलिका अनुमान किया है। शतपथब्राह्मणमें बताया गया है कि पुरुषमेध एवं सर्वमेधयज्ञमें समस्त सम्पत्तिका त्याग कर साधक मृत्युका वरण करनेके लिए बन जाता है। परिव्राजककी क्रियाओंका विवेचन करते हुए जाबालोपनिषद्में विभिन्न रूपोंमें किये जानेवाले आत्मघातोंको धार्मिक रूप दिया गया है—

'वीराध्वाने वा अनाशके वा अपां प्रवेशे वा अग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा[1]।'

स्पष्ट है कि अग्निपात, जलपात और अनशनव्रतद्वारा आत्महत्या करना धार्मिक विधानमें शामिल किया गया है।

हिन्दी विश्वकोषमें आत्मघातोंका निरूपण करते हुए लिखा है कि वैध, अवैध, ज्ञानकृत और अज्ञानकृत ये चार भेद आत्मघातके हैं। मनु एवं वृद्धगर्गने लिखा है कि जब मनुष्य अत्यन्त वृद्ध हो जाये और चिकित्सा करानेपर भी आरोग्यकी सम्भावना न हो, तो शौचादि क्रियाओंके लुप्त होनेकी आशंका उत्पन्न होनेसे, उच्च स्थानसे गिरकर, अग्निमें कूदकर, अनशनसे रहकर या जलमें डूबकर प्राण छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार प्राण छोड़नेपर त्रिरात्रका अशौच माना जाता[2] है।

उपर्युक्त सन्दर्भांशसे स्पष्ट है कि समन्तभद्र द्वारा विवेचित लोक-मूढ़ताएँ ब्राह्मण और उपनिषद् कालमें प्रचलित थीं। धर्मशास्त्रोंके अशौच प्रकरणमें इन मान्यताओंका समावेश पाया जाता है।

'आपगासागरस्नान' की सांस्कृतिक व्याख्यामें प्रवेश करने पर ज्ञात होता है कि मोहनजोदड़ोंके प्राप्त भग्नवशेषोंमें उपलब्ध हुए स्नानागारोंसे हड़प्पाके सांस्कृतिक जीवनमें जलकी महत्ताका परिचय मिलता[3] हैं। विद्वानोंने बताया है कि इसका आर्योंके सांस्कृतिक जीवन पर गहरा प्रभाव है। सरोवरों, नदियों और समुद्रोंके जलमें स्नान करनेकी प्रथा तथा सूर्योदयके पूर्व और भोजनके पूर्व स्नान करनेकी विधिपर धार्मिक मोहर इस बातका प्रमाण है कि सिन्धु घाटीकी सभ्यतामें भी स्नानको सांस्कृतिक महत्त्व प्राप्त था। आर्योंके जीवनमें नदियोंका नित्य बहता हुआ निर्मल जल ही उनके लिए स्वर्गकी पवित्रता एव पावनताका परिचायक था। सिन्धु, वितस्ता, चन्द्रभागा, इरावती, विपासा, शतद्रु, यमुना, गंगा एवं ब्रह्मपुत्र आदि नदियोंने धार्मिक प्रेरणाके कारण ही

१. निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे सन् १९२५ में प्रकाशित ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः, पृ० १३१।

२. हिन्दी विश्वकोश, द्वितीय भाग, आत्मघातशब्द।

३. Indus civilization by M wheeler. Page 282–284

आर्योंके जीवनको उर्वर बनाया था। अतएव नदियोंमें स्नान करनेकी पवित्र भावनाके साथ उनमें डूबकर आत्मघात करनेकी प्रथा भी धर्मके नामपर ब्राह्मणकालमें प्रचलित थी। जलमात्रमें स्नान करना या असमर्थ अवस्थामें डूबकर प्राणघात करना धार्मिकताका चिह्न था। ई० पूर्व द्वितीय-तृतीय शताब्दीसे लेकर ई० सन् प्रथम-द्वितीय शताब्दी तक इस प्रथाका बहुत प्रचार रहा है। जब संन्यासविधि पूर्णतया विकसित हो गयी, और आत्मशोधनके लिए ध्यान, संयमका मूल्य बढ़ गया, तो उक्त प्रथाका शनैः-शनैः ह्रास होने लगा। स्वामी समन्तभद्रके समयमें इस प्रथाका जोर-शोरके साथ प्रचार था। अतः उन्होंने अपने इस ग्रन्थमें इसकी समीक्षा की है। यहाँ यह स्मरणीय है कि लोक-मूढ़ताओंका रूप समयानुसार बदलता रहता है।

धर्मके नामपर स्तूप निर्माणकी प्रथाका आरम्भ बौद्धकालसे हुआ है बुद्धके अस्थि-अवशेषको स्तूपके भीतर रखा जाता था और इन स्तूपोंकी धार्मिक प्रेरणा प्राप्त करनेके लिए पूजा की जाती थी। सम्राट् अशोकने तथा उसके उत्तर-वर्त्ती सम्राट् सम्प्रतिने स्तूप और अभिलेखोंका आरम्भ धार्मिक-स्मृतिके साथ धर्म-प्रेरणाके लिए कराया। अशोकके स्तूपोंमें सम्प्रतिके स्तूप और अभिलेख इस प्रकार मिश्रित हो गये हैं कि उनका पृथक्करण सहज सम्भव नहीं है। इसका प्रधान कारण यह है कि धर्म और सदाचारके सामान्य नियम इन दोनों सम्राटोंको समानरूपसे ही अभिप्रेत थे। ये स्तूप ठोस गुम्बदके आकारके होते थे और इनके ऊपर छत्र भी बनाये जाते थे। अशोक निर्मित स्तूपोंमें साँचीका स्तूप अत्यन्त प्रसिद्ध है। कुशाणकालके पूर्व बुद्धकी उपासना इन स्मारक चिह्नोंमें प्रयुक्त प्रतीक रूपोंमें ही होती थी। छत्र, पाँव, पुष्प, चन्द्र या चक्रके प्रतीकोंमें ही बुद्धकी स्मृति अन्तर्निहित थी। महायान सम्प्रदायके आविर्भावके पश्चात् बुद्ध-प्रतिमाओंके निर्माणकी प्रथाका आरम्भ हुआ।

जब स्तूपनिर्माणका महत्त्व जनसाधारणमें प्रचलित हुआ, तो स्तूपोंके प्रतिनिधिस्वरूप 'सिक्ताश्मनामुच्चयः'का प्रचार हुआ। बालू या कंकड़ोंका स्तूपाकार ढेर लगाकर देवकी उपासना होने लगी। यह प्रथा कुषाणकालके पूर्व तक प्रचलित रही। समन्तभद्रके समयमें इसका बाहुल्य था। अतएव उन्होंने अपने इस ग्रन्थमें इस प्रथाकी ओर संकेत किया है। कुषाणकालके पश्चात् कुछ ही शताब्दियोंमें मूर्तिकलाका विकास होनेसे उक्त मान्यता क्षीण हो गयी। अतएव रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें 'सिकताश्मनामुच्चयः'का जो प्रयोग आया है, वह उसकी प्राचीनताका सूचक है।

गिरिपातप्रथाका निर्देश समन्तभद्रने किया है। सांस्कृतिकदृष्टिसे इस

प्रथाका विकास और प्रसार ई० सन् पूर्वकी शताब्दियोंसे ई० सन्‌की आरम्भिक शताब्दियों तक ही प्राप्त होता है। योग-क्रियाओंको सम्पादित करनेमें असमर्थ व्यक्ति गिरिपातद्वारा मुक्तिलाभ करता था। अतएव प्राचीन धर्मशास्त्रके लेखकोंने इस प्रथाकी समीक्षा की है। हरिभद्रकी 'समराइच्चकहा'के द्वितीय भवमें भी यह प्रथा उल्लिखित है। अतः समन्तभद्रने लोकमूढ़ताका जो वर्णन किया है वह उनकी प्राचीनताका सूचक है।

समन्तभद्रने प्रथम अध्यायकी चौबीसवीं कारिकामें 'पाषण्डि-मूढ़ता'की समीक्षा की है। यह 'पाषण्डी'शब्द विचारणीय है। धर्मके अर्थमें इसका प्रयोग प्राचीन साहित्यमें ही उपलब्ध होता है। अशोकके अभिलेखोंके साथ आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारमें भी इस शब्दका प्रयोग आया है। कुन्दकुन्दने लिखा है—

"पाखंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥[1]

× × ×

"ण वि एस मोक्खमग्गो पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि[2]"

अशोकने भी गिरिनारके छठे अभिलेखमें 'पाषण्ड'शब्दका प्रयोग धर्म या सम्प्रदायके अर्थमें किया है। लिखा है—'सव-पासंडापि मे पूजित विविधाय पूजाय' इससे स्पष्ट है कि 'पाषंड-मूढता'का निरूपण समन्तभद्रको प्राचीनताका द्योतक है। आरम्भमें 'पाषंडी' शब्द पवित्रताके अर्थमें प्रचलित था, पर शनैः-शनैः इस शब्दका अर्थ अपकर्षित होने लगा और यह आडम्बरपूर्ण जीवन व्यतीत करनेके अर्थमें प्रचलित हुआ।

जहाँ तक हमारा अध्ययन है पाँचवीं, छठी शताब्दीके किसी भी साहित्यमें पाषंडीका प्रयोग धर्मके अर्थमें नहीं आया है। अतः समन्तभद्रके समयपर तो इससे प्रकाश पड़ता ही है, साथ हो रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी प्राचीनतापर भी प्रकाश पड़ता है।

एक अन्य विचारणीय विषय यह भी है कि मूढ़ताओंकी समीक्षा धम्मपद, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है। धर्मशास्त्रके निर्माताओंने मूढ़ताओंकी समीक्षा ई० सन् पूर्वसे ही आरम्भ कर दी थी। अतः समन्तभद्रको रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें इन मूढ़ताओंकी समीक्षाके लिये धम्मपदादि ग्रन्थोंसे भी प्रेरणा प्राप्त हुई हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है। समन्तभद्रने इनकी समीक्षा

---

१. समयसार, गाथा ४०८।

२. वही, गाथा ४१०।

उसी शैलीमें की है जो शैली 'धम्मपद'में मिलती है। अतः मूढ़ताओंके विवेचनसन्दर्भसे रत्नकरण्डकश्रावकाचारके कर्त्ता प्राचीन समन्तभद्र ही सिद्ध होते हैं। 'धम्मपद'में बताया है—

"न नग्गचरिया न जटा न पंका नानासका थण्डिलसायिका वा।
रजोवजल्लं उक्कुटिकप्पधानं सोधेन्ति मच्चं अवितिण्ण कंखं॥"[1]

अर्थात् जिस पुरुषका सन्देह समाप्त नहीं हुआ है उसकी शुद्धि न नंगे रहनेसे, न जटासे, न कीचड़ लपेटनेसे, न उपवास करनेसे, न कठिन भूमि पर शयन करनेसे, न धूल लपेटनेसे और न उकड़ू बैठनेसे होती है।

लोक-मूढ़ताएँ विकसित होकर पाँचवीं-छठी शताब्दीके साहित्यमें आडम्बरपूर्ण जीवनके विश्लेषणके रूपमें आयी हैं। अपभ्रंश साहित्यमें इन लोक-मूढ़ताओंका रूप बाह्याडम्बर या बाह्य वेशके रूपमें उपस्थित है।

रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी प्राचीनताका एक सबल प्रमाण यह भी है कि इस ग्रन्थके कई पद्य मनुस्मृतिके वर्त्तमान संस्करणमें पाये जाते हैं। मनुस्मृतिका वर्त्तमान संस्करण ई० सन्‌की दूसरी-तीसरी शतीका है। यद्यपि यह संस्करण भी किसी प्राचीन मनुस्मृतिके आधार पर प्रस्तुत किया गया है, तो भी इसमें द्वितीय और तृतीय शतीकी अनेक रचनाओंके पद्य, वाक्यांश और पदांश उपलब्ध हैं। मनुस्मृति संग्रहग्रन्थ है, इसका प्रमाण मनुस्मृतिमें भृगु द्वारा 'प्रोक्त वक्तव्यों'का पद्यरूपमें निबद्ध करना है। श्रीपाण्डुरंग वामनकाणेने इसका संकलनकाल दूसरी शताब्दी माना है।[2] तुलनाके लिए पद्य प्रस्तुत किये जाते हैं—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम्[3]॥

× × × ×

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः।
पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः[4]॥

× × × ×

---

१. धम्मपद, सम्पादक-भिक्षुधर्मरक्षित, बनारस १९५३, गाथा १४१।
२. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र पृ० १३८, १४९, १५६।
३. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, प्रथम परिच्छेद, श्लोक २८।
४. वही, पञ्चम परिच्छेद, श्लोक १६।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबद्ध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते[1] ॥
× × × ×
इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा ।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः[2] ॥
× × × ×
इदं शरणमज्ञानमिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम्[3] ॥

अतएव विषयकी प्राचीनताकी दृष्टिसे रत्नकरण्डकश्रावकाचारके कर्त्ता प्राचीन समन्तभद्र ही हैं। मनुस्मृति और रत्नकरण्डकश्रावकाचारके प्रकरणोंके अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि रत्नकरण्डसे ही उक्त पद्य मनुस्मृतिमें संग्रहीत हैं। पद्योंमें थोड़ा-सा परिवर्त्तन किया गया है।

जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृतव्याकरण, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृत-टीका और गन्धहस्तिमहाभाष्य ये रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। अतः इनके सम्बन्धमें विवेचन करना सम्भव नहीं। इन रचनाओंके केवल निर्देश ही जहाँ-तहाँ मिलते हैं। अतएव अब हम आचार्य समन्तभद्रको काव्य-प्रतिभा एवं वैदुष्यपर प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं।

प्रतिभा एवं वैदुष्य

समन्तभद्र अत्यन्त प्रतिभाशाली और स्वसमय, परसमयके ज्ञाता सारस्वत हैं। इन्होंने एकान्तवादियोंका निरसन कर अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा दार्शनिक शैलीमें की है। भाव और अभावरूप विरोधी युगलधर्मोंको लेकर सप्तभंगात्मक वस्तुको सिद्ध किया है। क्रियाभेद, कारकभेद, पुण्य-पापरूप कर्मद्वैत, सुख-दुख-रूप फलद्वैत, इहलोक-परलोकरूप लोकद्वैत, विद्या-अविद्यारूप ज्ञानद्वैत और बन्ध-मोक्षरूप जीवकी शुद्धाशुद्ध अवस्थाओंका चित्रण किया गया है। बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त आदि दर्शनोंकी मूल मान्यताओंका अध्ययन कर उनकी यथार्थ समीक्षा समन्तभद्रने की है। हम यहाँ उदाहरणके लिए वैशेषिकोंके परमाणुवादको लेते हैं।[4] वैशेषिकोंमें कोई परमाणुओंमें पाक—अग्नि

---

१. मनुस्मृति, ६ अध्याय, श्लोक ७४—चौखम्बा संस्करण।

२. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, प्रथम परिच्छेद, श्लोक ११।

३. मनु०, ६ अध्याय. श्लोक ८४।

४. डॉ० दरबारीलाल कोठिया : आप्तमीमांसा, वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट, सन् १९६७, प्रस्तावना पृ० ९-१०।

संयोग होकर द्व्यणुकादि अवयवीमें क्रमशः पाक मानते हैं और कोई परमाणुओंमें किसी भी प्रकारकी विकृति न होनेसे उनमें पाक–अग्निसंयोग न मान कर केवल द्व्यणुकादिमें पाक स्वीकार करते हैं। जो परमाणुओंमें पाक नहीं मानते उनका कहना है कि परमाणु नित्य हैं और इसलिए वे द्व्यणुकादि सभी अवस्थाओंमें एकरूप बने रहते हैं। उनमें किसी भी प्रकारकी अन्यता नहीं होती, अपितु सर्वदा अनन्यता विद्यमान रहती है। इसी मान्यताको आचार्य समन्तभद्रने 'अणुओंका अनन्यतैकान्त' कहा है। इस मान्यतामें दोषोद्घाटन करते हुए बताया है कि यदि अणु द्व्यणुकादि संघातदशामें भी उसी प्रकारके बने रहते हैं, जिस प्रकार वे विभागके समय हैं, तो वे असंहत ही रहेंगे और इस अवस्थामें अवयवीरूप पृथ्वी आदि चारों भूत भ्रान्त हो जायेंगे, जिससे अवयवीरूप कार्य भी भ्रान्त सिद्ध होगा। इस प्रकार वैशेषिकोंके अनन्यतैकान्तकी समीक्षा कर अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा की है।

समन्तभद्रकी कारिकाओंके अवलोकनसे उनका विभिन्न दर्शनोंका पाण्डित्य अभिव्यक्त होता है। प्रमाण, प्रमाणफल, प्रमाणका विषय आदिका विवेचन समन्तभद्रने बहुत ही सूक्ष्मतासे किया है। इन्होंने सद्-असद्वादकी तरह द्वैत-अद्वैतवाद, शाश्वत-अशाश्वतवाद, वक्तव्य-अवक्तव्यवाद, अन्यता-अनन्यतावाद, अपेक्षा-अनपेक्षावाद, हेतु-अहेतुवाद, विज्ञान-बहिरर्थवाद, दैव-पुरुषार्थवाद, पाप-पुण्यवाद और बन्ध-मोक्षकारणवादका विवेचन किया है।

डॉ० दरबारीलाल कोठियाने समन्तभद्रके उपादानोंका निर्देश करते हुए लिखा[1] है कि उन्होंने जैनदर्शनको निम्नलिखित सिद्धान्त प्रदान किये हैं—

१. प्रमाणका स्वपराभासलक्षण
२. प्रमाणके क्रमभावि और अक्रमभावि भेदोंकी परिकल्पना
३. प्रमाणके साक्षात् और परम्परा फलोंका निरूपण
४. प्रमाणका विषय
५. नयका स्वरूप
६. हेतुका स्वरूप
७. स्याद्वादका स्वरूप
८. वाच्यका स्वरूप
९. वाचकका स्वरूप
१०. अभावका वस्तुधर्मनिरूपण एवं भावान्तरकथन
११. तत्त्वका अनेकान्तरूप प्रतिपादन

---

१. आप्तमीमांसा, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, सन् १९६७, प्रस्तावना, पृ० ४५-४६।

१२. अनेकान्तका स्वरूप
१३. अनेकान्तमें भी अनेकान्तकी योजना
१४. जैनदर्शनमें अवस्तुका स्वरूप
१५. स्यात् निपातका स्वरूप
१६. अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि
१७. युक्तियोंसे स्याद्वादकी व्यवस्था
१८. आप्तका तार्किक स्वरूप
१९. वस्तु-द्रव्य-प्रमेयका स्वरूप

काव्य-चमत्कारकी दृष्टिसे भी समन्तभद्र अपने क्षेत्रमें अद्वितीय हैं। इन्होंने चित्र और श्लेष काव्यका प्रारम्भ कर भारवि और माघके लिये काव्य-क्षेत्रका विकास किया है। कवि समन्तभद्रने अपने स्तोत्र-काव्योंमें शब्द और अर्थ इन दोनोंकी गम्भीरताका अपूर्व समन्वय बनाये रखनेकी सफल चेष्टा की है। शब्द-संघति, अलंकार-वैचित्र्य, कल्पनासम्पत्ति एवं तार्किक प्रतिभाका समवाय एकत्र प्राप्य है। प्रबन्धकाव्य न लिखने पर भी कतिपय पद्योंमें प्रौढ़ प्रबन्धात्मकता पायी जाती है। इतिवृत्तात्मक धार्मिक तथ्योंका समावेश भी काव्य-शैलीमें मनोरमरूपमें हुआ है। कविप्रतिभा और दार्शनिकताका मणि-कांचन संयोग श्लाघ्य है। उत्प्रेक्षाद्वारा आराध्य पद्मप्रभका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

"शरीर-रश्मि-प्रसरः प्रभोस्ते बालार्क-रश्मिच्छविराऽऽलिलेप।
नराऽमराऽऽकीर्ण-सभां प्रभा वा शैलस्य पद्माभमणेः स्वसानुम्॥"[1]

अर्थात् हे प्रभो! प्रातःकालीन सूर्यकिरणोंकी छविके समान रक्तवर्णकी आभावाले आपके शरीरकी किरणोंके विस्तारने मनुष्य और देवताओंसे भरी हुई समवशरण सभाको इस प्रकार आलिप्त किया है, जैसे पद्मकान्तमणि पर्वत-की प्रभा अपने पार्श्वभागको आलिप्त करती है।

इस पद्यमें पद्मप्रभ तीर्थंकरकी रक्तवर्ण कान्ति द्वारा समवशरणसभाके व्याप्त किये जानेकी उत्प्रेक्षा पद्मकान्तमणिके पर्वतकी प्रभासे की गयी है।

कवि समन्तभद्र उपमा-अलंकारके व्यवहारमें भी पटु हैं। उन्होंने भगवान् आदिनाथको अज्ञानान्धकारका विनाश करनेके लिए चन्द्रमाका उपमान प्रदान किया है। कुछ पद्योंमें प्रयुक्त उपमान[2] नवीन प्रतीत होते हैं। यथा—

---

१. स्वम्भूस्तोत्र ६।३।
२. 'विधुन्वता तमः क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः।' —स्वम्भू स्तोत्र १।१।

"येन प्रणीतं पृथु धर्म-तीर्थं ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् ।
गाङ्गं ह्रदं चन्दन-पङ्क-शीतं गज-प्रवेका इव घर्मतप्ताः ॥"[1]

जिन्होंने उस महान् और ज्येष्ठ धर्मतीर्थका प्रणयन किया है, जिसका आश्रय पाकर भव्यजन दुःख-सन्तापपर उसी प्रकार विजय प्राप्त करते हैं, जिस प्रकार ग्रीष्मकालीन सूर्यके सन्तापसे सन्तप्त हुए बड़े-बड़े हाथी चन्दनलेपके समान शीतल गङ्गाको प्राप्त कर सूर्यके आतापजन्य दुःखको मिटा डालते हैं।

यहाँ गंगाजलका उपमान चन्दनलेप है और धर्मतीर्थका उपमान गंगाजल है। जनका उपमान गज है। इस प्रकार इस पद्यमें संसार-आतापकी शान्तिके लिए धर्मतीर्थका सामर्थ्य विभिन्न उपमानों द्वारा दिखलाया गया है।

चन्द्रप्रभजिनकी स्तुति करते हुए उनको संसारका अद्वितीय चन्द्रमा कहा है तथा उपमा द्वारा आराध्यकी रूपाकृतिका मनोरम चित्र अंकित किया है—

चन्द्रप्रभं चन्द्र-मरीचि-गौरं चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम् ।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जित-स्वान्त-कषाय-बन्धम् ॥[2]

चन्द्रकिरणके समान गौरवर्णसे युक्त चन्द्रप्रभजिन जगत्में द्वितीय चन्द्रमाके समान दीप्तिमान् हैं, जिन्होंने अपने अन्तःकरणके कषायबन्धनको जीत अकषायपद प्राप्त किया है और जो ऋद्धिधारी मुनियोंके स्वामी तथा महात्माओं द्वारा वन्दनीय हैं।

इस पद्यमें 'चन्द्रमरीचिगौरं' उपमान है, इस उपमान द्वारा चन्द्रप्रभतीर्थंकरके गौरवर्ण शरीरकी आकृतिका सुन्दर अंकन किया है।

चन्द्रप्रभजिनके प्रवचनको सिंहका रूपक और एकान्तवादियोंको मदोन्मत्त गजका रूपक देकर कविने आराध्यके उपदेशकी महत्ता प्रदर्शित की है। इस प्रसंगमें रूपक-अलंकारकी योजना बहुत ही तर्कसंगत है। यथा—

"स्व-पक्ष-सौस्थित्य-मदाऽवलिप्ता वाक्सिंह-नादैर्विमदा बभूवुः ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा गजा यथा केसरिणो निनादैः ॥"[3]

जिनके प्रवचनरूप सिंहनादोंको सुनकर अपने मतकी सुस्थितिका घमण्ड रखनेवाले प्रवादिजन उसी प्रकार निर्मद हुए हैं, जिस प्रकार मद झरते हुए उन्मत्त हाथी केसरी—सिंहकी गर्जनाको सुनकर निर्मद हो जाते हैं।

---

१. स्वयम्भूस्तोत्र, ३।४।

२. स्वम्भूस्तोत्र, ८।१।

३. वही, ८।३।

चन्दन, चन्द्रकिरण, गंगाजल और मुक्ताओंकी हारयष्टिकी शीतलताका निषेध कर शीतलनाथ तीर्थंकरके वचनोंको आचार्य समन्तभद्रने शीतल सिद्ध किया है। प्रस्तुत सन्दर्भमें व्यतिरेक-अलंकार द्वारा उपमेयमें गुणाधिक्यका आरोप कर उपमानोंमें न्यून गुणका समावेश किया है। शीतलनाथ तीर्थंकरके सद्गुणोंका उत्कर्ष यहाँ प्रस्तुत किया गया है। गुणत्व ही उत्कर्षापकर्षका आधार है। अतः तीर्थंकरकी अमृतवाणीको शीतलताका चरम साधन मानकर उपमानोंके साधारण धर्मसे आधिक्य दिखलाया गया है। वाणीमें शीतलता और माधुर्यके साथ अमृतत्व भी है, जिससे वह चन्दन, चन्द्रकिरण आदिकी अपेक्षा अधिक शीतलता प्रदान करनेकी क्षमता रखती है। यथा—

"न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः।
यथा मुनेस्तेऽनघ! वाक्य-रश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम्॥"[1]

हे अनघ! निरवद्य निर्दोष श्रीशीतलजिन! आप जैसे प्रत्यक्षज्ञानी मुनिकी प्रशमजलसे आप्लावित वाक्यरश्मियाँ संसार-तापको दूर करनेके हेतु उतनी शीतल हैं, जितनी न तो चन्द्रकिरणें शीतल हैं, न चन्दन है, न गङ्गाजल शीतल है और न मोतियोंकी हारयष्टि ही। तात्पर्य यह है कि शीतलजिनकी अमृतवाणी चन्दन, चन्द्रकिरण, गङ्गाजल और मुक्ताहारयष्टिसे अधिक शीतल और सुखप्रद है।

कविताका विषय हृदयकी अनुभूति है। अनुभूतिकी अवस्थामें समस्त स्नायुमण्डल तदनुकूल रूप धारण करता है और उच्चरित वाक्यावलिमें अपूर्व प्रवाह उत्पन्न हो जाता है। अनुभूतिके समयमें हृदयकी प्रधानतः दो अवस्थाएँ होती हैं। ये अवस्थाएँ हैं—१. उल्लास और २. विह्वलता। कवि जब उल्लसित होता है, तो वह गाता है। यही कारण है कि स्तोत्रोंके समयमें कविकी तन्मयता चरमसीमाको पहुँच जाती है। आराध्यके चरणोंमें वीतरागताकी प्राप्तिके लिए कवि अपनेको समर्पित कर देता है। भाव जहाँ उसके हृदयको उल्लसित और उद्वेलित करते हैं, वहाँ रमणीय वाक्यावलिके शब्द उसके हृदयको चमत्कारसे भर देते हैं।

चित्रकाव्यमें हृदयकी भावावस्था उतनी द्रवित नहीं होती, जितनी चमत्कारको योजना होनेसे कौतूहल। अतएव संस्कृतकाव्यमें सर्वप्रथम चित्र, श्लेष और यमकका प्रादुर्भाव हुआ। भावावस्थामें स्थायित्व नहीं रहता है, यतः भाव क्षणभरमें उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं, पर चमत्कृत दशा अधिक

---

१. स्वयम्भूस्तोत्र, १०।१।

समय तक विद्यमान रहती है। यही कारण है कि वैदिक ऋषियोंने भी वैदिक मन्त्रोंके प्रयोगमें शब्दरमणीयताको स्थान दिया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक प्रभृति अलंकारोंके साथ श्लेष और यमक भी उपलब्ध हैं।

स्वामी समन्तभद्रने स्तुतिविद्यामें हृदयको भावावस्थाको अधिक क्षणोंतक बनाये रखनेके लिए शब्दोंको रम्यक्रीडाको स्थान दिया है। इसके बिना हृदयमें कौतूहलको स्थिति प्रबल वेगके साथ जागृत नहीं को जा सकती है। संवेदनाओंको शब्दोंकी रम्यताके गर्भसे प्रस्फुटितकर कौतूहल स्थिति तक पहुंचा देना है। आचार्य समन्तभद्रके चित्रबन्ध केवल शाब्दी रमणीयताका ही सृजन नहीं करते हैं, अपितु इनमें वक्रोक्ति और स्वभावोक्तियोंका चमत्कार भी निहित है।

'तकार' व्यञ्जन द्वारा निम्नलिखित पद्यका गुम्फन किया है। श्लोकके प्रथमपादमें जो अक्षर हैं, वे ही सब अगले पादोंमें यत्र-तत्र व्यवस्थित हैं। साध्य-रूपमें यहाँ शाब्दी क्रीडा नहीं है, अपितु साधनके रूपमें है, जिससे शब्दचमत्कार 'परिच्छित्ति'की योजना द्वारा निर्मित हुआ है।

ततोतिता तु तेतीतस्तोतृतोतीतितोतृतः।
ततोऽतातिततातोते ततता ते ततोततः[1] ॥

हे भगवन्! आपने ज्ञानावरणादि कर्मोंको नष्ट कर केवलज्ञानादि विशेषगुणोंको प्राप्त किया है, तथा आप परिग्रहरहित स्वतन्त्र है। अतः आप पूज्य और सुरक्षित हैं। आपने ज्ञानावरणादि कर्मोंके विस्तृत—अनादिकालिक सम्बन्धको नष्ट कर दिया है। अतः आपकी विशालता—प्रभुता स्पष्ट है—आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं।

एक-एक व्यंजनके अक्षरक्रमसे प्रत्येक पादका ग्रथन कर चित्रालंकारकी योजना द्वारा भावाभिव्यक्ति की गयी है। यहाँ शब्दचमत्कारके साथ अर्थ-चमत्कार भी प्राप्य है—

येयायायाययेयाय नानाननाननानन।
ममाममाममामामिताततीतिततीतितः[2] ॥

हे भगवन्! आपका मोक्षमार्ग उन्हीं जीवोंको प्राप्त हो सकता है, जो कि पुण्यबन्धके सम्मुख हैं अथवा जिन्होंने पुण्यबन्ध कर लिया है। समवशरणमें आपके चार मुख दिखलाई पड़ते हैं। आप केवलज्ञानसे युक्त हैं तथा ममता-

१. स्तुतिविद्या, पद्य १३।
२. स्तुतिविद्या, पद्य १४।

भावसे—मोहपरिणामोंसे रहित हैं, तो भी आप सांसारिक बड़ी-बड़ी व्याधियोंको नष्ट कर देते हैं। हे प्रभो ! मेरे भी जन्म-मरणरूप रोगको नष्ट कर दीजिए।

चन्द्रप्रभ और शीतलजिन स्तुति करते हुए मुर्जबन्धोंकी योजनामें व्यतिरेक और श्लेष अलंकारकी दिव्य आभाका मिश्रण उपलब्ध होता है—

"प्रकाशयन् खमुद्भूतस्त्वमुद्धांककलालयः।
विकासयन् समुद्भूतः कुमुदं कमलाप्रियः[1]॥

हे प्रभो ! आप चन्द्ररूप हैं, क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा उदय होते ही आकाशको प्रकाशित करता है, उसी तरह आप भी समस्त लोकाकाश और अलोकाकाशको प्रकाशित करते हैं। चन्द्रमा जिस प्रकार मृगलांछनसे युक्त है, उसी प्रकार आप भी मनोहर अर्द्धचन्द्रसे युक्त हैं। चन्द्रमा जिस प्रकार सोलह कलाओंका आलय—गृह होता है, उसी तरह आप भी केवलज्ञानादि अनेक कलाओंके आलय—स्थान हैं। चन्द्रमा जिस तरह कुमुदों—नीलकुमुदोंको विकसित करता हुआ उदित होता है, उसी तरह आप भी पृथ्वीके समस्त प्राणियोंको आनन्दित करते हैं। चन्द्रमा जिस प्रकार कमलाप्रिय—कमलशत्रु होता है, उसी प्रकार आप भी कमलाप्रिय—केवलज्ञानादि लक्ष्मीके प्रिय हैं।

श्लेषके समान ही उपर्युक्त पद्यमें व्यतिरेक अलंकार भी है। इस अलंकारके प्रकाशमें चन्द्रमाकी अपेक्षा तीर्थंकर चन्द्रप्रभकी महत्ता प्रदर्शित की गयी है। चन्द्रप्रभमें गुणोंका उत्कर्ष और चन्द्रमामें अपकर्ष दिखलाया गया है।

श्रेयोजिनकी स्तुतिमें 'अर्द्धभ्रम'का प्रयोग किया है। इसमें औष्ठ्य वर्णोंका अभाव है, और चतुर्थ पादके समस्त अक्षरोंको अन्य तीन पादोंमें समाहित किया है—

"हरतोज्याहिता तान्ति रक्षार्थायस्य नेदिता।
तीर्थदिश्रेयसे नेताज्यायः श्रेयस्ययस्य हि[2]॥

कुछ ऐसे भी पद्य हैं, जिन्हें क्रमके साथ विपरीत क्रमसे भी पढ़ा जा सकता है, और विपरीत क्रमसे पढ़नेपर भिन्नार्थक पद्य ही बन जाता है। कविने स्वयं ही अनुलोम-प्रतिलोमक्रमसे श्लोकोंका प्रणयन किया है। यथा—

"रक्षमाक्षर वामेश शमी चारुरुचानुतः।
भो विभोनशनाजोरुनम्रेन विजरामय[3]॥

---

१. स्तुति विद्या, पद्य ३१।

२. वही, पद्य ४३।

३. वही, पद्य ८६।

इसी पद्यको प्रतिलोमक्रमसे पढ़नेपर निम्नलिखित पद्य निर्मित होता है।

"यमराज विनम्रेन रुजोनाशन भो विभो।
तनु चारुरुचामीश शमेवारक्ष माक्षर[1]॥

शब्द और अर्थ चमत्कारके साथ नादानुकृति भी विद्यमान है। विधायक कल्पना द्वारा आराध्यकी शरीराकृतिके साथ गुणोंका समवाय भी अभिव्यक्त हुआ है।

इस प्रकार आचार्य समन्तभद्रने जैनन्यायको तार्किकरूप प्रदान करनेके साथ संस्कृतकाव्यको निम्नलिखित तत्त्व प्रदान किये हैं—

१. चित्रालंकारका प्रारम्भ

२. श्लेष और यमकों द्वारा काव्यशैलीका उदात्तीकरण

३. शतककाव्यका सूत्रपात

४. स्तवनोंमें बाह्य चित्रणकी अपेक्षा अन्तरंग गुणों एवं अनेकान्तात्मक सिद्धान्तोंकी बहुलता

५. दर्शन और काव्यभावनाका मणि-कांचनसंयोग

आचार्य समन्तभद्रके उक्त काव्यतत्त्वोंका संस्कृतकाव्यतत्त्वोंपर पूर्ण प्रभाव पड़ा है। जब संस्कृतकाव्यका प्रणयन मध्यदेशसे स्थानान्तरित हो गुजरात, कश्मीर और दक्षिणभारतमें प्रविष्ट हुआ, तो समन्तभद्रके काव्य-सिद्धान्त सर्वत्र प्रचलित हो गये। भारविमें एकाएक चित्र और श्लेषका प्रादुर्भाव नहीं हुआ है, अपितु समन्तभद्रके काव्यसिद्धान्तोंका उनपर प्रभाव है। मलाबार निवासी वासुदेव कविने यमक और श्लेष सम्बन्धी जिन प्रसिद्ध काव्योंकी रचना की है, उनके लिए वे शैलीके क्षेत्रमें समन्तभद्रके ऋणी हैं। कवि कुञ्जर द्वारा लिखित राघवपाण्डवीय पर भी समन्तभद्रकी शैलीका प्रभाव है। अतः संक्षेपमें दर्शन, आचार, तर्क, न्याय आदि क्षेत्रोंमें प्रस्तुत किये गये ग्रन्थोंकी दृष्टिसे समन्तभद्र ऐसे सारस्वताचार्य है, जिन्होने कुन्दकुन्दादि आचार्योंके वचनोंको ग्रहण कर, सर्वज्ञकी वाणीको एक नये रूपमें प्रस्तुत किया है।

आचार्य सिद्धसेन

कवि और दार्शनिकके रूपमें सिद्धसेन प्रसिद्ध हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ इन्हें अपना-अपना आचार्य मानती हैं। आचार्य जिनसेनने अपने आदिपुराणमें सिद्धसेनको कवि और वादिगजकेसरी दोनों कहा है—

१. स्तुति विद्या, पद्य ८७।

कवयः सिद्धसेनाद्या वयं च कवयो मताः ।
मणयः पद्मरागाद्या ननु काचोऽपि मेचकः ॥
प्रवादिकरियूथानां केसरी नयकेसरः ।
सिद्धसेनकविर्जीयाद्विकल्पनखराङ्कुरः ॥[1]

पूर्वकालमें सिद्धसेन आदि अनेक कवि हो गये हैं और मैं भी कवि हूँ। पर दोनोंमें उतना ही अन्तर है, जितना कि पद्मरागमणि और कांचमणिमें होता है।

वे सिद्धसेन कवि जयवन्त हों, जो प्रवादिरूपी हाथियोंके झुण्डके लिए सिंहके समान हैं। नैगमादि नय ही जिनके केशर—अयाल तथा अस्ति-नास्ति आदि विकल्प ही जिनके तीक्ष्ण नाखून थे।

आचार्य हेमचन्द्रने अपने शब्दानुशासनमें "उत्कृष्टेऽनूपेन" (२।२।३९) सूत्रके उदाहरणमें 'अनुसिद्धसेनं कवयः' द्वारा सिद्धसेनको सबसे बड़ा कवि बताया है।

जैनेन्द्र व्याकरणके 'उपेन' (१।४।१६) सूत्रकी वृत्तिमें अभयनन्दिने 'उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः' उदाहरण द्वारा सिद्धसेनको श्रेष्ठ वैयाकरण बतलाया है।

जिनसेन प्रथमने अपने 'हरिवंशपुराण'में सिद्धसेनकी सूक्तियों (वचनों) को तीर्थंकर ऋषभदेवकी सूक्तियोंके समान सारयुक्त एवं महत्त्वपूर्ण बतलाया है। यथा—

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः ।
बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥[2]

अर्थात् जिनका श्रेष्ठ ज्ञान संसारमें सर्वत्र प्रसिद्ध है ऐसे श्री सिद्धसेनकी निर्मल सूक्तियाँ श्रीऋषभ जिनेन्द्रकी सूक्तियोंके समान सत्पुरुषोंकी बुद्धिको सदा विकसित करती हैं।

जीवन-परिचय

सिद्धसेनके जीवन-वृत्तके सम्बन्धमें प्रभावकचरितमें जो तथ्य उपलब्ध हैं उनसे प्रकट है कि उज्जयिनी नगरीके कात्यायन गोत्रीय देवर्षि ब्राह्मणकी देवश्री पत्नीके उदरसे इनका जन्म हुआ था। ये प्रतिभाशाली और समस्त शास्त्रोंके पारंगत विद्वान् थे। वृद्धवादि जब उज्जयिनी नगरीमें पधारे तो उनके साथ सिद्धसेनका शास्त्रार्थ हुआ। सिद्धसेन वृद्धवादिसे बहुत प्रभावित हुए और उनका

१. आदिपुराण, भाग १, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण—१।३९-४२।
२. हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण—१।३०।

शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। गुरुने इनका दीक्षानाम कुमुदचन्द्र रखा[1]। आगे चलकर ये सिद्धसेनके नामसे प्रसिद्ध हुए। हरिभद्रके 'पचवस्तु' ग्रन्थमें 'दिवाकर' विशेषण उपलब्ध होता है। उसमें बताया गया है कि दुःषमकाल-रूप रात्रिके लिए दिवाकर—सूर्यके समान होनेसे दिवाकरका विरुद इन्हें प्राप्त था।

आयरियसिद्धसेणेण सम्मइए पइट्ठि अजसेणं।
दूसमणिसा-दिवागर कप्पंतणओ तदक्खेणं॥[2]

सन्मति-टीकाके प्रारम्भमें अभयदेवसूरि (१२वीं शती ई०)ने भी इन्हें दिवाकर कहा है। दुःषमाकाल श्रमणसंघकी अवचूरिमें सिद्धसेनको 'दिवाकर'के स्थान-पर 'प्रभावक' लिखा गया है और इनके गुरुका नाम धर्माचार्य बताया है।[3]

इनके सम्बन्धमें यह भी कहा जाता है कि इन्होंने उज्जयिनीमें महाकालके मन्दिरमें 'कल्याणमन्दिर' स्तोत्र द्वारा रुद्र-लिङ्गका स्फोटन कर पार्श्वनाथका बिम्ब प्रकट किया था और विक्रमादित्य राजाको सम्बोधित किया था। यथा—

'वृद्धवादी पादलिप्तश्चात्र तथा सिद्धसेनदिवाकरो येनोज्जयिन्यां महाकाल-प्रासाद-रुद्रलिङ्गस्फोटनं विधाय कल्याणमन्दिरस्तवेन श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृतं श्रीविक्रमादित्यश्च प्रतिबोधितस्तद्राज्यं तु श्रीवीरसप्ततिवर्षचतुष्टये सञ्जातम्।'[4]

पट्टावलीसारोद्धारमें लिखा है—

'तथा सिद्धसेनदिवाकरोऽपि जातो येनोज्जयिन्यां महाकालप्रासादे रुद्र-लिङ्गस्फोटनं कृत्वा कल्याणमन्दिरस्तवनेन श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृत्य श्री-विक्रमादित्यराजापि प्रतिबोधितः श्रीवीरनिर्वाणात् सप्ततिवर्षाधिकशतचतुष्टये ४७० विक्रमे श्रीविक्रमादित्यराज्यं सञ्जातम्।'[5]

गुरुपट्टावलीमें भी इसी तथ्यकी पुनरावृत्ति प्राप्त होती है—'तथा श्रीसिद्ध-सेनदिवाकरेणोज्जयिनीनगर्यां महाकालप्रासादे लिङ्गस्फोटनं विधाय स्तुत्या ११ काव्ये श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृतम्'[6] कल्याणमन्दिरस्तोत्रं कृतम्।'

---

१ प्रभावकचरितके अन्तर्गत वृद्धवादिसूरि-चरितम्, पृ० ५५-६०।

२. हरिभद्र-पञ्चवस्तु गाथा १४०८।

३. अनेकान्त, वर्ष ९, किरण ११, पृ० ४५७।

४. मुनि दर्शनविजय द्वारा सम्पादित पट्टावलीसमुच्चय, प्रथम भाग।

५. वही, पृ० १५०।

६. पट्टावलीसमुच्चय, पृ० १६६।

इन पट्टावलियोंसे ज्ञात होता है कि सिद्धसेनके प्रभावसे उज्जयिनीमें शिव-लिङ्ग-स्फोटनकी घटना घटी थी। पट्टावलियोंके कालक्रमके अवलोकनसे प्रतीत होता है कि उज्जयिनीकी इस घटनाका समावेश विक्रमकी १५ वीं शताब्दीसे हुआ है। अतः सम्भव है कि सिद्धसेनकी इस घटनाको समन्तभद्रकी शिवपिण्ड-स्फोटनकी घटनाके अनुकरणपर कल्पित किया गया हो।

पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारने सिद्धसेनके स्तुत्यात्मक साहित्यका आकलन कर निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित किया है—

"यहाँ 'स्तुतयः' 'यूथाधिपतेः' तथा 'तस्य शिशुः'[१] ये पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। 'स्तुतयः' पदके द्वारा सिद्धसेनीय ग्रन्थोंके रूपमें उन द्वात्रिंशिकाओंकी सूचना की गयी है जो स्तुत्यात्मक हैं और शेष पदोंके द्वारा सिद्धसेनको अपने सम्प्रदायका प्रमुख आचार्य और अपनेका उनका परम्पराशिष्य घोषित किया गया है। इस तरह श्वेताम्बर सम्प्रदायके आचार्यरूपमें यहाँ वे सिद्धसेन विवक्षित हैं जो कतिपय स्तुतिरूप द्वात्रिंशिकाओंके कर्त्ता हैं, न कि वे सिद्धसेन जो कि स्तुत्येतर द्वात्रिंशिकाओंके अथवा खासकर 'सन्मति' सूत्रके रचयिता हैं।"[२]

उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट है कि मुख्तार साहब दो सिद्धसेन मानते हैं। एक सिद्धसेन वे हैं जो सन्मतिसूत्र और स्तुत्येतर द्वात्रिंशिकाओंके रचयिता हैं। और दूसरे वे सिद्धसेन, जिन्होंने स्तुतिरूप द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की है।

दिवाकरयतिके रूपमें रविषेणाचार्यके पद्मचरितकी प्रशस्तिमें भी एक सिद्धसेनका उल्लेख आया है। इसमें इन्हें इन्द्रगुरुका शिष्य, अर्हन् मुनिका गुरु और रविषेणके गुरु लक्ष्मणसेनका दादागुरु बतलाया है।

> आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकर-यतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः।
> तस्माल्लक्ष्मणसेन-सन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतम्॥[३]

यहाँ यह स्मरणीय है कि श्वेताम्बर प्रबन्धों और पट्टावलियोंके समान सिद्धसेनके साथ उज्जयिनीके महाकालमंदिरमें घटित घटनाका उल्लेख दिगम्बर सम्प्रदायमें भी पाया जाता है। सेनगणकी पट्टावलीके निम्न वाक्यमें कहा है—

---

१. क्व सिद्धसेन-स्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा।
तथाऽपि यूथाधिपतेः पथस्थः स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः॥

—हेमचन्द्र द्वात्रिंशिका।

२. अनेकान्त वर्ष ९, किरण ११, पृ० ४५९।

३. पद्मचरित, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, १२३।१६७

"(स्वस्ति) श्रीमदुज्जयिनीमहाकालसंस्थापनमहाकाललिङ्गमहीधर-वाग्वज्रदण्ड-विष्ट्याविष्कृतश्रीपार्श्वतीर्थेश्वरप्रतिद्वन्द्वश्रीसिद्धसेनभट्टारकाणाम्॥१४॥

समय-निर्धारण

सिद्धसेनके समयके सम्बन्धमें अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं। एक मान्यता इनको प्रथम शतीका विद्वान् स्वीकार करती है और प्रमाणमें पट्टावली-समुच्चयमें सङ्कलित पट्टावलियोंको प्रस्तुत करती है। पर यह मत प्रमाणभूत नहीं है। यतः विक्रमादित्य नामके कई राजा हुए हैं। अतएव पट्टावलीमें उल्लिखित विक्रमादित्य वि० सं० का प्रवर्तक नहीं है। उज्जयिनीके साथ कई विक्रमादित्योंका सम्बन्ध है। अतः सम्भव है कि यह विक्रमादित्य विक्रम उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय हो।

द्वितीय मतके अनुसार सिद्धसेनका समय जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिता पूज्यपादसे पूर्व माना गया है। इस मतके प्रवर्त्तक आचार्य पण्डित सुखलालजी संघवी हैं। आपने पूज्यपादके व्याकरणगत "वेत्तेः सिद्धसेनस्य" ५।१।७ सूत्रमें निर्दिष्ट सिद्धसेनके मतका निरूपण करते हुए कहा है कि अनुपसर्ग और सकर्मक √विद् धातुसे रेफका आगम होता है। इस मान्यताका प्रयोग नवमी त्रिंशिकाके २२वें पद्यमें 'विद्रते' इस प्रकार रेफ आगमवाला प्रयोग पाया जाता है। अन्य वैयाकरण सम उपसर्गपूर्वक और अकर्मक √विद् धातुमें 'र' का आगम मानते हैं। पर सिद्धसेन अनुपसर्ग और सकर्मक √विद्धातुमें रेफका आगम स्वीकार करते हैं। इनकी इस विलक्षणताका निर्देश उनका बहुश्रुतत्व सूचित करता है। इसके अतिरिक्त सर्वार्थसिद्धिके सातवें अध्यायके १३वें सूत्रमें 'उक्तञ्च' के बाद सिद्धसेन दिवाकरके एक पद्यका अंश उद्धृत मिलता है।[1] इससे उनका समय पूज्यपादके पूर्व विक्रमकी पञ्चम शताब्दीका प्रथम पाद अथवा चतुर्थ शताब्दीका अन्तिम पाद होना चाहिए।

मुनि जिनविजयजीने मल्लवादिके "द्वादशारनयचक्र" में 'दिवाकर' का उल्लेख प्राप्त कर और प्रभावकचरितके अन्तर्गत 'विजयसिंहचरितम्' में वीर निर्वाण संवत् ८८४को मल्लवादिका समय मानकर सिद्धसेनका काल वि० सं० ४१४ माना है।[2]

---

१. वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते,
शिवं च न परोपमर्दपु (प) रुषस्मृतेर्विद्यते ॥३।१६॥

२. जैनसाहित्य संशोधक, भाग २।

तीसरे मतके प्रवर्त्तक डॉ० हीरालालजी जैन हैं। इन्होंने सिद्धसेनको गुप्तकालीन सिद्ध किया है। एक द्वात्रिंशिकाके आधारपर विक्रमादित्य उपाधि-धारी चन्द्रगुप्त द्वितीयका समकालीन माना है[1]। अन्यत्र भी आपने लिखा है—

"सम्मइसुत्तका' रचनाकाल चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० है।[2]"

डॉ० जैनकी मान्यता पण्डित सुखलालजी संघवीके समान ही है।

चतुर्थ मत डॉ० पी० एल० वैद्यका है, जिन्होंने न्यायावतारकी प्रस्तावनामें प्रभावकचरितके निम्नलिखित पद्यको उद्धृत किया है और उसमें आये 'वीर-वत्सरात्' पदकी व्याख्या 'वीरविक्रमात्' पाठ मानकर की है—

श्रीवीरवत्सरादथशताष्टके चतुरशीतिसंयुक्ते।
जिग्ये स मल्लवादी बौद्धांस्तद्व्यन्तरांश्चापि॥[3]

तदनुसार डॉ० वैद्य सिद्धसेनका समय आठवीं शती मानते हैं। आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने अनेक तर्क और प्रमाणोंके आधारपर न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेन और कतिपय द्वात्रिंशिकाओंके कर्त्ता सिद्धसेनको सन्मतितर्कके कर्त्ता सिद्धसेनसे भिन्न माना है। आपने 'सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन' शीर्षक विस्तृत निबन्धमें यह निष्कर्ष निकाला है कि 'सन्मतिसूत्र'के कर्त्ता सिद्धसेन दिगम्बर विद्वान् हैं और न्यायावतारके कर्त्ता श्वेताम्बर। द्वात्रिंशिकाओंमें कुछके रचयिता दिगम्बर सिद्धसेन हैं और कुछके कर्त्ता श्वेताम्बर सिद्धसेन। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें श्वेताम्बर आगमोंको संस्कृतमें रूपान्तरित करनेके विचारमात्रसे सिद्धसेनको बारह वर्षके लिए संघसे निष्कासित करनेका दण्ड दिया गया था। इस अवधिमें सिद्धसेन दिगम्बर साधुओंके सम्पर्कमें आये और उनके विचारोंसे प्रभावित हुए। विशेषतः समन्तभद्रके जीवनवृत्तान्तों और उनके साहित्यका उनपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा, इसलिए वे उन्हीं जैसे स्तुत्यादि कार्योंमें प्रवृत्त हुए। उन्हींके साहित्यके संस्कारोंके कारण सिद्धसेनके साथ उज्जयिनीकी वह महाकालवाली घटना भी घटित हुई होगी, जिससे उनका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त हो गया होगा। सिद्धसेनके इस बढ़ते प्रभावके कारण ही श्वेताम्बर संघको अपनी भूलका अनुभव हुआ होगा और प्रायश्चित्तकी शेष अवधिको रद्दकर उन्हें प्रभावक आचार्य घोषित किया गया होगा।

दिगम्बर सम्प्रदायमें सिद्धसेनको सेनगणका आचार्य माना गया है। अतएव

१. A contemporary Ode to Chandragupta Vikramaditya.

२. भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान : मध्यप्रदेश शासन संस्करण, पृ०–८७।

३. प्रभावकचरित : सिंघी जैनग्रन्थमाला, पृ०–४४, पद्य–८३।

'सन्मतिसूत्र'के कर्त्ता सिद्धसेनका समय समन्तभद्रके पश्चात् और पूज्यपादके पूर्व या समकालिक माना जा सकता है।

आचार्य मुख्तार साहबकी दो सिद्धसेनवाली मान्यता बुद्धिसंगत प्रतीत होती है। ग्रन्थके अन्तरंग परीक्षणसे मुख्तारसाहबने बतलाया है कि विक्रम संवत् ६६६के पूर्व सिद्धसेन हुए हैं। 'सन्मति'सूत्रके कर्त्ता सिद्धसेन केवलीके ज्ञान-दर्शनोपयोग-विषयमें अभेदवादके पुरस्कर्त्ता हैं। उनके इस अभेदवादका खण्डन दिगंबर सम्प्रदायमें अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्त्तिमें और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें सर्वप्रथम जिनभद्र क्षमाश्रमणके 'विशेषावश्यकभाष्य' और 'विशेषेणती' ग्रन्थोंमें किया है। साथ ही सन्मतिसूत्रके तृतीय काण्डकी "णत्थि पुढवीविसिट्ठो" और "दोहिं वि णएहिं णोयं" गाथाएँ विशेषावश्यकभाष्यमें क्रमशः गा० नं० २१०४, २१९५ पर उद्धृत पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त विशेषावश्यकभाष्यकी स्वोपज्ञटीकामें 'णामाइतियं दव्वट्ठियस्स' इत्यादि गाथाकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

"द्रव्यास्तिकनयावलम्बिनौ संग्रह-व्यवहारौ ऋजुसूत्रादयस्तु पर्यायनयमतानुसारिणः आचार्यसिद्धसेनाऽभिप्रायात्"।

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि सिद्धसेनके मतका और उनके गाथावाक्योंका उनमें उल्लेख किया गया है। अकलंकदेव विक्रम संवत् ७ वीं शताब्दीके विद्वान् हैं और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने विशेषावश्यकभाष्यकी रचना शक सं० ५३१ (वि० सं० ६६६) में की है। अतएव सिद्धसेन विक्रमकी ७ वीं शताब्दीसे पूर्ववर्ती हैं। उल्लेखनीय है कि आचार्य वीरसेनने भी धवला[1] और जयधवला[2] दोनोंमें सिद्धसेनके सन्मतिसूत्रके नामनिर्देशपूर्वक उसके वाक्योंको उद्धृत किया है तथा उनके साथ होनेवाले विरोधका परिहार किया है। वीरसेनका समय ईसाकी ९ मी शती है। अतः सिद्धसेन स्पष्टतया उनसे भी पूर्ववर्ती सिद्ध हैं। पूज्यपाद देवनन्दिने सन्मतिसूत्रके ज्ञानदर्शनोपयोगके अभेदवादकी चर्चा तक नहीं की, जब कि अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्त्तिकमें उसकी चर्चा ही नहीं, सयुक्तिक मीमांसा भी की है। यदि पूज्यपादसे पूर्व सन्मतिसूत्र रचा गया होता, तो पूज्यपाद अकलंककी तरह उसके अभेदवादकी मीमांसापूर्वक ही युगपद्वादका प्रतिपादन करते। अतः सिद्धसेनका समय पूज्यपाद (वि० की ६ ठीं शती) और अकलंक (वि० की ७ वीं शती) का मध्यकाल अर्थात् वि० सं० ६२५ के आसपास होना चाहिए।

---

१. षट्खण्डागम, धवला, पु० १ पृ० १५।

२. कषायपाहुड, जयधवला, पु० १, पृ० २६०।

रचनाएँ

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि सिद्धसेन नामके एक-से अधिक विद्वान् हुए हैं। सन्मतिसूत्र और कल्याणमन्दिर जैसे ग्रन्थोंके रचयिता सिद्धसेन दिगम्बर सम्प्रदायमें हुए हैं। इनके साथ दिवाकर विशेषण नहीं है। दिवाकर विशेषण श्वेताम्बर सम्प्रदायमें हुए सिद्धसेनके साथ पाया जाता है, जिनकी कुछ द्वात्रिंशिकाएँ, न्यायावतार आदि रचनाएँ हैं। यहाँ दिगम्बर परम्परामें हुए सिद्धसेनकी उपलब्ध दो रचनाओंको विवेचित किया जाता है।

सन्मतिसूत्र

प्राकृत भाषामें लिखित न्याय और दर्शनका यह अनूठा ग्रन्थ है। आचार्यने नयोंका सांगोपांग विवेचन कर जैनन्यायकी सुदृढ़ पद्धतिका आरम्भ किया है। कथन करनेकी प्रक्रियाको 'नय' कहा गया है और विभिन्न दर्शनोंका अन्तर्भाव विभिन्न नयोंमें किया है। इस ग्रन्थके ३ काण्ड हैं—(१) नयकाण्ड, जीवकाण्ड या ज्ञानकाण्ड और (३) सामान्य-विशेषकाण्ड या ज्ञेयकाण्ड।

प्रथम काण्डमें ५४, द्वितीयमें ४३ और तृतीयमें ६९ गाथाएँ हैं। इस प्रकार कुल १६६ गाथाओंमें ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

प्रथम काण्डमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके स्वरूपका विस्तारपूर्वक विवेचन आया है। तीर्थंकरवचनोंके सामान्य और विशेषभावके मूल प्रतिपादक ये दोनों ही नय हैं। शेष नयोंका विकास और निकास इन्हींसे हुआ है। लिखा है—

तित्थयरवयणसंगह-विसेसपत्थारमूलवागरणी।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं॥
दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा संगहपरूवणाविसओ।
पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो॥[1]

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनों नय क्रमशः अभेद और भेदको ग्रहण करते हैं। तीर्थंकरके वचनोंकी सामान्य एवं विशेषरूप राशियोंके मूलप्रतिपादक द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय हैं। शेष नय भेद या अभेदको विषय करनेके कारण इन्हीं नयोंके उपभेद हैं। द्रव्यार्थिक नयकी शुद्ध प्रकृति संग्रहकी प्ररूपणाका विषय है और प्रत्येक वस्तुके सम्बन्धमें होनेवाला शब्दार्थ-निश्चय तो संग्रहका व्यवहार है।

---

१. सन्मतिसूत्र, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद संस्करण, १।३-४।

ऋजुसूत्रनय अर्थात् तदनुसारी जो वचन विभाग, वह पर्यायनयका मूल आधार है। शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद वाले होनेसे पर्यायनयके अन्तर्गत ही हैं। नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीन द्रव्यार्थिकनयके निक्षेप हैं और भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नयके अन्तर्गत है। इस प्रकार इस काण्डमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक वस्तुका निरूपण कर नयोंका विवेचन किया है। मनुष्य जो कुछ भी सोचता या कहता है वह या तो अभेद-की ओर झुकता है या भेदको ओर। अभेदकी दृष्टिसे किये गये विचार और उसके द्वारा प्रतिपादित वस्तुको संग्रह या सामान्य कहते हैं। भेदकी दृष्टिसे किया गया विचार और प्रतिपादित वस्तु विशेष कही जाती है। इस प्रकार इस काण्डमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंका विश्लेषण किया गया है।

द्वितीय काण्डमें दर्शन और ज्ञानके स्वरूपका कथन करनेके पश्चात् आत्माके सामान्य-विशेषात्मक स्वरूपका निरूपण कर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंको घटित किया है। इस द्वितीय काण्डमें ज्ञान और दर्शनके समयभेदका कथन करते हुए केवलीके ज्ञान और दर्शनके अभेदवादका समर्थन किया है। लिखा है—

मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो।
केवलणाणं पुण दंसणं ति णाणं ति य समाणं॥[1]

ज्ञान और दर्शनका विश्लेषण अर्थात् कालभेद मनःपर्यय ज्ञान तक है, पर केवलज्ञानके विषयमें दर्शन और ज्ञान ये दोनों समान हैं। अर्थात् इन दोनोंका एक काल है।

इस प्रकार केवलीके ज्ञान-दर्शनका अभेदवाद स्थापित कर क्रमवादी और सहवादीकी समीक्षा प्रस्तुत की है। तार्किक शैलीमें पक्ष-प्रतिपक्ष स्थापन पुरस्सर विषयका निरूपण किया है। दर्शन और ज्ञान इन दोनोंकी परिभाषा एवं विषय वस्तुका विवेचन करते हुए केवलज्ञानके पर्यायोंका कथन किया है।

तृतीय काण्डमें सामान्य और विशेषरूप वस्तुका कथन है। अतः इसे ज्ञेय-काण्ड कहा जा सकता है। सामान्य और विशेष परस्परमें एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न नहीं हैं। आचार्यने लिखा है—

सामण्णम्मि विसेसो विसेसपक्खे य वयणविणिवेसो।
दव्वपरिणाममण्णं दाएइ तयं च णियमेइ॥

---

१. सन्मतिसूत्र, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद संस्करण, २।३।

एगंतणिव्विसेसं एयंतविसेसियं च वयमाणो ।
दव्वस्स पज्जवे पज्जवा हि दवियं णियत्तेइ[1] ॥

अर्थात् सामान्यमें विशेषविषयक वचनका और विशेषमें सामान्यविषयक वचनका जो प्रयोग होता है, वह अनुक्रमसे सामान्य—द्रव्यके परिणामको उससे भिन्न रूपमें दिखलाता है और उसे—विशेषको सामान्य में नियत करता है ।

एकान्त निर्विशेष सामान्यका और एकान्त विशेषका प्रतिपादन करनेवाला द्रव्यके पर्यायोंको उससे भिन्न और पृथक् बतलाता है। व्यवहार ज्ञानमूलक होता है और व्यवहारकी अबाधकता ही ज्ञानकी यथार्थताका प्रमाण है। वस्तु का स्वरूप निश्चित करनेका एकमात्र साधन यथार्थज्ञान है और वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। न तो सामान्यरहित विशेषकी प्रतीति होती है और न विशेष-रहित सामान्यकी ही। सामान्य और विशेष दोनों परस्परमें सापेक्ष हैं। इस काण्डके अन्तमें भगवान् जिनवचन—अनेकान्तकी भद्र-कामना की है—

भद्दं मिच्छादंसणसमूहमहयस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स[2] ॥

भगवान् जिनवचन—अनेकान्तशासनका भद्र हो—सबका कल्याण करता हुआ सदा विद्यमान रहे, जो मिथ्यादर्शनोंके समूहका मथक—उनमें परस्पर सापेक्षता स्थापक है, अमृतसार है और निष्पक्ष जनों द्वारा सरलतासे ज्ञातव्य है ।

इस ग्रन्थकी प्राकृत भाषा महाराष्ट्री है। 'य' श्रुतिका पालन सर्वत्र हुआ है। 'य' श्रुतिकी यह व्यवस्था वररुचिके व्याकरणमें नहीं मिलती। प्राकृत वैयाकरणोंमें आचार्य हेमचन्द्रने ही 'य' श्रुतिका विधान किया है। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थोंकी प्राकृत अर्धमागधी है, पर इस ग्रन्थकी प्राकृत महाराष्ट्री है, जो शौरसेनीका एक उपभेद है। इस भाषाका प्रयोग ई० सन् की चौथी, पाँचवीं शताब्दीसे हुआ है। नाटकीय शौरसेनी और जैन शौरसेनीके प्रभावसे ही उक्त महाराष्ट्रीका भेद विकसित हुआ है। यहाँ 'य' श्रुतिके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

"तित्थयर (तीर्थंकर) १।३, वयण (वदन) १।३, सुहुमभेया (सूक्ष्मभेदा), पयडी (प्रकृति) १।४, णयवाया (नयवादाः) १।२५, वियप्पं (विकल्पं) १।३३, सत्तवियप्पो (सप्तविकल्पः) १।४१, जइयव्वं (यतितव्यम्) ३।६५, सुयणाण (श्रुतज्ञान) २।२७, सयले (सकले) २।२८, सायारं (साकारं) २।१०, सया (सदा) २।१०, णिय (निज) २।१४ आदि।

१. सन्मतिसूत्र, अहमदाबाद संस्करण, ३।१-२ ।

२. वही, ३।६९ ।

महाराष्ट्रीकी अन्य प्रवृत्तियोंमें प्रथमा विभक्तिके एक वचनमें ओकारका पाया जाना भी उपलब्ध है। यथा—पज्जणओ (पर्यायार्थिकनयः) १।३, विसओ (विषयः) १।४, ववहारो (व्यवहारः) १।४, दविओवओगो (द्रव्योपयोगः) १।८, संसारो (संसारः) १।१७, समूहसिद्धो (समूहसिद्धः) १।२७, अत्थो (अर्थः) १।२७ अणाइणिहणो (अनादिनिधनः) १।३७ आदि।

सप्तमी विभक्तिके एक वचनमें 'म्मि'का व्यवहार भी पाया जाता है—थोरम्मि, ससमयम्मि ३।२०, तम्मि ३।४, दंसणम्मि २।२४, चक्खुम्मि २।२४ आदि।

इस ग्रन्थकी उपलब्ध पाण्डुलिपियोंमें पाठान्तर भी प्राप्त होते हैं। यथा—'सुयणाणं'के स्थान पर 'सुदणाणं', 'सयले'के स्थान पर 'सगले' और 'सायारं'के स्थान पर 'सागारं' जैसे प्रयोग प्राप्त हैं। इन प्रयोगोंसे प्रतीत होता है कि इस प्रकारके रूप दिगम्बर आगमोंकी शौरसेनीके हैं। इस ग्रन्थ पर दिगम्बराचार्य सुमतिदेव द्वारा विरचित एक टीकाका उल्लेख आचार्य वादिराजने किया है, जो अनुपलब्ध है। दूसरी टीका अभयदेव कृत २५०० श्लोक प्रमाण तत्त्वविधायिनी नामकी उपलब्ध है।

कल्याणमन्दिर

इस स्तोत्रमें ४४ पद्य हैं। रचयिताका नाम कुमुदचन्द्र आया है, जो सिद्धसेनका दीक्षानाम है। लिखा है—

जननयनकुमुदचन्द्रप्रभास्वराः स्वर्गसम्पदो मुक्त्वा।
ते विगलितमलनिचया अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥ —पद्य ४४

इस पद्यमें श्लेष द्वारा कविका नाम अभिव्यक्त किया गया है। स्तोत्रमें पार्श्वनाथकी स्तुति की गयी है। प्रारम्भमें कविने अपनी अल्पज्ञताका निर्देश किया है। भगवान्‌के मात्र नामोच्चारणका वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन ! संस्तवस्ते नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहतपान्थजनान्निदाघे प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥[1]

हे देव ! आपके स्तवनकी अचिन्त्य महिमा है। आपका नाममात्र भी जीवोंको संसारके दुःखोंसे बचा लेता है। जिस प्रकार ग्रीष्मर्तुमें धूपसे पीड़ित व्यक्तिको, कमलयुक्त सरोवर तो सुख पहुँचाते ही हैं, पर उन सरोवरोंकी शीतलवायु भी सुख पहुँचाती है।

कामजयी वीतरागका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कविने समीक्षात्मक और तुलनात्मक शैलीमें लिखा है—

१. कल्याणमन्दिर, पद्य ७।

यस्मिन् हरप्रभृतयोऽपि हतप्रभावाः सोऽपि त्वया रतिपतिः क्षपितः क्षणेन।
विध्यापिता हुतभुजः पयसाथ येन पीतं न किं तदपि दुर्द्धरवाडवेन ॥[1]

जिस कामने हरि, हर, ब्रह्मा आदि महापुरुषोंको पराजित कर दिया, उस कामको भी आपने पराजित कर दिया, यह आश्चर्यकी बात नहीं है। यतः जो जल संसारकी समस्त अग्निको नष्ट करता है, उस जलको भी बड़वानल नामक समुद्रकी अग्नि नष्ट कर डालती है।

क्रोधस्त्वया यदि विभो! प्रथमं निरस्तो ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कर्मचौराः।
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी ॥[2]

संसारमें प्रायः देखा जाता है कि क्रोधी मनुष्य ही शत्रुओंको जीतते हैं, पर भगवन्! आपने क्रोधको तो नवम गुणस्थानमें ही जीत लिया था। फिर क्रोधके अभावमें चतुर्दश गुणस्थान तक कर्मरूपी शत्रुओंको कैसे जीता? आचार्य सिद्धसेन—कुमुदचन्द्रने इस लोकविरूद्ध तथ्यपर प्रथम आश्चर्य प्रकट किया, पर जब उन्हें ध्यान आया कि शीतल तुषार बड़े-बड़े वनोंको क्षण भरमें जला देता है अर्थात् क्षमासे भी शत्रु जीते जाते हैं, इस प्रकार उनके आश्चर्यका स्वयं ही समाधान हो जाता है।

इस स्तोत्र पर वैदिक प्रभाव भी है। वृत्रासुर द्वारा रोकी गयी गायोंका मोचन इन्द्रने किया था, इस तथ्यका संकेत निम्नलिखित पद्यपर प्रतिभासित होता है—

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र! रौद्रैरुपद्रवशतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि।
गोस्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे चोरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः ॥[3]

हे नाथ! जिस प्रकार तेजस्वी राजाके दिखते ही चोर चुराई हुई गायोंको छोड़कर शीघ्र ही भाग जाते हैं, उसी प्रकार आपके दर्शन होते ही अनेक भयंकर उपद्रव मनुष्योंको छोड़कर भाग जाते हैं।

भक्तकी भगवच्चरणोंमें अटूट आशाका निरूपण करता हुआ कवि कहता है—

जन्मान्तरेऽपि तव पादयुगं न देव! मन्ये मया महितमीहितदानदक्षम्।
तेनेह जन्मनि मुनीश! पराभवानां जातो निकेतमहं मथिताशयानाम् ॥[4]

---

१. कल्याणमन्दिर, पद्य ११।
२. वही, पद्य १३।
३. वही, पद्य ९।
४. वही, पद्य ३६।

हे भगवान् ! जो मैं नाना प्रकारके तिरस्कारोंका पात्र हो रहा हूँ, उससे स्पष्ट पता चलता है कि मैंने आपके चरणोंकी पूजा नहीं की, क्योंकि आपके चरणोंके पुजारियोंका कभी किसी जगह भी तिरस्कार नहीं होता।

भावशून्य भक्तिको निरर्थक और भावपूर्ण भक्तिको सार्थक बतलाते हुए कवि कहता है।

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्रं यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः॥[1]

हे भगवन् ! मैंने आपका नाम भी सुना, पूजा भी की और दर्शन भी किये, फिर भी दुःख मेरा पिण्ड नहीं छोड़ता है। इसका कारण यही है कि मैंने भक्तिभावपूर्वक आपका ध्यान नहीं किया। केवल आडम्बरसे ही उन कामोंको किया है, न कि भावपूर्वक। यदि भावपूर्वक भक्ति, अर्चा या स्तवन करता तो संसारके ये दुःख नहीं उठाने पड़ते। इस स्तोत्र (पद्य ३१, ३२, ३३) में 'दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य पार्श्वनाथके उपसर्गोंका वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है।

संक्षेप में यह स्तोत्र अत्यन्त सरस और भावमय है। प्रत्येक पद्यसे भक्तिरस निस्यूत होता है।

प्रतिभा

सिद्धसेन दार्शनिक और कवि दोनों हैं। दोनोंमें उनकी गति अस्खलित है। जहाँ उनका काव्यत्व उच्च कोटिका है वहाँ उनका उसके माध्यमसे दार्शनिक विवेचन भी गम्भीर और तत्त्वप्रतिपादनपूर्ण है।

उपजाति, शिखरणी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका एवं आर्या छन्दोंका व्यवहार किया गया है। ओजगुण इनकी कविताका विशेष उपकरण है।

देवनन्दि पूज्यपाद

उत्थानिका

कवि, वैयाकरण और दार्शनिक इन तीनों व्यक्तित्वोंका एकत्र समवाय देवनन्दि पूज्यपादमें पाया जाता है। आदिपुराणके रचयिता आचार्य जिनसेनने इन्हें कवियोंमें तीर्थंकृत लिखा है—

कवीनां तीर्थकृद्देवः किं तरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्॥ आदिपुराण, १।५२

---

१. कल्याणमन्दिर, पद्य ३८।

जो कवियोंमें तीर्थंकरके समान थे, अथवा जिन्होंने कवियोंका पथप्रदर्शन करनेके लिये लक्षणग्रन्थकी रचना की थी और जिनका वचनरूपी तीर्थ विद्वानोंके शब्दसम्बन्धी दोषोंको नष्ट करनेवाला है, ऐसे उन देवनन्दि आचार्यका कौन वर्णन कर सकता है।

ज्ञानार्णवके कर्त्ता आचार्य शुभचन्द्रने इनकी प्रतिभा और वैशिष्ठ्यका निरूपण करते हुए स्मरण किया है—

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम्।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते[1]॥

जिनकी शास्त्रपद्धति प्राणियोंके शरीर, वचन और चित्तके सभी प्रकारके मलको दूर करनेमें समर्थ है, उन देवनन्दि आचार्यको मैं प्रणाम करता हूँ।

आचार्य देवनन्दि-पूज्यपादका स्मरण हरिवंशपुराणके रचयिता जिनसेन प्रथमने भी किया है। उन्होंने लिखा है—

इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिणः।
देवस्य देववन्द्यस्य न वन्द्यन्ते गिरः कथम्॥[2]

अर्थात् जो इन्द्र, चन्द्र, अर्क और जैनेन्द्र व्याकरणका अवलोकन करनेवाली है, ऐसी देववन्द्य देवनन्दि आचार्यकी वाणी क्यों नहीं वन्दनीय है।

इससे स्पष्ट है कि आचार्य देवनन्दि प्रसिद्ध वैयाकरण और दार्शनिक विद्वान थे और विद्वन्मान्य।

इनके सम्बन्धमें आचार्य गुणनन्दिने इनके व्याकरण सूत्रोंका आधार लेकर जैनेन्द्र प्रक्रियामें मंगलाचरण करते हुए लिखा है—

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम्।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्क्वचित्॥[3]

जिन्होंने लक्षणशास्त्रकी रचना की है, मैं उन आचार्य पूज्यपादको प्रणाम करता हूँ। उनके इस लक्षणशास्त्रकी महत्ता इसीसे स्पष्ट है कि जो इसमें है, वह अन्यत्र भी है और जो इसमें नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है।

उनके साहित्यकी यह स्तुति-परम्परा धनंजय, वादिराज आदि प्रमुख

---

१. ज्ञानार्णव १।१५, रायचन्द्र शास्त्रमाला संस्करण, विक्रम सम्वत् २०१७।

२. हरिवंशपुराण १।३, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वि० सं० २०१९।

३. जैनेन्द्र प्रक्रिया, जैन सिद्धान्तप्रकाशनी संस्था, कलकत्ता संस्करण, मंगलपद्य।

आचार्यों द्वारा भी अनुभूति हुई। पूज्यपादकी ज्ञानगरिमा और महत्ताका उल्लेख उक्त स्तुतियोंमें विस्तृत रूपसे आया है।

उनसे स्पष्ट है कि देवनन्दि-पूज्यपाद कवि और दार्शनिक विद्वान्के रूपमें ख्यात हैं।

जीवन-परिचय

इनका जीवन-परिचय चन्द्रय्य कविके 'पूज्यपादचरिते' और देवचन्द्रके 'राजावलिकथे' नामक ग्रन्थोंमें उपलब्ध है। श्रवणवेलगोलाके शिलालेखोंमें इनके नामोंके सम्बन्धमें उल्लेख मिलते हैं। इन्हें बुद्धिकी प्रखरताके कारण 'जिनेन्द्रबुद्धि' और देवोंके द्वारा चरणोंकी पूजा किये जानेके कारण 'पूज्यपाद' कहा गया है।

> यो देवनन्दि-प्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
> श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयं॥
> जैनेन्द्रे निज-शब्द-भोगमतुलं सर्व्वार्थसिद्धिः परा
> सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः।
> छन्दस्सूक्ष्मधियं समाधिशतक-स्वास्थ्यं यदीयं विदा-
> माख्यातीह स पूज्यपाद-मुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः[1]॥

अर्थात् इनका मूलनाम देवनन्दि था। किन्तु ये बुद्धिकी महत्ताके कारण जिनेन्द्रबुद्धि और देवों द्वारा पूजित होनेसे पूज्यपाद कहलाये थे। पूज्यपादने जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, जैन अभिषेक, समाधिशतक आदि ग्रन्थोंकी रचना की है।

शिलालेख नं० १०५ से भी उक्त तथ्य पुष्ट होता है।

> प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी बुद्ध्या पुनर्व्विपुलया स जिनेन्द्रबुद्धिः।
> श्रीपूज्यपाद इति चैष बुधैः प्रचख्ये यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः[2]॥

पूज्यपाद और जिनेन्द्रबुद्धि इन दोनों नामोंकी सार्थकता अभिलेख नं० १०८ में भी बतायी है।

इनके पिताका नाम माधवभट्ट और माताका नाम श्रीदेवी बतलाया जाता है। ये कर्नाटकके 'कोले' नामक ग्रामके निवासी थे और ब्राह्मण कुलके

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, अभिलेख संख्या ४०, पृ० २४, श्लोक १०, ११।

२. वही, अभिलेखसंख्या १०५, श्लोकसंख्या २०।

भूषण थे। कहा जाता है कि बचपनमें ही इन्होंने नाग द्वारा निगले गये मेढककी तड़पन देखकर विरक्त हो दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली थी। 'पूज्यपाद-चरिते'में इनके जीवनका विस्तृत परिचय भी प्राप्त होता है तथा इनके चमत्कारको व्यक्त करनेवाले अन्य कथानक भी लिखे गये हैं, पर उनमें कितना तथ्य है, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है।

पूज्यपाद किस संघके आचार्य थे, यह विचारणीय है। "राजावलिकथे"से ये नन्दिसंघके आचार्य सिद्ध होते हैं। शुभचन्द्राचार्यने अपने पाण्डवपुराणमें अपनी गुर्वावलिका उल्लेख करते हुए बताया है—

"श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः[1] ॥"

अर्थात्—नन्दिसंघ, बलात्कारगण मूलसंघके अन्तर्गत है। इसमें पूर्वोके एकदेश ज्ञाता और मनुष्य एवं देवोंसे पूजनीय माघनन्दि आचार्य हुए।

माघनन्दिके बाद जिनचन्द्र, पद्मनन्दि, उमास्वामी, लोहाचार्य, यशःकीर्ति, यशोनन्दि और देवनन्दिके नाम दिये गये हैं। ये सभी नाम क्रमसे नन्दिसंघकी पट्टावलिमें भी मिलते हैं। आगे इसी गुर्वावलिमें ग्यारहवें गुणनन्दिके बाद बारहवें वज्रनन्दिका नाम आया है, पर नन्दिसंघकी पट्टावलिमें ग्यारहवें जयनन्दि और बारहवें गुणनन्दिके नाम आते हैं। इन नामोंके पश्चात् तेरहवाँ नाम वज्रनन्दिका आता है। इसके पश्चात् और पूर्वकी आचार्यपरम्परा गुर्वावलि और पट्टावलिमें प्रायः तुल्य है। अतएव संक्षेपमें यह माना जा सकता है कि पूज्यपाद मूलसंघके अन्तर्गत नन्दिसंघ बलात्कारगणके पट्टाधीश थे। अन्य प्रमाणोंसे भी विदित होता है कि इनका गच्छ सरस्वती था और आचार्य कुन्दकुन्द एवं गृद्धपिच्छकी परम्परामें हुए हैं।

कथानुश्रुति

कहा जाता है कि पूज्यपादके पिता माधवभट्टने अपनी पत्नी श्रीदेवीके आग्रहसे जैन धर्म स्वीकार कर लिया था। श्रीदेवीके भाईका नाम पाणिनि था। उससे भी उन्होंने जैन धर्म स्वीकार कर लेनेका अनुरोध किया, पर प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे वह जैन न होकर मुडीकुण्डग्राममें वैष्णव संन्यासी हो गया। पूज्यपादकी कमलिनी नामक छोटी बहन थी और इसका विवाह गुणभट्टके साथ हुआ, जिससे गुणभट्टको नागार्जुन नामक पुत्र लाभ हुआ।

एक दिन पूज्यपाद अपनी वाटिकामें विचरण कर रहे थे कि उनकी दृष्टि

१. पाण्डवपुराण, १।२।

साँपके मुँहमें फँसे हुए मेढकपर पड़ी। इससे उन्हें विरक्ति हो गयी। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि अपना व्याकरण ग्रन्थ रच रहे थे। वह न हो पाया था कि उन्हें अपना मरण काल निकट दिखलाई पड़ा, और पूज्यपादसे अनुरोध किया कि तुम इस अपूर्ण ग्रन्थको पूर्ण कर दो। उन्होंने उसे पूर्ण करना स्वीकार कर लिया। पाणिनि दुर्ध्यानवश मरकर सर्प हुए। एक बार उन्होंने पूज्यपादको देखकर फूत्कार किया, इसपर पूज्यपादने कहा—"विश्वास रखो, मैं तुम्हारे व्याकरणको पूरा कर दूँगा।" इसके पश्चात् उन्होंने पाणिनि-व्याकरणको पूर्ण कर दिया। पाणिनि-व्याकरणके पूर्ण करनेके पहले पूज्यपादने जैनेन्द्र व्याकरण, अर्हद्प्रतिष्ठालक्षण और वैदिक ज्योतिषके ग्रन्थ लिखे थे।

गुणभट्टकी मृत्युके पश्चात् नागार्जुन अतिशय दरिद्र हो गया। पूज्यपादने उसे पद्मावतीका एक मन्त्र दिया और सिद्धि करनेकी विधि भी बतलाई। इस मन्त्रके प्रभावसे पद्मावतीने नागार्जुनके निकट प्रकट होकर उसे 'सिद्धिरस' की जड़ी—वनस्पति बतला दी। इस 'सिद्धिरस'के प्रभावसे नागार्जुन सोना बनाने लगा। उसके गर्वका परिहार करनेके लिए पूज्यपादने एक मामूली वनस्पतिसे कई घड़े 'सिद्धिरस' बना दिया। नागार्जुन जब पर्वतोंको सुवर्णमय बनाने लगा, तब धरणेन्द्र पद्मावतीने उसे रोका और जिनालय बनानेका आदेश दिया। तद्नुसार उसने एक जिनालय बनवाया और उसमें पार्श्वनाथकी प्रतिमा स्थापित की।

पूज्यपाद अपने पैरोंमें गगनगामी लेप लगाकर विदेह क्षेत्र जाया करते थे, उस समय उनके शिष्य वज्रनन्दिने अपने साथियोंसे झगड़ा कर द्रविड संघकी स्थापना की।

नागार्जुन अनेक मन्त्र-तन्त्र तथा रसादि सिद्ध करके बहुत प्रसिद्ध हो गया। एक बार उसके समक्ष दो सुन्दर रमणियाँ उपस्थित हुईं, जो नृत्य-गान कलामें कुशल थीं। नागार्जुन उनपर मोहित हो गया। वे वहीं रहने लगीं और कुछ समय बाद ही उसकी रसगुटिका लेकर चलती बनीं।

पूज्यपाद मुनि बहुत दिनों तक योगाभ्यास करते रहे। फिर एक देवविमानमें बैठकर उन्होंने अनेक तीर्थोंकी यात्रा की। मार्गमें एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गयी थी। अतएव उन्होंने शान्त्यष्टक रच कर ज्यों-की-त्यों दृष्टि प्राप्त की। अपने ग्राममें आकर उन्होंने समाधिमरण किया।

इस कथामें कितनी सत्यता है, यह विचारणीय है।

समय-विचार

पूज्यपादके समयके सम्बन्धमें विशेष विवाद नहीं है। इनका उल्लेख छठी शतीके मध्यकालमे ही उपलब्ध होने लगता है। आचार्य अकलंकदेवने अपने 'तत्त्वार्थवार्त्तिक' में 'सर्वार्थसिद्धि' के अनेकों वाक्योंको वार्त्तिकका रूप दिया[1] है। शब्दानुशासन सम्बन्धी कथनकी पुष्टिके लिए इनके जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्रोंको प्रमाणरूपमें उपस्थित किया है। अतः पूज्यपाद अकलंकदेवके पूर्ववर्त्ती हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

'सर्वार्थसिद्धि' और 'विशेषावश्यक भाष्य' के तुलनात्मक अध्ययनसे यह विदित होता है कि 'विशेषावश्यकभाष्य' लिखते समय जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणके समक्ष 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ अवश्य उपस्थित था। सर्वार्थसिद्धि अध्याय १, सूत्र १५ में धारणामतिज्ञानका लक्षण लिखते हुए बताया है—

"अवेतस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा"।

विशेषावश्यकभाष्यमें इसी आधारपर लिखा है—

"कालंतरे य जं पुणरणुसरणं धारणा सा उ" ॥गा० २९१॥

चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है, बतलाते हुए सर्वार्थसिद्धिमें लिखा है—

'मनोवदप्राप्यकारीति। १।१९

विशेषावश्यक भाष्यमें उक्त शब्दावलीका नियोजन निम्नप्रकार हुआ है -

लोयणमपत्तविसय मणोव्व ॥ गा० २०९ ॥

इससे ज्ञात होता है कि जिनभद्रगणिके समक्ष पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि विद्यमान थी। इस दृष्टिसे पूज्यपादका समय जिनभद्रगणि (वि० संवत् ६६६)के पूर्व होना चाहिए।

कुन्दकुन्द और पूज्यपादका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे अवगत होता है कि पूज्यपादके समाधितन्त्र और इष्टोपदेश कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोंके दोहन-ऋणी हैं। यहाँ दो-एक उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं—

(१) जं मया दिस्सदे रूवं तण्ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णं तं तम्हा जंपेमि केण हं ॥[2]

× × × ×

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्[3] ॥

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, १।१।३, तथा ४।२१।१।

२. मोक्षपाहुड, गाथा २९।

३. समाधितन्त्र, वीरसेवा मन्दिर संस्करण, पद्य १८।

(२) जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे[१] ॥
× × × ×
व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥[२]

यहाँ समाधितन्त्रके दोनों पद्य मोक्षपाहुडके संस्कृतानुवाद हैं। पूज्यपादने अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थमें 'संसारिणो मुक्ताश्च' [त० सू० २।१०] सूत्रकी व्याख्यामें पंच परावर्तनोंका स्वरूप बतलाते हुए, प्रत्येक परावर्तनके अन्तमें उनके समर्थनमें जो 'उक्तं च' कहकर गाथाएँ लिखी हैं, वे उसी क्रमसे कुन्दकुन्दके 'बारसअणुवेक्खा' ग्रन्थमें पायी जाती हैं।

इसके अतिरिक्त पूज्यपादने कुन्दकुन्दके उत्तरवर्ती गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रपर तत्त्वार्थवृत्ति—सर्वार्थसिद्धि लिखी है। अतएव इनका समय कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छाचार्यके पश्चात् होना चाहिए। कुन्दकुन्दका समय विक्रमकी द्वितीय शताब्दीका पूर्वार्द्ध है और सूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्यका समय विक्रमकी द्वितीय शताब्दीका अन्तिम पाद है। अतः पूज्यपादका समय विक्रम संवत् ३००के पश्चात् ही सम्भव है।

पूज्यपादने अपने जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्रोंमें भूतवलि, समन्तभद्र, श्रीदत्त, यशोभद्र और प्रभाचन्द्र नामक पूर्वाचार्योंका निर्देश किया है। इनमेंसे भूतवलि तो 'षट्खण्डागम'के रचयिता प्रतीत होते है, जिनका समय ई० सन् प्रथम शताब्दी है। प्रखर तार्किक और अनेकान्तवादके प्रतिष्ठापक समन्तभद्र प्रसिद्ध ही हैं। श्रीदत्तके 'जल्पनिर्णय' नामक ग्रन्थका उल्लेख विद्यानन्दने अपने 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक'में[३] किया है। अतः स्पष्ट है कि पूज्यपाद इन आचार्यो के उत्तरवर्ती हैं।

पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक निबन्धमें तथा 'समाधितन्त्र'की प्रस्तावनामें बताया है कि पूज्यपाद स्वामी गङ्गराज दुर्विनीतके शिक्षागुरु थे, जिसका राज्यकाल ई० सन् ४८५-५२२ तक माना जाता है, और इन्हें हेब्बुरु आदिके अनेक शिलालेखोंमें 'शब्दावतार'के कर्त्ताके रूपमें दुर्विनीत राजाका गुरु उल्लिखित किया है।

१. मोक्षपाहुड, गाथा ३१।
२. समाधितन्त्र, पद्य ७८।
३. "द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम्।
त्रिषष्ठेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये" ॥
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २८०, पद्य ४५।

वि० संवत् ९९०में देवसेनने दर्शनसार नामक ग्रन्थकी रचना की थी। यह ग्रन्थ पूर्वाचार्यकृत-गाथाओंको एकत्र कर लिखा गया है। इस ग्रन्थमें बताया है कि पूज्यपादका शिष्य पाहुडवेदी, वज्रनन्दि, द्राविडसंघका कर्त्ता हुआ और यह संघ वि० संवत् ५२६ में उत्पन्न हुआ।

सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो[१]॥

वज्रनन्दि देवनन्दिके शिष्य थे। अतएव द्रविड़ संघकी उत्पत्तिके उक्त-कालसे दस-बीस वर्ष पहले ही उनका समय माना जा सकता है। पंडित नाथूरामजी प्रेमीने पूज्यपाद-देवनन्दिका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्द्ध माना है। युधिष्ठिर मीमांसकने भी देवनन्दिके समयकी समीक्षा करते हुए इनका काल विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्द्ध माना है।[२]

नन्दिसेनकी पट्टावलीमें देवनन्दिका समय विक्रम संवत् २५८-३०८ तक अंकित किया गया है और इनके अनन्तर जयनन्दि, और गुणनन्दिका नाम निर्देश करनेके उपरान्त वज्रनन्दिका नामोल्लेख आया है। पाण्डवपुराणमें आचार्य शुभचन्द्रने नन्दि-संघकी पट्टावलीके अनुसार ही गुर्वावली दी है। देवनन्दि पूज्यपादके गुरुका नाम एक पद्यमें यशोनन्दि बताया गया है। यथा—

यशकीर्त्तिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामतिः।
पूज्यपादापराख्यो यो गुणनन्दी गुणाकरः[३]॥

अजमेरकी पट्टावलीमें देवनन्दि और पूज्यपाद ये दो नाम पृथक्-पृथक् उल्लिखित हैं। इस पट्टावलीके अनुसार देवनन्दिका समय विक्रम संवत् २५८ और पूज्यपादका वि० सं० ३०८ है। यहाँ पट्टसंख्या भी क्रमशः १० और ११ है। यह भी कहा गया है कि देवनन्दि पोरवाल थे और पूज्यपाद पद्मावती पोरवाल। पर संस्कृत पट्टावलीके अनुसार दोनों एक हैं, भिन्न नहीं हैं। डॉ० ज्योतिप्रसादने विभिन्न मतोंका समन्वय किया है।[४]

१. दर्शनसार, गाथा २४, २८
२. युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा लिखित जैनेन्द्रशब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ जैनेन्द्रमहावृत्ति, ज्ञानपीठ संस्करण, पृ० ४४।
३. अनेकान्त वर्ष १४ किरण ११-१२, प० ३४९।
४. Jaina Antiquary. Vol. XXI. Page 24.

इस विवेचनसे आचार्य देवनन्दि-पूज्यपादका समय ई० सन्‌की छठी शताब्दी सिद्ध होता है, जो सर्वमान्य है।

रचनाएँ

पूज्यपाद आचार्य द्वारा लिखित अबतक निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं—

१. दशभक्ति

२. जन्माभिषेक

३. तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि)

४. समाधितन्त्र

५. इष्टोपदेश

६. जैनेन्द्रव्याकरण

७ सिद्धिप्रिय-स्तोत्र

१. दशभक्ति—जैनागममें भक्तिके द्वादश भेद हैं—(१) सिद्ध-भक्ति, (२) श्रुत-भक्ति, (३) चारित्र-भक्ति, (४) योगि-भक्ति, (५) आचार्य-भक्ति, (६) पञ्च-गुरुभक्ति, (७) तीर्थङ्कर-भक्ति, (८) शान्ति-भक्ति, (९) समाधि-भक्ति, (१०) निर्वाण-भक्ति, (११) नन्दीश्वर-भक्ति और (१२)चैत्य-भक्ति। पूज्यपाद स्वामीकी संस्कृतमें सिद्ध-भक्ति, श्रुत-भक्ति, चारित्र-भक्ति, योगि-भक्ति, निर्वाण-भक्ति और नन्दीश्वर-भक्ति ये सात ही भक्तियाँ उपलब्ध हैं। काव्यकी दृष्टिसे ये भक्तियाँ बड़ी ही सरस और गम्भीर हैं। सर्वप्रथम नौ पद्योंमें सिद्ध-भक्तिकी रचना की गयी है। आरम्भमें बताया है कि आठों कर्मोंके नाशसे शुद्ध आत्माकी प्राप्तिका होना सिद्धि है। इस सिद्धिको प्राप्त करनेवाले सिद्ध कहलाते हैं। सिद्ध-भक्तिके प्रभावसे साधकको सिद्ध-पदकी प्राप्ति हो जाती है। अन्य भक्तियोंमें नामानुसार विषयका विवेचन किया गया है।

२. जन्माभिषेक—श्रवणबेलगोलाके अभिलेखोंमें पूज्यपादकी कृतियोंमें जन्माभिषेकका भी निर्देश आया है[1]।

वर्तमानमें एक जन्माभिषेक मुद्रित उपलब्ध है। इसे पूज्यपाद द्वारा रचित होना चाहिए। रचना प्रौढ़ और प्रवाहमय है।

३. तत्त्वार्थवृत्ति—पूज्यपादकी यह महनीय कृति है। 'तत्त्वार्थसूत्र' पर गद्यमें लिखी गयी यह मध्यम परिमाणकी विशद वृत्ति है। इसमें सूत्रानुसारी सिद्धान्तके प्रतिपादनके साथ दार्शनिक विवेचन भी है। इस तत्त्वार्थवृत्तिको सर्वार्थसिद्धि भी कहा गया है। वृत्तिके अन्तमें लिखा है—

१. जैन शिलालेख-संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख संख्या ४०, पृ० ५५, पद्य–११।

स्वर्गापवर्गसुखमाप्तुमनोभिरार्यै-
जैनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता।
सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा
तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या[1] ॥

जो आर्य स्वर्ग और मोक्ष सुखके इच्छुक हैं, वे जिनेन्द्रशासनरूपी श्रेष्ठ अमृतसे भरी सारभूत और सत्पुरुषों द्वारा दत्त 'सर्वार्थसिद्धि' इस नामसे प्रख्यात इस तत्त्वार्थवृत्तिको निरन्तर मनोयोगपूर्वक अवधारण करें।

इस वृत्तिमें तत्त्वार्थसूत्रके प्रत्येक सूत्र और उसके प्रत्येक पदका निर्वचन, विवेचन एवं शंका-समाधानपूर्वक व्याख्यान किया गया है। टीकाग्रन्थ होनेपर भी इसमें मौलिकता अक्षुण्ण है।

इस ग्रन्थके नामकरणका कारण स्वयं ही ग्रन्थकारने अन्तिम रचित पद्यों-मेंसे द्वितीय पद्यमें अंकित किया है—

तत्त्वार्थवृत्तिमुदितां विदितार्थतत्त्वाः
शृण्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्त्या।
हस्ते कृतं परमसिद्धिसुखामृतं तै-
र्मर्त्यामरेश्वरसुखेषु किमस्ति वाच्यम्[2] ॥

अर्थात्—अर्थके सारको ज्ञात करनेके लिए जो व्यक्ति धर्म-भक्तिसे तत्त्वार्थ-वृत्तिको पढ़ते और सुनते हैं वे परमसिद्धिके सुखरूपी अमृतको हस्तगत कर लेते हैं, तब चक्रवर्ती और इन्द्रपदके सुखके विषयमें तो कहना ही क्या?

सोलह स्वर्गोंके ऊपर पञ्च अनुत्तर विमानोंमें सर्वार्थसिद्धि नामका एक विमान है। सर्वार्थसिद्धिवाले जीव एकभवावतारी होते हैं। यह 'तत्त्वार्थवृत्ति' भी उसीके समकक्ष है। अतः इसे 'सर्वार्थसिद्धि' नामसे अभिहित किया गया है।

'तत्त्वार्थसूत्र'की वृत्ति होनेपर भी इस ग्रन्थमें कतिपय मौलिक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। मङ्गलाचरणके पश्चात् प्रथम सूत्रकी व्याख्या आरम्भ करते हुए उत्थानिकामें लिखा है—किसी निकटभव्यने एक आश्रममें मुनि-परिषद्के मध्यमें स्थित निर्ग्रन्थाचार्यसे विनयसहित पूछा—भगवन्! आत्माका हित क्या है? आचार्यने उत्तर दिया—मोक्ष। भव्यने पुनः प्रश्न किया—मोक्षका स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है? इसी प्रश्नके उत्तरस्वरूप "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"—सूत्र रचा गया है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि, ज्ञानपीठ संस्करण, अन्तिम अंश, पद्य १, पृ० ४७४।
२. वही, पद्य २, पृ० ४७४।

प्रथम अध्यायके षष्ठ सूत्र "प्रमाणनयैरधिगमः" (१।६) की व्याख्या करते हुए पूज्यपाद स्वामीने प्रमाणके स्वार्थ और परार्थ भेद करके मति, अवधि, मनः-पर्यय और केवल इन चार ज्ञानोंको स्वार्थप्रमाण बतलाते हुए श्रुतज्ञानको स्वार्थ और परार्थ दोनों बतलाया है तथा उसीका भेद नय है—यह भी बताया है। इसी सूत्रकी व्याख्यामें 'उक्तञ्च' लिखकर "सकलादेशः प्रमाणाधीनः विकलादेशो नयाधीनः"—वाक्य उद्धृत किया है। इस प्रकार प्रमाणके स्वार्थ और परार्थ भेद तथा सकलादेश और विकलादेशकी चर्चा इन्हींके द्वारा प्रस्तुत की गयी है। इसी अध्यायमें "सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च" (१।८)—की वृत्ति षट्खण्डागमके जीवट्ठाणसूत्रोंके आधारपर लिखी गयी है। इसमें सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगोंके द्वारा चौदह मार्गणाओंमें गुणस्थानोंका विवेचन बहुत सुन्दर रूपमें किया है।

प्रमाणकी चर्चामें नैयायिक और वैशेषिकोंके सन्निकर्ष-प्रामाण्यवादका एवं सांख्योंके इन्द्रिय-प्रामाण्यका निरसन कर ज्ञानके प्रामाण्यकी व्यवस्था की है। ज्ञानको स्वपरप्रकाशक सिद्ध कर चक्षुके प्राप्यकारित्वका आगम और युक्तियोंसे खण्डन कर उसे अप्राप्यकारी सिद्ध किया गया है। "सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्" (१।३२) की वृत्तिमें कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यासकी चर्चा करते हुए यौग, सांख्य, बौद्ध और चार्वाक आदिके मतोंका निर्देश किया है। अन्तिम सूत्रमें किया गया नयोंका विवेचन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

द्वितीय अध्यायकी व्याख्यामें भी अनेक विशेषताएँ और मौलिकताएँ उपलब्ध हैं। तृतीय सूत्रकी व्याख्यामें चारित्रमोहनीयके 'कषायवेदनीय' और 'नोकषायवेदनीय' ये दो भेद बतलाए हैं तथा दर्शनमोहनीयके सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन भेद बतलाए हैं। इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह सम्यक्त्व अनादिमिथ्यादृष्टि भव्यके कर्मोदयसे प्राप्त कलुषताके रहते हुए किस प्रकार सम्भव है? इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्यने बतलाया है—'काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्'—काललब्धि आदिके निमित्तसे इनका उपशम होता है। अन्य आगमग्रन्थोंमें क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, काललब्धि और प्रायोग्यलब्धि ये पाँच लब्धियाँ बतलायी हैं। आचार्य पूज्यपादने काललब्धिके साथ लगे आदि शब्दसे जातिस्मरण आदिका निर्देश किया है और काललब्धिके कर्मस्थितिका काललब्धि और भवापेक्षया काललब्धियोंका निर्देश किया है। यह विषय मौलिक और सैद्धान्तिक है।

तृतीय-चतुर्थ अध्यायमें लोकका वर्णन किया गया है। ग्रहकेन्द्रवृत्त, ग्रह-कक्षाएँ, ग्रहोंकी गति, चार-क्षेत्र आदि चर्चाएँ तिलोयपण्णत्तिके तुल्य हैं। लोकाकारका वर्णन आचार्यने मौलिक रूपमें किया है।

मौलिक तथ्योंके समावेशकी दृष्टिसे पंचम अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण है। द्रव्य, गुण और पर्यायोंका स्पष्ट और पूर्ण विवेचन किया गया है। 'द्रव्यत्व-योगात् द्रव्यम्' और 'गुण-समुदायो द्रव्यम्'की समीक्षा सुन्दर रूपमें की गयी है। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"(५।३०)—सूत्रकी व्याख्यामें सोदाहरण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी व्याख्या की गयी है तथा "अर्पितानर्पितसिद्धेः" (५।३२) सूत्रकी वृत्तिमें अनेकान्तात्मक वस्तुकी सिद्धि की गयी है।

षष्ठ और सप्तम अध्यायमें दर्शनमोहनीयकर्मके आस्रवके कारणोंका विवेचन करते हुए केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवोंके अवर्णवादप्रसंगमें श्वेताम्बर-मान्यताओंकी समीक्षा की है। सप्तम अध्यायके प्रथम सूत्रमें रात्रि-भोजनत्याग नामक षष्ठ अणुव्रतकी समीक्षा की गयी है। सप्तम अध्यायके त्रयोदश सूत्रके व्याख्यानमें आचार्यने हिंसा और अहिंसाके स्वरूपका विवेचन करते हुए उनके समर्थनमें अनेक गाथाएँ उद्धृत की हैं। गृद्धपिच्छाचार्यने प्रमादयोगसे प्राणोंके घातको हिंसा कहा है। पूज्यपादने प्रमत्तयोग और प्राणका व्यपरोपण इन दोनों पदोंका विवेचन करते हुए केवल प्राणोंके घातमात्रको हिंसा नहीं कहा है। जहाँ प्रमत्तयोग है वहाँ प्राणोंका घात न होनेपर भी हिंसा होती है, क्योंकि घातकका भाव हिंसारूप है।

अष्टम अध्यायमें कर्मबन्धका और कर्मोंके भेद-प्रभेदोंका वर्णन आया है। प्रथम सूत्रमें बन्धके पाँच कारण बतलाये हैं। उनकी व्याख्यामें पूज्यपादने मिथ्यात्वके पाँच भेदोंका कथन करते हुए पुरुषाद्वैत एवं श्वेताम्बरीय निर्ग्रन्थ-सग्रन्थ, केवली-कवलाहार तथा स्त्री-मोक्ष सम्बन्धी मान्यताको भी विपरीत मिथ्यात्व कहा है। इस अध्यायके अन्य सूत्रोंका व्याख्यान भी महत्त्वपूर्ण है। पदोंकी सार्थकताओंके विवेचनके साथ पारिभाषिक शब्दोंके निर्वचन विशेष उल्लेख्य हैं।

नवम अध्यायमें संवर, निर्जरा और उनके साधन गुप्ति आदिका विशद् विवेचन है। दशममें मोक्ष और मुक्त जीवोंके ऊर्ध्वगमनका प्रतिपादन है।

इस समग्र ग्रन्थकी शैली वर्णनात्मक होते हुए भी सूत्रगत पदोंकी सार्थकताके निरूपणके कारण भाष्यके तुल्य है। निश्चयतः पूज्यपादको तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंका विषयगत अनुगमन गहरा और तलस्पर्शी था।

४. **समाधितन्त्र**—इस ग्रन्थका दूसरा नाम समाधिशतक है। इसमें १०५ पद्य हैं। अध्यात्मविषयका बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। आचार्य पूज्यपादने अपने इस ग्रन्थकी विषयवस्तु कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोंसे ही ग्रहण की है। अनेक पद्य तो रूपान्तर जैसे प्रतीत होते हैं। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥[1]

इस पद्यकी समता निम्न गाथामें है—

णियभावं ण वि मुंचइ परभावं णेव गिण्हए केइं।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी ॥[2]

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्माके स्वरूपका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। बहिरात्मभाव—मिथ्यात्वका त्याग कर अन्तरात्मा बन कर परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए प्रयास करना साधकका परम कर्त्तव्य है। आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और कर्मसंयोगका इस ग्रन्थमें संक्षेपमें हृदयग्राही विवेचन किया गया है।

५. **इष्टोपदेश**—इस आध्यात्मकाव्यमें इष्ट—आत्माके स्वरूपका परिचय प्रस्तुत किया गया है। ५१ पद्योंमें पूज्यपादने अध्यात्मसागरको गागरमें भर देनेकी कहावतको चरितार्थ किया है। इसकी रचनाका एकमात्र हेतु यही है कि संसारी आत्मा अपने स्वरूपको पहचानकर शरीर, इन्द्रिय एवं सांसारिक अन्य पदार्थोंसे अपनेको भिन्न अनुभव करने लगे। असावधान बना प्राणी विषय-भोगोंमें ही अपने समस्त जीवनको व्यतीत न कर दे, इस दृष्टिसे आचार्यने स्वयं ग्रन्थके अन्तमें लिखा है—

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्।
मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य ॥
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा।
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥[3]

इस ग्रन्थके अध्ययनसे आत्माकी शक्ति विकसित हो जाती है और स्वात्मानुभूतिके आधिक्यके कारण मान-अपमान, लाभ-अलाभ, हर्ष-विषाद आदिमें

---

१. समाधितंत्र, पद्य ३०, वीरसेवामन्दिर-संस्करण।
२. नियमसार, गाथा ९७।
३. इष्टोपदेश, सूरत-संस्करण, पद्य ५१।

समताभाव प्राप्त होता है। संसारकी यथार्थ स्थितिका परिज्ञान प्राप्त होनेसे राग, द्वेष, मोहकी परिणति घटती है। इस लघुकाय ग्रन्थमें समयसारकी गाथाओंका सार अंकित किया गया है। शैली सरल और प्रवाहमय है।

६. जैनेन्द्र व्याकरण—श्रवणबेलगोलाके अभिलेखों एवं महाकवि धनंजयके नाममालाके निर्देशसे जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिता पूज्यपाद सिद्ध होते हैं। गुणरत्नमहोदधिके कर्ता वर्धमान और हेमशब्दानुशासनके लघुन्यासरचयिता कनकप्रभ भी जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिताका नाम देवनन्दि बताते हैं।

अभिलेखोंसे जैनेन्द्रन्यासके रचयिता भी पूज्यपाद अवगत होते हैं। पर यह ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध है।

जैनेन्द्र व्याकरणके दो सूत्रपाठ उपलब्ध हैं—एकमें तीन सहस्र सूत्र हैं, और दूसरेमें लगभग तीन हजार सात -सौ। पंडित नाथूरामजी प्रेमीने यह निष्कर्ष निकाला है कि देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ सूत्रपाठ वही है, जिसपर अभयनन्दिने अपनी वृत्ति लिखी है।

जैनेन्द्र व्याकरणमें पाँच अध्याय हैं और प्रत्येक अध्यायमें चार-चार पाद हैं। इसका पहला सूत्र महत्त्वपूर्ण है। इसमें 'सिद्धिरनेकान्तात्' सूत्रसे समस्त शब्दोंका साधुत्व अनेकान्तद्वारा स्वीकार किया है, क्योंकि शब्दमें नित्यत्व, अनित्यत्व, उभयत्व, अनुभयत्व आदि विभिन्न धर्म रहते हैं। इन नाना धर्मोंसे विशिष्ट धर्मीरूप शब्दकी सिद्धि अनेकान्तसे ही सम्भव है। एकान्तसिद्धान्तसे अनेकधर्मविशिष्ट शब्दोंका साधुत्व नहीं बतलाया जा सकता। यहाँ अनेकान्तके अन्तर्गत लोकप्रवृत्तिको भी मान्यता दी है। लोकप्रसिद्धिपर आश्रित शब्दव्यवहार भी मान्य है।

जैनेन्द्रका संज्ञाप्रकरण सांकेतिक है। इसमें धातु, प्रत्यय, प्रातिपदिक, विभक्ति, समास आदि महासंज्ञाओंके लिए बीजगणित जैसी अतिसंक्षिप्त संकेतपूर्ण संज्ञाएँ आयी हैं। इस व्याकरणमें उपसर्गके लिए 'गि', अव्ययके लिए 'झी:' समासके लिए 'स:', वृद्धिके लिए 'ऐप', गुणके लिए 'एप', सम्प्रसारणके लिए 'जि:', प्रथमा विभक्तिके लिए 'वा', द्वितीयाके लिए 'इप्', तृतीया विभक्तिके लिए 'भ', चतुर्थीके लिए 'अप', पञ्चमीके लिए 'का', षष्ठीके लिए 'ता', सप्तमीके लिए 'इप' और सम्बोधनके लिए 'कि:' की संज्ञाएँ बतलायी गयी हैं। निपातके लिये 'नि:', दीर्घके लिये 'दी:', प्रगृह्यके लिए 'दि:', उत्तरपदके लिये 'घु:', सर्वनाम स्थानके लिए 'धम्', उपसर्जनके लिए 'न्यक्', प्लुत्के लिए 'प:', ह्रस्वके लिये 'प्र:', प्रत्ययके लिये 'त्य:', प्रातिपदिकके लिए 'मृत्', परस्मैपदके

लिए 'मम्', आत्मनेपदके लिए 'दः', अकर्मकके लिए 'धिः', संयोगके लिए 'स्फः', सवर्णके लिए 'स्वम्', तद्धितके लिए 'हृत्', लोपके लिए 'खम्', लुप्के लिए 'उस्', लुक्के लिए 'उप्' एवं अभ्यासके लिए 'च' संज्ञाका विधान किया गया है। समासप्रकरणमें अव्ययीभावके लिए 'हः', तत्पुरुषके लिए 'षम्', कर्मधारयके लिये 'यः', द्विगुके लिए 'रः', और बहुव्रीहिके लिए 'वम्' संज्ञा बतलायी गयी है। जैनेन्द्रका यह संज्ञाप्रकरण अत्यन्त सांकेतिक है। पूर्णतया अभ्यस्त हो जानेके पश्चात् ही शब्दसाधुत्वमें प्रवृत्ति होती है। यह सत्य है कि इन संज्ञाओंमें लाघवनियमका पूर्णतया पालन किया गया है।

जैनेन्द्र व्याकरणमें सन्धिके सूत्र चतुर्थ और पञ्चम अध्यायमें आये हैं। 'सन्धौ' ४।३।६० सूत्रको सन्धिका अधिकारसूत्र मानकर सन्धिकार्य किया गया है, पश्चात् छकारके परे सन्धिमें तुगागमका विधान किया है। तुगागम करनेवाले ४।३।६१ से ४।३।६४ तक चार सूत्र हैं। इन सूत्रों द्वारा ह्रस्व, आंग, मांग तथा दी संज्ञकोंसे परे तुगागम किया है और 'त' का 'च' बनाकर गच्छति, इच्छति, आच्छिनत्ति, माच्छिदत्, म्लेच्छति, कुवलीच्छाया आदि प्रयोगोंका साधुत्व प्रदर्शित किया है। देवनन्दिका यह विवेचन पाणिनिके तुल्य है। अनन्तर 'यण्' सन्धिके प्रकरणमें 'अचीकोयण्' ४।३।६५ सूत्रद्वारा इक्—इ,उ,ऋ, लृको क्रमशः यणादेश—य,व,र,लका नियमन किया है। देवनन्दिका यह प्रकरण पाणिनिके समान होने पर भी प्रक्रियाकी दृष्टिसे सरल है। इसी प्रकार 'अयादि' सन्धिका ४।३।६६,४।३।६७ द्वारा विधान किया है। वृत्तिकारने इन दोनों सूत्रोंकी व्याख्या-में कई ऐसी नयी बातें उपस्थित की है, जिनका समावेश कात्यायन और पतञ्जलिके वचनोंमें किया जा सकता है। जैनेन्द्रकी सन्धिसम्बन्धी तीन विशेषताएँ प्रमुख है—

१. उदाहरणोंका बाहुल्य—चतुर्थ, पंचम शताब्दीमें प्रयुक्त होनेवाली भाषाका समावेश करनेके लिये नये-नये प्रयोगोंको उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया गया है। यथा—

पव्यम्[1], अवश्यपाव्यम्[2], नौयानम्[3], गोयानम्[4] आदि।

२. लाघव या संक्षिप्तिकरणके लिये सांकेतिक संज्ञाओंका प्रयोग।

३. अधिकारसूत्रों द्वारा अनुबन्धोंकी व्यवस्था।

सुबन्त प्रकरणमें अधिक विशेषताओंके न रहनेपर भी प्रक्रिया सम्बन्धी सरलता अवश्य विद्यमान है। जिन शब्दोंके साधुत्वके लिये पाणिनिने एकाधिक

१-२. ४।३।६८।

३-४. ४।३।६७।

सूत्रोंका व्यवहार किया है, उन शब्दोंके लिये जैनेन्द्र व्याकरणमें एक ही सूत्रसे साधनिका प्रस्तुत कर दी गयी है।

जैनेन्द्र व्याकरणमें स्त्रीप्रत्यय, समास एवं कारक सम्बन्धी भी कतिपय विशेषताएँ पायी जाती हैं। 'कारके' १।२।१०९ को अधिकारसूत्र मानकर कारक प्रकरणका अनुशासन किया है। देवनन्दिने पंचमी विभक्तिका अनुशासन सबसे पहले लिखा है, पश्चात् चतुर्थी, तृतीया, सप्तमी, द्वितीया और षष्ठी विभक्तिका नियमन किया है। यह कारकप्रकरण बहुत संक्षिप्त है, पर जितनी विशेषताएँ अपेक्षित हैं उन सभीका यहाँ नियमन किया गया है। इसी प्रकार तिङन्त, तद्धित और कृदन्त प्रकरणोंमें भी अनेक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

इस व्याकरणकी शब्दसाधुत्वसम्बन्धी विशेषताओंके साथ सांस्कृतिक विशेषताएँ भी उल्लेख्य हैं। यहाँ सांस्कृतिक शब्दोंकी तालिका उपस्थित कर उक्त कथनको पुष्टि की जा रही है।

पचति पनसम् १।१।३
पक्व, पक्ववान् १।१।४
अतितिलपीडनिः १।१।८—तिलकुट या तेल पेरनेवाली
अतिराजकुमारिः १।१।८
कुवलम्, वदरम्—झरबेर १।१।९
आमलव्यम् १।१।९
पञ्चशष्कुलः १।१।९
पञ्चगोणिः १।१।१०
पञ्चसूचिः, सप्तशूचिः १।१।१०
दधि, मधु १।१।११
अश्राद्धभोजी, अलवणभोजी १।१।३२
द्रौघणके जातो द्रौघणकीयः १।१।६८
छतप्रधानोरौदि १।१।७१
सम्पन्नाव्रीह्यः—एकोव्रीहिः सम्पन्नः सुभिक्षं करोति १।१।९९
द्वावपूपौ भक्षयेति १।२।१०
स्रावयति तैलं १।२।८३
यवागूः १।२।९२—जौका हलुआ या लापसी
रूपकारः पचति १।२।१०३
कांस्यपात्र्यां भुङ्क्ते १।२।११०
वृक्षमवचिनोति फलानि १।२।१२१

भोज्यते माणवकमोदनं १।२।१२१
नटस्य शृणोति श्लोकम् १।२।१२१
उपयोगो दुग्धादि तन्निमित्तं गवादि ।
गोदोहं स्वपिति १।२।१२१
अजां नयति ग्रामं, भारं वहति ग्रामम्, शाखां कर्षति ग्रामम् १।२।१२१
अध्याप्येते माणवकौ जैनेन्द्रम् १।२।१२१ ।
भक्षयति पिण्डीं देवदत्तः १।२।१२२
आसयति गोदोहं देवदत्तम् १।२।१२२
पूतयवम्, पूतयानयवम्, संह्लतयवम्, संह्लियमाणयवम् १।३।१४
दध्नापटुः, घृतेनपटुः १।३।२७
गुडपृथुका, गुडधाना, तिलपृथुका, दध्ना उपसिक्त ओदनो दध्नोदनः घृतोदनः ।
१।३।३१—गुड-चूड़ा, गुडधान, तिलचूड़ा, दधिभात, घी-भात ।
वनेकसेसकाः, वनेवल्वजकाः, कूपेपिशाचिकाः १।३।३८
तत्रभुक्तम्, तत्रपीतम् १।३।४०
पुराणान्नम् १।३।४४
केवलज्ञानम्, मोषकगवी १।३।४४
पञ्चगवधनः, पञ्चपूली, पञ्चकुमारि १।३।४६
क्षत्रियभीरुः, श्रोत्रियकितवः, भिक्षुविटः, मीमांसकदुर्दुरूपः १।३।४८
शस्त्रीश्यामा, दूर्वाकाण्डश्यामा, सरकाण्डश्यामा १।३।५०
भोज्योष्णम्, भोज्यलवणम्, पानीयशीतम् १।३।६४
कपित्थरसः १।३।७५
इक्षुमक्षिकां मे धारयसि १।३।७८
सक्तूनां पायकः १।३।७९
तैलपीतः, घृतपीतः, मद्यपीतः १।३।१०३
कुशलो विद्याग्रहणे १।४।४८
माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः १।४।५०
पुष्ये पायसमश्नीयात्, मघाभिः नललौदनम् १।४।५३
यवानां लावकः, ओदस्य भोजकः १।४।६८
दास्याः कामुकः, सुकरः, कटो भवता, धान्यं पवमानः १।४।७२
पुष्येण योगं जानाति, पुष्येण भोजयति, चन्द्रमसा मघाभिर्योगं जानाति २।१।२४
मासं कल्याणी काञ्ची १।४।४

शरदं मथुरा रमणीया १।४।४
अरुणन्महेन्द्रो मथुरां । अरुणद् यवनः साकेतम् २।२।९२
पौतिमाष्या, गौकक्ष्या ३।१।४
शुचिरियं कन्या ३।१।३०
वृद्धपत्नी, स्थूलपत्नी, ग्रामपत्नी ३।१।३५
पलाण्डुभक्षितो, सुरापीतो ३।१।४६
वाहीकग्रामः, दाक्षिपलदीयः, माहकिपलदीयः, माहकिनगरीयः ३।२।११८
मासिकः, सांवत्सरिकः ३।२।१३१
गोशालम्, खरशालम् ३।३।११
मासे देया भिक्षा ३।३।२२
पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानं सुकौशला ३।३।४२
पाटलिपुत्रस्य द्वारम् ३।३।६०
वाणिजाः वाराणसीं जित्वरीति मङ्गलार्थमुपचरन्ति ३।३।५८
गान्धारः, पाञ्चालः ३।३।६७
गर्गभार्गवका ३।३।९३
हास्तिपदं शकटम् ३।३।१००
आक्षिकः, शालाकिकः ३।३।१२७
दाधिकम्, शार्ङ्गवेरिकम्, मारीचिकम् ३।३।१२८
चूर्णिनोऽपूपाः, लवणा यवागूः, कषायमुदकम् ३।३।१४७

सिद्धिप्रियस्तोत्र

इस स्तोत्रमें २६ पद्य हैं और चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी स्तुति की गयी है। रचना प्रौढ़ और प्रवाहयुक्त है। कवि वर्द्धमानस्वामीकी स्तुति करता हुआ कहता है—

श्रीवर्धमानवचसा परमाकरेण
रत्नत्रयोत्तमनिधेः परमाकरेण ।
कुर्वन्ति यानि मुनयोऽजनता हि तानि
वृत्तानि सन्तु सततं जनताहितानि[1] ।।

यहाँ यमकका प्रयोग कर कविने वर्द्धमानस्वामीका महत्त्व प्रदर्शित किया है। 'जनताहितानि' पद विशेषरूपसे विचारणीय है। वस्तुतः तीर्थंकर जननायक होते हैं और वे जनताका कल्याण करनेके लिये सर्वथा प्रयत्नशील रहते हैं।

१. सप्तम गुच्छक, काव्यमाला सीरीज, सन् १९२६, पद्य २४ ।

इन प्रमुख ग्रन्थोंके अतिरिक्त पूज्यपादके वैद्यक सम्बन्धी प्रयोग भी उपलब्ध हैं। जैनसिद्धान्तभवन आरासे 'वैद्यसारसंग्रह' नामक ग्रन्थमें कतिपय प्रयोग प्रकाशित हैं। छन्दशास्त्र सम्बन्धी भी इनका कोई ग्रन्थ रहा है, जो उपलब्ध नहीं है।

देवनन्दि-पूज्यपादका वैदुष्य एवं काव्यप्रतिभा

जीवन और जगत्के रहस्योंकी व्याख्या करते हुए, मानवीय व्यापारके प्रेरक, प्रयोजनों और उसके उत्तरदायित्वकी सांगोपांग विवेचना पूज्यपादके ग्रन्थोंका मूल विषय है। व्यक्तिगत जीवनमें कवि आत्मसंयम और आत्मशुद्धि पर बल देता है। ध्यान, पूजा, प्रार्थना एवं भक्तिको उदात्त जीवनकी भूमिकाके लिये आवश्यक समझता है। आचार्य पूज्यपादकी कवितामें काव्यतत्त्वकी अपेक्षा दर्शन और अध्यात्मतत्त्व अधिक मुखर है। शृङ्गारिक भावनाके अभावमें भी भक्तिरसका शीतल जल मन और हृदय दोनोंको अपूर्व शान्ति प्रदान करनेकी क्षमता रखता है। शब्द विषयानुसार कोमल हैं, कभी-कभी एक ही पद्यमें ध्वनिका परिवर्तन भी पाया जाता है। वस्तुतः अनुरागको ही पूज्यपादने भक्ति कहा है और यह अनुराग मोहका रूपान्तर है। पर वीतरागके प्रति किया गया अनुराग मोहकी कोटिमें नहीं आता है। मोह स्वार्थपूर्ण होता है और भक्तका अनुराग निःस्वार्थ। वीतरागीसे अनुराग करनेका अर्थ है, तद्रूप होनेकी प्रबल आकांक्षाका उदित होना। अतएव पूज्यपादने सिद्धभक्तिमें सिद्धरूप होनेकी प्रक्रिया प्रदर्शित की है।

उनके वैदुष्यका अनुमान सर्वार्थसिद्धिग्रन्थसे किया जा सकता है। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, बौद्ध आदि विभिन्न दर्शनोंकी समीक्षा कर इन्होंने अपनी विद्वत्ता प्रकट की है। निर्वचन और पदोंकी सार्थकताके विवेचनमें आचार्य पूज्यपादकी समकक्षता कोई नहीं कर सकता है।

आचार्य पूज्यपादने कविके रूपमें अध्यात्म, आचार और नीतिका प्रतिपादन किया है। अनुष्टुप् जैसे छोटे छन्दमें गम्भीर भावोंको समाहित करनेका प्रयत्न प्रशंसनीय है। आचार्यने सुख-दुःखका आधार वासनाको ही कहा है, जिसने आत्मतत्त्वका अनुभव कर लिया है, उसे सुख-दुःखका संस्पर्श नहीं होता।

> वासनामयमेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम्।
> तथा ह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि[1]॥

---

१. इष्टोपदेश, पद्य ६।

देहधारियोंको जो सुख और दुःख होता है, वह केवल कल्पनाजन्य ही है। जिन्हें लोकसुखका साधन समझा जाता है, ऐसे कमनीय कामिनी आदि भोग भी आपत्तिके समयमें रोगोंकी तरह प्राणियांको आकुलता पैदा करनेवाले होते हैं।

संसारकी विभिन्न परिस्थितियोंका चित्रांकन करते हुए आचार्य पूज्यपादने उदाहरण द्वारा संयोग-वियोगकी वास्तविक स्थितिपर प्रकाश डाला है। यथा–

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य, संवसन्ति नगे नगे।
स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिक्षु प्रगे प्रगे[1]॥

जिस प्रकार विभिन्न दिशा और देशोंसे एकत्र हो पक्षीगण वृक्षोंपर रात्रिमें निवास करते हैं, प्रातः होनेपर अपने-अपने कार्यके वश पृथक्-पृथक् दिशा और देशोंको उड़ जाते हैं। इसी प्रकार परिवार और समाजके व्यक्ति भी थोड़े समयके लिये एकत्र होते हैं और आयुकी समाप्ति होते ही वियुक्त हो जाते हैं।

इस पद्यमें व्यंजना द्वारा ही संसारी जीवोंकी स्थितिपर प्रकाश पड़ता है। अभिधासे तो केवल पक्षियोंके 'रैन-बसेरा'का ही चित्रांकन होता है, परन्तु व्यंजना द्वारा संयोग-वियोगकी स्थिति बहुत स्पष्ट हो जाती है और संसारका यथार्थरूप प्रस्तुत हो जाता है। आचार्यने आठवें पद्यमें "वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः" में आमुखके रूपमें उक्त पद्यके व्यंग्यार्थका संकेत कर दिया है। अतः पद्यांको गुम्फित करनेकी प्रक्रिया भी मौलिक है। तथ्य यह है कि बाह्य प्रकृतिके बाद मनुष्य अपने अन्तर्जगत्की ओर दृष्टिपात करता है। यही कारण है कि उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया गया पद्य बाह्य प्रकृतिके रूपका चित्रण कर आमुख श्लोकके अर्थके साथ अन्वित हो विरक्तिके लिये भूमिका उत्पन्न कर देता है।

आचार्य पूज्यपादने सकल परमात्मा अर्हन्तको नमस्कार करते हुए उनकी अनेक विशेषताओंमें वाणीकी विशेषता भी वर्णित की है। यह विशेषता उदात्त अलंकारमें निरूपित है। कविने बताया है कि अर्हन्त इच्छारहित हैं। अतः बोलनेकी इच्छा न करनेपर भी निरक्षरी दिव्य-ध्वनि द्वारा प्राणियोंकी भलाई करते हैं, जो सकल परमात्माको अनुभूति करने लगता है, उसे आत्माका रहस्य ज्ञात हो जाता है। अतः कविने सूक्ष्मके आधारपर इस चित्रका निर्माण किया है। कल्पना द्वारा भावनाको अमूर्तरूप प्रदान किया गया है। धार्मिक पद्य

---

१. इष्टोपदेश, पद्य ९।

होनेपर भी, छायावादी कविताके समान सकल परमात्माका स्पष्ट चित्र अंकित हो जाता है। काव्यकलाकी दृष्टिसे पद्य उत्तम कोटिका है—

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारतीविभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः॥

इच्छारहित होनेपर तथा बोलनेका प्रयास न करनेपर भी जिसकी वाणीकी विभूति जगतको सुख-शान्ति देनेमें समर्थ है, उस अनेक नामधारी सकल परमात्मा अर्हन्तको नमस्कार हो।

बाह्य उदाहरणों द्वारा अन्तरंगकी अनुभूति करानेके लिये आचार्यने गाढ़-वस्त्र, जीर्णवस्त्र, रक्तवस्त्रके दृष्टान्त प्रस्तुतकर आत्माके स्वरूपको स्पष्ट करनेका प्रयास किया है। जिस प्रकार गाढ़ा—मोटा वस्त्र पहन लेनेपर कोई अपनेको मोटा नहीं मानता, जीर्णवस्त्र पहननेपर कोई अपनेको जीर्ण नहीं मानता और रक्त, पीत, प्रभृति विभिन्न प्रकारका रंगीन वस्त्र पहननेपर कोई अपनेको लाल, नीला, पीला नहीं समझता, इसी प्रकार शरीरके स्थूल, जीर्ण, गौर एवं कृष्ण होनेसे आत्माको भी स्थूल, जीर्ण, काला और गोरा नहीं माना जा सकता है—

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः॥
जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुध.॥
रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः[२]॥

अनुष्टुप्‌के साथ वंशस्थ, उपेन्द्रवज्रा आदि छन्दोंका प्रयोग भी किया है। काव्य, दर्शन और अध्यात्मतत्त्वकी दृष्टिसे रचनाएँ सुन्दर और सरस हैं।

पात्रकेसरी या पात्रस्वामी

कवि और दार्शनिकके रूपमें पात्रकेसरीका नाम विख्यात है। आचार्य जिनसेनने अपने आदिपुराणमें पात्रकेसरीका उल्लेख करते हुए लिखा है।

भट्टाकलङ्कश्रीपालपात्रकेसरिणां गुणाः।
विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः[3]॥

१-२. समाधितन्त्र ६३ ६६।

३. आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण—१।५३।

भट्टाकलङ्क, श्रीपाल और पात्रकेसरी आचार्योंके निर्मल गुण विद्वानोंके हृदयमें मणिमालाके समान सुशोभित होते हैं।

श्रवणबेलगोलाके अभिलेखसंख्या ५४ में 'त्रिलक्षणकदर्थन'के रचयिताके रूपमें पात्रकेसरीका स्मरण किया गया है—

महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावती सहाया त्रिलक्षण-कदर्थनं कर्तुम्[1]॥

प्रस्तुत मल्लिषेण-प्रशस्ति शक संवत् १०५० वि० सं० ११८५की है। अतः यह स्पष्ट है कि आचार्य जिनसेन तथा मल्लिषेण प्रशस्तिके लेखकके समयमें पात्रकेसरीका यश पर्याप्त प्रसृत था।

जीवन-परिचय

पात्रकेसरीका जन्म उच्चकुलीन ब्राह्मण वंशमें हुआ था। सम्भवतः ये किसी राजाके महामात्यपदपर प्रतिष्ठित थे। ब्राह्मण समाजमें इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। आराधनाकथा-कोषमें लिखा है—"अहिच्छत्रके अवनिपाल राजाके राज्यमें ५०० ब्राह्मण रहते थे। इनमें पात्रकेसरी सबसे प्रमुख थे। इस नगरमें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथका एक विशाल चैत्यालय था। पात्रकेसरी प्रतिदिन उस चैत्यालयमें जाया करते थे। एक दिन वहाँ चारित्रभूषण मुनिके मुखसे स्वामी समन्तभद्रके 'देवागम' स्तोत्रका पाठ सुनकर आश्चर्यचकित हुए। उन्होंने मुनिराजसे स्तोत्रका अर्थ पूछा, पर मुनिराज अर्थ न बतला सके। पात्रकेसरीने अपनी विलक्षण प्रतिभा द्वारा स्तोत्र कण्ठस्थ कर लिया और अर्थ विचारने लगे। जैसे-जैसे स्तोत्रका अर्थ स्पष्ट होने लगा वैसे-वैसे उनकी जैन-तत्त्वोंपर श्रद्धा उत्पन्न होती गयी और अन्तमें उन्होंने जैनधर्म स्वीकार कर लिया। राज्यके अधिकारी पदको छोड़ उन्होंने मुनिपद धारण कर लिया। पर उन्हें हेतुके विषयमें सन्देह बना रहा और उस सन्देहको लिए हुये सो जाने पर रात्रिके अन्तिम प्रहरमें स्वप्न आया कि पार्श्वनाथके मन्दिरमें 'फण' पर लिखा हुआ हेतुलक्षण प्राप्त हो जायगा। अतएव प्रातःकाल जब वे पार्श्वनाथके मन्दिरमें पहुँचे तो वहाँ उस मूर्त्तिके 'फण' पर निम्न प्रकार हेतुलक्षण प्राप्त हुआ—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥

पात्रकेसरी हेतुलक्षणको अवगत कर असन्दिग्ध और दीक्षित हुए।

---

१. जैनशिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसंख्या ५४, पद्य १२, पृ० सं० १०३।

इस कथासे विदित है कि पात्रकेसरी उच्चकुलीन ब्राह्मण थे। स्वामी समन्तभद्रके 'देवागम' स्तोत्रको सुनकर इनकी श्रद्धा जैनधर्मके प्रति जागृत हुई थी और जैनधर्ममें दीक्षित हो मुनि हो गये थे। कथाकोषके अनुसार इन्हें अहिच्छत्रका निवासी कहा गया है। ये द्रमिल-संघके आचार्य थे। शक संवत् १०५९के बेल्लूर ताल्लुकेके शिलालेख नं० १७ में पात्रकेसरीका नाम आया है। इस अभिलेखमें समन्तभद्रस्वामीके बाद पात्रकेसरीको द्रमिल-संघका प्रधान आचार्य सूचित किया है। पात्रकेसरीके अनन्तर क्रमशः वक्रग्रीव, वज्रनन्दि, सुमतिभट्टारक (देव) और समयदीपक अकलङ्क नामके आचार्य हुए[1] हैं।

अकलंकदेवके सिद्धिविनिश्चयग्रन्थपर टीका लिखनेवाले आचार्य अनन्तवीर्यने उनके 'स्वामी' पदका व्याख्यान करते हुए ही त्रिलक्षणकदर्थनके रचयिताके रूपमें पात्रकेसरीका उल्लेख किया[2] है। तत्त्वसंग्रह और उसकी टीका पंजिकामें पात्रस्वामीका निर्देश आया है और उनके वाक्योंको उद्धृत किया है[3]।

अतः स्पष्ट है कि पात्रकेसरीका व्यक्तित्व तर्कके क्षेत्रमें प्रसिद्ध रहा है।

समय-निर्णय

पात्रकेसरीका 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामका ग्रन्थ रहा है। इस ग्रन्थकी मीमांसा बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षितने अपने तत्वसंग्रह नामक ग्रंथमें की है और शान्तरक्षितका समय ई० सन् ७०५—७६२ है। अतः पात्रकेसरीका समय इसके पूर्व है। डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने इनके समयका निर्धारण करते हुए लिखा है—'हेतुका त्रिलक्षणस्वरूप दिङ्नागने न्यायप्रवेशमें स्थापित किया है और उसका विस्तार धर्मकीर्तिने किया है। पात्रस्वामीका पुराना उल्लेख करनेवाले शान्तरक्षित और कर्णगोमि हैं। अतः इनका समय दिङ्नाग (ई० ४२५) के बाद और शान्तरक्षितके मध्यमें होना चाहिए। ये ई० सन्‌की छठवीं शताब्दीके उत्तरार्ध और सातवीके पूर्वार्धके विद्वान ज्ञात होते हैं।"[4]

१. तत्…………त्थेर्थमं सहस्रगुणंमाडिसमन्तभद्रस्वामिगलुसन्दर अवीरं बन्किकतदीय श्रीमद् द्रमिल संघाग्रेसरद् अप्पपात्रकेसरि—स्वामी गतिवक्रग्रीवामि………रिन्द अनन्तरं।—एपिग्राफिका कर्णाटिका, जिल्द ५, भाग १।

२. ननु सदोषं तत्, अतस्तदपरिज्ञानमदोषाय इति चेत्, अत्राह—अमलालीढम्………। कस्य तत् ? इत्यत्राह—स्वामिनः पात्रकेसरिण इत्येके। कुत एतत् ? तेन तद्विषय-त्रिलक्षणकदर्थनम्……।—सिद्धिविनिश्चयटीका, ज्ञानपीठसंस्करण-पृ० ३७१–७२।

३. डॉ० दरबारीलाल कोठिया : जैन तर्कशास्त्रमें अनुमानविचार, पृ० १९५–९६।

४. सिद्धिविनिश्चय, प्रस्तावना, पृ० २१।

पात्रकेसरीका 'अन्यथानुपपन्नत्वं' पद्य अकलङ्कदेवके न्यायविनिश्चयमें मूलमें भी मिलता है। अतः पात्रकेसरी अकलङ्कदेव (वि० ७ वीं शती) के पूर्ववर्ती हैं। अभिलेखोंमें समन्तभद्रके अनन्तर पात्रकेसरीका नाम आया है। अतः समन्तभद्र (३री शती) के पश्चात् पात्रकेसरीका समय है। अर्थात् इनका समय विक्रम की छठी शताब्दीका उत्तरार्ध है।

रचनाएँ

इनकी दो रचनाएँ मानी जाती हैं—१ त्रिलक्षणकदर्थन और २ पात्रकेसरी-स्तोत्र। त्रिलक्षणकदर्थनके तो मात्र उल्लेख मिलते हैं। वह उपलब्ध नहीं है। दूसरी कृति पात्रकेसरीस्तोत्र ही उपलब्ध है।

पात्रकेसरी स्तोत्र—इस स्तोत्रका दूसरा नाम 'जिनेन्द्रगुणसंस्तुति' भी है। समन्तभद्रके स्तोत्रोंके समान यह स्तोत्र भी न्यायशास्त्रका ग्रन्थ है। भ्रमवश कतिपय आलोचकोंने विद्यानन्द और पात्रकेसरीको एक व्यक्ति समझ लिया था, अतः पात्रकेसरीस्तोत्र विद्यानन्दके नामसे प्रकाशित है। परन्तु आचार्य जुगल-किशोर मुख्तारने 'स्वामी विद्यानन्द और पात्रकेसरी' शीर्षक प्रबन्धमें सप्रमाण उक्त मान्यताका खण्डन किया है।[1]

प्रस्तुत स्तोत्रमें ५० पद्य हैं। अर्हन्त भगवान्की सयोगकेवली अवस्थाका बहुत ही गवेषणापूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया है। वीतरागताका विस्तृत वर्णन करते हुए पात्रस्वामीने कहा है—

> जिनेन्द्र ! गुणसंस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता
> भवत्यखिलकर्मणां प्रहतये परं कारणम्।
> इति व्यवसिता मतिर्मम ततोऽहमत्यादरात्,
> स्फुटार्थनयपेशलां सुगत ! संविधास्ये स्तुतिम् ॥[2]

हे भगवन् ! आपके गुणोंकी जो थोड़ी भी स्तुति करता है उसके लिए वह स्तुति समस्त कार्यों में आनेवाले विघ्नोंके विध्वंसका कारण बनती है अथवा समस्त कर्मों के नाश करनेमें सक्षम है। इस निश्चयसे प्रेरित होकर मैं अत्यन्त आदरपूर्वक नयगर्भित स्फुट अर्थवाली स्तुतिको करता हूँ।

इस प्रतिज्ञावाक्यके अनन्तर आराध्यदेवकी स्तुति प्रारम्भ की है। वीत-

---

१. जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश, पृ० ६३७–६६७।

२. प्रथमगुच्छक, पन्नालाल चौधरी, भदैनी काशी, वि० सं० १९८२, पृ० २८४, पद्य १।

रागीके ज्ञान और संयमका विवेचन कई प्रकारसे किया है। वीतरागीका शासन परस्पर विरोधरहित और सभी प्राणियोंके लिए हितसाधक होता है। अर्हन्त परमेष्ठी उच्चकोटिके तत्त्वचिन्तक एव स्याद्वादनयगर्भित उपदेश देनेवाले हैं। अतएव जिसने वीतरागीकी शरण प्राप्त कर ली है, उसे रागादिजन्य वेदना व्याप्त नहीं करती। राग, द्वेष और मोह ही संसारमें भय उत्पन्न करनेवाले हैं, जिसने उक्त विकारोंको नष्ट कर दिया है, वही त्रिभुवनाधिपति होता है। समस्त आरम्भ और परिग्रहके बन्धनसे मुक्त होनेके कारण वीतरागी अर्हन्तमें ही आप्तता रहती है। एकान्तवादसे दुष्ट चित्तवाले व्यक्ति आपके आनन्त्य गुणोंकी थाह नहीं पा सकते हैं। इस सन्दर्भमें यह स्मरणीय है कि यहाँ नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक आदि मतों और उनके अभिमत आप्तकी भी समीक्षा की गयी है। सर्वज्ञसिद्धिके साथ सग्रन्थता और कवलाहारका निरसन भी किया गया है। रचना बड़ी ही भावपूर्ण और प्रौढ़ है।

२. **त्रिलक्षणकदर्थन**—इस ग्रन्थमें बौद्धों द्वारा प्रतिपादित पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षाद्व्यावृतिरूप हेतुके त्रैरूप्यका खण्डन कर 'अन्यथानुपपन्नत्व' रूप हेतुका समर्थन किया गया है। इस ग्रन्थके उद्धरण शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रह, अकलकके सिद्धिविनिश्चय तथा न्यायविनिश्चय, विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक एवं उत्तरवर्ती आचार्योंके ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं।

प्रतिभा एवं वैदुष्य—पात्रकेसरी न्यायके निष्णात विद्वान् थे। अतः इनके स्तोत्रमें भी दार्शनिक मान्यताएँ समाहित हैं। संस्कृतिके मूलस्रोत श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र ही हैं। अतः नैयायिक कवि भी प्रधानतः संस्कृतिके उन्नायक होते हैं। वे तर्कपूर्ण शैशीमें विभिन्न मान्यताओंकी समीक्षा करते हुए उन्नत विचारों और उदात्त भावोंका समावेश करते हैं। जिस आराध्यके प्रति ये श्रद्धावनत होते हैं, उसके गुणोंको दर्शनकी कसौटी पर कसकर काव्य-भावनाके रूपमें प्रस्तुत करते हैं। पात्रस्वामीमें दार्शनिक विचारोंके साथ कोमल तथा भक्तिपूरित हृदयकी अभिव्यक्ति वर्तमान है। यद्यपि दीनताकी भावना कहीं भी नहीं है तो भी अर्हन्तकी दिव्य-विभूतियोंके दर्शनसे कविके रूपमें आचार्य चकित हैं। उनकी वीतरागताके प्रति अपार श्रद्धा है। अतः भक्त कविके समान भक्तिविभोर हो आराध्यके चरणोंमें अपनेको समर्पित करनेकी इच्छा व्यक्त करते हैं। प्रमाण, हेतु, नय, और स्याद्वादका विवेचन भी सर्वत्र होता गया है।

भूत चैतन्यवादका निरसन करते हुए कविने उसके सिद्धान्तपक्षके स्फोटनमें प्रबन्धात्मकता प्रदर्शित की है। इसी प्रकार सांख्य-सिद्धान्तके प्रकृति-पुरुषवादमीमांसामें भी प्रबन्धसूत्र विद्यमान हैं। आराध्यके स्वरूपविवेचनमें कविने तर्कके साथ इतिवृत्तात्मकताका सफल निर्वाह किया है।

न मृत्युरपि विद्यते प्रकृतिमानुषस्येव ते,
मृतस्य परिनिर्वृतिर्न मरणं पुनर्जन्मवत् ।
जरा च न हि यद्वपुर्विमलकेवलोत्पत्तितः,
प्रभृत्यरुजमेकरूपमवतिष्ठते प्राङ् मृतेः[1] ।।

हे प्रभो ! साधारण मनुष्योंके समान आपकी मृत्यु भी नहीं होती है । यतः जन्ममरण होनेसे निर्वाणकी स्थिति घटित नहीं हो सकती है । अतएव न आपका पुनर्जन्म होता है, न मरण । अतएव आप जन्ममरणातीत हैं । निर्मल केवलज्ञान-की उत्पत्ति होनेसे जरा--वृद्धावस्थाजन्य कष्ट भी प्राप्त नहीं होता है । यतः वृद्धावस्थाका होना ही सम्भव नहीं है । और न कभी रोगका ही कष्ट आपको होता है । घातियाकर्मोंके नष्ट होते ही आप जन्म, जरा, मरणसे मुक्त हो जाते हैं ।

तीर्थंकरमें लौकिक अभ्युदयके साथ निःस्संगता—अपरिग्रहता भी पायी जाती है । अभ्युदय और अपरिग्रह ये दोनों विरोधी धर्म हैं । अतः एकाश्रयमें इन दोनोंका साहचर्य किस प्रकार सम्भव है ? इसी तथ्यको लेकर कविने विरोधाभास अलङ्कार द्वारा अर्हन्तके गुणोंपर प्रकाश डाला है—

सुरेन्द्रपरिकल्पितं बृहदनर्घ्यसिंहासनं[2],
तथाऽऽतपनिवारणत्रयमथोल्लसच्चामरम् ।
वशं च भुवनत्रयं निरुपमा च निःसंगता,
न संगतमिदं द्वयं त्वयि तथापि संगच्छते ।।

इन्द्र द्वारा प्रदत्त बहुमूल्य सिंहासन, आतप दूर करनेके लिये छत्रत्रय और चामर सुशोभित होते हैं । त्रिलोकको अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी आपको प्राप्त हैं । तो भी आप अपरिग्रही हैं । लक्ष्मीका सद्भाव और अपरिग्रहत्व ये दोनों विरोधी धर्म हैं, एक साथ नहीं रह सकते हैं, तो भी ये दोनों आपमें पाये जाते हैं । तात्पर्य यह है कि वीतरागी प्रभुके अन्तरंग रूपमें केवलज्ञानादि लक्ष्मी है और बहिरंगमें देवों द्वारा किये गये अतिशयोंके कारण सिंहासन, छत्र, चमर, आदि वैभव विद्यमान है । अतएव उसका अपरिग्रहत्वके साथ किसी भी प्रकार-का विरोध नहीं है ।

---

१. प्रथमगुच्छक, पात्रकेसारस्तोत्रम्, पद्य २७, पृ० २८८ ।
२. वही, पद्य ६, पृ० २८५ ।

पात्रकेसरिस्तोत्रके अध्ययनसे इनकी प्रतिभा और वैदुष्यका सहजमें परिज्ञान प्राप्त हो जाता है। कविने परस्मैपदी क्रियाओंके स्थानमें संविधास्ये[1], संगच्छते,[2] विरुध्यते[3], अश्नुते[4], उपपद्यते[5], परिपूज्यते[6], नरीनृत्यते[7], विद्यते[8], उह्यते[9], छिद्यते[10], युज्यते[11], अनुषज्यते[12], गम्यते[13] एवं चेष्टते[14] आदि आत्मनेपदी क्रियापद प्रयुक्त किये हैं। इन क्रियापदोंसे यह अनुमान होता है कि आचार्य पात्रकेसरी विविध वादोंकी समीक्षा कर स्वमतकी स्थापना करना चाहते हैं। यतः आत्मनेपदी क्रियाएँ 'स्व'को अभिव्यंजनाके लिये आती हैं। जहाँ स्तोत्रोंमें स्तोता अपने हृदयको खोलकर रख देता है और अपने समस्त दोष और आवरणोंको स्वीकार करता है वहाँ आत्मनेपदी क्रियाओंका व्यवहार किया जाता है। परस्मैपदी क्रियाएँ परस्मै-परार्थं-परबोधकं पदम्" अर्थात् जहाँ परका भाव अभिव्यक्त करना होता है वहाँ प्रायः परस्मैपदी क्रियाओंका व्यवहार किया जाता है।

जो कवि या लेखक सावधान रहकर रचना करता है वह परस्मैपदी और आत्मनेपदी क्रियाओंके भेदोंपर ध्यान रखता है। सामान्यतः जहाँ 'स्व' और 'पर'का मिश्रित भाव अभिव्यक्त करना होता है वहाँ आत्मनेपदी क्रियाएँ व्यवहारमें आती हैं।

आचार्य पात्रस्वामीका न्यायविषयपर भी अपूर्व अधिकार है। उनके त्रिलक्षणकदर्थनके न मिलनेपर भी उसके वाक्योंके ग्रन्थान्तरोंमें उपलब्ध होने तथा उपर्युक्त स्तोत्रसे न्यायविषयक परिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ स्तोत्रमे उदाहरणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है—

> न हीन्द्रियधिया विरोधि न च लिंगबुद्ध्या वचो,
> न चाप्यनुमतेन ते सुनयसप्तधा योजितम्।
> व्यपेतपरिशङ्कनं वितथकारणादर्शना-
> दतोऽपि भगवँस्त्वमेव परमेष्ठितायाः पदम्[15]॥

आचार्य जोइंदु

जैन परम्परामें 'जोइंदु' या 'योगीन्दु' एक अध्यात्मवेत्ता आचार्य हैं। इनके जीवन-वृत्तके सम्बन्धमें न तो इनके ग्रन्थोंसे सामग्री उपलब्ध होती है और न अन्य वाङ्मयसे ही। परमात्मप्रकाशमें कविने अपने नामका उल्लेख किया है

१–१४. पात्रकेसरिस्तोत्र—१, ६, १३, २२, २२, २९, २९, ३१, ३२, ३४, ३४, ३६, ४८, ४८ पद्य।

१५. वही, पद्य ११।

और अपने शिष्यका नाम भट्टप्रभाकर बताया है। पंचपरमेष्ठीको नमस्कार करनेके पश्चात् भट्टप्रभाकरने जिनदेव और योगीन्दुसे निर्मल परिणामोंकी प्राप्तिके हेतु प्रार्थना की है। यथा—

भावि पणविवि पंच-गुरु सिरि-जोइंदु-जिणाउ।
भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ[1]॥

शुद्धभावसे पंचपरमेष्ठियोंको नमस्कार कर भट्टप्रभाकर अपने परिणामोंको निर्मल करनेके हेतु योगीन्दुदेवसे शुद्धात्मतत्त्व जाननेके लिए महाभक्तिसे प्रार्थना करता है।

परमात्मप्रकाशके टीकाकार ब्रह्मदेवने अपनी संस्कृतटीकामें "जोइंदु-जिणाउ"का अर्थ योगीन्द्रदेवनामा भगवान् किया है। समयसारकी टीकामें जयसेनने 'तथा योगीन्दुदेवैरप्युक्तम्' कहकर परमात्मप्रकाशका निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया है—

"ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थें जोइया जिणवरु एउँ भणेइ[2]॥

श्रुतसागरसूरिने कुन्दकुन्दके 'चरित्तपाहुड'की टीकामें[3] 'उक्तञ्च योगीन्द्र-नामाभट्टारकेण' लिखकर परमात्मप्रकाशके निम्नलिखित पद्यको प्रस्तुत किया है—

जसु हरिणच्छी हियवडए तसु ण वि बंभु वियारि।
एक्कहिं केम समंति वढ बे खंडा पडियारिं[4]॥

इस प्रकार संस्कृतटीकाकारोंने जोइंदुको योगीन्दु नामसे अभिहित किया है और इसी नामसे ये प्रसिद्ध भी हुए हैं। योगसारमें ग्रन्थकर्त्ताका नाम योगिचन्द बताया है, जो कि जोइंदुका रूपान्तर है—

संसारह भय-भीयएण जोगिचंद-मुणिएण।
अप्पा-संबोहण कया दोहा इक्क-मणेण[5]॥

योगीन्दु योगिचन्द्रका रूपान्तर है और इसका अपभ्रंशरूप जोइंदु है।

---

१. परमात्मप्रकाश, रायचन्द्रशास्त्रमाला, दोहा १।८।

२. वही, १।६८।

३. कुन्दकुन्द, चारित्तपाहुड–गाथा–१५।

४. परमात्मप्रकाश, रायचन्द्रशास्त्रमाला, दोहा—१।१२१।

५. योगसार, रायचन्द्रशास्त्रमाला, दोहा—१०८।

प्रायः चन्द्रान्त नामोंको संक्षिप्त रूप देनेके लिए ग्रन्थकार 'इन्दु' द्वारा अभिहित करते हैं। यथा—प्रभाचन्द्रका प्रभेन्दु, शुभचन्द्रका शुभेन्दु हो गया है। इसी-प्रकार योगिचन्द्रका योगीन्दु या जोइंदु हुआ है। अतएव डॉ० ए० एन० उपाध्येका यह सुझाव सर्वथा उचित है कि परमात्मप्रकाशके रचयिताका नाम योगीन्द्र नहीं, योगीन्दु है।

जीवन-परिचय

जोइंदु कविके जीवनके सम्बन्धमें किसी भी साधनसे कोई प्रामाणिक सूचना प्राप्त नहीं होती है। परमात्मप्रकाशमें बताया गया है कि यह ग्रन्थ भट्टप्रभाकरके निमित्तसे लिखा जा रहा है। यह बात परमात्मप्रकाशके आदि और अन्तसे भी सिद्ध होती है। मध्यमें भी कई स्थलों पर भट्टप्रभाकरको सम्बोधन करते हुए कथन किया गया है। ग्रन्थकारने लिखा है—

इत्थु ण लेवउ पंडियहिं गुण-दोसु वि पुणरुत्तु।
भट्ट-पभायर-कारणइँ मइँ पुणु वि पउत्तु[1]॥

अर्थात् हे भव्यजीवों! इस ग्रन्थमें पुनरुक्त नामका दोष पण्डितजन ग्रहण नहीं करेंगे और न काव्यकलाकी दृष्टिसे ही इसका परीक्षण करेंगे। यतः मैंने प्रभाकर-भट्टको सम्बोधित करनेके लिए परमात्मतत्त्वका कथन किया है। इस कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि भट्टप्रभाकर कोई मुमुक्षु था, जिसके लिए इस ग्रन्थका प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ मुख्यरूपसे मुनियोंको लक्ष्यकर लिखा गया है। और इसके लेखक भी अध्यात्मरसिक मुनि ही हैं। अन्तिम मङ्गलके लिए आशीर्वादके रूपमें नमस्कार करते हुए लिखा है कि इस लोकमें विषयी जीव जिसे नहीं पा सकते, ऐसा यह परमात्मतत्त्व जयवन्त हो। विषयातीत वीतरागी मुनि हो इस आत्मतत्त्वको प्राप्त कर सकते हैं। जो मुनि भावपूर्वक इस परमात्मप्रकाशका चिन्तन करते हैं वे समस्त मोहको जीतकर परमार्थके ज्ञाता होते हैं। अन्य जो भी भव्यजीव इस परमात्मप्रकाशको जानते हैं वे भी लोक और अलोकका प्रकाश करनेवाले ज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं[2]। इस ग्रन्थके पठन-पाठनका फल शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति है।

उपर्युक्त कथनसे इतना स्पष्ट ज्ञात होता है कि जोइंदु मुनि थे और इनका कोई मुमुक्षु शिष्य भट्टप्रभाकर था। इसीको सम्बोधित करनेके लिए परमात्मप्रकाशकी रचना की गयी है।

---

१. परमात्मप्रकाश, रायचन्द्रशास्त्रमाला, दोहा—२।२११।

२. परमात्मप्रकाश—२।२०४-२०५।

समय-निर्णय

डॉ० ए० एन० उपाध्येने 'जोइंदु'के समयपर विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनके निष्कर्ष निम्नप्रकार हैं—

१. श्रुतसागरने चारित्तपाहुडकी टीकामें परमात्मप्रकाशके दोहे उद्धृत किये हैं।

२. चौदहवीं और बारहवीं शताब्दीमें परमात्मप्रकाशपर बालचन्द और ब्रह्मदेवने क्रमशः कन्नड़ एवं संस्कृत टीकाएँ लिखी हैं।

३. कुन्दकुन्दके समयसारके टीकाकार जयसेनने १२वी शताब्दीके उत्तरार्धमें समयसारटीकामें परमात्मप्रकाशका एक दोहा उद्धृत किया है।

४. हेमचन्द्रने मुनि रामसिंहके दोहे अपने अपभ्रंशव्याकरणमें उद्धृत किये हैं। रामसिंहने जोइंदुके योगसार और परमात्मप्रकाशसे बहुतसे दोहे ग्रहण कर अपनी रचनाको समृद्ध बनाया है। अतः जोइंदु हेमचन्द्र और रामचन्द्र दोनोंसे पूर्ववर्ती हैं।

५. देवसेनकृत तत्त्वसारके अनेक पद्य परमात्मप्रकाशके ऋणी हैं। अतः जोइंदु देवसेनसे भी पूर्ववर्ती हैं।

६. चण्डके प्राकृतलक्षणमें 'यथा तथा अनयोः स्थाने'के उदाहरणमें निम्न-लिखित दोहा प्राप्त होता है—

> काल लहेविणु जोइया जिम-जिम मोहु गलेइ।
> तिमु-तिमु दंसणु लहइ जिउ णियमे अप्पु मुणेइ[1]॥

अर्थात् जोइंदु चण्डके पूर्ववर्ती हैं। पर चण्डके समयके सम्बन्धमें अभी तक मतैक्य नहीं है। डॉ० पी० डी० गुणेका मत है कि चण्ड उस समय हुए हैं जब अप-भ्रंश भाषा केवल आभीरोंके बोलचालकी ही भाषा नहीं थी, अपितु साहित्यिक भाषा हो चुकी थी। अर्थात् ईसाकी छठीं शताब्दिके पश्चात् चण्डका समय होना चाहिए। अन्य विद्वानोंका अनुमान है कि चण्डके व्याकरणको व्यवस्थित रूप ७वीं शताब्दिमे प्राप्त हुआ है। अतएव जोइंदुका समय इसके पूर्व होना सम्भव है।

कतिपय विद्वानोंने तो प्राकृतलक्षणका समय ई० पूर्व माना है। पर यह तर्क-संगत नहीं है। यतः जोइंदुके परमात्मप्रकाश और कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंके तुलनात्मक अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि परमात्मप्रकाश कुन्दकुन्दके मोक्षप्राभृत और पूज्य-

---

१. वही, दोहा १।८५।

पादके समाधितंत्रके तुल्य है। परमात्मप्रकाश (१।१२१–१२४) में आत्माके तीन भेदोंका वर्णन है। यह वर्णन मोक्षप्राभृत (४–८) से मिलता है। सम्यक्-दृष्टि और मिथ्यादृष्टिको परिभाषाएँ भी परमात्मप्रकाश (१।७६-७७) और कुन्दकुन्दके मोक्षप्राभृत (१४-१५) में समान रूपसे पायी जाती हैं। ब्रह्मदेवने अपनी संस्कृतटीकामें ७६ और ७७वें दोहेका व्याख्यान लिखते हुए उक्त गाथाएँ उद्धृत की हैं। इस प्रकार निम्नलिखित दोहे और गाथाएँ समान भावकी हैं—

मोक्खपाहुड	परमात्मप्रकाश
२४ गाथा	१।८६ दोहा
३७ गाथा	२।१३ दोहा
५१ गाथा	२।१७६-१७७ दोहा

पूज्यपादके समाधितन्त्र और परमात्मप्रकाशकी तुलना—

समाधितन्त्र	परमात्मप्रकाश
४-५ पद्य	१।११-१४ दोहा
३१ पद्य	२।१७५; १।१२३ दोहा
६४-६६ पद्य	२।१७८-१८० दोहा
७० पद्य	१।८० दोहा

समाधितन्त्र और परमात्मप्रकाश दोनों ग्रन्थोंमें विषयगत और शैलीगत अनेक समताएँ पायी जाती हैं। वैयाकरण होनेके कारण पूज्यपादके उद्गार संक्षिप्त, परिमार्जित और व्यवस्थित हैं। पूज्यपादने समाधितन्त्रमें जिस तथ्यको संक्षेपमें प्रतिपादित किया है उस तथ्यको जोइंदुने विस्तारपूर्वक निरूपित किया है। यहाँ तुलनाके लिए कतिपय पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥
– समाधितन्त्र, पद्य-३१

जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ देउ अणंतु।
जो हउँ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु॥
—परमात्मप्रकाश, २।१७५

× × ×

जीर्णे वस्त्रे यथात्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः॥
—समाधितंत्र, पद्य–६४

जिण्णि वत्थि जेम बुहु देहु ण मण्णइ जिण्णु ।
देहिं जिण्णि णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ॥
—परमात्मप्रकाश, २।१७९

× × ×

नष्टे वस्त्रे यथात्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥
—समाधितंत्र, पद्य ६५

वत्थु पणट्ठइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठु ।
णट्ठे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ॥
—परमात्मप्रकाश, दोहा २।१८०

इस तुलनात्मक विवेचनसे निम्नलिखित तीन निष्कर्ष प्रस्तुत होते हैं—(१) जोइंदु पूज्यपाद (ई० सन् छठी शती)के उत्तरवर्ती हैं ।

(२) जोइंदु चण्डके पूर्ववर्ती हैं । यतः चण्डने इनके पूर्वोक्त दोहेको उदाहरणके रूपमें उद्धृत किया है ।

(३) अतएव जोइंदुका समय पूज्यपादके पश्चात् और चण्डके पूर्व अर्थात् छठी शतीके पश्चात् और सातवीं शतीके पूर्व ई० सन्‌की छठी शताब्दीका उत्तरार्द्ध होना चाहिए ।

रचनाएँ

परम्परासे जोइंदुके नामपर निम्नलिखित रचनाएँ मानी जाती हैं—

(१) परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश)
(२) नौकारश्रावकाचार (अपभ्रंश)
(३) योगसार (अपभ्रंश)
(४) अध्यात्मसन्दोह (संस्कृत)
(५) सुभाषिततंत्र (संस्कृत)
(६) तत्त्वार्थटीका (संस्कृत)

इनके अतिरिक्त योगीन्द्रके नामपर दोहापाहुड (अपभ्रंश), अमृताशीती (संस्कृत) और निजात्माष्टक (प्राकृत) रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं । पर यथार्थमें परमात्मप्रकाश और योगसार दो ही ऐसी रचनाएँ हैं जो निर्भ्रान्त रूपसे जोइंदुकी मानी जा सकती हैं ।

परमात्मप्रकाश

जोइंदु अध्यात्मवादी हैं, कवि नहीं । अपभ्रंशमें शुद्ध अध्यात्मविचारोंकी

ऐसी सशक्त अभिव्यक्ति अन्यत्र नहीं मिल सकती है। इनके परमात्मप्रकाशमें दो अधिकार हैं। प्रथम अधिकारमें १२६ दोहे और द्वितीयमे २१९ हैं। इन दोहोंमें क्षेपक और स्थलसंख्याबाह्यप्रक्षेपक भी सम्मिलित हैं। ब्रह्मदेवके मतानुसार परमात्मप्रकाशमें समस्त ३४५ पद्य हैं। इनमें पाँच गाथाएँ, एक स्रग्धरा और एक मालिनी हैं किन्तु इन पद्योंकी भाषा अपभ्रंश नहीं है। एक चतुष्पदिका भी है और शेष ३७७ दोहे हैं, जो अपभ्रंशमें निबद्ध हैं।

विषय-वर्णनकी दृष्टिसे प्रारम्भके सात पद्योंमें पंचपरमेष्ठीको नमस्कार किया गया है। आठवें, नवें और दसवें दोहेमें भट्टप्रभाकर जोइंदुसे निवेदन करता है—

> गउ संसारि वसंताहँ सामिय कालु अणंतु।
> पर मइँ किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महंतु ॥
> चउ-गइ-दुक्खहँ तत्ताहँ जो परमप्पउ कोइ।
> चउ-गइ-दुक्ख-विणासयरु कहहु पसाएँ सो वि ॥[1]

हे स्वामिन् ! इस संसारमें रहते हुए अनन्तकाल बीत गया, परन्तु मैंने कुछ भी सुख प्राप्त नहीं किया, प्रत्युत् महान् दुःख ही पाता रहा। अतः चारों गतियोंके दुखोंसे सन्तप्त प्राणियोंके चारों गति-सम्बन्धी दुखोंका विनाश करने-वाले परमात्माका स्वरूप बतलाइए। उत्तरमें जोइंदुने आत्माके तीन भेदोंका कथन किया है—(१) मूढ (२) विचक्षण और (३) ब्रह्म।

जो शरीरको ही आत्मा मानता है, वह मूढ है। जो शरीरसे भिन्न ज्ञानमय परमात्माको जानता है, वह विचक्षण या पण्डित है। जिसने कर्मोंका नाश कर शरीर आदि परद्रव्योंको छोड़ ज्ञानमय आत्माको प्राप्त कर लिया है वह परमात्मा है।[2]

जोइंदुके मतसे आत्मा ही परमात्मा हो जाती है। निश्चयनयसे आत्मा और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं है। जैसा निर्मल ज्ञानमय देव मुक्तिमें निवास करता है, वैसा ही परमब्रह्म शरीरमें निवास करता है। अतः दोनोंमें भेद नहीं किया जा सकता है।[3] यहाँ यह ध्यातव्य है कि जोइंदुने आत्माको ब्रह्मशब्द द्वारा अभिहित किया है, जिससे उनपर अद्वैतका प्रभाव मालूम पड़ता है।

---

१. परमात्मप्रकाश, १।९–१०।
२. वही, १।१३–१५।
३. वही, १।२६।

जोइंदुने आत्माके स्वरूप और आकारके सम्बन्धमें विभिन्न मतोंका निर्देश करते हुए जैन दृष्टिकोणके सम्बन्धमें बताया है। आत्माके सम्बन्धमें निम्न-लिखित मान्यताएँ प्रचलित हैं, आचार्यने इन मान्यताओंका अनेकान्तवादके आलोकमें समन्वय किया है—

१. आत्मा सर्वगत है।

२. आत्मा जड़ है।

३. आत्मा शरीरप्रमाण है।

४. आत्मा शून्य है।

१. कर्मबन्धनसे रहित आत्मा केवलज्ञानके द्वारा लोकालोकको जानती है, अतः ज्ञानापेक्षया सर्वगत है।

२. आत्मज्ञानमें लीन जीव इन्द्रियजनित ज्ञानसे रहित हो जाते हैं, अतः ध्यान और समाधिकी अपेक्षा जड़ है।

३. शरीरबन्धनसे रहित हुआ शुद्ध जीव अन्तिमशरीरप्रमाण ही रहता है, न वह घटता और न वह बढ़ता ही है, अतः शरीरप्रमाण है। जिस शरीरको आत्मा धारण करती है, उसी शरीरके आकारकी हो जाती है, अतएव प्रदेशके संहार और प्रसरपणके कारण आत्मा शरीरप्रमाण है।

४. मोक्ष अवस्था प्राप्त करने पर शुद्ध जीव आठों कर्मों और अठारह दोषोंसे शून्य हो जाता है, अतः उसे शून्य कहा गया है।[1]

द्वितीय अधिकारमें मोक्ष, मोक्षका फल एवं मोक्षके कारणका कथन किया गया है। प्रथम ग्यारह गाथाओंमें मोक्ष और उसके फलका कथन आया है। पश्चात् मोक्षके कारणोंका निरूपण किया गया है। 'जोइन्दु'ने भी कुन्दकुन्दके समान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको मोक्षका कारण बतलाकर इन तीनोंको निश्चयदृष्टिकी अपेक्षासे आत्मस्वरूप ही बतलाया है। इसके पश्चात् समभावकी प्रशंसा की गयी है।

जोइन्दुने पुण्य और पापकी समता बतलाते हुए लिखा है कि जो जीव पुण्य और पापको समान नहीं मानता, वह मोहके वशीभूत होकर चिरकाल तक भ्रमण करता है। इतना ही नहीं अपितु यह भी लिखा है कि वह पाप अच्छा है जो जीवको दुःख देकर मोक्षकी ओर लगाता है। इसी प्रकरणमें पुण्यकी निन्दा भी की गयी है। आगेके दोहेमें आर्यशान्तिका मत दिया गया है। इस मतमें बताया गया है कि देव, शास्त्र और मुनिवरोंकी भक्तिसे पुण्य होता

---

१. परमात्मप्रकाश १।५२–५५।

है, कर्मोंका क्षय नहीं होता, ऐसा आर्यशान्ति मानते हैं। वन्दना, निन्दा, प्रतिक्रमण आदिको पुण्यका कारण बतलाकर एकमात्र शुद्धभावको ही उपादेय बतलाया है। यतः शुद्धोपयोगीके ही संयम, शील और तप सम्भव हैं। जिसको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त हैं, उसीके कर्मोंका क्षय होता है। अतः शुद्धोपयोग ही प्रधान है। चित्तकी शुद्धिके बिना योगियोंका तीर्थाटन करना, शिष्य-प्रशिष्योंका पालन-पोषण करना सब निरर्थक है, जो जिनलिंग धारण कर भी परिग्रह रखता है, वह वमनके भक्षण करनेवालेके समान है। नग्नवेष धारण कर भी भिक्षामें मिष्टान्न भोजन या स्वादिष्ट भोजनकी कामना करना दोषका कारण है। आत्मनिरीक्षण और आत्मशुद्धि सर्वदा अपेक्षित है।

योगसार

योगसारमें १०८ दोहे हैं। वर्ण्यविषय प्रायः परमात्मप्रकाशके तुल्य ही हैं। इन दोहोंमें एक चौपाई और दो सोरठा भी सम्मिलित है। अपभ्रंश भाषामे लिखा गया यह ग्रन्थ एक प्रकारसे परमात्मप्रकाशका सार कहा जा सकता है।

इसके प्रारम्भमें भी आत्माके उन्हीं तीनों भेदोंका निरूपण आया है, जिनका परमात्मप्रकाशमें निर्देश किया जा चुका है। बताया है कि यदि जीव, तू आत्माको आत्मा समझेगा, तो निर्वाण प्राप्त कर लेगा। किन्तु यदि तू पर-पदार्थोंको आत्मा मानेगा, तो संसारमें भटकेगा ही[1]।

कुन्दकुन्दने[2] कर्मविमुक्त आत्माको परमात्मा बतलाते हुए उसे ज्ञानी, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख और बुद्ध कहा है। योगसारमें भी उसके जिन, बुद्ध, विष्णु, शिव आदि नाम बतलाये हैं। जोइन्दुने भी कुन्दकुन्दकी तरह निश्चय और व्यवहार नयोंके द्वारा आत्माका कथन किया है। योगसारमें ये दोनों ही दृष्टियाँ विशेषरूपसे विद्यमान हैं—

देहा-देवलि देउ जिणु जणु देवलिहिँ णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ[3]॥

श्रुतकेवलिने कहा है कि देव न देवालयमें है, न तीर्थोंमें। यह तो शरीर

१. योगसार, दोहा १२।
२. णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हू चउमुहो बुद्धो।
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं॥—भावपाहुड, फलटन संस्करण, गाथा १५०।
३. योगसार, गाथा ४३।

रूपी देवालयमें है, यह निश्चयसे जान लेना चाहिये। जो व्यक्ति शरीरके बाहर अन्य देवालयोंमें देवकी तलाश करते हैं, उन्हें देखकर हँसी आती है।

योगसारके अध्ययनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसका विषय क्रमबद्ध नहीं है। यह एक संग्रह जैसा है। विषयनिरूपणके लिये क्रमबद्ध शैलीका अनुसरण नहीं किया गया है। फुटकर विषयोंका संकलन जैसा प्रतीत होता है। यथा—

विरला जाणहिँ तत्तु बुह विरला णिसुणहिँ तत्तु।
विरला झायहिं तत्तु जिय विरला धारहिँ तत्तु[1]॥

विरले जन तत्त्वको समझते हैं, विरले ही तत्त्वको सुनते हैं, विरले ही तत्त्वका ध्यान करते हैं और विरले ही तत्त्वको धारण करते हैं। यह दोहा अपने स्थान पर नहीं है। खींच-तान कर क्रमबद्धता सिद्ध कर भी दी जाय, तो भी उचित स्थान पर इसका सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

९८वें संख्यक दोहेमें पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानोंके नाम गिनाये हैं। इसके आगे दोहा ९९से १०३ तक सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय संयमका स्वरूप बतलाया गया है। यहाँ यथा-ख्यातका स्वरूप छूटा हुआ है। अन्तमें बताया है कि जो सिद्ध हो चुके हैं, जो सिद्ध होंगे और जो वर्तमानमें सिद्ध हो रहे हैं, वे सब आत्मदर्शनसे ही सिद्ध हुए हैं। यही आत्मदर्शन इस ग्रन्थका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

प्रतिभा और वैदुष्य

जोइन्दु कविका अपभ्रंश भाषापर अपूर्व अधिकार है। इन्होंने अपने उक्त दोनों ग्रन्थोंमें आध्यात्मरसका सुन्दर चित्रण किया है। ये क्रान्तिकारी विचार-धाराके प्रवर्त्तक हैं। इसी कारण इन्होंने बाह्य आडम्बरका खण्डन कर आत्मज्ञान-पर जोर दिया है। कविने लिखा है—

तत्तातत्तु मुणेवि मणि जे थक्का सम-भावि।
ते पर सुहिया इत्थु जगि जहँ रइ अप्प-सहावि॥[2]

हे जीव! जिस मोहसे अथवा मोह उत्पन्न करनेवाली वस्तुसे मनमें कषाय-भाव उत्पन्न हों, उस मोहको अथवा मोह-निमित्तक पदार्थको छोड़, तभी मोह-जनित कषायके उदयसे छुटकारा प्राप्त हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि विषया-

१. योगसार, गाथा ६६।
२. परमात्मप्रकाश २।४६।

दिक सब सामग्री और मिथ्यादृष्टि पापियोंका संग सब तरहसे मोहकषायको उत्पन्न करते हैं। इससे ही मनमें कषायरूपी अग्नि दहकती रहती है, जो इसका त्याग करता है, वही सच्ची शान्ति और सुखको पाता है।

जोइन्दु कविकी अपेक्षा अध्यात्मशक्तिके निरूपक अधिक हैं। विषयासक्त जीवोंको परमात्माका दर्शन नहीं हो सकता। अतएव जिसने इस आसक्तिको दूर कर दिया है, उसीके हृदयमें परमात्माका निवास सम्भव होता है। आचार्य इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुये बतलाते हैं—

"जसु हरिणच्छी हियवडए तसु णवि बंभु वियारि।
एक्कहि केम समंति वढ बे खंडा पडियारि॥
णिय-मणि णिम्मलि णाणियहँ णिवसइ देउ अणाइ।
हंसा सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ[1]॥

जो विषयोंमें लीन है, उसे परमात्माका दर्शन नहीं हो सकता। वीतराग निर्विकल्प परमसमाधिरूप अनाकुलता ही आनन्दका कारण है। जिसके चित्तमें स्त्रीसम्बन्धी विकार है, वह शुद्धात्मामें अपनेको स्थिर नहीं कर सकता। विकारी आत्मा वक्र मानी जाती है और वक्र वस्तुमें सरलका प्रवेश नहीं हो पाता। अतएव हाव-भाव और विभ्रमसे दूषित चित्तवाला व्यक्ति ब्रह्म या आत्माका विचार नहीं कर सकता है।

ज्ञानियोंके रागादिमलरहित निज मनमें अनादि देव अराधने योग्य शुद्ध आत्मा निवास कर रही है। जिस प्रकार मानसरोवरमें हंस लीन हुआ बसता है, उसी प्रकार जो शुद्धात्मामें निवास करता है, उसीके रागादि दोष दूर होते हैं। इस प्रकार आचार्य जोइन्दुने अध्यात्मतत्त्वका निरूपण अपने दोनों ग्रन्थोंमें किया है।

जैन रहस्यवादका निरूपण रहस्यवादके रूपमें सर्वप्रथम इन्हींसे आरम्भ होता है। यों तो कुन्दकुन्द, वट्टकेर और शिवार्यकी रचनाओंमें भी रहस्यवादके तत्त्व विद्यमान हैं, पर यथार्थतः रहस्यवादका रूप जोइन्दुकी रचनाओंमें ही मिलता है। वर्गसाँने जिस रहस्यानुभूतिका स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह रहस्यानुभूति हमें इनकी रचनाओंमें प्राप्त होती है—"यदि संसारके प्रति अनासक्ति पूर्ण हो जाय और वह अपने किसी भी ऐन्द्रिय प्रत्यय द्वारा किये किसी व्यापारके प्रति चिपके नहीं, तो यही एक कलाकारकी आत्मा होगी, जैसा कि संसारने पहले देखा न होगा। वह युगपत् समानरूपसे प्रत्येक कलामें पारंगत होगा,

१. परमात्मप्र०, दोहा १।१२१,१२२।

या यों कहें कि वह 'सब'को 'एक' में परिणत कर लेगा। वह वस्तुमात्रको उसके सहज शुद्ध रूपमें देख लेगा[1]।" परमात्मप्रकाशके रहस्यवादमें आत्मानुभूति सम्बन्धी विशेषताके साथ अन्य विशेषताएँ भी पायी जाती हैं।

१. आत्मा और परमात्माके बीच पारस्परिक अनुभूतिका साक्षात्कार और दोनोंके एकत्त्वकी प्रतीति।

२. आत्मामें परमात्मशक्तिका पूर्ण विश्वास

३. ध्येय, ध्याता या ज्ञेय-ज्ञातामें एकत्वका आरोप

४. सांसारिक विषयोंके प्रति उदासीनता

५. लौकिक ज्ञानके साधन इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना ही पूर्ण सत्यको जान लेनेकी क्षमता।

६. अध्यात्मवादकी रहस्यवादके रूपमें कल्पना।

७. निश्चय और व्यवहार नयकी दृष्टियोंसे भेदाभेदका विवेचन।

८. पुण्य-पापकी समता तथा दोनोंको ही समान रूपसे त्याज्य माननेकी भावनाका संयोजन।

९. अनुभूति द्वारा रसास्वादकी प्रक्रियाका स्थापन।

इस प्रकार जोइन्दु अपभ्रंशके ऐसे सर्वप्रथम कवि हैं, जिन्होंने क्रान्तिकारी विचारोंके साथ आत्मिक रहस्यवादकी प्रतिष्ठा कर मोक्षका मार्ग बतलाया है।

वैदुष्यकी दृष्टिसे यह कहा जा सकता है कि इन्होंने कुन्दकुन्द और पूज्यपादके आध्यात्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन कर अपने ग्रन्थ-लेखनके लिये विषय-वस्तु ग्रहण की है। पूर्वाचार्योंकी मान्य परम्पराको एक नये रूपमें ही उपस्थित किया है। यही कारण है कि जोइन्दुका प्रभाव अपभ्रंशके कवियोंके साथ हिन्दीके सन्त कवियों पर भी पड़ा है। कबीरने जिस क्रान्तिकारी विचारधाराकी प्रतिष्ठा की है, उशका मूल स्रोत जोइन्दुकी रचनामें पाया जाता है।

विमलसूरि

प्राकृतके चरित-काव्यके रचयिताके रूपमें विमलसूरि पहले कवि और आचार्य हैं। इनसे पूर्व आचार्य यतिवृषभने अपने 'तिलोयपण्णत्ति' ग्रन्थमें त्रिषष्ठिशलाकापुरुषोंके माता-पिताओंके नाम, जन्मस्थान, जन्मनक्षत्र, आदि प्रमुख तथ्योंका संकलन ही किया था, पर चरितकाव्यके रूपमें उन्होंने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है। आचार्य शिवार्यने भगवती आराधनामें आराधकोंके नाम मात्र ही

१. कुमारी एवलिन अण्डरहिल दि मिस्टिक वे—पृ० १५।

दिये हैं, चरित नहीं। अतएव प्राकृतमें चरित-काव्यके रचयिताके रूपमें आचार्य विमलसूरिका स्थान सबसे आगे है। 'कुवलयमाला'में[1] इनके 'पउमचरिय'का उल्लेख होनेसे विदित होता है कि विमलसूरिका 'पउमचरिय' वि० सं० ८३५के लगभग पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुका था।

जीवन-परिचय

विमलसूरिने ग्रन्थान्तमें अपनी प्रशस्ति अंकित की है। इस प्रशस्तिके अनुसार ये आचार्य राहुके प्रशिष्य, विजयके शिष्य और 'नाइल कुल'के वंशज थे। नाइल कुलके सम्बन्धमें मुनि कल्याणविजयजीका अनुमान है[2] कि नाइल कुल नागिल कुल अथवा नगेन्द्र कुल है। इसका अस्तित्व १२वीं शताब्दी तक प्राप्त होता है। १२वींसे १५वीं शताब्दी तक यह नगेन्द्र गच्छके नामसे प्रसिद्ध रहा है। इस गच्छके आचार्य एकान्तः संप्रदायका अनुकरण नहीं करते थे। इनके विचार उदार रहते थे।

यही कारण है कि विद्वानोंने इन्हें यापनीय संघका अनुयायी माना है। लिखा है कि विमलसूरिकी दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंके प्रति उदारताका मुख्य कारण उनका यापनीय संघका अनुयायी होना है। श्री बी० एम० कुलकर्णीने[3] निष्कर्ष निकाला है कि आचार्य विमलसूरि यापनीय संघके थे।

यापनीय संघका साहित्य पर्याप्त मात्रामें प्राप्त होता है। यह सम्प्रदाय दर्शनसारके कर्त्ता देवसेन सूरिके[4] अनुसार वि० सं० २०५में स्थापित प्रतीत होता है। कदम्ब, राष्ट्रकूट और दूसरे वंशके राजाओंने इस संघको भूमि इत्यादि दानमें दी है। श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरिने भी अपने ललितविस्तर ग्रंथमें यापनीय तन्त्रका सम्मान पूर्वक उल्लेख किया है। यापनीय संघका अस्तित्व विक्रमकी १५वीं शताब्दी तक प्राप्त होता है। कागबाड़ेके अभिलेखसे यापनीय संघके धर्मकीर्ति और नागचन्द्रके समाधि ले लेनेका उल्लेख आया है। अतः बहुत सम्भव है कि विक्रमकी १५वीं-१६वीं शताब्दीके पश्चात् इस संघका लोप हुआ होगा। बेलगाँवके दोडवस्ती अभिलेखसे यह ज्ञात होता है कि यापनियों द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा दिगम्बरों द्वारा पूजी जाती थी। अतः यह माना जा सकता है कि यापनीय संघके आचार्य दिगम्बरोंमें प्रतिष्ठित या मान्य थे।

---

१. कुवलयमाला, अनुच्छेद ६, पृ० ४।

२. पउमचरियं, प्रथम भाग, सम्पादक, डॉ० हर्मन जेकोबी, इन्ट्रोडक्शन, पृ० १५।

३ वही, पृ० १८।

४. कल्लाणे वरणयरे दुण्णिसए पंचउत्तरे जादे।
जावणियसंघभावो सिरिकलसादो हु सेवडदो॥—दर्शनसार, गाथा २९।

यही कारण है कि विमलसूरिने 'पउमचरियं'में दिगम्बर परम्पराके अनुसार तथ्योंका समावेश किया है। लेखकने कथाकी उत्थानिका श्रेणिकके प्रश्नोत्तर द्वारा ही उपस्थित की है, जो कि दिगम्बराचार्योंकी विशेषता है। इसके अतिरिक्त अन्य तथ्य भी दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार समाविष्ट हैं। यथा—

१. महावीरका अविवाहित रहना
२. त्रिसलाके गर्भमें महावीरका आना
३. स्थावरकायके ५ भेदोंकी मान्यता
४. चौदह कुलकरोंकी मान्यता
५. चतुर्थ शिक्षाव्रतमें समाधिमरणका ग्रहण
६. ऋषभ द्वारा अचेलक व्रतका अपनाया जाना
७. सात नरक और सोलह स्वर्गोंकी मान्यता
८. स्त्रीमुक्तिके सम्बन्में मौन
९. केवलीके कवलाहारका अभाव
१०. अष्टद्रव्यद्वारा पूजनविधि

इनके अतिरिक्त श्वेताम्बर मान्यताएँ भी इस ग्रन्थमें उपलब्ध हैं। दिगम्बर मान्यताके सोलह स्वप्नोंके स्थानपर चौदह स्वप्नोंका माना जाना, भरत चक्रवर्तीके ९६ हजार रानियोंके स्थानपर ६४ हजार रानियोंकी कल्पना, आशीर्वादके रूपमें गुरुओं या मुनियों द्वारा धर्मलाभ शब्दका प्रयोग किया जाना आदि ऐसे तथ्य हैं, जिनसे श्वेताम्बर मान्यताकी पुष्टि होती है। वस्तुस्थिति यह है कि विमलसूरिने रामकथाका वह रूप अंकित किया है, जो दिगम्बर श्वेताम्बर दोनोंको अभिप्रेत है। संक्षेपमें विमलसूरि यापनीय सम्प्रदायके अनुयायी हैं।

समय-निर्धारण

विमलसूरिने 'पउमचरियं' की प्रशस्तिमें अपने समयका अंकन किया है। उसके आधारपर इनका समय ई० सन् प्रथम शती है, पर ग्रन्थके अन्तःपरीक्षणसे यह समय घटित नहीं होता है। अतः जैकोबी और अन्य विद्वानोंने इनका समय ई० सन् चौथी, पाँचवीं शताब्दी माना है।

विमलसूरिके 'अउमचरिय'के आधार पर रविषेणने संस्कृत 'पद्मचरितं' की रचना की है और इसका रचनाकाल ई० सन् ७वीं शताब्दी है। अतः विमलसूरिका समय ७वीं शताब्दीके पूर्व होना चाहिये। विमलसूरिने जिस परिमार्जित महाराष्ट्री प्राकृतका प्रयोग इस ग्रन्थमें किया है, भाषाका वह रूप ई० सन्

द्वितीय शताब्दीके पश्चात्‌का ही है। अतएव भाषा और शैलीकी दृष्टिसे विमलसूरिके समयकी पूर्वावधि ई० सन् द्वितीय शताब्दी मानी जा सकती है। इस ग्रन्थमें उज्जैनके स्वतन्त्र राजा सिंहोदरका उल्लेख आया है, जिसका दशपुरके भृत्यराजाके साथ युद्ध हुआ था। यह इस ग्रन्थको ई० सन् दूसरी शतीके पूर्वका सिद्ध नहीं करता है। यतः यह युद्ध महाक्षत्रिपोंकी ओर संकेत करता है। श्रीशैल और श्रीपर्वतवासियोंका उल्लेख तृतीय शतीके आन्ध्र देशके श्रीपर्वतीय इक्ष्वाकु राजाओंका स्मरण कराता है। आनन्द लोगोंका उल्लेख तीसरी-चौथी शतीके आनन्दवंशकी ओर संकेत करता है। दीनारका निर्देश भी इस रचनाको गुप्तकालीन सिद्ध करता है। अपभ्रंश भाषाका प्रभाव और उत्तरकालीन छन्दोंका प्रयोग इस रचनाको तीसरी-चौथी शताब्दीका सिद्ध करता है। जैकोबी ने भी यही समय माना है। अतएव संक्षेपमें विमलसूरिका समय ई० सन् चौथी शताब्दीके लगभग मानना चाहिये।

रचनाएँ

विमलसूरिकी दो रचनाएँ मानी जाती रही हैं, 'पउमचरियं' और 'हरिवंसचरियं'। पर अब कुछ विद्वान् 'हरिवंसचरियं'को विमलसूरिकी रचना नहीं मानते हैं। उनका अभिमत है कि विमलसूरिकी एक ही रचना है 'पउमचरियं', यह दूसरी रचना भ्रान्तिवश ही उनकी मान ली गयी है।

पउमचरिय

इस ग्रन्थमें ११८ सर्ग हैं और सात अधिकारोंमें समस्त कथावस्तु अंकित है। स्थिति, वंशसमुत्पत्ति, प्रस्थान, लवांकुशोत्पत्ति, निर्वाण और अनेक भव इन सात अधिकारोंका निर्देश किया गया है और समस्त रामकथाका समावेश इन सात अधिकारोंमें ही किया है।

कथावस्तु—अयोध्या नगरीके अधिपति महाराज दशरथकी अपराजिता और अमित्रा दो रानियाँ थीं। एक समय नारदने दशरथसे कहा कि आपके पुत्र द्वारा सीताके निमित्तसे रावणका वध होनेकी भविष्यवाणी सुनकर विभीषण आपको मारने आ रहा है। नारदसे इस सूचनाको प्राप्त कर दशरथ छद्मवेशमें राजधानी छोड़कर चले गये। संयोगवश कैकयीके स्वयंवरमें पहुँचे। कैकयीने दशरथका वरण किया, जिससे अन्य राजकुमार रुष्ट होकर युद्ध करनेके लिए तैयार हो गये। युद्धमें दशरथके रथका संचालन कैकयीने बड़ी कुशलताके साथ किया, जिससे दशरथ विजयी हुए। अतः प्रसन्न होकर दशरथने कैकयीको एक वरदान दिया।

अपराजिताके गर्भसे एक पुत्रका जन्म हुआ, जिसका मुख पद्म जैसा सुन्दर होनेसे पद्म नाम रखा गया। इनका दूसरा नाम राम है, जो पद्मकी अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध है। इसी प्रकार सुमित्रासे लक्ष्मण और कैकयीके गर्भसे भरतका जन्म हुआ।

एक बार राम—पद्म अर्ध-बर्बरोंके आक्रमणसे जनककी रक्षा करते हैं, जनक प्रसन्न हो अपनी औरस पुत्री सीताका सम्बन्ध रामके साथ तय करते हैं। जनकके पुत्र भामण्डलको शैशवकालमें ही चन्द्रगति विद्याधर हरण कर ले जाता है। युवा होने पर अज्ञानतावश सीतासे उसे मोह उत्पन्न हो जाता है। चन्द्रगति जनकसे भामण्डलके लिये सीताकी याचना करता है। जनक असमंजसमें पड़ जाते हैं और सीता स्वयंवरमें धनुषयज्ञ रचते हैं। सीताके साथ रामका विवाह हो जाता है।

दशरथ रामको राज्य देकर भरत सहित दीक्षा धारण करना चाहते हैं। कैकयी भरतको गृहस्थ बनाये रखनेके हेतु वरदान स्वरूप दशरथसे भरतके राज्याभिषेककी याचना करती है, दशरथ भरतको राज्य देनेके लिये तैयार हो जाते हैं। भरतके द्वारा आनाकानी करने पर भी राम उन्हें स्वयं समझा-बुझाकर राज्याधिकारी बनाते हैं और स्वयं अपनी इच्छासे लक्ष्मण तथा सीताके साथ वन चले जाते हैं। दशरथ श्रमणदीक्षा धारण कर तप करने लगते हैं। इधर अपराजिता और सुमित्रा अपने पुत्रके वियोगसे बहुत दुःखी होती हैं। कैकयीसे यह देखा नहीं जाता, अतः वह पारियात्र वनमें जाकर उनको लौटानेका प्रयत्न करती है, पर राम अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहते हैं।

जब राम दण्डकारण्य वनमें पहुँचते हैं, तो लक्ष्मणको एक दिन तलवारकी प्राप्ति होती है। उसकी शक्तिकी परीक्षाके लिये वे एक झुरमुटको काटते हैं। असावधानीसे शंबुककी हत्या हो जाती है, जो कि उस झुरमुटमें तपस्या कर रहा था। शंबुककी माता चन्द्रनखा, जो रावणकी बहन थी, पुत्रकी खोजमें वहाँ आ जाती है। वह राजकुमारोंको देखकर प्रथमतः क्षुब्ध होती है, पश्चात् उनके रूपसे मोहित होकर वह दोनों भाइयोंमेंसे किसी एकको अपना पति बननेकी याचना करती है। राम-लक्ष्मण द्वारा चन्द्रनखाका प्रस्ताव ठुकराये जाने पर वह क्रुद्ध होकर अपने पति खरदूषणको उल्टा-सीधा समझाकर उनके वधके लिये भेजती है। इधर रावण भी अपने बहनोईकी सहायताके लिये वहाँ पहुँचता है। रावण सीताके सौन्दर्य पर मुग्ध हो राम और लक्ष्मणकी अनुपस्थितिमें सीताका हरण कर लेता है। खरदूषणको मारनेके अनन्तर राम सीताको न पाकर बहुत दुःखी होते हैं। उसी समय एक विद्याधर विराधित रामको

अपनी पैतृक राजधानी पातालपुर लंकामें ले जाता है, जिसे खरदूषणने विराधितके पिताका वध कर छीन लिया था।

सुग्रीव अपनी पत्नी ताराको विटसुग्रीवके चंगुलसे बचानेके लिये रामकी शरणमें जाता है और राम सुग्रीवके शत्रु विटसुग्रीवको पराजित कर वानरवंशी सुग्रीवका उपकार करते हैं। लक्ष्मण सुग्रीवकी सहायतासे रावणका वध करते हैं। सीताको साथ लेकर राम लक्ष्मण सहित अयोध्या लौट आते हैं।

अयोध्या लौटने पर कैकयी और भरत दीक्षा धारण करते हैं। राम स्वयं राजा न बनकर लक्ष्मणको राज्य देते हैं। कुछ समय पश्चात् सीता गर्भवती होती है, पर लोकापवादके कारण राम उनका निर्वासन करते हैं। संयोगवश पुंडरीकपुरका राजा सीताको भयानक अटवीसे ले जाकर अपने यहाँ बहनकी तरह रखता है। वहाँ पर लवण और अंकुशका जन्म होता है। वे देशविजय करनेके पश्चात् अपने दुःखका बदला लेनेके लिये राम पर चढ़ाई करते हैं, और अन्तमें पिताके साथ उनका प्रेमपूर्वक समागम होता है। सीताकी अग्नि-परीक्षा होती है जिसमें वह निष्कलंक सिद्ध होती है और उसी समय साध्वी बन जाती है। लक्ष्मणकी अकस्मात् मृत्यु हो जाने पर राम शोकाभिभूत हो जाते हैं और भ्रातृमोहमें उनका शव उठाकर इधर-उधर भटकते हैं, तब वे दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं और कठोर तप करके निर्वाण प्राप्त करते हैं।

समीक्षा—इस चरितकाव्यमें पौराणिक प्रबन्ध और शास्त्रीय प्रबन्ध दोनोंके लक्षणोंका समावेश है। वाल्मीकि रामायणकी कथावस्तुमें किंचित् संशोधन कर यथार्थ बुद्धिवादकी प्रतिष्ठा की है। राक्षस और वानर इन दोनोंको नृवंशीय कहा है। मेघवाहनने लंका तथा अन्य द्वीपोंकी रक्षा की थी अतः रक्षा करनेके कारण उसके वंशका नाम राक्षस वंश प्रसिद्ध हुआ। विद्याधर राजा अमरप्रभने अपनी प्राचीन परम्पराको जीवित रखनेके लिए महलोंके तोरणों और ध्वजाओं पर वानरोंकी आकृतियाँ अंकित करायी थीं तथा उन्हें राज्यचिह्नकी मान्यता दी, अतः उसका वंश वानरवंश कहलाया। ये दोनों वंश दैत्य और पशु नहीं थे, बल्कि मानवजातिके ही वंशविशेष थे। इसी प्रकार इन्द्र, सोम, वरुण इत्यदि देव नहीं थे, बल्कि विभिन्न प्रान्तोंके मानववंशी सामन्त थे। रावणको उसकी माताने नौ मणियोंका हार पहनाया, जिससे उसके मुखके नौ प्रतिबिम्ब दृश्यमान होनेके कारण पिताने उसका नाम दशानन रखा।

इसी प्रकार हनुमान विद्याधर राजा प्रह्लादके पुत्र पवनञ्जय और उनकी पत्नी अंजना सुन्दरीके औरस पुत्र थे। सूर्यको फल समझकर हनुमान द्वारा

ग्रसित किये जानेका वृतान्त इस चरितकाव्यमें नहीं है। हनुरुहपुरमें जन्म होनेके कारण उनका नाम हनुमान रखा गया था।

सीताकी उत्पत्ति भी हलकी नोकसे भूमि खोदे जाने पर नहीं हुई है। वह तो राजा जनक और उनकी पत्नी विदेहाकी स्वाभाविक औरस पुत्री थी।

हनुमान कोई पर्वत उठाकर नहीं लाये। वे विशल्या नामक एक स्त्री चिकित्सकको घायल लक्ष्मणकी चिकित्साके लिए सम्मानपूर्वक लाये थे।

चरितकाव्यका सबसे प्रधान गुण नायकके चरित्रका उत्कर्ष दिखलाना है। दशरथ द्वारा भरतको राज्य देनेका समाचार सुनकर राम अपने पिताको धैर्य देते हुए कहते हैं कि पिताजो आप अपने वचनकी रक्षा करें। मैं नहीं चाहता कि मेरे कारण आपका लोकमें अपयश हो। जब भरत राज्य ग्रहण करनेमें आनाकानी करते हैं, तब राम उन्हें अपने पिताको विमल कीर्ति बनाये रखने और माताके वचनकी रक्षा करनेका परामर्श देते हैं। जब भरत अनुरोध स्वीकार नहीं करते, तो राम स्वयं ही अपनी इच्छासे वन चले जाते हैं। यह नायककी स्वाभाविक उदारताका निदर्शन है। युद्धके समय जब विभीषण रामसे कहता है कि विद्यासाधनामें ध्यानमग्न रावणको क्यों नहीं बन्दी बना लिया जाए, तब राम क्षात्रधर्म बतलाते हुए कहते हैं कि धर्म-कर्त्तव्यमें लगे व्यक्तिको धोखेसे बन्दी बनाना अनुचित है। परिस्थितिवश लोकापवादके भयसे राम सीताका निर्वासन करते हैं। किन्तु सीताके अग्निपरीक्षाके अनन्तर राम बहुत पछताते हैं और क्षमा याचना करते हैं।

रावण स्वयं धार्मिक और व्रती पुरुष अंकित किया गया है। सीताकी सुन्दरता पर मोहित होकर रावणने अपहरण अवश्य किया, किन्तु सीताकी इच्छाके विरुद्ध उसपर कभी बलात्कार करनेकी इच्छा नहीं की। जब मन्दोदरीने बलपूर्वक सीताके साथ दुराचार करनेकी सलाह रावणको दी, तो उसने उत्तर दिया—"यह संभव नहीं है, मेरा व्रत है कि मैं किसी भी स्त्रीके साथ उसकी इच्छाके विरुद्ध बलात्कार नहीं करूँगा"। वह सीताको लौटा देना चाहता था, किन्तु लोग कायर न समझ लें, इस भयसे नहीं लौटाता। उसने मनमें निश्चय किया था कि युद्धमें राम और लक्ष्मणको जीतकर परम वैभवके साथ सीताको वापस करूँगा। इससे उसकी कीर्त्तिमें कलंक नहीं लगेगा और यश भी उज्जवल हो जायगा। रावणकी यह विचारधारा रावणके चरित्रको उदात्तभूमि पर ले जाती है। वास्तवमें विमलसूरिने रावण जैसे पात्रोंके चरित्रको भी उन्नत दिखलाया है।

दशरथ रामके वियोगमें अपने प्राणोंका त्याग नहीं करते, बल्कि निर्भय-वीरकी तरह दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण करते हैं। कैकेयी ईर्ष्यावश भरतको राज्य नहीं दिलाती, किन्तु पति और पुत्र दोनोंको दीक्षा ग्रहण करते देखकर उसको मानसिक पीड़ा होती है। अतः वात्सल्यभावसे प्रेरित हो अपने पुत्रको गृहस्थीमें बाँध रखना चाहती है। राम स्वयं वन जाते हैं, वे स्वयं भरतको राजा बनाते हैं। रामके वनसे लौटनेके पश्चात् कैकयी प्रव्रजित हो जाती है और रामसे कहती है कि भरतको अभी बहुत कुछ सीखना है। भरतके दीक्षित हो जानेपर वह घरमें नहीं रह पाती, इसी कारण शान्तिलाभके लिए वह दीक्षित होती है। इस प्रकार 'पउमचरियं" के सभी पात्रोंका उदात्त चरित्र अंकित किया गया है।

यह प्राकृतका सर्वप्रथम चरित महाकाव्य है। इसकी भाषा महाराष्ट्रीय प्राकृत है, जिसपर यत्र-तत्र अपभ्रंशका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भाषामें प्रवाह तथा सरलता है। वर्णनानुकूल भाषा ओज, माधुर्य और प्रसाद गुणसे युक्त होती गयी है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिङ्ग, श्लेष आदि अलंकारोंका प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। वर्णन संक्षिप्त होनेपर भी मार्मिक है, जैसे दशरथके कंचुकीकी वृद्धावस्था, सीताहरणपर रामका क्रन्दन, युद्धके पूर्व राक्षस सैनिकों द्वारा अपनी प्रियतमाओंसे विदा लेना, लंकामें वानर सेनाका प्रवेश होनेपर नागरिकोंकी घबड़ाहट और भागदौड़, लक्ष्मणकी मृत्युसे रामकी उन्मत्त अवस्था आदि। माहिष्मतीके राजाकी नर्मदामें जलक्रीड़ा तथा कुलाङ्गनाओं द्वारा गवाक्षोंसे रावणको देखनेका वर्णन भी मनोहर है।

समुद्र, वन, नदी, पर्वत, सूर्योदय, सूर्यास्त, ऋतु, युद्ध आदिके वर्णन महाकाव्योंके समान हैं। घटनाओंकी प्रधानता होनेके कारण वर्णन लम्बे नहीं हैं। भावात्मक और रसात्मक वर्णनोंकी कमी नहीं है।

इस चरित-महाकाव्यकी निम्न प्रमुख विशेषताएँ हैं—

(१) कृत्रिमताका अभाव।
(२) रस, भाव और अलंकारोंकी स्वाभाविक योजना।
(३) प्रसंगानुसार कर्कश या कोमल ध्वनियोंका प्रयोग।
(४) भावाभिव्यक्तिमें सरलता और स्वाभाविकताका समावेश।
(५) चरितोंकी तर्कसंगत स्थापना।
(६) बुद्धिवादकी प्रतिष्ठा।
(७) उदात्तताके साथ चरितोंमें स्वाभाविकताका समवाय।
(८) कथाके निर्वाहके लिये मुख्य कथाके साथ अवान्तर कथाओंका प्रयोग।

(९) महाकाव्योचित गरिमाका पूर्ण निर्वाह।
(१०) सौन्दर्यके उपकरणोंका काव्यत्ववृद्धिके हेतु प्रयोग।
(११) आर्यजीवनका अकृत्रिम और साङ्गोपाङ्ग वर्णन।
(१२) सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियोंपर पूर्ण प्रकाश।

आचार्य ऋषिपुत्र

जैनाचार्य ऋषिपुत्र ज्योतिषके प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके वंशादिकका सम्यक् परिचय नहीं मिला है। इतना ही पता चला है कि ये जैनाचार्य गर्गके पुत्र थे। गर्ग ज्योतिषशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् हैं। इनका एक ग्रन्थ खुदाबख्श-खाँ पब्लिक लाइब्रेरी पटनामें 'पाशकेवली' नामका है। ग्रन्थ तो अशुद्ध है, पर विषयकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमें बताया है—

जैन आसीज्जगद्वंद्यो गर्गनामा महामुनिः।
तेन स्वयं निर्णीते यं सत्पाशात्रकेवली॥
एतज्ज्ञानं महाज्ञानं जैनर्षिभिरुदाहृतम्।
प्रकाश्य शुद्धशीलाय कुलीनाय महात्मना॥

"शनैऽगुहृलिकां दत्त्वा पूजापूर्वकमघवाकुमारीं भव्यास्थासने स्थापयित्वा पाशको ढालाप्यते पश्चाच्छुभाशुभं ब्रवीति—इति गर्गनामामहर्षिविरचितः पाशकेवली सम्पूर्णः"।

इन पंक्तियोंसे स्पष्ट है कि गर्गाचार्य ज्योतिषशास्त्रके विशेषज्ञ थे। सम्भव है कि इन्हींके वंशमें आचार्य ऋषिपुत्र उत्पन्न हुए हों। जैनेतर ज्योतिष ग्रन्थ 'वाराहिसंहिता' और 'अद्भुत सागर'में इनके वचन उद्धृत हैं। इससे इनकी विद्वत्तापर प्रकाश पड़ता है। आचार्य ऋषिपुत्रके वचन वाराहसंहिताकी भट्टोत्पलि-टीकामें भी उद्धृत हैं। अतः इनकी प्रसिद्धिका भी इसीसे अनुमान होता है।

भट्टोत्पलि-टीकामें इनकी गणना ज्योतिषके प्राचीन आचार्य आर्यभट्ट, कणाद, काश्यप, कपिल, गर्ग, पाराशर, बलभद्र और भद्रबाहुके साथ की गयी है। इससे ऋषिपुत्र प्राचीन एवं प्रभावक आचार्य ज्ञात होते हैं। सम्भवतः गर्गके पुत्र होनेके कारण ही ये ऋषिपुत्र कहे गये हैं। इनका निवासस्थान उज्जैनीके आस-पास ही प्रतीत होता है। Catalogus catalagorum में ऋषिपुत्र-संहिताका भी उल्लेख आया है। मदनरत्न नामक ग्रन्थमें भी ऋषिपुत्र-संहिताका कथन प्राप्त होता है। इन्हें निमित्तशास्त्र, शकुनशास्त्र तथा ग्रहोंकी स्थिति द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान कालीन फल, भूशोधन, दिक्शोधन, शल्यो-

द्वार, मेलापक, आयाद्यानयन, गृहोपकरण, गृहप्रवेश, उल्कापात, गन्धर्वनगर एवं ग्रहोंके उदयास्तका फल आदि बातोंका प्रतिपादक कहा गया है। ऋषिपुत्रने अपने निमित्तशास्त्रमें जिन तत्त्वोंका उल्लेख किया है या जो गणितके संकेत दिये हैं, उज्जयिनीके रेखांश और अक्षांश द्वारा घटित होते हैं। अतएव इनका जन्मस्थान उज्जयिनी होना सम्भव है।

भट्टोत्पलि-टीकामें राहुचारके प्रतिपादन-सन्दर्भमें ऋषिपुत्रके वचन निम्न प्रकार उद्धृत मिलते हैं—

यावतोंऽशान् ग्रसित्वेन्दोरुदयत्यस्तमेति वा।
तावतोंऽशान् पृथिव्यास्तु तम एव विनाशयेत्॥
उदयेऽस्तमये वापि सूर्यस्य ग्रहणं भवेत्।
तदा नृपभयं विद्यात् परचक्रस्य चागमम्॥
चिरं गृह्णाति सोमार्कों सर्वं वा ग्रसते यदा।
हन्यात् स्फीतान् जनपदान् वरिष्ठांश्च जनाधिपान्॥
ग्रैष्मेण तत्र जीवन्ति नराश्चाम्बुफलेन वा।
भयदुर्भिक्षरोगैश्च सम्पीड्यन्ते प्रजास्तथा॥

—सवि० बृ० पृ० १३४-१३५

उपर्युक्त पद्य आचार्य ऋषिपुत्रके नामसे अद्भुतसागरके "राहोरद्भुतवार्त्तः" नामक अध्यायमें 'अथ चिरग्रासर्वग्रासयोः फलम् तत्र ऋषिपुत्रः' लिखकर दो स्थानोंपर उद्धृत किये गये हैं। इन श्लोकोंमें "शस्यैर्न तत्र जीवन्ति नरा मूलफलोदकैः" इतना पाठ और अधिक मिलता है। इन्हीं पद्योंसे मिलता-जुलता वर्णन इनके "प्राकृतनिमित्तशास्त्र"में है, पर वहाँकी गाथाएँ छाया नहीं हैं। अतः इतना स्पष्ट है कि ऋषिपुत्रके ज्यौतिषविषयक ग्रन्थोंका प्राचीन भारतमें पर्याप्त प्रचार रहा है। उनके उत्तरकालीन आचार्योंने इनके सिद्धान्तोंको अपने ग्रन्थोंमें उद्धृत कर अपने वचनोंकी प्रामाणिकता घटित की है।

समय-निर्धारण

आचार्य ऋषिपुत्रके समय-निर्धारणमें भारतीय ज्यौतिषशास्त्रके संहितासम्बन्धी इतिहाससे बहुत सहायता मिलती है, क्योंकि यह परम्परा शक संवत् ४०० से विकसित रूपमें प्राप्त है। वराहमिहिरने (शक संवत् ४२७, ई० सन् ४४८) बृहज्जातकके २६वें अध्यायके ५वें पद्यमें कहा है—"मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार।" इस उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि 'वराहमिहिर'के पूर्व होरा और संहिता सम्बन्धी ग्रन्थराशि वर्त्तमान थी। यही

कारण है कि बृहज्जातकमें मय, यवन, विष्णुगुप्त, देवस्वामी, सिद्धसेन, जीवशर्मा एवं सत्याचार्य आदि कई महर्षियोंके वचनोंकी समीक्षा की गयी है। संहिताशास्त्रकी प्रौढ़ रचनाएँ वराहमिहिरसे आरम्भ होती हैं। वराहमिहिरके बाद कल्याणवर्माने शक संवत् ५०० के आस-पास सारावली नामक होरा ग्रन्थ बनाया, जिसमें उन्होंने वराहमिहिरके समान अनेक आचार्यों के नामोल्लेखके साथ कनकाचार्य और देवकीर्त्तिराजका भी उल्लेख किया है। संहिता-सम्बन्धी अनेक विषय भी सारावलीमें पाये जाते हैं। इस युगमें अनेक जैन एवं जैनेतर आचार्योंने संहितासम्बन्धी प्रौढ़ रचनाएँ लिखी हैं। इन रचनाओंकी परस्पर तुलना करने पर प्रतीत होगा कि इनमें एकका दूसरे ग्रन्थपर पर्याप्त प्रभाव है। कई विषय समानरूपमें प्रतिपादित किये गये हैं। उदाहरणके लिए गर्ग, वराहमिहिर और ऋषिपुत्रके एक-एक पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

शशिशोणितवर्णाभो, यदा भवति भास्करः।
तदा भवन्ति संग्रामा, घोरा रुधिरकर्दमाः॥

—गर्ग

शिशिरुधिरनिभे भानौ नभःस्थले भवन्ति संग्रामाः।

—वराहमिहिर

ससिलोहिवण्णहोवरि संकुण इत्ति होइ णायव्वो।
संगामं पुण घोरं खग्गं सूरो णिवेदेई॥

—ऋषिपुत्र

इसी प्रकार चन्द्रमा द्वारा प्रतिपादित किये गये फलमें भी समानता है। ऋषिपुत्र निमित्तशास्त्रका चन्द्रप्रकरण संहिताके चन्द्राचार अध्यायसे प्रायः मिलता-जुलता है। इस प्रकारके फल प्रतिपादनकी प्रक्रिया शक संवत्की ५-६वीं शताब्दीमें प्रचलित थी। वृद्धगर्गके अनेक पद्य ऋषिपुत्रके निमित्तशास्त्रसे मिलते-जुलते हैं।

कृष्णे शरीरे सोमस्य शूद्राणां वधमादिशेत्।
पीते शरीरे सोमस्य वैश्यानां वधमादिशेत्॥
रक्ते शरीरे सोमस्य राज्ञां च वधमादिशेत्।

—वृद्धगर्ग

विप्पाणं देइ भयं वाहिरण्णो तहा णिवेदेई।
पीलो रेखत्तियणासं धूसरवण्णो य वयसाणं॥३८॥
किण्हो सुद्दविणासो चित्तलवण्णो य हवइ पयहेऊ।
दहिखीरसंखवण्णो सव्वम्हि य पाहिदो चंदो॥३९॥

—ऋषिपुत्र निमित्तशास्त्र

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचनका तात्पर्य यही है कि संहिताकालकी प्रायः सभी रचनाएँ विषयकी दृष्टिसे समान हैं। इस कालके लेखकोंने नवीन बातें बहुत कम कहीं हैं। फलप्रतिपादनकी प्रणाली गणितपर आश्रित न होनेके कारण बाह्य निमित्ताधीन रही है। इस कालके ग्रन्थोंमें भौम, दिव्य और अन्तरिक्ष, इन तीन प्रकारके निमित्तोंका विशेषरूपसे वर्णन किया है। यथा—

दिव्यान्तरिक्षं भौमं तु त्रिविधं परिकीर्त्तितम्।

अद्भुतसागर पृ० ६

वाराहीसंहितामें इन तीनों निमित्तोंके सम्बन्धमें लिखा है कि "भौमं चिर-स्थिरभवं तच्छान्तिभिराहतं शममुपैति। नामसममुपैति मृदुतां क्षरति न दिव्यं वदन्त्येके"॥ इसी प्रकार आचार्य ऋषिपुत्रने—"जे दिट्ठ भुविरसण्ण जे दिट्ठा कुहमेणकत्ताणं। सदसंकुलेन दिट्ठा वऊसट्ठिय एण णाणधिया"॥ इत्यादि लिखा है। अतएव संहिताकालकी उक्त रचनाओंके अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि ई० सन् ५वीं–६ठी शतीमें ऋषिपुत्रने अपना निमित्तशास्त्र लिखा होगा। निमित्तशास्त्रके अतिरिक्त संस्कृतमें भी इनकी कोई संहिताविषयक रचना रही है, जिसके उद्ध-रण भट्टोत्पली, अद्भुतसागर, शकुनसारोद्धार, वसन्तराजशाकुन प्रभृति ग्रन्थों-में पाये जाते हैं। इन ग्रन्थोंका रचनाकाल और संकलनकाल ई० सन् दशवीं-ग्यारहवीं शती है। अतएव ऋषिपुत्रके समयकी अवधि दशवीं शती सम्भव है। गर्गाचार्य और ऋषिपुत्रकी रचनाओंमें समता रहनेके कारण इनके समयकी निचली अवधि ई० सन् पाँचवीं शती है। इसी प्रकार वराहमिहिरकी रचनाओंके साथ समता रहनेसे भी पञ्चम शती समय आता है।

ऋषिपुत्रका समय ज्ञात करनेके लिए एक अन्य प्रमाण यह है कि अद्भुत-सागरमें ऋषिपुत्रके नामसे कुछ पद्य प्राप्त होते हैं, जिससे उनका वराहमिहिरसे पूर्ववर्त्तित्व सिद्ध होता है—उक्तञ्च ऋषिपुत्रेण—

गर्गशिष्या यथा प्राहुस्तथा वक्ष्याम्यतः परम्।
भौमभार्गवराह्वर्ककेतवो यामिनो ग्रहाः॥
आक्रन्दसारिणामिन्दुर्ये शेषा नागरास्तु ते।
गुरुसौरबुधानेव नागरानाह देवलः॥
परान् धूमेन सहितान् राहुभार्गवलोहितान्।

इन पद्योंमें गर्गशिष्य और देवल इन दो व्यक्तियोंके नामोंका उल्लेख किया गया है। यहाँ गर्गशिष्यसे कौन-सा व्यक्ति अभिप्रेत है, यह नहीं कहा जा सकता, पर द्वितीय व्यक्ति देवलकी रचनाओंके देखनेसे प्रतीत होता है कि यह वराह-मिहिरके पूर्ववर्त्ती हैं, क्योंकि अद्भुतसागरके प्रारम्भमें ज्योतिषके निर्माता

आचार्योंकी नामावली कालक्रमके हिसाबसे दी गयी प्रतीत होती है। इसमें वृद्धगर्ग, गर्ग, पाराशर, वशिष्ठ, बृहस्पति, सूर्य, वादरायण, पीलुकाचार्य, नृपपुत्र, देवल, काश्यप, नारद, यवन, वराहमिहिर, वसन्तराज आदि आचार्योंके नाम आये हैं। इससे ध्वनित होता है कि आचार्य ऋषिपुत्र देवलके पश्चात् और वराहमिहिरके पूर्ववर्त्ती हैं। दोनोंकी रचना-पद्धतिसे भी यह भेद प्रकट होता है, क्योंकि विषयप्रतिपादनकी जितनी गम्भीरता वराहमिहिरमें पायी जाती है, उतनी उनके पूर्ववर्त्ती आचार्योंमें नहीं।

यदि Catalogus Catalagorum के अनुसार आचार्य ऋषिपुत्रके पिता जैनाचार्य गर्ग मान लिये जायँ, तब तो उनका समय निर्विवाद रूपसे ई० सन् की चौथी शती है, क्योंकि गर्गाचार्य वराहमिहिरसे कम-से-कम सौ वर्ष पहले हुए हैं। गर्गसिद्धान्तके तत्त्व उदयकालीन ज्योतिष-तत्त्वोंके समकक्ष हैं। इस हिसाबसे ऋषिपुत्रका समय ई० सन् चतुर्थ शतीका मध्य भाग आता है।

भट्टोत्पलका समय शक सं० ८८८ और अद्भुतसागरके संकलयिता मिथि-लाधिपति महाराज लक्ष्मणसेनके पुत्र महाराज वल्लालसेनका शक सं० १०९० है। *अद्भुतसागरमें वराह, वृद्धगर्ग, देवल, यवनेश्वर, मयूरचित्र, राजपुत्र,* ऋषिपुत्र, ब्रह्मगुप्त, बलभद्र, पुलिश, विष्णुचन्द्र, प्रभाकर आदि अनेक आचार्योंके वचन संग्रहीत हैं। अतः निर्विवाद रूपसे आचार्य ऋषिपुत्रका समय भट्टोत्पल और वल्लालसेनके पूर्व है।

ऋषिपुत्रने प्राचीन प्राकृतमें निमित्तशास्त्रकी रचना की है, इसकी भाषा सिद्धसेनके 'सम्मइ-सुत्त'की भाषासे मिलती-जुलती है। उपसर्ग और अव्ययोंके प्रयोग समान रूपमें पाये जाते हैं। ध्वनिपरिवर्तन सम्बन्धी नियम भी तुल्य हैं। ह्रस्वमात्रिक नियमका प्रयोग भी इस ग्रन्थकी भाषामें किया गया है। अतएव भाषाकी दृष्टिसे इसका रचनाकाल ई० सन् छठी-सातवीं शती होना चाहिए।

ज्योतिषविषयक ज्ञान और रचना

आचार्य ऋषिपुत्र फलितज्योतिषके विद्वान् थे। गणितसम्बन्धी इनकी एक भी रचनाका अब तक पता नहीं लग सका है। उपलब्ध उद्धरण और ऋषिपुत्र निमित्तशास्त्रमें इनकी गणितविषयक विद्वत्ताका पता नहीं चलता है। इनकी त्रिस्कन्धात्मक ज्योतिषमेंसे केवल संहिता विषयसे सम्बद्ध रचनाएँ ही प्राप्त हैं। प्रारम्भिक रचनाएँ रहनेके कारण विषयकी गम्भीरता नहीं है, केवल सूत्ररूपमें ही संहिताके विषयोंका ग्रथन किया गया है।

निमित्तोंके तीन भेद बतलाकर फलादेश लिखा है—

१. भौमिक—पृथ्वी सम्बन्धी निमित्त।
२. दिव्यक—आकाश सम्बन्धी निमित्त।
३. शाब्दक—विभिन्न प्रकारके सुनाई पड़नेवाले शब्दजन्य निमित्त।

आकाशसम्बन्धी निमित्तोंको बतलाते हुए लिखा है—

सूरोदय अच्छमणे चंदमसरिक्खगहचरियं।
तं पिच्छियं निमित्तं सव्वं आएसिहं कुणहं॥

सूर्योदयके पहले और अस्त होनेके पश्चात् चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रहचार एवं उल्का आदि गमन एवं पतनको देखकर शुभाशुभ फलका ज्ञान करना चाहिए। इस शास्त्रमें दिव्य, अन्तरिक्ष और भौम इन तीनों प्रकारके उत्पातोंका वर्णन भी विस्तारसे किया है। वर्षोत्पात, दवोत्पात, उल्कोत्पात, गन्धर्वोत्पात, इत्यादि अनेक उत्पातोंके द्वारा शुभाशुभ फलका प्रतिपादन आया है। आचार्य ऋषिपुत्रके निमित्तशास्त्रमें सबसे बड़ा महत्वपूर्ण विषय 'मेघयोग'का है। इस प्रकरणमें नक्षत्रानुसार वर्षाके फलका अच्छा विवेचन किया है। प्रथम वृष्टि यदि कृत्तिका नक्षत्रमें हो, तो अनाजकी हानि, रोहिणीमें हो, तो देशकी हानि, मृगशिरामें हो, तो सुभिक्ष, आर्द्रामें हो, तो खण्डवृष्टि, पुनर्वसुमें हो, तो एक माह वृष्टि, पुष्यमें हो, तो श्रेष्ठ वर्षा, आश्लेषामें हो, तो अन्न-हानि, मघा और पूर्वा फाल्गुनीमें हो, तो सुभिक्ष, उत्तराफाल्गुनी और हस्तमें हो, तो प्रसन्नता, विशाखा और अनुराधामें हो, तो अत्यधिक वर्षा, ज्येष्ठामें हो, तो वर्षाकी कमी मूलमें हो, तो पर्याप्त वर्षा, पूर्वाषाढ़ा-उत्तराषाढ़ा और श्रवणमें हो, तो अच्छी वर्षा, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद और उत्तराभाद्रपदमें हो, तो उत्तम वृष्टि और सुभिक्ष, एवं रेवती आश्विनी और भरणीमें हो, तो पर्याप्त वृष्टिके साथ अन्नभाव श्रेष्ठ रहता है और प्रजा सब तरहसे सुख प्राप्त करती है। भट्टोत्पलि-टीकामें जो उद्धरण आये हैं उनमें सप्तमस्थ गुरु शुक्रके फलका प्रतिपादन बहुत ही रोचक और महत्वपूर्ण है। सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहणका फलादेश भी तिथि और नक्षत्रोंके क्रमसे वर्णित है। भुक्त, अभुक्त नक्षत्रोंका फलादेश भी बतलाया गया है। सारांश यह है कि ऋषिपुत्रकी पूर्ण रचना एक निमित्तशास्त्र ही उपलब्ध है। विभिन्न ग्रन्थोंमें उद्धरण पाये जानेसे इनकी संहिता विषयक रचनाका भी अनुमान लगाया जा सकता है।

आचार्य मानतुंग

उत्थानिका

भक्तिपूर्ण काव्यके सृष्टा कविके रूपमें आचार्य मानतुंग प्रसिद्ध हैं। इनका प्रसिद्ध

स्तोत्र 'भक्तामर' दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें समानरूपसे समादृत है। भक्त-कविके रूपमें इनकी ख्याति चली आ रही है। इनकी रचना इतनी लोकप्रिय रही है, जिससे उसके प्रत्येक पद्यके प्रत्येक चरणको लेकर समस्यापूर्त्यात्मक स्तोत्रकाव्य लिखे जाते रहे हैं। भक्तामरस्तोत्रकी कई समस्यापूर्तियाँ प्राप्त हैं।

जीवन-परिचय

आचार्य कवि मानतुंगके जीवनवृत्तके सम्बन्धमें अनेक विरोधी विचार-धाराएँ प्रचलित हैं। भट्टारक सकलचन्द्रके शिष्य ब्रह्मचारी 'पायमल्ल' कृत 'भक्तामरवृत्तिमें', जो कि वि० सं० १६६७ में समाप्त हुई है, लिखा है कि "धाराधीश भोजकी राजसभामें कालिदास, भारवि, माघ आदि कवि रहते थे। मानतुंगने ४८ सांकलोंको तोड़कर जैनधर्मकी प्रभावना की तथा राजा भोजको जैनधर्मका उपासक बनाया।[1]

दूसरी कथा भट्टारक विश्वभूषणकृत 'भक्तामरचरित'में निबद्ध है। इसमें भोज, भर्तृहरि, शुभचन्द्र, कालिदास, धनञ्जय, वररुचि और मानतुंग आदिको समकालीन लिखा है। बताया है आचार्य मानतुंगने भक्तामरस्तोत्रके प्रभावसे अड़तालीस कोठरियोंके तालोंको तोड़कर अपना प्रभाव दिखलाया।[2]

आचार्य प्रभाचन्द्रने 'क्रिया-कलाप'की टीकाके अन्तर्गत भक्तामरस्तोत्र टीकाकी उत्थानिकामें लिखा है—

"मानतुंगनामा सिताम्बरो महाकविः निर्ग्रन्थाचार्यवर्यैरपनीतमहाव्याधि-प्रतिपन्ननिर्ग्रन्थमार्गो भगवन् किं क्रियतामिति ब्रुवाणो भगवता परमात्मनो गुणगणस्तोत्रं विधीयतामित्यादिष्टः भक्तामरेत्यादि"।

अर्थात्—मानतुंग श्वेताम्बर महाकवि थे। एक दिगम्बराचार्यने उनको व्याधिसे मुक्त कर दिया, इससे उन्होंने दिगम्बरमार्ग ग्रहण कर लिया और पूछा—भगवन्! अब मैं क्या करूँ। आचार्यने आज्ञा दी—परमात्माके गुणोंका स्तोत्र बनाओ। फलतः आदेशानुसार भक्तामरस्तोत्रका प्रणयन किया।

विक्रम संवत् १३३४ के श्वेताम्बराचार्य प्रभाचन्द्रसूरिकृत 'प्रभावक-चरित'में मानतुंगके सम्बन्धमें लिखा[3] है—ये काशी निवासी धनदेव सेठके पुत्र

---

१. इस वृत्तिका अनुवाद पंडित उदयलाल कासलीवाल द्वारा सम्पन्न हुआ है और यह प्रकाशित है।

२. यह कथा जैन इतिहास विशारद पंडित नाथूरामजी प्रेमीने सन् १९१६ ई० में बम्बईसे प्रकाशित भक्तामरस्तोत्रकी भूमिकामें लिखी है।

३. प्रभावकचरितके अन्तर्गत मानतुंगसूरिचरितम्, पृ० ११२–११७,।

थे। पहले इन्होंने एक दिगम्बर मुनिसे दीक्षा ली और इनका नाम चारुकीर्ति महाकीर्ति रखा गया। अनन्तर एक श्वेताम्बर सम्प्रदायकी अनुयायिनी श्राविकाने उनके कमण्डलुके जलमें त्रसजीव बतलाये, जिससे उन्हें दिगम्बर चर्यासे विरक्ति हो गयी और जितसिंह नामक श्वेताम्बराचार्यके निकट दीक्षित होकर श्वेताम्बर साधु हो गये और उसी अवस्थामें भक्तामरस्तोत्रकी रचना की।

वि० सं० १३६१ के मेरुतुंगकृत 'प्रबन्धचिन्तामणि' ग्रन्थमें लिखा है कि मयूर और बाण नामक साला-बहनोई पंडित थे। वे अपनी विद्वत्तासे एक दूसरेके साथ स्पर्धा करते थे। एक बार बाण पंडित अपने बहनोईसे मिलने गया और उसके घर जाकर रातमें द्वार पर सो गया। उसकी मानवती बहन रातमें रूठी हुई थी और बहनोई रातभर मनाता रहा। प्रातः होने पर मयूरने कहा—हे ! तन्वंगी प्रायः सारी रात बीत चली, चन्द्रमा क्षीण-सा हो रहा है, यह प्रदीप मानो निद्राके अधीन होकर झूम रहा है, और मानकी सीमा तो प्रणाम करने तक होती है। अहो ! तो भी तुम क्रोध नहीं छोड़ रही हो ?"

काव्यके तीन पाद बार-बार कहते सुनकर बाणने चौथा चरण बनाकर कहा—हे चण्डि ! कुचोंके निकटवर्ती होनेसे तुम्हारा हृदय भी कठिन हो गया है।

गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशिः शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो
कुचप्रत्यासत्या हृदयमपि ते चण्डि ! कठिनम् ॥[1]

भाईके मुँहसे चौथा चरण सुनकर बहन लज्जित हो गयी और अभिशाप दिया कि तुम कुष्ठी हो जाओ। बाण पतिव्रताके शापसे तत्काल कुष्ठी हो गया। प्रातःकाल शालसे शरीर ढककर राजसभामें आया। मयूरने 'वरकोढ़ी[2]' कहकर बाणका स्वागत किया। बाणने देवताराधनका विचार किया और सूर्यके स्तवन द्वारा कुष्ठरोग दूर किया। मयूरने भी अपने हाथ-पैर काट लिये और चण्डिकाकी

---

१. प्रभावकचरितके कथानकमें बाण और मयूरको ससुर और दामाद लिखा है तथा उपर्युक्त श्लोकके चतुर्थ चरणमें "चण्डि"के स्थानके "सुभ्रु" पाठ पाया जाता है।

२. 'वरकोढ़ी' प्राकृत पदका पदच्छेद करने पर 'वरक ओढ़ी'—शाल ओढ़कर आये हो तथा 'वरकोढ़ी' अच्छे कुष्ठी बने हो, अर्थ निकलता है।

"भां भांक्षीविभ्रमम्" स्तुति द्वारा अपना शरीर स्वस्थ कर चमत्कार उपस्थित किया।

इन चमत्कारोंके अनन्तर किसी जैनधर्मद्वेषीने राजासे कहा कि यदि जैनोंमें कोई ऐसा चमत्कारी हो, तभी जैन यहाँ रहें, अन्यथा इन्हें नगर से निर्वासित कर दिया जाय। मानतुंग आचार्यको बुलाकर राजाने कहा कि आप अपने देवताओंके कुछ चमत्कार दिखलाइये।

आचार्य—हमारे देवता वीतरागी हैं, उनमें क्या चमत्कार हो सकता है। जो मोक्ष चला गया है, वह चमत्कार दिखलाने क्या आयेगा। उनके किंकर देवता ही अपना प्रभाव दिखलाते हैं। अतः यदि चमत्कार देखना है, तो उनके किंकर देवताओंसे अनुरोध करना होगा। इस प्रकार कहकर अपने शरीरको ४४ हथकड़ियों और बेड़ियोंसे कसवाकर उस नगरके श्रीयुगादिदेवके मन्दिरके पिछले भागमें बैठ गये। 'भक्तामरस्तोत्र'के प्रभावसे उनकी बेड़ियाँ टूट गयीं और मन्दिर अपना स्थान परिवर्तित कर उनके सम्मुख उपस्थित हो गया। इस प्रकार मानतुंगने जिनशासनका प्रभाव दिखलाया।

मानतुंगके सम्बन्धमें एक इतिवृत्त श्वेताम्बराचार्य गुणाकरका उपलब्ध है। उन्होंने भक्तामरस्तोत्रवृत्तिमें, जिसकी रचना वि० सं० १४२६ में हुई है, प्रभावकचरितके अनुसार मयूर और बाणको श्वसुर और जामाता बताया है तथा इनके द्वारा रचित सूर्यशतक और चण्डीशतकका निर्देश किया है। राजाका नाम वृद्धभोज है, जिसकी सभामें मानतुंग उपस्थित हुए थे।

उपर्युक्त विरोधी आख्यानों पर दृष्टिपात करनेसे तथा वल्लालकविरचित भोजप्रबन्ध नामक ग्रन्थका अवलोकन करनेसे निम्नलिखित तथ्य उपस्थित होते हैं—

१. मयूर, बाण, कालिदास और माघ आदि विभिन्न समयवर्ती प्रसिद्ध कवियोंका एकत्र समवाय दिखलानेकी प्रथा १० वीं शतीसे १५ वीं शती तकके साहित्यमें प्राप्त होती है।

२. मानतुंगको श्वेताम्बर आख्यानोंमें पहले दिगम्बर और पश्चात् श्वेताम्बर माना गया है। इसी प्रकार दिगम्बर लेखकोंने उन्हें पहले श्वेताम्बर पश्चात् दिगम्बर लिखा है। यह कल्पना सम्प्रदायव्यामोहका ही फल है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें जब परस्पर कटुता उत्पन्न हो गयी और मान्य आचार्योंकी अपनी ओर खींच-तान होने लगी, तो इस प्रकार विकृत इतिवृत्तोंका साहित्यमें प्रविष्ट होना स्वाभाविक है।

३. मानतुंगने भक्तामरस्तोत्रकी रचना की। दोनों सम्प्रदायोंने अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार इस स्तोत्रको प्रतिष्ठा दी। प्रारम्भमें इस स्तोत्रमें ४८ स्तोत्र थे, जो काव्य कहलाते थे। प्रायः हस्तलिखित ग्रन्थोंमें ४८ काव्य ही मिलते हैं। प्रत्येक पद्यमें काव्यत्व रहनेके कारण ही ४८ पद्योंको ४८ काव्य कहा गया है। इन पद्योंमें श्वेताम्बर सम्प्रदायने अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि, दिव्य ध्वनि और चमर इन चार प्रातिहारियोंके बोधक पद्योंको ग्रहण किया और सिंहासन, भामण्डल, दुन्दुभिः एवं छत्र इन चार प्रातिहारियोंके विवेचक पद्योंको निकाल दिया। इधर दिगम्बर सम्प्रदायकी कुछ हस्तलिखित पाण्डुलिपियोंमें श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा निकाले हुए चार प्रातिहारियोंके बोधक चार नये पद्य और जोड़ दिये गये। इस प्रकार ५२ पद्योंकी संख्या गढ़ ली गयी। वस्तुतः इस स्तोत्रकाव्यमें ४८ ही पद्य हैं।

४. स्तोत्र-काव्योंका महत्व दिखलानेके लिए उनके साथ चमत्कारपूर्ण आख्यानोंकी योजना की गयी है। मयूर, पुष्पदन्त, बाण प्रभृति सभी कवियोंके स्तोत्रोंके पीछे कोई-न-कोई चमत्कारपूर्ण आख्यान विद्यमान हैं। भगवद्भक्ति, चाहे वह वीतरागीकी हो या सरागीकी, अभीष्टपूर्ति करती है। पूजापद्धतिके आरम्भके पूर्व स्तोत्रोंकी परम्परा ही भक्तिके क्षेत्रमें विद्यमान थी। भक्त या श्रद्धालु पाठक स्तोत्रद्वारा भगवद्गुणोंका स्मरण कर अपनी आत्माको पवित्र बनाता है। यही कारण है कि भक्तामर, एकीभाव, कल्याणमन्दिर प्रभृति स्तोत्रोंके साथ भी चमत्कारपूर्ण आख्यान जुड़े हुए हैं।

अतएव इन आख्यानोंमें तथ्यांश हो या न हो, पर इतना सत्य है कि एकाग्रतापूर्वक इन स्तोत्रोंका पाठ करनेसे आत्मशुद्धिके साथ मनोकामनाकी पूर्ति भी होती है। स्तोत्रोंके पढ़नेसे जो आत्मशुद्धि होती है, वही आत्मशुद्धि कामनापूर्तिका साधन बनती है। मानतुंग अपने समयके प्रसिद्ध आचार्य हैं और इनकी मान्यता दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनोंमें है।

समय-विचार

मानतुंगके समय-निर्धारणमें उक्त विरोधी आख्यानोंसे यह प्रकट होता है कि वे हर्ष अथवा भोजके समकालीन हैं। इन दोनों राजाओंमेंसे किसी एककी समकालीनता सिद्ध होनेपर मानतुंगके समयका निर्णय किया जा सकता है। सर्वप्रथम हम यहाँ भोजकी समकालीनता पर विचार करेंगे।

भोजनामके कई राजा हुए हैं तथा भारतीय आख्यानोंमें विक्रमादित्य और भोजको संस्कृतकवियोंका आश्रयदाता एवं संस्कृत-साहित्यका लेखक माना गया है।

भारतीय इतिहासमें बताया गया है कि सीयक—हर्षके बाद उसका यशस्वी पुत्र मुंज उपनाम वाक्पति वि० सं० १०३१ (ई० सन् ९७४)में मालवाकी गद्दी पर आसीन हुआ। वाक्पति मुंजने लाट, कर्णाटक, चोल और केरलके साथ युद्ध किया था। यह योद्धा तो था ही, साथ ही कला और साहित्यका संरक्षक भी था। उसने धारानगरीमें अनेक तालाब खुदवाये थे। उसकी सभामें पद्मगुप्त, धनञ्जय, धनिक और हलायुध प्रभृति ख्यातिनामा साहित्यिक रहते थे। मुंजके अनन्तर सिन्धुराज या नवसाहशांक सिंहासनासीन हुआ। सिन्धुराजके अल्पकालीन शासनके बाद उसका पुत्र भोज परमारोंकी गद्दी पर बैठा। इस राजकुलका यह सर्वशक्तिमान और यशस्वी नृपति था। इसके राज्यासीन होनेका समय ई० सन् १००८ है। भोजने दक्षिणी राजाओंके साथ तो युद्ध किया ही, पर तुरुष्क एवं गुजरातके कीर्तिराजके साथ भी युद्ध किया। मेरुतुंगके अनुसार भोजने ५५ वर्ष ७ मास और ३ दिन राज्य किया है। भोज विद्या-रसिक था। उसके द्वारा रचित ग्रन्थ लगभग एक दर्जन हैं। इन्हीं भोजके समयमें आचार्य प्रभाचन्द्रने अपना प्रमेयकमलमार्तण्ड लिखा है—श्रीभोजदेव-राज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृत-निखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योत-परोक्षामुखपदमिदं विवृतमिति[1]।

श्री पंडित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने प्रभाचन्द्रका समय ई० सन् १०५० के लगभग माना है। अतः भोजका राज्यकाल ११वीं शताब्दी है।

आचार्य कवि मानतुंगके भक्तामरस्तोत्रकी शैली मयूर और बाणकी स्तोत्र-शैलीके समान है। अतएव शैली तथा अन्य ऐतिहासिक तथ्योंके न मिलनेसे मानतुंगने अपने स्तोत्रकी रचना भोजराज्यकालमें नहीं की है। यतः भोजके समयमें मयूर और बाणका अस्तित्व सम्भव नहीं है। यह चमत्कारी आख्यानोंसे स्पष्ट है कि मानतुंग बाण-मयूरकालीन हैं और किसी न किसी रूपमें इनका सम्बन्ध बाण और मयूरके साथ रहा है।

संस्कृत-साहित्यके प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान डॉ० ए० वी० कीथने[2] भक्तामर कथाके सम्बन्धमें अनुमान किया है कि कोठरियोंके ताले या पाशवद्धता संसार-

---

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९४१, अन्तिम प्रशस्ति पृ० २९४।

२. A History of Sanskrit Litrature 1941, Page 214–215 (Religious poetry)

बन्धनका रूपक है। इस प्रकारके रूपक छठी-सातवीं शताब्दीमें अनेक लिखे गये हैं। वसुदेव-हिंडीमें गर्भवासदु:ख, विषयसुख, इन्द्रियसुख, जन्म-मरणके भव आदि सम्बन्धी अनेक रूपक आये है। डॉ० कीथका यह अनुमान यदि सत्य है, तो इसका रचनाकाल छठी शताब्दीका उत्तरार्द्ध या सातवींका पूर्वार्द्ध होना चाहिये।

डॉ० कीथने यह भी अनुमान किया है कि मानतुंग बाणके समकालीन[1] हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझाने अपने 'सिरोहीका इतिहास' नामक ग्रन्थमें मानतुंगका समय हर्षकालीन माना है। श्रीहर्षका राज्याभिषेक ई० सन् ६०८ में हुआ था। अतएव मानतुंगका समय ई० सन् की ७वीं शताब्दीका मध्यभाग होना सम्भव है।

भक्तामरस्तोत्रके अन्तरंग परीक्षणसे प्रतीत होता है कि यह स्तोत्र 'कल्याण-मन्दिर'का परवर्त्ती है। 'कल्याण-मन्दिर'के रचयिता सिद्धसेनका समय षष्ठी शताब्दी सिद्ध किया जा चुका है। अत: मानतुंगका समय इनसे कुछ उत्तरवर्त्ती होना चाहिये। हमारा अनुमान है कि दोनों स्तोत्रोंमें उपलब्ध समता एक-दूसरेसे प्रभावित है।

'कल्याण-मन्दिर'में कल्पनाकी जैसी स्वच्छता है, वैसी प्राय: इस स्तोत्रमें नहीं है। अत: कल्याण-मन्दिर भक्तामरके पहले की रचना हो, तो आश्चर्य नहीं है। यत: इस स्तोत्रकी कल्पनाओंका पल्लवन एवं उन कल्पनाओंमें कुछ नवीनताओंका समावेश चमत्कारपूर्ण शैलीमें इस स्तोत्रमें हुआ है। भक्तामरमें कहा है कि सूर्यकी बात ही क्या, उसकी प्रभा ही तालाबोंम कमलोंको विकसित कर देती है, उसी प्रकार हे प्रभो! आपका स्तोत्र तो दूर ही रहे, पर आपके नामकी कथा ही समस्त पापोंको दूर कर देती है। यह नाम-माहात्म्य मूलत: श्रीमद्भागवतसे स्तोत्र-साहित्यमें स्थानान्तरित हुआ है। यथा—

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्रकिरण: कुरुते प्रभैव
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि[2]॥

कल्याण-मन्दिरमें भी उपर्युक्त कल्पना ज्यों-की-त्यों मिलती है। बताया है कि जब निदाघमें कमलसे युक्त तालाबकी सरस वायु ही तीव्र आतापसे संतप्त

१. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २१५।
२. भक्तामरस्तोत्र, पद्य ९।

पथिकोंकी गर्मीसे रक्षा करती है, तब जलाशयकी बात ही क्या, उसी प्रकार जब आपका नाम ही संसारके तापको दूर कर सकता है, तब आपके स्तोत्रके सामर्थ्यका क्या कहना।

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन ! संस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहृतपान्थजनान्निदाघे,
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि[1] ॥

भक्तामरस्तोत्र और कल्याणमन्दिरकी गुणगान-महत्त्व-सूचक कल्पना तुल्य है। दोनों ही जगह नामका महत्त्व है। अतः एक दूसरेसे प्रभावित हैं अथवा दोनोंने किसी अन्य पौराणिक स्तोत्रसे उक्त कल्पनाएँ ग्रहण की हैं।

भक्तामरस्तोत्रमें बतलाया है कि हे प्रभो ! संग्राममें आपके नामका स्मरण करनेसे बलवान राजाओंके युद्ध करते हुए घोड़ों और हाथियोंकी भयानक गर्जनासे युक्त सैन्यदल उसी प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेसे अन्धकार नष्ट हो जाता है। यथा—

वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनाद—
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम्।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं
त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति[2] ॥

उपर्युक्त कल्पनाका समानान्तर रूप कल्याणमंदिरके ३२ वें पद्यमें उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार जिनसेनके पार्श्वाभ्युदयमें। कल्याणमंदिरमें भी यही कल्पना प्राप्त होती है। यथा—

यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीम—
भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारम्।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे
तेनैव तस्य जिन ! दुस्तरवारिकृत्यम्[3] ॥

इसी प्रकार भक्तामरस्तोत्रके "त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांसम्" (भक्तामर पद्य २३) और "त्वां योगिनो जिन ! सदा परमात्मरूपम्" (कल्याणमंदिर पद्य १४) तुलनीय हैं।

---

१. कल्याणमन्दिर, पद्य ७।
१. भक्तामरस्तोत्र, पद्य ४२।
२. कल्याणमन्दिर, पद्य ३२।

उपर्युक्त विश्लेषणके प्रकाशमें इस स्वीकृतिका विरोध नहीं किया जा सकता कि भक्तामर और कल्याणमन्दिर दोनोंकी पदावली, कल्पनाएँ एवं तथ्य-निरूपण-प्रणाली समान हैं।

ये दोनों स्तोत्र तथ्य-विश्लेषणकी दृष्टिसे श्रीमद्भागवद् और शैलीकी दृष्टिसे पुष्पदन्तके शिवमहिम्नस्तोत्रके समकक्ष हैं।

रचना-परिचय और काव्यप्रतिभा

मानतुङ्गकी एकमात्र रचना ४८ पद्यप्रमाण भक्तामर-स्तोत्र है। यह समस्त स्तोत्र वसन्ततिलकाछन्दमें लिखा गया है। इसमें आदितीर्थङ्कर ऋषभनाथकी स्तुति की गयी है। इस स्तोत्रकी यह विशेषता है कि इसे किसी भी तीर्थङ्कर पर घटित किया जा सकता है। प्रत्येक पद्यमें उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलङ्कारका समावेश किया है। इसका भाषा-सौष्ठव और भाव-गाम्भीर्य आकर्षक है। कवि अपनी नम्रता प्रकट करता हुआ कहता है कि हे प्रभो! मैं अल्पज्ञ बहुश्रुतज्ञ विद्वानों द्वारा हँसीका पात्र होने पर भी आपकी भक्ति ही मुझे मुखर बनाती है। वसन्तमें कोकिल स्वयं नहीं बोलना चाहती, प्रत्युत आम्रमञ्जरी ही उसे बलात् कूजनेका निमन्त्रण देती है। यथा—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिल: किल मधौ मधुरं विरौति
तच्चाम्रचारुकलिकानिकरैकहेतु:[1] ॥

अतिशयोक्ति अलंकारके उदाहरण इस स्तोत्रमें कई आये हैं। पर १७ वें पद्यका अतिशयोक्ति अलङ्कार बहुत ही सुन्दर है। कवि कहता है कि हे भगवन्! आपकी महिमा सूर्यसे भी बढ़कर है, क्योंकि आप कभी भी अस्त नहीं होते। न राहुगम्य हैं, न आपका महान प्रभाव मेघोंसे अवरूद्ध होता है। आप समस्त लोकोंको एक साथ अनायास स्पष्ट रूपसे प्रकाशित करते हैं, जब कि सूर्य राहुसे ग्रस्त या मेघोंसे आच्छन्न हो जाने पर अकेले मध्यलोकको भी प्रकाशित करनेमें अक्षम रहता है। यथा—

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्य:
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
नाम्भोधरोदरनिरूद्धमहाप्रभाव:
सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र! लोके[2] ॥

---

१. भक्तामरस्तोत्र, पद्य ६।

२. वही, पद्य १७।

यहाँ भगवानको अद्भुत सूर्यके रूपमें वर्णित कर अतिशयोक्तिका चमत्कार दिखलाया गया है।

कवि आदिजिनको बुद्ध, शङ्कर, धाता और पुरुषोत्तम सिद्ध करता हुआ कहता है—

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा—
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात्।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधाना—
द्व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोऽसि[1]॥

इस प्रकार इस स्तोत्र-काव्यमें भक्ति, दर्शन और काव्यकी त्रिवेणी एक साथ प्रवाहित प्राप्त होती है।

रविषेण

रविषेणाचार्य ऐसे कलाकार कवि हैं, जिन्होंने संस्कृतमें लोकप्रिय पौराणिक चरितकाव्यका ग्रथन किया है। पौराणिक चरितकाव्य-रचयिताके रूपमें रविषेणका सारस्वताचार्योंमें महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जीवन-परिचय

आचार्य रविषेण किस संघ या गण-गच्छके थे, इसका उल्लेख उनके ग्रन्थ 'पद्मचरित' में उपलब्ध नहीं होता। सेनान्त नाम ही इस बातका सूचक प्रतीत होता है कि ये सेनसंघके आचार्य थे। पद्मचरितमे निर्दिष्ट गुरुपरम्परासे अवगत होता है कि इन्द्रसेनके शिष्य दिवाकरसेन थे और दिवाकरसेनके शिष्य अर्हत्सेन। इन अर्हतसेनके शिष्य लक्ष्मणसेन हुए और लक्ष्मणसेनके शिष्य रविषेण। यथा—

ज्ञाताशेषकृतान्तसन्मुनिमनःसोपानपर्वावली
पारम्पर्यसमाधितं सुवचनं सारार्थमत्यद्भुतम्।
आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनि-
स्तस्माल्लक्ष्मणसेनसन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतम्॥
सम्यग्दर्शनशुद्धिकारणगुरुश्रेयस्करं पुष्कलं
विस्पष्टं परमं पुराणममलं श्रीमत्प्रबोधिप्रदम्।
रामस्याद्भुतविक्रमस्य सुकृतो माहात्म्यसङ्कीर्त्तनं
श्रोतव्यं सततं विचक्षणजनैरात्मोपकारार्थिभिः[2]॥

---

१. भक्तामरस्तोत्र, पद्य २५।

२. पद्मचरितम्, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, १२३।१६८-१६९।

अर्थात् यह पद्मचरित समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता उत्तम मुनियोंके मनकी सोपान-परम्पराके समान नाना पर्वोंकी परम्परासे युक्त है, सुभाषितोंसे परिपूर्ण है, सारपूर्ण है तथा अत्यन्त आश्चर्यकारी है। इन्द्रगुरुके शिष्य श्रीदिवाकर-यति थे। उनके शिष्य अर्हद्यत्ति हुए। उनके शिष्य लक्ष्मणसेन मुनि थे और उनका शिष्य मैं रविषेण हूँ।

मेरे द्वारा रचित यह 'पद्मचरित' सम्यग्दर्शनको शुद्धताके कारणोंसे श्रेष्ठ है, कल्याणकारी है, विस्तृत है, अत्यन्त स्पष्ट है, उत्कृष्ट है, निर्मल है, श्रीसम्पन्न है, रत्नत्रयरूप बोधिका दायक है, तथा अद्भुत पराक्रमी पुण्यस्वरूप श्रीरामके माहात्म्यका उत्तम कीर्त्तन करनेवाला है, ऐसा यह पुराण आत्मोपकारके इच्छुक विद्वज्जनोंके द्वारा निरन्तर श्रवण करने योग्य है।

उपर्युक्त पद्योंसे रविषेणको गुरु-परम्पराका परिज्ञान तो हो जाता है, पर उनके जन्मस्थान, बाल्यकाल, विवाहित जीवन आदिके सम्बन्धमें कुछ भी जानकारी नहीं हो पाती।

रविषेणने पद्मचरितके ४२ वें पर्वमें जिन वृक्षोंका वर्णन किया है वे वृक्ष दक्षिण भारतमें पाये जाते हैं। कविका भौगोलिक ज्ञान भी दक्षिण भारतका जितना स्पष्ट और अधिक है उतना अन्य भारतीय प्रदेशोंका नहीं। अतएव कविका जन्मस्थान दक्षिण भारतका भूभाग होना चाहिए।

समय-निर्धारण

आचार्य रविषेणके समय-निर्धारणमें विशेष कठिनाई नहीं है, क्योंकि रविषेणने स्वयं अपने पद्मचरितकी समाप्तिके समयका निर्देश किया है—

> द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्द्धचतुर्थवर्षयुक्ते।
> जिनभास्करवर्द्धमानसिद्धेश्चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम्[1]॥

जिनसूर्य—भगवान् महावीरके निर्वाण प्राप्त करनेके १२०३ वर्ष छः माह बीत जानेपर पद्ममुनिका यह चरित निबद्ध किया। इस प्रकार इसकी रचना वि० सं० ७३४ (ई० सन् ६७७) में पूर्ण हुई है। वीर निर्वाण सं० कार्तिक कृष्णा ३० वि० सं० ४६९ पूर्वसे ही भगवान् महावीरके मोक्ष जानेकी परम्परा प्रचलित है। इस तरह छः मासका समय और जोड़ देने पर वैशाख शुक्ल पक्ष वि० सं० ७३४ रचना-तिथि आती है।

---

१. पद्मचरितम्, १२३।१८२।

बहिस्साक्ष्य

रविषेणके स्वयंके उल्लेखोंके अतिरिक्त समकालीन और उत्तरवर्त्ती आचार्योंके निर्देशसे भी रविषेणके समयपर प्रकाश पड़ता है।

इनके उत्तरवर्ती उद्योतनसूरिने अपनी कुवलयमालामें रविषेणको पद्म-चरितके कर्त्ताके रूपमें स्मरण किया है। उद्योतनसूरिका समय ई० सन् ७७८ (वि० सं० ८३५) है। प्रतीत होता है कि रविषेणकी ख्याति १०० वर्षोंमें ही पर्याप्त विस्तृत हो चुकी थी। उद्योतनसूरिने लिखा है—

जेहि कए रमणिज्जे वरंग-पउमाणचरिय वित्थारे।
कहव ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय-रविसेणे[1]॥

जिन्होंने रमणीय एवं विस्तृत वरांगचरित और पद्मचरित लिखे, वे जडित तथा रविषेण कवि कैसे श्लाघ्य नहीं, अपितु श्लाघ्य हैं। हरिवंशपुराणके रचयिता प्रथम जिनसेनने भी रविषेणका पद्मचरितके कर्त्ताके रूपमें स्मरण किया है—

कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्त्तिता।
मूर्त्तिः काव्यमयी लोके रवेरिव रवेः प्रिया[2]॥

आचार्य रविषेणकी काव्यमयी मूर्ति सूर्यकी मूर्तिके समान लोकमें अत्यन्त प्रिय है। यतः सूर्य जिस प्रकार कमलोंको विकसित करता है उसी प्रकार रवि-षेणने पद्म—रामके चरितको विस्तृत किया है। आचार्य जिनसेनने हरिवंशपुराण-की रचना वि० स० ८४०में की है। इससे स्पष्ट है कि रविषेण वि० सं० ८४० से पूर्ववर्ती हैं और यशस्वी कवि है। अतः बहिःसाक्ष्य भी रविषेणद्वारा स्वय सूचित समयके साधक हैं।

रचना-परिचय और काव्य-प्रतिभा

पद्मचरितमें पुराण और काव्य इन दोनों के लक्षण सम्मिलित है। विमल-सूरिकृत प्राकृत पउमचरियम्का आधार रहनेपर भी इसमें मौलिकताकी कमी नहीं है। कथानक और विषयवस्तुमें पर्याप्त परिवर्तन किया है। वस्तुतः इस ग्रन्थका प्रणयन उस समय हुआ है जब संस्कृतमें चरित-काव्योंकी परम्पराका पूर्ण विकास नहीं हुआ था। इसमें वन, नदी, पर्वत, ग्राम, ऋतु-वर्णन, संध्या, सूर्योदय आदिका चित्रण महाकाव्यके समान ही किया गया है। कथाका आयाम पर्याप्त विस्तृत है। पद्म—रामके कई जन्मोंकी कथा तथा उनके परिकरमें निवास

१. कुवलयमाला-अनुच्छेद-६, पृ०–४।

२. हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, १।३४।

करनेवाले सुग्रीव, विभीषण, हनुमानकी जीवन-व्यापी कथा भी इस चरित-काव्यमें सम्बद्ध है। कतिपय पात्रोंके जीवन-आख्यान तो इतने विस्तृत आये हैं, जिससे उन्हें स्वतंत्र काव्य या पुराण भी कहा जा सकता है।

आधिकारिक कथावस्तु मुनि रामचन्द्रजीकी है और अवान्तर या प्रासंगिक कथाएँ वानर-वंश या विद्याधर-वंशके आख्यानके रूपमें आयीं हैं। इन दोनों वंशोंका कविने बहुत विस्तृत वर्णन किया है। यही कारण है कि चरितकाव्यके समस्त गुण इस ग्रन्थमें समाविष्ट हैं। अंगीरूपमें शान्त रसका परिपाक हुआ है। शृंगारके संयोग और वियोग दोनों ही पक्ष सीता-अपहरण एवं राम-विवाह-के अनन्तर घटित हुए हैं। करुण-रसके चित्रणमें अभूतपूर्व सफलता मिली है। युद्धमें भाई-बंधुओंके काम आनेपर कुटुम्बियोंके विलाप पाषाणहृदयको भी द्रवीभूत करनेमें समर्थ हैं। वर्णनोंके चित्रणमें कविको पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। नर्मदाका रमणीय दृश्य अनेक उत्प्रेक्षाओं द्वारा चित्रित हुआ है। नर्मदा मधुरशब्द करनेवाले नानापक्षियोंके समूहके साथ वार्तालाप करती हुई-सी प्रतीत होती है। फेनके समूहसे वह हँसती हुई-सी मालूम पड़ती है। तरंग-रूपी भृकुटीके विलासके कारण वह क्रुद्ध होता हुई नायिका-सी, आवर्त्तरूपी बुद्बुदोंसे युक्त नायिकाकी नाभि जैसी, विशाल तटोंसे युक्त स्थूल नितम्ब जैसी एवं निर्मल जल-वस्त्र जैसे प्रतीत होते थे।

इस ग्रन्थमें १२३ पर्व हैं। इसे छह खण्डोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१. विद्याधरकाण्ड
२. जन्म और विवाहकाण्ड
३. वन-भ्रमण
४. सीता-हरण और उसका अन्वेषण
५. युद्ध
६. उत्तरचरित

संक्षिप्त कथावस्तु

भगवान महावीरके प्रथम गणधर गौतमस्वामीको नमस्कार कर, उनसे रामकथा जाननेकी इच्छा प्रकट करनेपर, गौतमस्वामीने यह रामकथा कही है।

कथारम्भमें १. विद्याधरलोक २. राक्षसवंश ३. वानरवंश ४. सोमवंश ५. सूर्यवंश और ६. इक्ष्वाकुवंशके वर्णनके पश्चात् कथास्रोत सरिताकी वेगवती धाराके समान आगे बढ़ता है।

रावणका जन्म (७–८ पर्व)—राक्षसवंशी राजा रत्नश्रवा तथा महारानी

केकसीको रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण नामक तीन पुत्र एवं चन्द्रनखा नामक पुत्रीका लाभ हुआ। ये चारों सन्तानें पैदा होते ही अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार अपनी-अपनी महत्ताका संकेत देने लगीं। रत्नश्रवाने जन्मके समय ही रावणको दिव्यहारसे युक्त एवं मौलिक मालामें प्रतिबिम्बित, उसके एक ही सिरके दश प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़नेके कारण उसका नाम दशानन रखा। विद्यासिद्धि (८ वां पर्व) अपने मौसेरे भाई इन्द्रकी विभूतिका श्रवण कर उसे परास्त करनेका लक्ष्य रखकर वे तीनों भाई विद्यासिद्धि हेतु घनघोर तपश्चरण करने लगे। अन्तमें अपनी दृढ़ता एवं एकाग्रता और निर्मोहिता एवं निर्भीकताके कारण उन तीनों भाइयोंने अनेक विद्याओंको सिद्ध कर लिया। अपनी सफलता-का प्रारम्भिक चरण मान वे तीनों भाई दिग्विजयकी तैयारी करने लगे।

दक्षिण विजय (९-११ पर्व)—रथनूपुरका राजा इन्द्र अत्यन्त शक्तिशाली था। अतः उसे परास्त करनेके उद्देश्यसे इन्होंने आक्रमणकी तैयारी की। रावण-ने अपनी वीरता और कुशलतासे इन्द्रके सहायक यम, वरुण आदिको तो पहले ही परास्त कर दिया था। अब उसकी दृष्टि इन्द्रपर ही था। इन्द्र मानव होते हुए भी अपने लिये इन्द्र ही समझ रहा था। इसी कारण उसने प्रान्तीय शासकों-को यम, वरुण, सोम आदि संज्ञाओंसे अभिहित किया था। उसने कारागारको नरकसंज्ञा और अर्थमंत्रीकी कुबेरसंज्ञा अभिहित की थी। रावणने समस्त साधनपूर्ण सेना लेकर किष्किन्धापुरके राजा बालिको अपमानित किया और उसके साधुभाई सुग्रीवको अपना मित्र बनाया।

रथनूपुरके चारों ओर मायामयी परकोटा बना हुआ था। उसकी रक्षा अनेक विद्याधरोंके साथ नलकूवर करता था। यह परकोटा अभेद्य था। इसके भेदनका परिज्ञान नलकूवरकी पत्नीको ज्ञात था और यह नारी रावणके रूप-को देखते ही मोहित हो गयी। रावणने झूठा आश्वासन देकर परकोटाभेदन-का उपाय ज्ञात कर लिया और अन्तमें विजयके पश्चात् नलकूवरको वहाँका राजा नियुक्त कर उसकी पत्नीको माँ शब्दसे सम्बोधित कर एवं पतिव्रता बने रहनेका उपदेश दे, वहाँसे आगे बढ़ा। अनेक प्रकारसे युद्ध होनेके पश्चात इन्द्र अपने मंत्रिमंडल सहित बंदी बना लिया गया, पर उसके पिता सहस्रशूरके अनुरोध पर रावणने उसे मुक्त किया और अपनी महत्ताका उदाहरण प्रस्तुत किया।

हनुमान-जन्म (१५-१८ पर्व)

आदित्यपुरके राजा प्रह्लादके पुत्र पवनञ्जयका विवाह राजा महेन्द्रकी पुत्री

अंजनासे हुआ। पवनञ्जय उसकी सुन्दरतासे आकृष्ट होनेपर भी, अंजनाकी एक सखी द्वारा अपनी निन्दा सुनकर वह अंजनासे रुष्ट हो गया और विवाह हो जानेपर उसने अंजनाका परित्याग कर दिया। जब पवनञ्जय रावणको किसी युद्ध में सहायता देनेके लिये जा रहा था, तो उसका शिविर एक नदीके तट पर स्थित हुआ। यहाँ चकवाके वियोगमें एक चकवीको विलाप करते देख, उसे अंजनाकी स्मृति हो आयी और अपने किये कार्यों पर पश्चात्ताप करने लगा। वह सेनाको वहीं छोड़ रात्रिमें ही अंजना के पास चला आया। प्रथम मिलनके फलस्वरूप अंजना गर्भवती हुई। पवनञ्जय प्रभात होने के पूर्व ही बिना किसी-से कहे-सुने अंजनाके भवनसे चला गया। अंजनाकी सास तथा अन्य परिवारके व्यक्तियोंने जब उसके गर्भवतीके चिह्न देखे, तो परिवारके अपवादके भयसे उन्होंने अंजनाको घरसे बाहर निकाल दिया। वह दर-दर भटकती हुई एक निर्जन वनमें पहुँची। यहाँ उसने एक पुत्रको जन्म दिया। इसी समय आकाश-मार्गसे राजा प्रतिसूर्य जा रहा था। उसने जब एक नारीका करुण चीत्कार सुना, तो उसका हृदय पिघल गया और नीचे आकर परिचय जानना चाहा। इस परिचयके क्रममें जब उसे यह मालूम हुआ कि यह उसकी भांजी है, तो उसे अपार हर्ष हुआ और उसे पुत्रसहित लेकर अपने घर हनुरुह द्वीपमें चला आया। मार्गमें चलते हुए हनुमान अपने बाल्य-चांचल्यके कारण विमानसे नीचे गिर पड़े, पर हनुमानको चोट न लगी और जिस शिला पर वे गिरे थे वह शिला चूर-चूर हो गयी। हनुरुह द्वीपमें बालकके संस्कार सम्पन्न किये गये। इसी कारण इसका नाम हनुमान रखा गया।

युद्धमें विजय प्राप्त करनेके पश्चात् पवनञ्जय घर वापस लौटा, पर अंजनाको न पाकर तथा उसके अपवादको ज्ञातकर उसे अपार वेदना हुई। फलतः वह घर छोड़कर वनकी खाक छानने चल दिया। वह वन-वन भटकता हुआ, वृक्ष और लताओंसे अंजनाका पता पूछता हुआ उन्मत्तकी तरह भ्रमण करने लगा। कुछ समय पश्चात् वह भ्रमण करता हुआ हनुरुह द्वीप पहुँचा और वहाँ अपनी पत्नी और पुत्रको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ तथा सभीके साथ आदित्यपुर लौट आया।

चन्द्रनखाका विवाह खरदूषण नामक राक्षसके साथ हुआ और इस दम्पतिके शंबूक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

राजा दशरथका जन्म (१९–२१ पर्व)—इक्ष्वाकुवंशमें अयोध्याके राजा अजके यहाँ दशरथका जन्म हुआ। दशरथका जन्म उत्तम नक्षत्र और उत्तम

मुहूर्तमें हुआ। फलस्वरूप यह जन्मसे ही वीर, प्रतापी और यशस्वी था। इनकी तीन रानियाँ थीं।

(क) दर्पपुरके राजाकी पुत्री अपराजिता या कौशल्या

(ख) पद्मपत्र नगरके राजा तिलबन्धुकी पुत्री सुमित्रा

(ग) रत्नपुरके राजाकी पुत्री सुप्रभा

एक दिन रावणको किसीसे विदित हुआ कि उसकी मृत्यु राजा जनक और दशरथकी सन्तानोंके द्वारा होगी। अतः रावणने अपने भाई विभीषणको मिथिलानरेश जनक और अयोध्यानरेश दशरथको मारनेके लिए भेजा, पर विभीषणके आनेके पूर्व ही नारदने उन दोनोंको सचेत कर दिया था। जिससे वे दोनों अपने-अपने भवनोंमें अपने-अपने अनुरूप कृत्रिम मूर्ति छोड़कर बाहर निकल गये। विभीषणने इन पुतलोंको ही सचमुचका जनक और दशरथ समझा और उन्हींका मस्तक काटकर समुद्रमें गिरा दिया तथा वापस लौटकर लंकामें वैभवपूर्वक राज्य करने लगा।

राजा दशरथकी विजय एवं कैकेयीसे परिणय (२१-२५ पर्व)—भ्रमण करते हुए राजा दशरथ अनेक सामन्तोंके साथ केकय देश पहुँचे और वहाँकी राजपुत्री कैकेयीको स्वयम्वरमें जीत लिया। स्वयंवरमें समागत राजाओंने इन्हें अज्ञातकुलशील समझकर इनको युद्ध करनेका निमन्त्रण दिया। दशरथने रणभूमिमें उतरकर वीरतापूर्वक युद्ध किया और कैकेयीने उनके रथका संचालन किया। जिससे महाराज दशरथ बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कैकेयीसे वर माँगनेको कहा। समय पाकर चारों रानियोंको चार पुत्र उत्पन्न हुए। कौशल्याने राम, सुमित्राने लक्ष्मण, कैकेयीने भरत और सुप्रभाने शत्रुघ्नको जन्म दिया।

सीताका जन्म (२६-३० पर्व)—राजा जनकके यहाँ सीता नामक पुत्री और भामण्डल नामक पुत्रने जन्म लिया। पूर्वजन्मकी शत्रुताके कारण किसी विद्याधरकुमारने भामण्डलका अपहरण किया और उसे वनमें छोड़ दिया। इस कुमारका लालन-पालन चन्द्रगति नामक विद्याधरने किया। नारद किसी कारणवश सीतासे रुष्ट हो गये और उसका एक सुन्दर चित्रपट तैयार कर भामण्डलको भेंट किया। भामण्डल सीताके सुन्दर रूपको देखते ही आसक्त हो गया और विद्याधरों सहित मिथिला पर आक्रमण कर दिया, पर मनोहर नगर और वाटिकाको देखते ही उसे जातिस्मरण हो गया और उसे यह ज्ञात हो गया कि सीता उसकी सहोदरा है। अतएव उसने जनकके समक्ष अपना परिचय प्रस्तुत किया तथा उन्हें सीताका स्वयम्वर करनेका परामर्श दिया।

स्वयम्वरमें वज्रावर्त धनुषको चढ़ानेकी शर्त रखी गयी। अन्य राजाओंके असमर्थ रहने पर रामने इस धनुषको चढ़ाया और सीताके साथ उनका विवाह सम्पन्न हुआ।

रामके बड़े होने पर दशरथको संसारसे विरक्ति हो गयी और वे रामको राजा बनाकर स्वयं मुनिदीक्षा ग्रहण करनेकी तैयारी करने लगे। जब कैकेयीको यह समाचार ज्ञात हुआ, तो उसने अपने सुरक्षित वरको माँग लिया, जिसके अनुसार भरतको अयोध्याका राज्य और रामको वनवास दिया गया।

३. वनभ्रमण

(क) **रामका वनवास** (४१ वां पर्व)—राम लक्ष्मण और सीताके साथ दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये। मार्गमें कितने ही त्रस्त राजाओंका अभयदानद्वारा उद्धार किया। कैकेयी और भरत वनमें जाकर रामको लौट आनेका अनुरोध करने लगे, पर पिताकी इच्छाके विरुद्ध कार्य करना रामने स्वीकार नहीं किया।

(ख) **युद्धोंका वर्णन** (४२ वां पर्व)—राम-लक्ष्मणने यहाँ पर अनेक शत्रुओं, धर्मविरोधियों, पापियों और अन्यायी अत्याचारियोंको सही मार्ग पर न आनेके कारण यमलोक भेज दिया। राजा वज्रकर्णको सिंहोदरके चक्रसे बचाया, वाल्याविल्यको म्लेच्छके कारागारसे मुक्त किया एव भरतका विरोध करनेवाले अतिवीर्यका नर्तकीका वेशधारण कर लक्ष्मणने उसका मान खण्डित किया। लक्ष्मणका अनेक राजकुमारियोंके साथ विवाह हुआ। दण्डकवनमें निवास करते हुए राम-लक्ष्मणने मुनिको आहारदान दिया और जटायु नामक वृद्ध तपस्वीसे सम्पर्क स्थापित किया।

(ग) **शम्बूकमरण एवं खरदूषणसे युद्ध** (४३–४४ पर्व)—सूर्यहास नामक तलवारको पाने हेतु खरदूषणका पुत्र शम्बूक तपस्या कर रहा था, किन्तु भ्रमवश बाँसोंके भिड़ेमें छिपे हुए शम्बूकका लक्ष्मण द्वारा अस्त्रपरीक्षासे मरण हो गया। विलाप करती हुई उसकी माता चन्द्रनखा लक्ष्मणके रूपसे मोहित होकर कामतृप्तिकी भिक्षा माँगने लगी, किन्तु उसमें असफलता देख, पतिसे लक्ष्मणपर बलात्कारका दोषारोपण कर युद्ध करनेका अनुरोध किया। दोनों पक्षोंमें भयंकर युद्ध हुआ, खरदूषण आदि अनेक राक्षस यमपुरी पहुँचा दिये गये।

४. **सीताहरण और अन्वेषण** (४५–५५ पर्व)—अपने बहनोईकी सहायता करनेके हेतु आया हुआ रावण सीताके अनिन्द्य लावण्यको देखकर मोहित हो

गया। उस समय राम-लक्ष्मण बाहर गये हुए थे। अतः बलात् उसका अपहरण कर, अपने पुष्पक विमानमें बैठाकर लंकाकी ओर चल दिया। मार्गमें जटायु एवं रत्नजटी नामक विद्याधरोंसे युद्ध करना पड़ा, पर इस युद्धमें रावणकी ही विजय रही।

राम जब युद्ध समाप्त कर वापस लौटे, तो कुटियाको सीतासे शून्य देखकर विलाप करने लगे। रामने अपने कार्यके सिद्ध्यर्थ वानरवंशी राजा सुग्रीवसे मित्रता की और उनकी सहायतासे सीताका पता लगाया।

५. युद्ध (५६–७८ पर्व)—सुग्रीव आदि विद्याधरोंकी सहायतासे रामकी समस्त सेना आकाशमार्ग द्वारा लंका पहुँच गयी और रामने भयंकर युद्ध आरम्भ किया। सर्वप्रथम रामने रावणके पास संधिका प्रस्ताव भेजा, पर उसने उसे अस्वीकार कर दिया। रावणके अनैतिक व्यवहारसे दुःखी होकर विभीषण भी रामसे आकर मिल गया और रामने विभीषणको लंकाका राज्य देनेका संकल्प कर लिया। दोनों ओरसे भयंकर युद्ध हुआ और अन्तमें पापपर पुण्यकी विजय हुई। रामने रावणका वध कर पृथ्वीको निष्कंटक बनाया।

६. उत्तरचरित

(क) राज्योंका वितरण एवं सीतात्याग (७९–१०३ पर्व)—रावणकी मृत्युके पश्चात् राम-लक्ष्मणने लंकावासियोंको आश्वासन दिया और युद्धसे अस्त-व्यस्त लंकाकी स्थितिको सम्भाला। अनन्तर अयोध्या लौट आनेपर अपने राज्यका समुचित बँटवारा किया।

समय पाकर सीता गर्भवती हुई किन्तु दुर्भाग्यसे रावणके यहाँ निवास करनेके कारण प्रजा द्वारा निन्दा होनेसे, रामने सीताका निर्वासन कर दिया। सीता वन-वन भ्रमण करने लगी, उसने वज्रजंघ मुनिके आश्रममें लव और कुशको जन्म दिया।

(ख) अग्निपरीक्षा (१०४–१०९ पर्व)—दिग्विजयके समय लव और कुशका राम-लक्ष्मणके साथ घनघोर युद्ध हुआ। नारदने उपस्थित होकर राम-लक्ष्मणको लव और कुशका परिचय कराया। अग्निपरीक्षा द्वारा सीताकी शुद्धि की गयी। सीताके शीलके प्रभावसे अग्निका दहकता कुण्ड शीतल जल बन गया। रामने सीतासे पुनः गृहावासमें सम्मिलित होनेका अनुरोध किया, पर सीताने अनुरोधको ठुकरा दिया और आर्यिकाका व्रत ग्रहण कर लिया तथा तपश्चरण द्वारा द्वादशम स्वर्गका लाभ किया।

नारायण और बलभद्रके प्रेम-सौहार्दकी चर्चा स्वर्गलोक तक व्याप्त हो गयी। अतएव परीक्षार्थं दो देव अयोध्या आये और लक्ष्मणसे रामके मरणका असत्य समाचार कहा। लक्ष्मण सुनते ही निष्प्राण हो गये, इस समाचारसे राम अत्यन्त दुःखित हुये और लक्ष्मणके मोहमें उनके शवको लिये हुए छः मास तक घूमते रहे। अन्तमें कृतान्तवक्रके जीवने, जो स्वर्गमें देव हुआ था, रामको समझाया। रामने लक्ष्मणके शवकी अन्त्येष्टि क्रिया की और राम जिनदीक्षा लेकर तपश्चरण द्वारा मोक्ष पधारे।

समीक्षा

इस कथावस्तुमें घटनाओं और आख्यानोंका नियोजन बड़े ही सुन्दररूपमें किया गया है। चरित-काव्यकी सफलताके लिए कथानकका जैसा गठन होना चाहिये वैसा इस ग्रन्थमें उपलब्ध है। कालक्रमसे विशृंखलित घटनाओंको रीढ़की हड्डीके समान दृढ़ और सुसंगठित रूपमें उपस्थित किया है। रामकी मूलकथाके चारों ओर अन्य घटनाएँ लताके समान उगती, बढ़ती और फैलती हुई चली हैं। कथानकोंका उतार-चढ़ाव पर्याप्त सुगठित है। पात्रोंके भाग्य बदलते हैं। परिस्थितियाँ उन्हें कुछसे कुछ बना देती हैं। वे जीवनसंघर्षमें जूझकर घर्षणशील रूपकी अवतारणा करते हैं। निस्संदेह रविषेणने कथानक-सूत्रोंको कलात्मक ढंगसे संजोया है।

पद्मचरितकी कथावस्तुमें निम्नलिखित तत्त्व उपलब्ध हैं—

(क) योग्यता

(ख) अवसर

(ग) सत्कार्यता

(घ) रूपाकृति

योग्यता

कथानकको अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियोंकी ओर मोड़ना योग्यताके अन्तर्गत आता है। रावणद्वारा 'दशरथ-जनक-संतति विनाशका कारण होगी' ऐसी शंका होने पर उनके विनाशकी योजना, साहसगति विद्याधर द्वारा सुग्रीवका वेष बनाकर उसके राज्य पर आधिपत्य करना, रामके वनवासमें छायाके समान लक्ष्मण द्वारा भाईकी सेवा करना आदि प्रसंगोंके गठनमें कविने योग्यतातत्त्वका समावेश किया है। रावणका राम-लक्ष्मणको बलिष्ठ समझ अपने भाई एवं पुत्रोंके बन्दी होने पर विजयप्राप्त्यर्थ बहुरूपिणी विद्याको सिद्ध करनेके लिए प्रस्तुत होना कथानकको प्रतिकूलसे अनुकूल परिस्थितियोंकी ओर

मोड़ना है। इसी प्रकार अग्निपरीक्षामें अग्नि-कुण्डका जल-कुण्ड होना भी योग्यतातत्त्वके अन्तर्गत है।

अवसर

रसपुष्टिके लिए यथासमय रसमय प्रसंग या सन्दर्भोंका प्रस्तुतीकरण कथानकनियोजनमें अवसरतत्त्व है। पवनञ्जय विलाप करती हुई अंजनापर, दृष्टिपात भी नहीं करता है, किन्तु सूर्यास्तके समय पतिवियोगमें विलपती हुई चकवीको देखकर अंजनाकी मानसिक स्थितिका अनुमान लगा, पवनञ्जयका युद्धके लिए जाते हुए मार्गमेंसे लौट आना अवसरतत्त्वके अन्तर्गत है। इसी प्रकार भरतद्वारा रामसे राज्य करनेका आग्रह करनेपर भी रामकी अस्वीकृतिके कारण उन्हींकी आज्ञासे निश्चित समय तक राज्य स्वीकार करना भी कथानकका अवसरतत्त्व है। रथनूपुरके मायामयी परकोटेको तोड़नेके लिए नलकूवरकी पत्नीका प्रसाधन भी अवसरतत्त्वके अन्तर्गत है।

सत्कार्यता

सत्कार्यतासे तात्पर्य इस प्रकारसे संदर्भोंके संयोजनसे है, जो स्वतन्त्ररूपमें अपना अस्तित्व रखकर प्रसंगगर्भत्वको प्राप्त हो किसी कार्यविशेषकी अभिव्यंजना करते हैं। रावणद्वारा विद्यासिद्धिहेतु तपस्या करना, देवोंका उपद्रव कर उसको अपने लक्ष्यसे विचलित करनेका प्रयत्न करना, दशरथद्वारा कैकेयीको स्वयम्वरमें प्राप्त कर, युद्धमें सहयोग देनेपर वर प्रदान करना आदि प्रसंग स्वतन्त्र होते हुए भी मूलकथानकमें गर्भित होकर कार्यविशेषकी अभिव्यंजना कर रहे हैं।

रूपाकृति

कथावस्तुमें इतिवृत्तका वस्तुव्यापारोंके साथ उचित एवं संतुलितरूपमें नियोजन द्वारा रूपाकृति उपस्थित करना, रूपाकृति नामक तत्त्व है। मूल कथानकके साथ अवान्तर कथाओंका संमिश्रण अंग-अगीभाव द्वारा करना ही इस तत्त्वका कार्य है। कवि कथावस्तुका विस्तार न करके छोटी-छोटी कथाओं द्वारा भी रूपाकृति तत्त्वका नियोजन कर सकता है। 'पद्मचरितम्' में राम-लक्ष्मण वनमें निवास करते हैं, लक्ष्मणद्वारा शम्बूकका वध हो जाता है। शोकाकुलिता उसकी माता चन्द्रनखा राम-लक्ष्मणको देखकर मोहित हो, अभिलाषाकी पूर्ति न होनेपर रुष्ट हो जाती है और अपने पतिसे उल्टा-सीधा भिड़ा देती है। इस प्रकारकी अवान्तरकथाएँ पद्मचरितमें कई दशक हैं। इन अवान्तरकथाओंका

वस्तुव्यापारोंके साथ अंग-अंगीभावसे संयोजन किया गया है। अतएव रूपाकृतितत्त्वका पूर्ण समावेश हुआ है।

रविषेणने कथा-वस्तुके साथ वानरवंश, राक्षसवंश आदिकी व्याख्याएँ भी बुद्धिसंगत की हैं। निःसन्देह कविका यह ग्रन्थ प्राकृत 'पउमचरियं' पर आधृत होनेपर भी कई मौलिकताओंकी दृष्टिसे अद्वितीय है।

वानरवंशकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें वाल्मीकिने लिखा है कि ब्रह्माका निर्देश पाकर अनेक देवताओंने अप्सराओं, यक्ष, ऋक्ष, नागकन्याओं, किन्नरियों, विद्याधरियों एवं वानरियोंके संयोगसे सहस्रों पुत्र उत्पन्न किये। माता-पिताके प्राकृतिक गुणोंसे युक्त होनेके कारण ये स्वभावतः साहसी, पराक्रमी, धर्मात्मा, न्यायनीतिप्रिय एवं तेजस्वी हुए। ब्रह्मासे जामवान, इन्द्रसे बलि, सूर्यसे सुग्रीव, विश्वकर्मासे नल, अग्निसे नील, कुबेरसे गन्धमादन, बृहस्पतिसे तार, अश्वनीकुमारोंसे मयन्द और द्विविन्द, वरुणसे सुषेण एवं वायुसे हनुमानकी उत्पत्ति हुई।

रविषेणके मतानुसार देवताओंसे वानरोंकी उत्पत्ति नहीं हुई है,[1] न वानर और देवताओंका शारीरिक संयोग सम्बन्ध ही सिद्ध होता है। अतः ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, विश्वकर्मा, नल, अग्नि, कुबेर, वरुण, पवन आदि तत्तद् नामधारी मानवव्यक्तिविशेष हैं। इन व्यक्तिविशेषोंसे ही वानरजातिके व्यक्ति पैदा हुए हैं।

रविषेणके मतमें वानर एक मानवजातिविशेष हैं। जिन विद्याधर राजाओंने अपना ध्वज-चिह्न वानर अपना लिया था, वे विद्याधर राजा वानरवंशी कहलाने लगे।[2] वानर पशु नहीं हैं, मनुष्य हैं जो विद्याधरों या भूमिगोचरियोंके रूपमें वर्णित हैं। इस प्रकार रविषेणने वाल्मीकिद्वारा कल्पित पशुजातिका मानवीकरण किया है।

इसी प्रकार राक्षसवंशके सम्बन्धमें भी रविषेणकी मान्यता वाल्मीकिसे भिन्न है। रविषेणने जिस प्रकार वानरद्वीपनिवासियोंको वानरवंशी माना है[3], उसी प्रकार राक्षसद्वीपवासियोंको राक्षसवंशी कहा है। बताया है कि विजयार्द्धके पश्चिममें एक द्वीप है, जहाँ विद्याधर राजाओंका निवास है। उस द्वीपका नाम राक्षस द्वीप है। अतः वहाँके निवासी राक्षस कहलाने लगे हैं। अमराख्य और भानुराख्य नामक तेजस्वी राजाओंकी परम्परामें मेघवाहन नामक पुत्रने जन्म लिया। इसके राक्षसनामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो अत्यन्त

---

१. पद्मचरितम् ६।१२३, ६।७०-७१, ६।७२-७५।

२. वही ६।२१४, ६।१८२–१८६।

३. वही ५।३८५।

प्रभावशाली एवं स्वयशाभिलाषी हुआ[1] । इस राक्षस राजासे प्रवर्तित वंश राक्षस-वंश कहलाने लगा। ये राक्षस जनसाधारणकी रक्षा करते थे, इसलिये भी राक्षस कहलाने लगे। अतएव रावणको राक्षस मानना भूल है। ये सम्भ्रान्त मानव थे, राक्षस नहीं। इस प्रकार कविने राक्षस और वानरवंशकी विशिष्ट व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।

छन्द, अलंकार आदिकी दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इसमें ४१ प्रकारके छन्दोंका व्यवहार किया गया है।

क्रमसं०	नामछन्द	संख्या
१	अनुष्टुप्	१६४४०
२	अतिरुचिरा	५
३	अपरवक्त्रं	१
४	अश्वललितम्	१
५	आर्या	१२
६	आर्यावृत्तम्	८
७	आर्याछन्द	४९
८	आर्यागीति	२७
९	इन्द्रवज्रा	१२
१०	इन्द्रवदना	२
११	उपजाति	१३४
१२	उपेन्द्रवज्रा	३३
१३	कोकिलकच्छन्द	१
१४	चण्डी	१
१५	चतुष्पदिका	२
१६	द्रुतविलम्बित	१०
१७	दोधक	१०
१८	त्रोटक	१
१९	पृथ्वी	३
२०	प्रहर्षिणी	१
२१	पुष्पिताग्रा	६
२२	प्रमाणिका	१
२३	भद्रक	१

१. पद्मचरित, ५।३८६।

क्रमसं०	नामछन्द	संख्या
२४	भुजंगप्रयात	५
२५	मन्दाक्रान्ता	१५
२६	मत्तमयूर	१
२७	मालिनी	२१९
२८	रथोद्धता	४
२९	रुचिरा	७
३०	वंशस्थ	२५
३१	वसन्ततिलका	६
३२	वियोगिनी	७
३३	विद्युन्माला	१
३४	वंशपत्रपतितम्	१
३५	स्रग्धरा	५
३६	शार्दूलविक्रीडितम्	२५
३७	शालिनी	७
३८	शिखरिणी	३
३९	श्रक्छन्द	१
४०	हरिणी	१

इस ग्रन्थमें इक्कीस छन्द इस प्रकारके आये हैं, जिनका निर्धारण सम्भव नहीं है। यथा १७।४०५-४०६, ४२।३७, ६४, ७७; ११२।९५, ९६, ११४।५४, ५५, १२३।१७०-१७९,१८१,१८२। रविषेणाचार्यने संगीतात्मक संगीत विकासके लिये छन्दोयोजना की है। यतः विशिष्ट भावोंकी अभिव्यक्ति विशिष्ट छन्दोंके द्वारा ही उपयुक्त होती है। लयकी व्यवस्था छन्दोंके निर्माणमें सहायक होती है। यही कारण है कि रविषेणने लय और स्वरोंका सुन्दर निर्वाह किया है। इनकी छन्दोयोजनाके निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

१ संगीत-धर्मका प्रादुर्भाव

२. रागात्मक वृत्तियोंका अनुरंजन

३. विशेष मनोभावोंका क्षनुरंजन

४. प्रेषणीयताका समावेश

अलंकार-योजनाकी अपेक्षासे भी यह काव्य सफल है। इसमें अनुप्रास, श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, सन्देह, मीलित, सार, विरोधाभास भ्रान्तिमान, उल्लेख, उत्तर, स्मरण, परिकर, अनन्वय, विनोक्ति, दृष्टान्त,

काव्यलिंग, निदर्शना, यथासंख्य, विशेषोक्ति, स्वभावोक्ति, प्रतीप, उदात्त, संसृष्टि आदि ३२ प्रकारके अलंकार प्रयुक्त हुए हैं। विशेषोक्ति, यथासंख्य और काव्यलिंगके उदाहरण दिये जा रहे हैं—

विशेषोक्ति—

शौर्यरक्षितलो कोऽपि नयानुगतमानसः।
लक्ष्म्यापि कृतसम्बन्धो न गर्वग्रहदूषितः[1] ॥

राजा श्रेणिक अपनी शूर-वीरतासे समस्त लोकोंकी रक्षा करता था, तो भी उसका मन सदा नीतिपूर्ण था। लक्ष्मीसे उसका सम्बन्ध था, फिर भी वह अहंकारग्रहसे दूषित नहीं होता था।

यहाँ पर कारण दर्शाते हुए भी कार्यामुख बताया गया है, अतः विशेषोक्ति अलंकार है।

यथासंख्य—

स्फुरद्यशःप्रतापाभ्यामाक्रान्तभुवनावथ।
अभिरामदुरालोकौ शीततिग्मकराविव[2] ॥

बढ़ते हुये यश और प्रतापसे लोकको व्याप्त करनेवाले लव और कुश चन्द्र एवं सूर्यके समान सुन्दर तथा दुरालोक हो गये। यहाँ पर चन्द्र और सूर्यका अन्वय सुन्दर और दुरालोकके साथ क्रमशः हो किया गया है।

स्वभावोक्ति—

वीक्षमाणः सितान् दन्तान् दाडिमीपुष्पलोहिते।
अवटीटे मुखे तेषां भास्वत्काञ्चनतारके[3] ॥

इस पद्यमें वानरजातिके स्वाभाविक गुणोंका वर्णन होनेसे स्वभावोक्ति अलंकार है। इसी प्रकार नर्मदावर्णन, सुमेरुवर्णन, वनवर्णन आदिमें भी मानवीकरण किया गया है। आचार्यने अपने काव्यके आधारका स्वयं निरूपण करते हुये लिखा है—

वर्द्धमानजिनेन्द्रोक्तः सोऽयमर्थो गणेश्वरम्।
इन्द्रभूतिं परिप्राप्तः सुधर्मं धारणीभवम् ॥
प्रभवं क्रमतः कीर्तिं ततोऽनु(नू)त्तरवाग्मिनम्।
लिखितं तस्य संप्राप्य रवेर्यत्नोऽयमुद्गतः[4] ॥

---

१. पद्मचरित २।५३

२. वही १००।५३।

३. पद्मचरित, ६।११४।

४. वही १।४१-४२।

वर्द्धमान जिनेन्द्रके द्वारा कहा हुआ यह अर्थ इन्द्रभूति नामक गौतम गणधरको प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् धारिणीके पुत्र सुधर्माचार्यको। तदनन्तर प्रभवको और पश्चात् श्रेष्ठ वक्ता कीर्तिधर आचार्यको उक्त अर्थ प्राप्त हुआ। आचार्य रविषेणने इन्हीं कीर्तिधर आचार्यके वचनोंका अवलोकन कर, इस 'पद्मचरितम्'की रचना की है।

यहाँ यह विचारणीय है कि पद्ममें आया हुआ कीर्तिधर आचार्य कौन है और उसके द्वारा रामकथा सम्बन्धी कौन-सा काव्य लिखा गया है? जैन साहित्यके आलोकमें उक्त प्रश्नोंका उत्तर प्राप्त नहीं होता है। श्रीनाथूरामजी प्रेमीने इस ग्रन्थकी रचना प्राकृत 'पउमचरियं'के आधार पर मानी है। अतः संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि यह एक सफल काव्य है, जिसकी रचना कवि आचार्य रविषेणके द्वारा की गयी है।

भूगोलकी दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ अत्यधिक उपयोगी है। इसमें सृष्टिको अनादिनिधन बताया गया है और उत्सर्पण एवं अवसर्पण कालमें होनेवाली वृद्धि-ह्रानिका कथन आया है। युगमानका वर्णन प्रायः 'तिलोयपण्णत्ति'के समान है। भोगभूमि और कर्मभूमिकी व्यवस्था भी उसीके समान वर्णित है। बताया है कि भोगभूमिके पर्वत अत्यन्त ऊँचे, पाँच प्रकारके वर्णोंसे उज्जवल, नाना प्रकारकी रत्नोंकी कान्तिसे व्याप्त एवं सर्वप्राणियोंको सुखोत्पादक होते हैं। नदियोंमें मगरमच्छ आदि नहीं रहते, पर कर्मभूमिमें यह व्यवस्था परिवर्तित हो जाती है।

जटासिंहनन्दि

पुराण-काव्यनिर्माताके रूपमें जटाचार्यका नाम विशेषरूपसे प्रसिद्ध है। जिनसेन, उद्योतनसूरि आदि प्राचीन आचार्योंने जटासिंहनन्दिकी प्रशंसा की है। जिनसेन प्रथमने लिखा है—

वराङ्गनेव सर्वाङ्गैर्वराङ्गचरितार्थवाक्।
कस्य नोत्पादयेद् गाढमनुरागं स्वगोचरम्॥[1]

जिस प्रकार उत्तम स्त्री अपने हस्त, मुख, पाद आदि अंगोंके द्वारा अपने विषयमें गाढ़ अनुराग उत्पन्न करती है, उसी प्रकार वराङ्गचरितकी अर्थपूर्ण वाणी भी अपने समस्त छन्द, अलंकार, रीति आदि अंगोंसे अपने विषयमें किसी भी रसिक समालोचकके हृदयमें गाढ़ राग उत्पन्न करती है।

जिनसेन द्वितीयने भी अपने आदिपुराणमें जटाचार्यका आदरपूर्वक स्मरण किया है। लिखा है—

---

१. हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण १।३५।

काव्यानुचिन्तते यस्य जटाः प्रबलवृत्तयः ।
अर्थानस्मान् वदन्तीव जटाचार्यः स नोऽवतात् ॥[1]

जिनकी जटारूप प्रबल—युक्तिपूर्ण वृत्तियाँ—टीकाएँ काव्योंके अनुचिन्तनमें ऐसी शोभायमान होती थी, मानों हमें उन काव्योंका अर्थ ही बतला रही हैं, इस प्रकारके वे आचार्य जटासिंह हमलोगोंकी रक्षा करें।

उद्योतनसूरिने अपनी कुवलयमालामें वराङ्गचरितके रचयिताके रूपमें जटाचार्यका उल्लेख किया है।

जेहि कए रमणिज्जे वरंग-पउमाण-चरिय वित्थारे ।
कह व ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय-रविसेणे ॥[2]

इसी प्रकार धवल कविने भी जटाचार्यका आदर पूर्वक स्मरण किया है—

मुणि महसेणु सुलोयणु जेण पउमचरिउ मुणि रविसेणेण ।
जिणसेणेण हरिवंसु पवित्तु जडिल मुणिणा वरंगचरित्तु ॥[3]

चामुण्डरायने चामुण्डपुराणमें जटासिंहनन्दि आचार्यका वर्णन किया है और इसमें उन्होंने वराङ्गचरितके रचयिताके रूपमें जटासिंहनन्दिको माना है।

जीवन-परिचय

डॉ० ए० एन० उपाध्येने भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूनाकी पत्रिका १४ वीं जिल्दके प्रथम-द्वितीय अंकमें वराङ्गचरित और उसके कर्त्ता जटासिंहनन्दिपर विस्तृत शोधनिबन्ध प्रकाशित किया था। तदनन्तर उन्हीं द्वारा सम्पादित उक्त ग्रन्थ सन् १९३८ में प्रकाशित हुआ। इसकी प्रस्तावनामें आपने लिखा है—

"किसी समय निजाम स्टेटका 'कोपल' ग्राम, जिसे 'कोपण' भी कहते हैं, संस्कृतिका एक प्रसिद्ध केन्द्र था। मध्यकालीन भारतमें जैनोंमें इसकी अच्छी ख्याति थी और आज भी यह स्थान पुरातन-प्रेमियोंके स्नेहका भाजन बना हुआ है। इसके निकट पल्लकोगुण्डु नामकी पहाड़ीपर अशोकका एक अभिलेख उत्कीर्णित है, जिसके निकट दो पद-चिह्न अंकित हैं। उनके ठीक नीचे

१. आदिपुराण १।५० ।

२. कुवलयमाला, सिंघी सीरिज, अनुच्छेद छः पृ० ४ ।

३. सी० पी० और बरारकी संस्कृतप्रतियोंका कैटलॉग, पृ० ७६४ ।

पुरानी कन्नड़में दो पंक्तिका एक अभिलेख उत्कीर्ण है, जिसमें लिखा है कि "चावय्यने जटासिंहनन्द्याचार्यके पदचिन्होंको तैयार कराया"।[1]

इससे विदित है कि जटासिंहनन्द्याचार्यने 'कोप्पल' में समाधिमरण धारण किया था। डॉ० उपाध्येका अनुमान है कि ये जटासिंहनन्दि ही प्रस्तुत महाकवि हैं। कन्नड़साहित्यमें आये हुये इनके विविध उल्लेख इन्हें कर्नाटक अधिवासी सिद्ध करते हैं। साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि कोप्पलमें इन्होंने अपना अन्तिम जीवन व्यतीत किया होगा। *वराङ्गचरितमें आये हुये वर्णनोंसे* भी ये दाक्षिणात्य सिद्ध होते हैं।

स्थितिकाल

ग्रन्थकार अपने परिचय और ग्रन्थरचना-समयके सम्बन्धमें मौन हैं। उत्तरकालीन लेखकोंके उल्लेखोंके आधारपर ही इनके समयका अनुमान किया जाता है। उद्योतनसूरिकी 'कुवलयमाला', जिनसेन प्रथमके 'हरिवंशपुराण' एवं जिनसेन द्वितीयके 'आदिपुराण' के उल्लेखोंके अतिरिक्त उत्तरवर्त्ती पम्प, रायमल्लके मन्त्री और सेनापति चामुण्डराय, धवल, नयसेन, पार्श्वपण्डित, महाकवि जन्न, *गुणवर्म, कमलभव एवं महाबल कवियोंने भी वराङ्गचरित या जटाचार्य अथवा* दोनोंका स्मरण किया है। अतएव यह निष्कर्ष निकालना सहज है कि जटाचार्य और उनके वराङ्गचरितकी ख्याति ई० सन् को आठवीं शतीके पूर्व ही हो चुकी थी। यत: उद्योतनसूरिका समय ई० सन् ७७८ है। जिनसेन प्रथमने हरिवंशकी समाप्ति सन् ७८३ ई० में की थी। आदिपुराण (८३८ ई०) में जिनसेन द्वितीयने जटाचार्यके जिस स्वरूपका निर्देश किया है, उस स्वरूपसे प्रतीत होता है कि इनकी लहराती हुई जटाएँ लम्बी-लम्बी थीं। इसी कारण ये जटिल या जटाचार्य कहे जाते थे। इसके पश्चात् तो जटाचार्य और उनके वराङ्गचरितकी ख्याति इतनी बढ़ी कि १०वीं शताब्दीके कन्नड़ महाकवि पम्पने इनका आदर पूर्वक स्मरण किया और चामुण्डरायने तो वराङ्गचरितके उद्धरण हो दे डाले हैं। ११ वीं और १२ वीं शतीके अपभ्रंशके महाकवि धवल और कन्नड़के महाकवि नयसेन[1] ने भी इनका स्मरण किया है। १३ वीं शतीमें वराङ्गचरित कवियोंका आदर्श काव्य बन गया था। फलत: पार्श्वपण्डित (ई० १२०५) जन्न (ई० सन्१२०९), गुणवर्म (ई० १२३०), कमलभव (अनुमानत: ई० १२३५) और महाबल (ई० १२५४) ने गौरवके साथ इनका स्मरण किया है। ये उल्लेख वराङ्गचरित और उसके कर्त्ता जटाचार्यकी ख्याति एवं लोकप्रियताको प्रकट

१. वराङ्गचरित, प्रस्तावना, पृ० ६३।

करते हैं। तथा सभी भाषा और सम्प्रदायोंके कवियों द्वारा उनका आदर किया जाना बतलाते हैं। उद्योतनसूरिने इनका उल्लेख रविषेणसे पहले किया है। उससे अनुमान है कि आचार्य रविषेणसे वराङ्गचरितकार पूर्ववर्ती हैं और अधिक प्रसिद्ध रहे होंगे। अतः कहा जा सकता है कि जैन संस्कृत-प्रबन्ध-काव्यके ये ही आद्य रचयिता हैं। जिस प्रकार आचार्य समन्तभद्र संस्कृतके आद्य स्तुतिकार हैं, उसी प्रकार जटासिंहनन्दि आदि प्रबन्ध-काव्यरचयिता हैं।

पद्मचरित और वराङ्गचरित इन दोनोंकी शैली और स्थापत्यके अध्ययनसे ऐसा भी अवगत होता है कि वराङ्गचरित पद्मचरितके पश्चात् लिखा गया है। यतः पद्मचरितका स्थापत्य पुराणका है, तो वराङ्गचरितका स्थापत्य पुराण-काव्यका है। पुराण और पुराण-काव्यमें पर्याप्त अन्तर है। पुराणमें कथा सर्ग-बद्ध होती है और साथ ही उसमें सानुबन्धता पायी जाती है। वराङ्गचरितकी कथामें अनुबन्धोंकी कमी है। अतः हमारा अनुमान है कि वरांगचरित पद्म-चरितसे कम-से-कम बीस वर्ष बाद लिखा गया है। संस्कृत-काव्यक्षेत्रमें रामायण, व महाभारतके पश्चात् अलंकृतकाव्योंका प्रादुर्भाव होने लगा था और भारवि जैसे कवि किरातार्जुनीय जैसे काव्योंका प्रणयन कर चुके थे। वराङ्गचरित पर 'किरात'के स्थापत्यका गहरा प्रभाव है। छन्दोंका प्रयोग तो 'किरात'के समान है ही, पर युद्ध और वस्तु वर्णन भी 'किरात'के समकक्ष है। अतएव जटासिंह-नन्दिका समय भारविसे कुछ पश्चाद्वर्ती अर्थात् ७वीं शताब्दीका अन्तिम पाद होना चाहिये। उद्योतनसूरिके निर्देशसे ये ९वीं शताब्दीसे पूर्ववर्ती हैं। अतएव इनका समय ७वींका उत्तरार्ध एवं ८वीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध है।

---

१. नयसेनने धर्मामृतके प्रारम्भमें नवम पद्यसे लेकर उन्नतालीसवें पद्य तक गुरु-परम्पराका स्मरण किया है। यह निम्न प्रकार है—अर्हद्बलि, गुणधरभट्टारक, आर्यमंक्षु, नागहस्ति, धरसेनाचार्य, पुष्पदन्त, भूतबलि, जयनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, जटासिंहनन्दि, कूचीभट्टारक, समन्तभद्र, पूज्यपाद, विद्यानन्द, सिद्धसेन, श्रुतकीर्ति, प्रभाचन्द्र, जिनसेन पण्डित, यतिवृषभ, शुभचन्द्र, सिद्धान्तदेव, रामनन्दि सैद्धान्तिक जिनसेनाचार्य, इन्द्रसेन, भेरुण्ड पण्डित, सिद्धातेष, वादिराज, मेघचन्द्र, कीर्तिदेव, राजसिंह, पद्मनन्दि, सागरचन्द, वासपूज्य भट्टारक, प्रभाचन्द्र भट्टारक, चारुसेनाचार्य अमोघचन्द्र, रामसेनवृति, कनकनन्दि, अकलंकदेव, माघनन्दि, पम्प, रन्न, जन्न और गुणधर्मका स्मरण किया है। नयसेनका प्रस्तुत ग्रन्थ शक सं० १०३७ नन्द संवत्सरके भाद्रपदके शुक्लपक्ष में हस्तार्क दिनको समाप्त हुआ है। ग्रन्थ-का रचनाकाल ग्रन्थमें अंकित है।

रचनाएँ और प्रतिभा

जटासिंहनन्दिकी वराङ्गचरितके अतिरिक्त अन्य कोई रचना उपलब्ध नहीं है। पर वराङ्गचरितकी प्रौढ़ता और उसमें प्रसंगवश आये हुये सैद्धान्तिक वर्णनां के अवलोकनसे यह विश्वास नहीं होता कि इस कविकी यही एक रचना रही होगी। हमारे इस अनुमानकी पुष्टि योगेन्द्ररचित 'अमृताशीति'में जटाचार्यके नामसे आये हुए निम्नलिखित उद्धरणसे भी होती है—

'जटासिंहनन्द्याचार्यवृत्तम्'

तावत्क्रियाः प्रवर्त्तन्ते यावदद्वैतस्य गोचरं।
अद्वये निष्फले प्राप्ते निष्क्रियस्य कुतः क्रिया ॥[1]

यह पद्य वराङ्गचरितमें नहीं मिलता है। जटाचार्यके नामसे उल्लिखित होनेके कारण, जिसमें यह पद्य रहा है, ऐसी अन्य कोई रचना होनी चाहिए।

कविने वराङ्गचरितको चतुर्वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ गुम्फित धर्म-कथा कहा है—

सर्वज्ञभाषितमहानदधौतबुद्धिः
स्पष्टेन्द्रियः स्थिरमतिर्मितवाङ्मनोज्ञः।
मृष्टाक्षरो जितसभः प्रगृहीतवाक्यो
वक्तुं कथां प्रभवति प्रतिभादियुक्तः ॥
इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते।
स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते ॥
जनपद-नगर-नृपति-नृपपत्नीवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः[2]।

वराङ्गचरित एक पौराणिक महाकाव्य है। इसमें पुराणतत्त्व और काव्य-तत्त्वका मिश्रण है। इसकी कथावस्तुके नायक २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ तथा श्रीकृष्णके समकालिक वराङ्ग हैं। नायकमें धीरोदात्तके सभी गुण विद्यमान हैं। इस पौराणिक महाकाव्यमें नगर, ऋतु, उत्सव, क्रीड़ा, रति, विप्रलम्भ, विवाह, जन्म, राज्याभिषेक, युद्ध, विजय आदिका वर्णन महाकाव्यके समान ही है। इसमें ३१ सर्ग हैं। पर लक्षण-ग्रन्थोंके अनुसार महाकाव्यमें ३० सर्गसे अधिक नहीं होने चाहिए। नायक वराङ्गमें धर्मनिष्ठा, सदाचार, कर्त्तव्यपरायणता,

---

१. अमृताशीति, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, पु० २१, पृ० ९८, पद्य ६७
२. वराङ्गचरित, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, १९३८।

सहिष्णुता, विवेक, साहस, लौकिक और आध्यात्मिक शत्रुओं पर विजयप्राप्ति आदि धीरोदात्त[1] नायकके गुण पाये जाते हैं।

कथावस्तु

विनीत देशकी रम्या नदीके तटपर स्थिति उत्तमपुरमें भोजवंशी महाराज धर्मसेन राज्य करते थे। इनकी पट्टरानीका नाम गुणवती था, इस महादेवीके गर्भमे कुमार वराङ्गका जन्म हुआ था। वयस्क होनेपर वराङ्गकुमारका विवाह दश कुलीन कन्याओंके साथ कर दिया गया। वरदत्त नामक केवलीसे धर्मोपदेश सुनकर वराङ्गने अणुव्रत ग्रहण किये। जब वराङ्गको युवराज पद दिया गया, तो उसकी सौतेली माता तथा भाई सुषेणको ईर्ष्या हुई। इन्होंने सुबुद्धि मन्त्रीसे मिलकर षड्यन्त्र किया, फलतः मन्त्री द्वारा सुशिक्षित एक दुष्ट घोड़ा वराङ्गको लेकर जंगलकी ओर भागा और वराङ्ग सहित एक कुएँमें गिर गया। वराङ्ग किसी प्रकार कुएँसे निकलकर चला तो दुर्गम वनमें एक व्याघ्रने उसका पीछा किया। जंगली हाथीकी सहायतासे उसकी रक्षा होती है। अनन्तर एक यक्षिणी उसे एक अजगरसे बचाती है। अरण्यमें भटकते हुये वराङ्ग बलिके हेतु भील द्वारा पकड़ लिया जाता है; किन्तु सांपसे दंशित भिल्लराजके पुत्रका विष उतार देनेके कारण उसे मुक्ति मिल जाती है। कुमार वराङ्ग सेठ सागरबुद्धिके बंजारेसे मिलता है और उसकी जंगली डाकुओंसे रक्षा करता है। फलतः कश्चिद्भटके नामसे अज्ञातवास करने लगता है। हाथीके लोभसे मथुराधिपतिने ललितपुर पर आक्रमण किया, तो कश्चिद् भटने उसका सामना कर अपनी वीरताका परिचय दिया। अतएव ललितपुराधिपने आधा राज्य देकर वराङ्गका विवाह अपनी कन्यासे कर दिया।

वरांगके लुप्त होनेपर सुषेणको यौवराज पद प्राप्त होता है, पर योग्यताके अभावमें उसे शासनप्रबन्धमें सफलता प्राप्त नहीं होती। धर्मसेनको वृद्ध एवं उत्तराधिकारी शासक सुषेणको कायर समझकर वकुलाधिप उत्तमपुर पर आक्रमण करता है। अतः धर्मसेन ललितपुराधिपसे सैनिक सहायता माँगता है। इस अवसर पर वराङ्गकुमार उपस्थित हो वकुलाधिपको परास्त कर देता है। जनता उसका स्वागत करती है और वह विरोधियोंको क्षमाकर पिताकी अनुमतिसे दिग्विजयके लिए प्रस्थान करता है। एक नये समृद्ध राज्यकी वह स्थापना करता है, जिसकी राजधानी सरस्वती नदीके तटपर स्थित आनर्तपुरको बनाता है। कुमार वराङ्ग यहाँ पर एक विशाल जिन मन्दिरका निर्माण कराता

---

१. साहित्यदर्पण ३।३२।

है और धार्मिक आयोजन पूर्वक बिम्बप्रतिष्ठाविधिको सम्पन्न कराता है। नास्तिक मतोंका खण्डन कर मंत्रियोंके संदेहको निर्मूल कर उन्हें दृढ़ श्रद्धानी बनाता है। कुछ दिनोंके अनन्तर कुमार वरांगकी अनुपमा महारानीकी कुक्षिसे पुत्रका जन्म होता है, जिसका नाम सुगात्र रखा जाता है।

एक दिन कुमार वरांग आकाशसे टूटते हुए तारेको देखकर विरक्त हो जाता है और उसे संसारको अनित्यताका भान होता है। वह अपने पुत्र सुगात्र को राजसिंहासन सौंपकर वरदत्त केवलीके समक्ष जाता है और वहाँ दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर लेता है। रानियाँ भी धार्मिक दीक्षा धारण करती हैं। वराङ्ग कुमार उग्र तपश्चरण करता है और शुक्लध्यान द्वारा कर्मशत्रुओंको परास्त कर सद्गति लाभ करता है।

समीक्षा

प्रस्तुत 'वरांगचरित'के रचयिताने इसे धर्मकथा कहा है। पर वस्तुतः है यह पौराणिक महाकाव्य। इसमें पौराणिक काव्यके तत्त्व समवेत हैं। कविने आरम्भमें ही कहा है—

> द्रव्यं फलं प्रकृतमेव हि सप्रभेदं
> क्षेत्रं च तीर्थमथ कालविभागभावौ।
> अङ्गानि सप्त कथयन्ति कथाप्रबन्धे
> तैः संयुता भवति युक्तिमती कथा सा॥
>
> —वराङ्गचरितम् १।६

स्पष्ट है कि कविने इसे धर्मकथा—पौराणिक कथाकाव्य कहकर इसमें पुराणके सात अंगोंका समावेश किया है। कथा सर्गबद्ध है तथा कथामें नाटककी सन्धियोंका नियोजन भी है। आरम्भसे वराङ्गके जन्म तककी कथामें मुखसन्धिका नियोजन है। वरांगका युवराज होना और ईर्ष्याका पात्र बनना प्रतिमुख-सन्धि है। घोड़े द्वारा उसका अपहरण, कुँएमें गिराया जाना, कुँएसे निकल कर बाहर आना, व्याघ्र, भिल्ल आदिके आक्रमणोंसे उसका रक्षित रहना तथा कुमार वराङ्गका सागरदत्त सेठके यहाँ गुप्तरूपसे निवास करना, बकुलाधिप का उत्तमपुर पर आक्रमण करना और कुमार द्वारा प्रतिरोध करने तककी कथावस्तुमें गर्भसन्धि है। इस सन्धिमें फल छिपा हुआ है और प्राप्त्याशा और पताकाका योग भी वर्तमान है। कुमारकी दिग्विजय, राज्यस्थापना तथा प्रतिद्वन्द्वी सुषेण द्वारा शत्रुताका त्याग नियताप्ति है। दिग्विजयके कारण

विरोधियोंका उन्मूलन, समृद्धि और अभ्युदयके साधनोंके सद्भावके कारण, आत्मकल्याणके साधनोंका विरलत्व, जिनालय-निर्माण और जिनबिम्बप्रतिष्ठाके सम्पन्न होने पर भी निर्वाणरूप फलकी प्राप्तिकी असन्निकटता फल प्राप्तिमें बाधक है। अतएव इस स्थितिको विमर्शसन्धिकी स्थिति कहा जा सकता है। वाराङ्गका विरक्त होकर तपश्चरण करना और सद्गतिलाभ निर्वहणसन्धि है। अतः सामान्यतः कथावस्तुमें संघटन सन्निहित है, पर चतुर्थ सर्गसे दशम सर्ग पर्यन्त तथा २६वें और २७वें सर्गकी कथावस्तुका मुख्य कथासे कोई सम्बन्ध नहीं है। इन सर्गोंके हटा देने पर भी, कथावस्तुमें कोई कमी नहीं आती है। ये सर्ग केवल जैन सिद्धान्तके विभिन्न तत्वोंका प्रतिपादन करने के लिये ही लिखे गये हैं।

यक्षिणीका आगमन और कुमारका अजगरसे रक्षा करना, हाथीकी सहायतासे व्याघ्रसे बचना आदि अलौकिक तत्त्व हैं। इसी प्रकार घोड़े द्वारा कुमारका अपहरण, मन्त्र द्वारा भिल्लराजके पुत्रका निर्विषीकरण प्रभृति आदि अप्राकृतिक तत्त्व भी समाविष्ट हैं। प्रकृतिचित्रण और वस्तुव्यापारवर्णनमें कवि प्रत्येक वस्तुको सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विगत देता हुआ दृश्योंका ताँता बाँधता चलता है। युद्ध, अटवी आदिके वर्णन तो वाल्मीकि और व्यासके समान साँगोपाँग हैं। चरित्र-चित्रणमें कवि आवृत्ति, अनुप्रास आदिका प्रयोग करता तथा सदुपदेश प्रस्तुत करता हुआ आगे बढ़ता है। वस्तुचित्रणका निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य है—

जलप्रभाभिः कृतभूमिभागां प्राचीनदेशोपहितप्रवालाम्।
सर्वार्जनोपात्तकपोलपालीं वैडूर्यसव्यानवतीं परार्ध्याम्॥
हेमोत्तमस्तम्भवृतां विशालां महेन्द्रनीलप्रतिबद्धकुम्भाम्।
तां पद्मरागोपगृहीतकण्ठां विशुद्धरूपोन्नतचारुकूटाम्॥
द्विजातिवक्त्रोद्गलितप्रलम्बां मुक्ताकलापच्छुरितान्तरालाम्।
मन्दानिलाकम्पिचलत्पताकामात्मप्रभाह्वेपितसूर्यभासम्॥
नानाप्रकारोज्ज्वलरत्नदण्डां विलासिनीधारितचामराढ्याम्।
आरुह्य कन्यां शिविकां पृथुश्रीः पुरीं विवेशोत्तमनामधेयाम्[1]॥

पालकीका धरातल पानीके समान रंगोंका बनाया गया था, फलतः वह जलकुण्डकी भ्रान्ति उत्पन्न करता था। उसकी बन्दनवारमें लगे हुए मूंगे दूर देशसे लाये गये थे। उसके कबूतरों युक्त छज्जे बनानेमें तो सारे संसारका धन ही खर्च हो गया था। उसकी छत वैडूर्य मणियोंसे निर्मित थी। स्वर्ण

१. वराङ्गचरित २।५३–५६।

निर्मित स्तम्भों पर महेन्द्रनीलमणिके कलश तथा ऊपरी भाग पद्मराग-मणिसे खचित था और रजतके कलश सुशोभित थे। ऊपरी भागमें मणियोंके पक्षी बने थे, जिनके मुखसे गिरते हुए मुक्ताफल चित्रित किये गये थे। पालकी का मध्यभाग मुक्तामणियोंसे व्याप्त था। ऊपर लगी हुई पताकाएँ लहरा रही थीं। उठानेके दण्डोंमें नाना प्रकारके रत्न जटित थे।

स्पष्ट है कि कल्पनाके ऐश्वर्यके साथ-साथ कविका सूक्ष्म निरीक्षण भी अभिनन्दनीय है। पालकीके स्तम्भों पर ऊपर और नीचे दोनों ओर कलशोंका विवेचन, कविकी दृष्टिकी जागरूकताका परिचायक है। यद्यपि इस प्रकारके वर्णन काव्यकी रसपेशलताकी वृद्धि नहीं करते, तो भी वर्णनकी मंजुल छटा विकीर्ण कर पाठकोंको चमत्कृत करते हैं।

कल्पना और वर्णनोंके स्रोत कविने बाल्मीकि और अश्वघोषसे ग्रहण किये हैं। बाल्मीकि रामायणमें जिस प्रकार शूर्पणखा राम-लक्ष्मणसे पति बननेकी प्रार्थना करती है, उसी प्रकार यक्षिणी इस काव्यमें वराङ्गसे। निश्चयतः इस कल्पनाका स्रोत वाल्मीकि रामायण है।

वर्णन, धार्मिक, तथ्य और काव्य चमत्कारोंके रहने पर भी कविने रसाभिव्यक्तिमें पूरा कौशल प्रदर्शित किया है। वरांङ्ग और उसकी नवोढा पत्नियोंकी केलिक्रीड़ाओंके चित्रणमें संभोग-शृंगारका सजीव रूप प्रस्तुत किया गया[1] है। कविने त्रयोदश सर्गमें वीभत्स रसका बहुत ही सुन्दर निरूपण किया है। पुलिन्दका वस्तीमें जब कुमार वराङ्ग पहुँचा, तो उसे वहाँ पुलिन्दराजके झोपड़ेके चारों ओर हाथियोंके दाँतोंकी बाढ़, मृगोंकी अस्थियोंके ढ़ेर, मांस और रक्तसे प्लावित शवों द्वारा उसका अच्छादन, बैठनेके मण्डपमें चर्वी, आँतें, नस-नाड़ियोंके विस्तार तथा दुर्गन्ध पूर्ण वातावरण मिला। कविने यहाँ पुलिन्द-राजके झोपड़ेको वीभत्सताका मूर्त्तरूप चित्रित किया[2] है। पुलिन्दके भीषण कारागारका चित्रण भी कम वीभत्सता उत्पन्न नहीं करता[3] है।

कविने चतुर्दश सर्गमें वीररसका पूर्ण चित्रण किया है। पुलिन्दराजके साथ उसके सम्पन्न हुए युद्धका समस्त विभाव और अनुभावों सहित निरूपण किया गया है।

इस काव्यमें वसन्ततिलका, उपजाति, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मालिनी,

---

१. वराङ्गचरित, सर्ग २, पद्य ८९-९४।

२. वही सर्ग १३ श्लोक ५०-५१।

३. वही सर्ग १३ श्लोक ५६-५७।

४. वही सर्ग १६ श्लोक ३५-४६।

भुजंगप्रयात, वंशस्थ, अनुष्टुप्, मालभारिणी और द्रुतविलम्बित छन्दोंका प्रयोग हुआ है। कविको उपजाति छन्द बहुत प्रिय है। भाषामें जहाँ पाडित्य है, वहाँ व्याकरण-स्खलन भी पाया जाता है। इस काव्यके प्रारम्भके तीन सर्गोंमें कवि-की अपूर्व काव्यप्रतिभा परिलक्षित होती है।

आचार्य अकलंकदेव

प्रास्ताविक

जैन परम्परामें यदि समन्तभद्र जैन न्यायके दादा हैं, तो अकलंक पिता। ये बड़े प्रखर तार्किक और दार्शनिक थे। बौद्ध दर्शनमें जो स्थान धर्मकीर्तिको प्राप्त है, जैन दर्शनमें वही स्थान अकलंकदेवका है। इनके द्वारा रचित प्रायः सभी ग्रन्थ जैन दर्शन और जैन न्याय विषयक हैं। इनके इन ग्रन्थोंको, इन विषयोंका 'आकर' ग्रन्थ कहा जा सकता है।

अकलंकके सम्बन्धमें श्रवणवेलगोलाके अभिलेखोंमें अनेक स्थान पर स्मरण आया है। अभिलेखसंख्या ४७ में लिखा है—

"षट्तर्केष्वकलङ्कदेवविबुधः साक्षादयं भूतले[१]"

अर्थात् अकलंकदेव षट्दर्शन और तर्कशास्त्रमें इस पृथ्वी पर साक्षात् विबुध (बृहस्पतिदेव) थे।

एक अन्य अभिलेखमें इनके द्वारा बौद्धादि एकान्तवादियोंको परास्त किये जानेकी चर्चा की गयी है—

भट्टाकलङ्कोऽकृत सौगतादिदुर्वाक्यपङ्कैस्सकलङ्कभूतं।
जगत्स्वनामेव विधातुमुच्चैः सार्थं सामन्तादकलङ्कमेव[२]॥

निश्चयतः अकलंकदेव द्वारा जैन न्यायका सम्बर्द्धन हुआ है। अभिलेख नं० १०८ में पूज्यपादके पश्चात् अकलंकदेवका स्मरण किया गया है और मिथ्यात्व अन्धकारको दूर करनेके लिये सूर्यके तुल्य बताया गया है—

ततः परं शास्त्रविदां मुनीना-
मग्रेसरोऽभूदकलङ्कसूरिः।
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः
प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः[३]॥

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख ४७, पृ० ६२, पद्य ३०।

२. वही, पृ० १९८-१९९, पद्य २१।

३. वही, पृ० २११, पद्य १८, अभिलेख १०८।

जीवन-परिचय

अकलंक मान्यखेटके राजा, शुभतुंगके मन्त्री पुरुषोत्तमके पुत्र थे। 'राजावलिकथे' में इन्हें काञ्चीके जिनदास नामक ब्राह्मणका पुत्र कहा गया है। पर तत्त्वार्थवार्तिकके प्रथम अध्यायके अन्तमें उपलब्ध प्रशस्तिसे ये लघुहव्वनृपतिके पुत्र प्रतीत होते हैं। प्रशस्तिमें लिखा है—

जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
अनवरतनिखिलजननुतविधः प्रशस्तजनहृद्यः॥

ये लघुहव्वनृपति कौन हैं और किस प्रदेशके राजा थे, यह इस पद्यसे या अन्य स्रोतसे ज्ञात नहीं होता। नामसे इतना प्रतीत होता है कि उन्हें दक्षिणका होना चाहिए और उसी क्षेत्रके वे नृपति रहे होंगे।

प्रभाचन्द्रके कथाकोषमें अकलंककी कथा देते हुए लिखा है कि एकबार अष्टाह्निका पर्वके अवसरपर अकलंकके माता-पिता अपने पुत्र अकलंक और निष्कलक सहित मुनिराजके पास दर्शन करने गये। धर्मोपदेश श्रवण करनेके पश्चात् उन्होंने आठ दिनोंके लिये ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया और पुत्रोंको भी ब्रह्मचर्यव्रत दिलाया। जब दोनों भाई वयस्क हुए और माता-पिताने उनका विवाह करना चाहा, तो उन्होंने मुनिके समक्ष ली गयी प्रतिज्ञाकी याद दिलायी और विवाह करनेसे इन्कार कर दिया। पिताने पुत्रोंको समझाते हुये कहा कि "वह व्रत तो केवल आठ दिनोंके लिये ही ग्रहण किया गया था। अतः विवाह करनेमें कोई भी रुकावट नहीं है।" पिताके उक्त वचनोंको सुनकर पुत्रोंने उत्तर दिया—"उस समय, समय-सीमाका जिक्र नहीं किया गया था। अतः ली गयी प्रतिज्ञाको तोड़ा नहीं जा सकता।"

पिताने पुनः कहा—"वत्स ! तुम लोग उस समय अबुद्ध थे। अतः ली गयी प्रतिज्ञामें समय-सीमाका ध्यान नहीं रखा। वहाँ लिये गये व्रतका आशय केवल आठ दिनोंके लिये ही था, जीवन-पर्यन्तके लिये नहीं। अतएव विवाह कर तुम्हें हमारी इच्छाओंको पूर्ण करना चाहिये।"

पुत्र बोले—"पिताजी ! एक बार ली गयी प्रतिज्ञाको तोड़ा नहीं जा सकता। अतः यह व्रत तो जीवन-पर्यन्तके लिये है। विवाह करनेका अब प्रश्न ही नहीं उठता।"

पुत्रोंकी दृढ़ताको देखकर माता-पिताको आश्चर्य हुआ। पर वे उनके अभ्युदयका ख्यालकर उनका विवाह करनेमें समर्थ न हुए। अकलंक और निष्कलंक ब्रह्मचर्यकी साधना करते हुए विद्याध्ययन करने लगे।

काञ्चीपुरीमें बौद्धधर्मके पालक पल्लवराजकी छत्रच्छायामें अकलंकने बौद्धन्यायका अध्ययन किया। अकलंक शास्त्रार्थी विद्वान् थे। इन्होंने दीक्षा लेकर सुधापुरके देशीयगणका आचार्यपद सुशोभित किया। अकलंकने हिमशीतल राजाकी सभामें शास्त्रार्थ कर तारादेवीको परास्त किया।'

'ब्रह्म नेमिदत्तकृत आराधनाकथाकोष और मल्लिषेण-प्रशस्तिसे भी उक्त तथ्य पुष्ट होता है। मल्लिषेण-प्रशस्तिका अंकनकाल शक सं० १०५० है। अतएव ई० सन् १०७१ के लगभग अकलंकदेवके सम्बन्धमें उक्त मान्यता प्रचलित हो गयी थी—

तारा येन विनिर्ज्जिता घट-कुटी-गूढ़ावतारा समं
बौद्धैर्यो धृत-पीठ-पीडित-कुदृग्देवात्त-सेवाञ्जलिः।
प्रायश्चित्तमिवाङ्घ्रि-वारिज-रज-स्नानं च यस्याचरत्
दोषाणां सुगतस्स कस्य विषयो देवाकलङ्कः कृती॥

चूर्णि॥ यस्येदमात्मनोऽनन्य-सामान्य-निरवद्य-विद्या-विभवोपवर्णनमाकर्ण्यते॥

राजन्साहसतुङ्ग सन्ति बहवः श्वेतातपत्रा नृपाः
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्ल्लभाः।
त्वद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो
नाना-शास्त्र-विचारचातुरधियः काले कलौ मद्विधाः[1]॥

नेमिदत्तके आराधनाकथाकोषमें बताया है—'मान्यखेटके राजा शुभतुंग थे। उनके मंत्रीका नाम पुरुषोत्तम था। पद्मावती उनकी पत्नी थी। पद्मावतीके गर्भसे दो पुत्र उत्पन्न हुए—अकलंक और निष्कलंक। अष्टाह्निका महोत्सवके प्रारम्भमें पुरुषोत्तम मन्त्री सकुटुम्ब रविगुप्त नामक मुनिके दर्शनार्थ गये और वहाँ उन्होंने पुत्रों सहित आठ दिनोंका ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया। युवावस्था होनेपर पुत्रोंने विवाह करनेसे इन्कार कर दिया और विद्याध्ययनमें संलग्न हो गये। उस समय बौद्धधर्मका सर्वत्र प्रचार था। अतएव वे दोनों महाबोधि-विद्यालयमें बौद्ध-शास्त्रोंका अध्ययन करने लगे।

एक दिन गुरुमहोदय शिष्योंको सप्तभंगी-सिद्धान्त समझा रहे थे, पर पाठ अशुद्ध होनेके कारण वे उसे ठीक नहीं समझा सके। गुरुके कहीं चले जाने पर अकलंकने उस पाठको शुद्ध कर दिया। इससे गुरुमहोदयको उनपर जैन होनेका सन्देह हुआ। कुछ दिनोंमें उन्होंने अपने प्रयत्नों द्वारा उनको जैन प्रमाणित कर लिया। दोनों भाई कारागृहमें बन्द कर दिये गये। रात्रिके

---

१. जैन शिलालेखसंग्रह, प्रथमभाग, अभिलेख ५४, पृ० १०४, पद्य २०–२१।

समय दोनों भाईयोंने कारागृहसे निकल जानेका प्रयत्न किया। वे अपने प्रयत्नमें सफल भी हुये और कारागृहसे निकल भागे। प्रातःकाल ही बौद्ध गुरुको उनके भाग जानेका पता चला। उन्होंने चारों ओर घुड़सवारोंको दौड़ाकर दोनों भाईयोंको पकड़ लानेका आदेश दिया।

घुड़सवारोंने उनका पीछा किया। कुछ दूर आगे चलने पर दोनों भाईयोंने अपने पीछे आनेवाले घुड़सवारोंको देखा और अपने प्राणोंकी रक्षा न होते देख अकलंक निकटके एक तालाबमें कूद पड़े। और कमलपत्रोंसे अपने आपको आच्छादित कर लिया। निष्कलंक भी प्राणरक्षाके लिये शीघ्रतासे भाग रहे थे। उन्हें भागता देख तालाबका एक धोबी भी भयभीत होकर साथ-साथ भागने लगा। घुड़सवार निकट आ चुके थे। उन्होंने उन दोनोंको शीघ्र ही पकड़ लिया और उनका वध कर डाला। घुड़सवारोके चले जाने पर, अकलंक तालाबसे निकल निर्भय होकर भ्रमण करने लगे।

कलिंग देशके रतनसंचयपुरका राजा हिमशीतल था। उसकी रानी मदन-सुन्दरी जिनधर्मकी भक्त थी। वह बडे उत्साहके साथ जैनरथ निकालना चाहती थी। किन्तु बौद्ध गुरु रथ निकलने देनेके पक्षमें नहीं थे। उनका कहना था कि कोई भी जैन विद्वान जब तक मुझे शास्त्रार्थमें पराजित नहीं कर देगा, तब-तक रथ नहीं निकाला जा सकता है। गुरुके विरुद्ध राजा कुछ नहीं कर सकता था। बड़े धर्मसंकटका समय उपस्थित था। जब अकलंकको यह समाचार मिला, तो वे राजा हिमशीतलकी सभामें गये और बौद्ध गुरुसे शास्त्रार्थ करनेको कहा। दोनोंमें छः मास तक परदेके अन्दर शास्त्रार्थ होता रहा। अकलंकको इस शास्त्रार्थसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने इसका रहस्य जानना चाहा। उन्हें शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि बौद्ध गुरुके स्थान पर, परदेके अन्दर घड़ेमें बैठी बौद्ध-देवी तारा शास्त्रार्थ कर रही है। उन्होंने परदेको खोलकर घड़ेको फोड़ डाला। तारादेवी भाग गयी और बौद्ध गुरु पराजित हुए। जैनरथ निकाला गया और जैनधर्मका महत्त्व प्रकट हुआ।'

'राजावलिकथे'मे भी उक्त कथा प्रायः समान रूपमें मिलती है। अन्तर इतना ही है कि काञ्चीके बौद्धोंने हिमशीतलकी सभामें जैनोंसे इसी शर्त पर शास्त्रार्थ किया कि हारने पर उस सम्प्रदायके सभी मनुष्य कोल्हूमे पेलवा दिये दिये जायें। इस कथाके अनुसार यह शास्त्रार्थ १७ दिनों तक चला है। अक-लंकको कुसुमाण्डिनी देवीने स्वप्नमें दर्शन देकर कहा कि तुम अपने प्रश्नोंको प्रकारान्तरसे उपस्थित करने पर जीत सकोगे। अकलंकने वैसा ही किया और वे विजयी हुए। बौद्ध कलिंगसे सिलोन चले गये।

उपर्युक्त कथानकोंसे यह स्पष्ट है कि अकलंकदेव दिग्विजयी शास्त्रार्थी विद्वान् थे। मल्लिषेण-प्रशस्तिके दूसरे पद्यमें आया है कि राष्ट्रकूटवंशी राजा साहसतुंगकी सभामें उन्होंने सम्पूर्ण बौद्ध विद्वानोंको पराजित किया। काञ्चीके पल्लववंशो राजा हिमशीतलकी राजसभामें भी उन्होंने अपूर्व विजय प्राप्त की थी। इसी कारण विद्यानन्दने अकलंकको सकलतार्किकचक्रचूडामणि कहा है।

समय-निर्धारण—अकलंकदेवके समयके सम्बन्धमें दो धारणाएँ प्रचलित हैं। प्रथम धारणाके प्रवर्त्तक डा० के० बी०[1] पाठक हैं और दूसरी धारणाके प्रवर्त्तक प्रो० श्रीकण्ठ शास्त्री तथा आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार हैं। डा० पाठकने मल्लिषेण-प्रशस्तिके 'राजन् साहसतुंग' श्लोकके आधार पर इन्हें राष्ट्र-कूट-वंशी राजा दन्तिदुर्ग या कृष्णराज प्रथमका समकालीन सिद्ध किया है तथा अकलंकचरितके निम्नलिखित पद्यमें आये हुए 'विक्रमार्क' पदका अर्थ शक संवत् किया है—

विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि।
काले अकलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥

अतः इनके मतानुसार अकलंका समय शक सं० ७०० (७७८ ई०) है।

दूसरी विचारधाराके पोषक श्रीकण्ठशास्त्री और आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार उक्त पद्यमें आये हुए 'विक्रमार्क' पदका अर्थ विक्रम संवत् करते हैं। अतः अकलंकका समय वि० सं० ७०० (ई० सन् ६४३) का विद्वान् मानते हैं। प्रथम परम्पराके समर्थकोंमें स्व० डा० आर० जी० भण्डारकर, स्व० डा० सतीश-चन्द्र विद्याभूषण और स्व० श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी हैं। दूसरी धारणाके

१. डा० के० बी० पाठक—(भर्तृहरि) और कुमारिल—ज० ब० रा० ए० सो० भाग १८), डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण—(हि० इ० ला० पृ० १८६), डा० एस० आल्टेकर (दी राष्ट्रकूटाज़ एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ४०९). पं० नाथूरामजी प्रेमी (जै० हि० भाग ११ अंक ५-८), डा० वी० ए० सालेतोर (मिडि० जैनि पृ० ३५), आर नरसिंहाचार्य (इन्स० एट श्रवणवेलगोलाके द्वि० सं० की भूमिका), एस० श्रीकण्ठ शास्त्री (ए० भा० ओ० रि० इं० भाग १२ में 'दी एज आफ शंकर'), पं० जुगलकिशोर मुख्तार (जै० सा० इ० वि० प्र० पृ० ५४१), डा० ए० एन० उपाध्ये (डा० पाठकाज व्यु ऑन अनन्तवीर्याज डेट—ए० भा० दि० इं० भाग १३, पृ० १६१), पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री (न्या० कु० च०, प्रथम भागकी प्रस्ता० पृ० १०४), डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—जैन सन्देश शोधांक तथा पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य (सि० वि० की प्रस्ता०, पृ० ४४), डा० आर० जी० भण्डारकर (शान्तरक्षितास रिपर्टेसस), पिटर्सन आदि।

पोषकोंमें डा० ए० एन० उपाध्ये, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार और श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री प्रभृति विद्वान् हैं।

उक्त दोनों धारणाओंका आलोडन कर डा० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने अकलंकद्वारा भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर और कर्णगोमी आदि आचार्योंके विचारोंकी आलोचना पाकर अकलंकका समय ई० सन् ८ वीं शती सिद्ध किया है। न्यायाचार्यजीके प्रमाण पर्याप्त सबल हैं। आपने अकलंकदेवके ग्रन्थोंका सूक्ष्म अध्ययन कर उक्त निष्कर्ष निकाला है[1]।

आचार्य कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने गहन अध्ययन कर अकलंकदेवका समय ई० सन् ६२०–६८० तक निश्चित किया है और महेन्द्रकुमारजीके अनुसार यह समय ई० सन् ७२०–७८० आता है। इस तरह इन दोनो समयोंके मध्यमें १०० वर्षोंका अन्तर है।

धनञ्जयने अपनी नाममालामें एक पद्य लिखा है, जिसमें अकलंकके प्रमाणका जिक्र आया है। लिखा है—

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

अकलंकका प्रमाण, पूज्यपादका व्याकरण और धनञ्जय कविका काव्य ये तीनों अपश्चिम रत्न हैं।

अकलंकदेवकी जैनन्यायको सबसे बड़ी देन है प्रमाण। इनके द्वारा की गयी प्रमाणव्यवस्था दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोके आचार्योंने अपनी-अपनी प्रमाणमीमांसाविषयक रचनाओंमें ज्यों-का-त्यों अनुकरण किया है। अतः धनंजयने इस पद्यमें जैन तार्किक अकलंकदेव और उनके प्रमाणशास्त्रका उल्लेख किया है।

धनञ्जयके पश्चात् वीरसेनस्वामीने अपनी धवला तथा जयधवला टीकाओंमें और उनके शिष्य जिनसेनने महापुराणमें अकलंकका निर्देश किया है। वीरसेन स्वामीने अकलंकदेवका नामोल्लेख किये बिना 'तत्त्वार्थभाष्य' के नामसे उनके तत्त्वार्थवार्तिकका तथा सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख करके उनके उद्धरण दिये हैं। जिनसेनने लिखा है—

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २, अकलंकग्रन्थत्रय एवं सिद्धिविनिश्चयटीका इन तीनों ग्रन्थोंकी प्रस्तावना।

भट्टाकलङ्कश्रीपालपात्रकेसरिणां गुणाः ।
विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः[1] ।

अर्थात् भट्ट अकलंक, श्रीपाल और पात्रकेसरी आदि आचार्योंके अत्यन्त निर्मल गुण विद्वानोंके हृदयमें मणिमालाके समान सुशोभित होते हैं ।

वीरसेनने धवलाटीकामें 'इति' शब्दका अर्थ बतलानेके लिए एक पद्य उद्धृत किया है, जो धनञ्जय कविकी अनेकार्थनाममालाका ३९ वाँ पद्य है। अतः धनञ्जय वीरसेनसे पूर्ववर्ती हैं और धनञ्जयसे पूर्ववर्ती अकलंक हुए हैं। अतएव अकलंकका समय सातवीं शतीका उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है ।

रचनाएँ

अकलंकदेवकी रचनाओंको दो वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्गमें उनके स्वतन्त्र-ग्रन्थ और द्वितीय वर्गमें टीका-ग्रन्थ रखे जा सकते हैं। स्वतन्त्र-ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

१. स्वोपज्ञवृत्तिसहित लघीयस्त्रय
२. न्यायविनिश्चय सवृत्ति
३. सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति
४. प्रमाणसंग्रह सवृत्ति

टीकाग्रन्थ

१. तत्त्वार्थवार्त्तिक सभाष्य ।
२. अष्टशती—देवागमविवृत्ति ।

१. **लघीयस्त्रय**[2]—में तीन छोटे-छोटे प्रकरणोंका संग्रह है—(१) प्रमाण-प्रवेश (२) नयप्रवेश और (३) निक्षेपप्रवेश। प्रमाणप्रवेशके चार परिच्छेद हैं—(१) प्रत्यक्षपरिच्छेद (२) विषयपरिच्छेद (३) परोक्षपरिच्छेद और (४) आगम-परिच्छेद । इन चार परिच्छेदोंके साथ नयप्रवेश तथा प्रवचनप्रवेशको मिलाकर कुल छः परिच्छेद स्वोपज्ञविवृत्तिमें पाये जाते हैं। लघीयस्त्रयके व्याख्याकार आचार्य प्रभाचन्द्रने प्रवचनप्रवेशके भी दो परिच्छेद करके कुल सात परिच्छेदों पर अपनी 'न्यायकुमुदचन्द्र' व्याख्या लिखी है। लघीयस्त्रयमें कुल ७८ कारिकाएँ हैं किन्तु मुद्रित लघीयस्त्रयमें ७७ हो कारिकाएँ हैं, "लक्षणं क्षणिकैकान्ते" (कारिका ३५) नहीं है। इसके प्रथम परिच्छेदमें साढ़े छः, द्वितीय परिच्छेदमें ३, तृतीयमें १२, चतुर्थमें ७, पंचममें २१ तथा षष्ठमें २८ इस प्रकार कुल ७८ कारिकाएँ हैं।

---

१. आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, १।५३ ।
२. अकलङ्कग्रन्थत्रयके अन्तर्गत, सिंघी सिरीज ।

अकलंकदेवने इसपर संक्षिप्त विवृति भी लिखी है। पर यह विवृति कारिकाओंका व्याख्यानरूप न होकर सूचित विषयोंकी पूरक है। यह मूल श्लोकोंके साथ ही साथ लिखी गयी है। पं० महेन्द्रकुमारजीने लिखा है—"मालूम होता है कि अकलङ्कदेव जिस पदार्थको कहना चाहते हैं, वे उसके अमुक अंशकी कारिका बनाकर बाकीको गद्यभागमें लिखते हैं। अतः विषयकी दृष्टिसे गद्य और पद्य दोनों मिलकर ही ग्रन्थकी अखण्डता स्थिर रखते हैं। धर्मकीर्तिकी प्रमाणवार्तिकको वृत्ति भी कुछ इसी प्रकारकी है। उसमें भी कारिकोक्त पदार्थकी पूर्ति तथा स्पष्टताके लिए बहुत कुछ लिखा गया है।"[1]

लघीयस्त्रयके प्रथम परिच्छेदमें सम्यक्ज्ञानकी प्रमाणता, प्रत्यक्ष-परोक्षका लक्षण, प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक और मुख्य रूपसे दो भेद, सांव्यवहारिकके इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षरूपसे दो भेद, मुख्यप्रत्यक्षका समर्थन, सांव्यवहारिकके अवग्रहादिरूप भेद तथा उनके लक्षण, अवग्रहादिके बह्वादिरूप भेद, भाव-इन्द्रिय, द्रव्यइन्द्रियके लक्षण, पूर्व-पूर्व ज्ञानकी प्रमाणता और उत्तरोत्तर ज्ञानोंकी फलरूपता आदि विषयोंका कथन आया है।

द्वितीय परिच्छेदमेंद्रव्य पर्यायात्मक वस्तुका प्रमाणविषयत्व तथा अर्थक्रियाकारित्वके विवेचनके पश्चात् नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्तमें क्रम-यौगपद्यसे अर्थक्रियाकारित्वका अभाव प्रतिपादित किया है। वस्तुको नित्य माननेपर आनेवाले दोषोंकी समीक्षा की है। वस्तु न सर्वथा नित्य है और न अनित्य। वह किसी नयविशेषकी अपेक्षासे नित्य है और इतर नयकी अपेक्षासे अनित्य। लिखा है कि भेदाभेदात्मक वस्तु द्रव्यार्थिक और पर्यार्थिक नयकी अपेक्षासे ही घटित होती है। द्रव्यार्थिक अभेदका आश्रय करता है और पर्यार्थिक भेदका। यथा—

> अर्थक्रिया न युज्यते नित्य-क्षणिकपक्षयोः।
> क्रमाऽक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता[2]॥

तृतीय परिच्छेदमें मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता तथा अभिनिबोधका शब्दयोजनासे पूर्व अवस्थामें मतिव्यपदेश तथा उत्तर अवस्थामें श्रुतव्यपदेश, व्याप्तिका ग्रहण प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा सम्भव न होनेसे व्याप्तिग्राही तर्कका प्रामाण्य, अनुमानका लक्षण, जलचन्द्रके दृष्टान्तसे कारणहेतुका समर्थन, कृत्तिकोदय आदि पूर्वचर हेतुका समर्थन, अदृश्यानुपलब्धिसे परचैतन्य आदिका

१. अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृष्ठ ३५-३६।

२. लघीयस्त्रय, कारिका ८।

अभावज्ञान, नैयायिकाभिमत उपमानका सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें अन्तर्भाव, प्रत्यभिज्ञानके वैसादृश्य, आपेक्षिक प्रतियोगी आदि भेदोंका निरूपण, बौद्धमतमें स्वभावादि हेतुओंके प्रयोगमें कठिनता, अनुमान-अनुमेयव्यवहारकी वास्तविकता एवं विकल्पबुद्धिकी प्रमाणता आदि परोक्षज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयोंका निरूपण किया है।

चतुर्थ परिच्छेदमें ज्ञानमें ऐकान्तिक प्रमाणता या अप्रमाणताका निषेध कर प्रमाणाभासका स्वरूप, सविकल्प ज्ञानमें प्रत्यक्षभासताका अभाव, अविसंवाद और विसंवादसे प्रमाण-प्रमाणभासव्यवस्था, विप्रकृष्ट विषयोंमें श्रुतकी प्रमाणता, हेतुवाद और आप्तोक्त रूपसे द्विविध श्रुतकी अविसंवादि होनेसे प्रमाणता, शब्दोंके विवक्षावाचित्वका खण्डनकर उनकी अर्थवाचकता आदि श्रुतसम्बन्धी विषयोंका विवेचन किया गया है। प्रमाणके स्वरूप, संख्या, विषय और फलका निरूपण भी प्रमाणप्रवेशमें किया है।

पञ्चम परिच्छेदमें नय-दुर्नयके लक्षण, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक रूपसे नयके मूल भेद, सद्रूपसे समस्त वस्तुओंके ग्रहणका संग्रहनयत्व, ब्रह्मवादका संग्रहाभासत्व, बौद्धाभिमत क्षणिक एकान्तका निरास, गुण-गुणी, धर्म-धर्मीकी गौण-मुख्य विवक्षामें नैगमनयकी प्रवृत्ति, वैशेषिकसम्मत गुण-गुण्यादिके एकान्त भेदका नैगमाभासत्व, प्रमाणिक भेदका व्यवहारनयत्व, काल्पनिक भेदका व्यवहाराभासत्व, कालकारकादिके भेदसे अर्थभेदनिरूपणकी शब्दनयता, पर्यायभेदसे अर्थभेदक कथनका समभिरूढ़नयत्व, क्रियाभेदसे अर्थभेदप्ररूपणका एवंभूतनयत्व, सामग्री-भेदसे अभिन्न वस्तुमें भी षट्कारकीका सम्भवत्व प्रतिपादित किया गया है। यहाँ लघीयस्त्रयका द्वितीय प्रकरण नयप्रवेश समाप्त होता है। शब्दज्ञानकी प्रत्यक्षताका निरसनकर अनुमानवत् उसकी परोक्षता सिद्ध करते हुए अकलङ्कदेवने लिखा है—

'अक्षशब्दार्थविज्ञानमविसंवादतः समम्।
अस्पष्टं शब्दविज्ञानं प्रमाणमनुमानवत्॥

तदुत्पत्तिसारूप्यादिलक्षणव्यभिचारेऽपि आत्मना यदर्थपरिच्छेदलक्षणं ज्ञानं तत्तस्येति सम्बन्धात्। वागर्थज्ञानस्यापि स्वयमविसंवादात् प्रमाणत्वं समक्षवत्। विवक्षाव्यतिरेकेण वागर्थज्ञानं वस्तुतत्त्वं प्रत्याययति अनुमानवत्, सम्बन्धनियमाभावात्। वाच्यवाचकलक्षणस्यापि सम्बन्धस्य बहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोपलब्धेः'।[1]

---

१. लघीयस्त्रय, सवृत्ति, कारिका ४६।

प्रवचनप्रवेशमें प्रमाण, नय और निक्षेपके कथनकी प्रतिज्ञा, अर्थ और आलोकको ज्ञानकारणताका खण्डन, अन्धकारको ज्ञानका विषय होनेसे आवरणरूपताका अभाव, तज्जन्म, ताद्रूप्य और तदध्यवसायका प्रमाणमें अप्रयोजकत्व, श्रुतके सकलादेश और विकलादेशरूप उपयोग, "स्यादस्त्येव जीवः" इस वाक्यकी विकलादेशता, "स्याज्जीव एव" इस वाक्यको सकलादेशता, शब्दकी विवक्षासे भिन्न वास्तविक अर्थकी वाचकता, नैगमादि सात नयोंमेंसे आदिके चार नयोंका अर्थनयत्व, शेष तीन नयोंका शब्दनयत्व, नामादि चार निक्षेपोंके लक्षण, अप्रस्तुतनिराकरण तथा प्रस्तुत अर्थका निरूपणरूप निक्षेपका फल इत्यादि प्रवचनके अधिगमोपायभूत प्रमाण, नय और निक्षेपका निरूपण किया गया है। शास्त्रज्ञानका सादित्व-अनादित्व सिद्ध करते हुए लिखा है। यथा—

श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः।
परीक्ष्य तांस्तान् तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान्॥
नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान्॥
अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिदां गतैः।
द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशनः॥
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित्।
तपोनिर्जीर्णकर्माऽयं विमुक्तः सुखमृच्छति[1]॥

इस प्रकार इसमें प्रमाण, नय और निक्षेपका निरूपण किया है।

२. **न्यायविनिश्चय सवृत्ति**[2]

विनिश्चयान्त ग्रन्थ लिखनेकी प्रणाली प्राचीन रही है। धर्मकीर्तिका भी प्रमाणविनिश्चय नामक ग्रन्थ मिलता है। 'तिलोयपण्णत्ति' में भी 'लोकविनिश्चय' नामक ग्रन्थकी सूचना है। न्यायविनिश्चयमें प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन ये तीन प्रस्ताव हैं। प्रथम प्रस्तावमें १६९½, द्वितीयमें २१६½ और तृतीयमें ९४, कुल ४८० कारिकाएँ हैं। सिद्धसेनके न्यायावतारमें भी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणोंका विवेचन किया गया है।

प्रथम प्रत्यक्षप्रस्तावमें प्रत्यक्ष-प्रमाणपर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। इसमें इन्द्रियप्रत्यक्षका लक्षण, प्रमाणसम्प्लवसूचन, चक्षुरादि-

---

१. लघीयस्त्रय, कारिका ७३–७६।

२. वादिराजसूरिकी टीकासहित भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा प्रकाशित है।

बुद्धियोंका व्यवसायात्मकत्व, विकल्पके अभिलापकत्व आदि लक्षणोंका खण्डन, ज्ञानके परोक्षवादका निराकरण, ज्ञानके स्वसंवेदनकी सिद्धि, ज्ञानान्तर-वेद्यज्ञानका निरास, अचेतनज्ञाननिरास, साकारज्ञाननिरास, निराकारज्ञान-सिद्धि, सवेदनाद्वैतनिरास, विभ्रमवादनिरास, बहिरर्थसिद्धि, चित्रज्ञानखण्डन, परमाणुरूप बहिरर्थका निराकरण, अवयवोंसे भिन्न अवयवीका खण्डन, द्रव्यका लक्षण, गुण-पर्यायका स्वरूप, सामान्यका स्वरूप, अर्थके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यका समर्थन, अपोहरूप सामान्यका निरास, व्यक्तिसे भिन्न सामान्यका खण्डन, धर्मकीर्तिसम्मत प्रत्यक्षलक्षणका खण्डन, बौद्धकल्पित स्वसंवेदन, योगि, मानस प्रत्यक्षनिरास, सांख्यकल्पित प्रत्यक्षलक्षणका खण्डन, नैयायिकके प्रत्यक्षका समालोचन, अतीन्द्रियप्रत्यक्षका लक्षण आदि विषयोंका विवेचन किया गया है।

द्वितीय अनुमानप्रस्ताव अनुमानसे सम्बद्ध है। इसमें अनुमानका लक्षण, प्रत्यक्षकी तरह अनुमानकी बहिरर्थविषयता, साध्य-साध्याभासके लक्षण, बौद्धादि मतोंमें साध्य-प्रयोगकी असम्भवता, शब्दका अर्थवाचकत्व, शब्दसङ्केत-ग्रहणप्रकार, भूतचैतन्यवादका निराकरण, गुण-गुणीभेदका निराकरण, साधन-साधनाभासके लक्षण, प्रमेयत्वहेतुकी अनेकान्तसाधकता, सत्त्वहेतुकी परिणामिता प्रसाधकता, त्रैरूप्यखण्डनपूर्वक अन्यथानुपपत्तिसमर्थन, तर्ककी प्रमाणता, अनुपलम्भहेतुका समर्थन, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतुका समर्थन, असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर हेत्वाभासोंका विवेचन, दूषणाभासलक्षण, जातिलक्षण, जयेतरव्यवस्था, दृष्टान्त, दृष्टान्ताभासविचार, वादका लक्षण, निग्रहस्थानलक्षण, वादाभासलक्षण आदि अनुमानसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयोंका वर्णन आया है।

तृतीय प्रवचनप्रस्तावमें आगमसम्बन्धी विचार किया गया है। इसमें प्रवचनका स्वरूप, सुगतके आप्तत्वका निरास, सुगतके करुणावत्व तथा चतु-रार्यसत्यप्रतिपादकत्वका समालोचन, आगमके अपौरुषेयत्वका खण्डन, सर्वज्ञत्व समर्थन, ज्योतिर्ज्ञानोपदेश, सत्यस्वप्नज्ञान तथा ईक्षणिकादि विद्याके दृष्टान्त द्वारा सर्वज्ञत्वसिद्धि, शब्दनित्यत्वनिरास, जीवादितत्त्वनिरूपण, नैरात्म्य भावनाकी निरर्थकता, मोक्षका स्वरूप, सप्तभंगीनिरूपण, स्याद्वादमें दिये जाने वाले संशयादि दोषोंका परिहार, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदिका प्रामाण्य, प्रमाण-का फल आदि विषयोंका विवेचन आया है।

यह ग्रन्थ कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। कारिकाओंके साथ उत्थानिका-वाक्य भी गद्यमें निबद्ध हैं। विवृति टीकात्मक न होकर विशेष विषयके सूचन

रूपमें लिखी गयी है। कारिकाएँ और वृत्ति दोनों प्रौढ़ एवं गम्भीर भाषामें निबद्ध हैं। उनसे अकलङ्कदेवकी सूक्ष्म प्रज्ञा और तीक्ष्ण समालोचना अवगत कर पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उदाहरणार्थ नित्यैकान्त, क्षणिकैकान्त आदिकी उनके द्वारा की गयी समीक्षा दृष्टव्य है—

अत्यन्ताभेदभेदौ न तद्वतो न परस्परम्।
दृश्यादृश्यात्मनोर्बुद्धिनिर्भासक्षणभङ्गयोः॥
सर्वथाऽर्थक्रियाऽयोगात् तथा सुप्तप्रबुद्धयोः।
अंशयोर्यदि तादात्म्यमभिज्ञानमनन्यवत्॥
संयोगसमवायादिसम्बन्धाद्यादि वर्त्तते।
अनेकत्रैकमेकत्रानेकं वा परिणामिनः[1]॥

सर्वथा नित्यका खण्डन करते हुए लिखा है—

नित्यं सर्वगतं सत्त्वं निरंशं व्यक्तिभिर्यदि॥
व्यक्तं व्यक्तं सदा व्यक्तं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
सत्तायोगाद्विना सन्ति यथा सत्तादयस्तथा॥
सर्वेऽर्थाः देशकालाश्च सामान्यं सकलं मतम्।
सर्वभेदप्रभेदं सत् सकलाङ्गं शरीरवत्[2]॥

३. प्रमाणसंग्रह[3]

इसमें ९ प्रस्ताव और ८७½ कारिकाएँ हैं। प्रथम प्रस्तावमें ९ कारिकाएँ, द्वितीयमें ९, तृतीयमें १०, चतुर्थमें ११½, पञ्चममें १०½, षष्ठमें १२½, सप्तममें १०, अष्टममें १३ और नवममें २ कारिकाएँ हैं। प्रथम प्रस्तावमें प्रत्यक्षका लक्षण, श्रुतका प्रत्यक्षानुमानागमपूर्वकत्व, प्रमाणका फल, मुख्यप्रत्यक्षका लक्षण आदि प्रत्यक्षविषयक सामग्री वर्णित है।

द्वितीय प्रस्तावमें स्मृतिकी प्रमाणता, प्रत्यभिज्ञानका प्रामाण्य, तर्कका लक्षण, प्रत्यक्षानुपलम्भसे तर्कका उद्भव, कुतर्कका लक्षण, विवक्षाके बिना भी शब्दप्रयोगका सम्भव, परोक्ष पदार्थोंमें श्रुतसे अविनाभावग्रहण आदिका कथन है।

इस प्रस्तावमें परोक्षके भेद, स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्कका विशेष रूपसे कथन आया है।

---

१. न्यायविनिश्चय सवृत्ति, प्रत्यक्षप्रस्ताव, कारिका १४१–१४३।

२. वही, प्रत्यक्षप्रस्ताव, कारिका १५१–१५३।

३. अकलङ्कग्रन्थत्रय सिंघी सिरीज।

तृतीय प्रस्तावमें अनुमानके अवयव, साध्य-साधनका लक्षण, साध्याभासका लक्षण, सदसदेकान्तमें साध्यप्रयोगकी असम्भवता, सामान्यविशेषात्मक वस्तुकी साध्यता एवं अनेकान्तात्मक वस्तुमें दिये जानेवाले संशयादि आठ दोषोंकी समीक्षा अङ्कित है। चतुर्थ प्रस्तावमें हेतुसम्बन्धी विचार आया है। इसमें त्रिरूप हेतुका खण्डन करके अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुलक्षणका समर्थन किया गया है। हेतुके उपलब्धि और अनुलब्धिरूप भेदोंका विवेचन कर पूर्व-चर, उत्तरचर और सहचर हेतुसम्बन्धी विचार किया गया है। इस प्रस्तावमें विभिन्न मतोंकी समीक्षापूर्वक हेतुका स्वरूप निर्धारित किया है।

पञ्चम प्रस्तावमें असिद्ध, विरुद्धादि हेत्वाभासोंका निरूपण, सर्वथा एकान्तमें सत्त्वहेतुकी विरुद्धता, सहोपलम्भनियम, हेतुकी विरुद्धता, विरुद्धा-व्यभिचारीका विरुद्धमें अन्तर्भाव, अज्ञातहेतुका अकिञ्चित्करमें अन्तर्भाव आदि हेत्वाभासविषयक प्ररूपण आया है तथा इसमें अन्तर्व्याप्तिका भी समर्थन किया है।

षष्ठ प्रस्तावमें वादका लक्षण, जय-पराजयव्यवस्थाका स्वरूप, जातिका लक्षण, दध्युष्ट्रत्वादिके अभेदप्रसंगका सयुक्तिक उत्तर, उत्पादादित्रयात्मकत्व समर्थन, सर्वथा नित्य सिद्ध करनेमें सत्त्वहेतुका असिद्धत्वादि निरूपण आया है। इस प्रस्तावमें शून्यवाद, संवृतिवाद, विज्ञानवाद, निर्विकल्पकदर्शन, अपोहवाद, क्षणभंगवाद, असत्कार्यवाद आदिकी भी समीक्षा की गयी है।

सप्तम प्रस्तावमें प्रवचनका लक्षण, सर्वज्ञसिद्धि, अपौरुषेयत्वका निरसन, तत्त्वज्ञानसहित चारित्रकी मोक्षहेतुता आदि विषयोंका विवेचन आया है।

अष्टम प्रस्तावमें सप्तभंगीके निरूपणके साथ नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजु-सूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत इन सात नयोंका कथन आया है।

नवम प्रस्तावमें प्रमाण, नय और निक्षेपका उपसंहार किया गया है।

४. सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति[1]

सिद्धिविनिश्चयमें १२ प्रस्ताव हैं। इनमें प्रमाण, नय और निक्षेपका विवेचन है। प्रथम प्रस्ताव प्रत्यक्ष-सिद्धि है। इसमें प्रमाणका सामान्य लक्षण, प्रमाणका फल, बाह्यार्थकी सिद्धि, व्यवसायात्मक विकल्पकी प्रमाणता और विशदता, चित्रज्ञानकी तरह विचित्र बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि, निर्विकल्पक प्रत्यक्षका निरास,

१. सिद्धिविनिश्चय अनन्तवीर्यकी टीका सहित, भारतीय ज्ञानपीठ काशी संस्करण।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षके निर्विकल्पकत्वका खण्डन, अविसंवादकी बहुलतासे प्रमाण-व्यवस्था आदि विषयोंका विचार किया गया है।

द्वितीय सविकल्पसिद्धि-प्रस्तावमें अवग्रहादि ज्ञानोंका वर्णन, मानस-प्रत्यक्ष-की आलोचना, निर्विकल्पसे सविकल्पकी उत्पत्ति एवं अवग्रहादिमें पूर्व-पूर्वकी प्रमाणता और उत्तर-उत्तरमें फलरूपताकी सिद्धि की गयी है।

तृतीय प्रमाणान्तर-सिद्धिमें स्मरणको प्रमाणता, प्रत्यभिज्ञानका प्रामाण्य, उपमानका सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें अन्तर्भाव, तर्ककी प्रमाणताका समर्थन, क्षणिक-पक्षमें अर्थक्रियाका अभाव आदिकी समीक्षा आयी है।

चतुर्थ जीवसिद्धि-प्रस्तावमें ज्ञानको ज्ञानावरणके उदयसे मिथ्याज्ञान, क्षणिकचित्तमें कार्यकारणभाव, सन्तान आदिकी अनुत्पत्ति, जीव और कर्म चेतन और अचेतन होकर भी बन्धके प्रति एक हैं, कर्मास्रव तत्त्वोपप्लववाद, भूतचैतन्यवाद एवं विभिन्न दर्शनोंमें मान्य आत्मस्वरूपका विवेचन किया है।

पञ्चम प्रस्ताव जल्प-सिद्धि है। इसमें जल्पका लक्षण, उसकी चतुरङ्गता, जल्पका फलमार्ग प्रभावना, शब्दकी अर्थवाचकता, निग्रहस्थान एवं जय-पराजयव्यवस्थाकी समीक्षा की गयी है।

छठा हेतुलक्षणसिद्धि-प्रस्ताव है। इसमें हेतुका अन्यथानुपपत्तिलक्षण, तादात्म्य-तदुत्पत्तिसे ही अविनाभावकी व्याप्ति नहीं, हेतुके भेद, कारण आदि-का कथन आया है।

सप्तम प्रस्ताव शास्त्र-सिद्धि है। इसमें श्रुतका श्रेयोमार्गसाधकत्व शब्दका अर्थवाचकत्व, स्वप्नादि दशामें भी जीवकी चेतनता, भेदैकान्तमें कारक, ज्ञापक स्थितिका अभाव, ईश्वरवाद, पुरुषाद्वैतवाद, वेदका अपौरुषेयवाद आदिका समालोचन किया है।

अष्टम सर्वज्ञसिद्धि-प्रस्तावमें सर्वज्ञकी सिद्धि और नवम शब्दसिद्धि प्रस्तावमें शब्दका पौद्गलिकत्व सिद्ध किया है। दशम प्रस्तावका नाम अर्थनयसिद्धि है। इसमें नयका स्वरूप, नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजु-सूत्र इन चार अर्थ-नयों और नयाभासोंका वर्णन आया है।

ग्यारहवाँ शब्दनयसिद्धि-प्रस्ताव है। इसमें शब्दका स्वरूप, स्फोटवादका खण्डन, शब्दनित्यत्वका निरास, शब्दनय, समभिरूढनय एवं एवम्भूतनय आदिका वर्णन आया है।

बारहवाँ निक्षेपसिद्धि-प्रस्ताव है। इसमें निक्षेपका लक्षण, भेद, उपभेदोंका स्वरूप एवं उनकी सम्भावनाओं पर विचार किया गया है।

५. तत्त्वार्थवार्त्तिक सभाष्य

इस ग्रन्थके मंगलपद्यके चतुर्थ चरणसे 'वक्षे तत्त्वार्थवार्त्तिकं' लिखकर अकलंकदेवने इस ग्रन्थको 'तत्त्वार्थवार्त्तिक' कहा है। तत्त्वार्थसूत्रके प्रत्येक सूत्रपर वार्त्तिकरूपमें व्याख्या लिखे जानेके कारण यह तत्त्वार्थवार्त्तिक कही गयी है। वार्त्तिक श्लोकात्मक भी होते हैं और गद्यात्मक भी। कुमारिलका मीमांसाश्लोकवार्त्तिक और धर्मकीर्तिका 'प्रमाणवार्त्तिक' पद्योंमें लिखे गये हैं। पर न्यायदर्शनके सूत्रोंपर उद्योतकरने जो वार्त्तिक रचा है, वह गद्यात्मक है। अतएव यह अनुमान लगाना सहज है कि अकलंकने उद्योतकरके अनुकरण पर गद्यात्मक तत्त्वार्थवार्तिक रचा है। अकलङ्ककी विशेषता यह है कि उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंपर वार्त्तिक रचे और वार्त्तिकोंपर भाष्य भी लिखा है। इस तरह इस ग्रन्थमें वार्त्तिक पृथक् हैं और उनकी व्याख्या-भाष्य अलग है। इसी कारण इसकी पुष्पिकाओंमें इसे 'तत्त्वार्थवार्त्तिकव्याख्यानालंकार' संज्ञा दी गयी है।

यह ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्रकी व्याख्या होनेके कारण दश अध्यायोंमें विभक्त है। इसका विषय भी तत्त्वार्थसूत्रके विषयके समान ही सैद्धान्तिक और दार्शनिक है। तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम तथा पंचम अध्यायमें क्रमशः ज्ञान एवं द्रव्योंकी चर्चा आयी है और ये दोनों विषय ही दर्शनशास्त्रके प्रधान अंग हैं। अतः अकलंकदेवने इन दोनों अध्यायोंमें अनेक दार्शनिक विषयोंकी समीक्षा की है। दर्शन शास्त्रके अध्येताओंके लिये तत्त्वार्थवार्त्तिकके ये दोनों अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

तत्त्वार्थवार्त्तिककी एक प्रमुख विशेषता यह है कि जितने भी मन्तव्य उसमें चर्चित हुए, उन सबका समाधान अनेकान्तके द्वारा किया गया है। अतः दार्शनिक विषयोंसे सम्बद्ध सूत्रोंके व्याख्यानमें **'अनेकान्तात्'**वार्त्तिक अवश्य पाया जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि वार्त्तिककारने दार्शनिक विषयोंके कथन-सन्दर्भमें आगमिक विषयोंको भी प्रस्तुत कर अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा की है।

तृतीय, चतुर्थ अध्यायोंमें लोकानुयोगसे सम्बद्ध विषय आये हैं। इस विषयके प्रतिपादनमें 'तिलोयपण्णत्ति' आदि प्राचीन ग्रन्थोंकी अपेक्षा अनेक नवीनताओंका समावेश किया गया है। इस ग्रन्थकी विशेषताओंके सम्बन्धमें प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीने लिखा है—"राजवार्त्तिक और श्लोकवार्त्तिकके इतिहासज्ञ अभ्यासीको मालूम पड़ेगा कि दक्षिण हिन्दुस्तानमें जो दार्शनिक विद्या और स्पर्धाका समय आया और अनेकमुख पाण्डित्य विकसित हुआ, उसीका प्रतिबिम्ब इन दोनों ग्रन्थोंमें है। प्रस्तुत दोनों वार्त्तिक जैनदर्शनका प्रामाणिक अभ्यास करनेके पर्याप्त साधन हैं। परन्तु इनमेंसे 'राजवार्त्तिक'का गद्य सरल और विस्तृत

होनेसे तत्त्वार्थके सम्पूर्ण टीकाग्रन्थोंकी गरज अकेला ही पूर्ण करता है। ये दो वार्त्तिक यदि नहीं होते, तो दशवीं शताब्दी तकके दिगम्बर साहित्यमें जो विशिष्टता आयी, और उसकी जो प्रतिष्ठा बँधी वह निश्चयसे अधूरी ही रहती। ये दो वार्त्तिक साम्प्रदायिक होनेपर भी अनेक दृष्टियोंसे भारतीय दार्शनिक साहित्यमें विशिष्ट स्थान प्राप्त करें, ऐसा योग्यता रखते हैं। इनका अवलोकन बौद्ध ओर वैदिक परम्पराके अनेक विषयों पर तथा अनेक ग्रन्थों पर ऐतिहासिक प्रकाश डालता है।"

'तत्त्वार्थवार्त्तिक'का मूल आधार पूज्यपादकी सवार्थसिद्धि है। सवार्थसिद्धिकी वाक्यरचना, सूत्र जैसी संतुलित और परिमित है। यही कारण है कि अकलंकदेवने उसके सभी विशेष वाक्योंको अपने वार्तिक बना डाले हैं, और उनका व्याख्यान किया है। आवश्यकतानुसार नये वार्त्तिकोंको भी रचना की है, पर सर्वार्थसिद्धिका उपयोग पूरी तरहसे किया है। जिस प्रकार बोज वृक्षमें समाविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार समस्त सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थवार्त्तिकमें समाविष्ट है, पर विशेषता यह है कि सर्वार्थसिद्धिके विशिष्ट अभ्यासीको भी यह प्रतीति नहीं हो पाती कि वह प्रकारान्तरसे सर्वार्थसिद्धिका अध्ययन कर रहा है।

तत्त्वार्थवार्त्तिक'में यों तो अनेक विषयोंकी चर्चा की गयी है, पर विशेषरूपसे जिन विषयोंपर प्रकाश डाला गया है, वे निम्नलिखित हैं—

१. कर्त्ता और करणके भेदाभेदकी चर्चा। तीनों वाच्यों द्वारा ज्ञानकी व्युत्पत्ति २. आत्माका ज्ञानसे भिन्नाभिन्नत्व।

३. केवल ज्ञानप्राप्तिके द्वारा मोक्षकी मान्यताका निरसन कर मोक्षमार्गका निरूपण। सन्दर्भानुसार सांख्य, वैशेषिक, न्याय और बौद्ध दर्शनोंको समोक्षा

४. मुख्य और अमुख्योंका विवेचन करते हुए अनेकान्तदृष्टिका समर्थन।

५. सप्तभंगीके निरूपणके पश्चात् अनेकान्तमें अनेकान्तको सुघटना।

६. अनेकान्तमें प्रतिपादित छल, संशय आदि दोषोंका निराकरण करते हुए अनेकान्तात्मकताको सिद्धि।

७. एकान्तवादमें ज्ञानके करण-कर्तृत्वका अभाव।

८. आत्म-अनात्मवादियोंको समीक्षा।

९. प्रत्यक्ष-परोक्षसम्बन्धो ज्ञानकी व्याख्याओंका विस्तृत विवेचन।

इस सन्दर्भमें पूर्वपक्षके रूपमें बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, मोमांसक आदि दार्शनिकोंकी समीक्षा।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, भारत जैन महामंडल वर्धा, द्वितीय संस्करण, सन् १९५२, पृ० ७८, ७९।

१०. चक्षुके प्राप्यकारित्व और श्रोत्रके अप्राप्यकारित्वका निराकरण।

११. श्रुतज्ञानके अन्तर्गत अनुमानके पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट भेद तथा उपमान, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभावका समावेश।

१२. आत्मसिद्धि।

१३. स्वात्मा और परमात्माके विश्लेषणके साथ सप्तभंगीके सकलादेश और विकलादेशोंका विवेचन।

१४. 'द्रव्यत्वयोगात् द्रव्यं' और 'गुणसंद्रावो द्रव्यं'की विस्तृत समीक्षा।

१५. विभिन्न दर्शनोंके आलोकमें शब्दके मूर्तिकत्वका विवेचन।

१६. स्फोटवाद-समीक्षा।

१७ कौक्कल, काण्ठेविद्धि, कौशिक, हरि, श्मश्रुमान, कपिल, रोमस, हरिताश्व, मुण्ड और आश्वलायन आदि क्रियावादियोंका समालोचन।

१८. मरीचिकुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, माठर, मौद्गलायन आदि अक्रियावादी दार्शनिकोंकी समीक्षा।

१९. साकल्य, वासकल, कुथुमि, सात्यमुग्री, चारायण, कठ, माध्यन्दिन, मौद, पैपलादि, वादरायण, येतिकायन, वसु और जैमिनि आदि अज्ञानवादियोंका समालोचन।

२०. वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, बाल्मीकि, रोमहर्षिणी, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, इन्द्रदत्त आदि वैनिक वादियोंकी समीक्षा।

२१. जीव-अजीव आदि तत्त्वोंका निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधानपूर्वक विवेचन।

२२. ज्ञानोंके विषयक्षेत्रका कथन।

२३. नयोंका सोपपत्तिक निरूपण।

२४. शरीरोंका सविस्तर निरूपण।

२५. लोकरचना—क्षेत्रफल और घनफलोंका निरूपण।

२६. गुणस्थान, ध्यान, अनुप्रेक्षा एवं मार्गणा आदिका विस्तृत कथन।

२७. द्रव्य और तत्त्वोंकी व्यवस्थाका कथन।

इस प्रकार 'तत्त्वार्थराजवार्त्तिक' में अनेक विशेष बातोंका कथन आया है। यह ग्रन्थ अध्याय, आह्निक और वार्त्तिकोंमें विभक्त है। यहाँ उदाहरणार्थ एकाध वार्तिक प्रस्तुत करते हैं, जिससे अकलंकदेवको विषयप्रतिपादनसम्बन्धी विशेषता अभिव्यक्त हो जायगी!

प्रमाणनयार्पणाभेदात्—"एकान्तो द्विविधः—सम्यगेकान्तो मिथ्यैकान्त इति। अनेकान्तोऽपि द्विविधः—सम्यगनेकान्तो मिथ्यानेकान्त इति। तत्र सम्य-

गेकान्तो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्षः प्रमाणप्ररूपितार्थैकदेशादेशः । एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवणप्राणिधिर्मिथ्यैकान्तः । एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूप-निरूपणो युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धः सम्यगनेकान्तः । तदतत्स्वभाववस्तुशून्यं परि-कल्पितानेकात्मकं केवलं वाग्विज्ञानं मिथ्याऽनेकान्तः । तत्र सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते । सम्यगनेकान्तः प्रमाणम् । नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवण-त्वात्, प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात्[1] ।

६. अष्टशती

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। आचार्य समन्तभद्र अनेकान्तवादके सबसे बड़े व्यवस्थापक हैं। उन्होंने आप्तमीमांसा नामक ग्रन्थ द्वारा उसकी व्यवस्था की है। इसी आप्तमीमांसापर अकलंकदेवने अपनी 'अष्टशती' वृत्ति लिखी है। इस वृत्तिका प्रमाण ८०० श्लोक है, अतः यह अष्टशती कहलाती है। विद्यानन्दने समन्तभद्रके उक्त ग्रन्थपर अष्टसहस्री नामकी टीका लिखी है, जिसमें अष्टशतीको 'दूधमें चीनी' की तरह समाविष्ट कर लिया है। शतीके रचयिता अकलंकदेवने इसमें अनेक नये तथ्योंपर प्रकाश डाला है। विभिन्न दर्शनोंके द्वैत-अद्वैतवाद, शाश्वत-अशाश्वतवाद, वक्तव्य-अवक्तव्यवाद, अन्यता-अनन्य-तावाद, सापेक्ष-अनपेक्षवाद, हेतु-अहेतुवाद, विज्ञान-बहिरर्थवाद, दैव-पुरुषार्थ-वाद, पुण्य-पापवाद और बन्ध-मोक्षकारणवादकी समीक्षा की गयी है। उनके प्रतिपादनका एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोहः" संविदो ग्राह्याकारात्कथञ्चिद्-व्यावृत्तौ—अनेकान्तसंवित्तेः स्वलक्षणप्रत्यक्षवृत्तावपि संवेद्याकारविवेक स्व-भावान्तरानुपलब्धेः स्वभावव्यावृत्तिः शवलविषयनिर्भासेऽपि लोहितादीनां पर-स्परव्यावृत्तिरन्यथाचित्रप्रतिभासासंभवात्, तदन्यतमवत्तदालम्बनस्यापि नीला-देरभेदस्वभावापत्तेः तद्वतस्तेभ्यो व्यावृत्तिरेकानेकस्वभावत्वात् रूपादिवत् अन्यथा द्रव्यमेव स्यान्न रूपादयः" ।[2]

अनेकान्तात्मकवस्तुकी सिद्धि करते हुए लिखा है—

"यत्सत् तत्सर्वमनेकान्तात्मकं वस्तुतत्त्वं सर्वथा तदर्थक्रियाकारित्वात् । स्वविषयाकारसंवित्तिवत् । न किञ्चिदेकान्तं वस्तुतत्त्वं सर्वथा तदर्थक्रियासंभ-

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ काशी संस्करण, १।६-७ ।

२. अष्टशती, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, काशी, सन् १९१४ ई०, कारिका ११, पृ० १० ।

वात् गगनकुसुमादिवत्। नास्ति सदेकान्तः सर्वव्यापारविरोधप्रसंगात् असदेकान्तवदिति विधिना प्रतिषेधेन वा वस्तुतत्त्वं नियम्यते"।[1]

शैली एवं काव्यप्रतिभा

अकलंकदेवकी शैली गूढ़ एवं शब्दार्थगर्भित है। ये जिस विषयको भी ग्रहण करते हैं, उसका गम्भीर और अर्थपूर्ण वाक्योंमें विवेचन करते हैं। अतः कम-से-कम शब्दोंमें अधिक-से-अधिक विषयका निरूपण करना इनका लक्ष्य है। अकलंकदेवका उनकी रचनाओंपरसे षड्दर्शनोंका गम्भीर और सूक्ष्म चिन्तन अवगत होता है। फलतः उनका अतल तलस्पर्शी ज्ञान सर्वत्र उपलब्ध है। इनकी कारिकाओंमें अर्थगाम्भीर्य है, प्रसंगवश वे वादियोंपर करारा व्यंग्य करनेसे भी चूकते नहीं हैं। व्यंग्यके समय इनको रचनाओंमें सरसता आ जाती है, और दर्शनके शुष्क विषय भी साहित्यके समान सरस प्रतीत होने लगते हैं। अदृश्यानुपलब्धिसे अभावकी सिद्धि न माननेपर वे बौद्धोंपर व्यंग करते हुए कहते हैं—

> दध्यादौ न प्रवर्तेत बौद्धः तद्भुक्तये जनः।
> अदृश्यां सौगतीं तत्र तनूं संशङ्कमानकः॥
> दध्यादिके तथा भुक्ते न भुक्तं काञ्जिकादिकम्।
> इत्यसौ वेत्तु नो वेत्ति न भुक्ता सौगती तनुः[2]॥

अदृश्यकी आशंकासे बौद्ध दही खानेमें निःशंक प्रवृत्ति नहीं कर सकेंगे, क्योंकि वहाँ सुगतके अदृश्य शरीरकी शंका बनी रहेगी। दही खानेपर काञ्जी नहीं खायी, यह तो वे समझ सकते हैं, पर बुद्ध शरीर नहीं खाया, यह समझना उन्हें असम्भव है।

यह कितना मार्मिक व्यंग्य है। धर्मकीर्तिके अभेदप्रसंगका उत्तर भी अकलंकदेवने व्यंग्यात्मक रूपमें दिया है। अकलंकदेव कठिन-से-कठिन विषयको भी व्यंग्यात्मक सरलरूपमें प्रस्तुत करते हैं। यों तो अकलंकदेवने अनुष्टुप् छन्दोंमें ही अधिकांश कारिकाएँ लिखी हैं, पर उन्हें शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा छन्द भी विशेष प्रिय हैं। जहाँ उन्हें थोड़ा-सा भी अवसर मिलता है कि वे इन छन्दोंका प्रयोग करने लगते हैं। न्यायके प्रकरणोंमें उद्देश्यनिर्देशक और उपसंहारात्मक पद्योंमें इन छन्दोंका प्रयोग पाया जाता है। मंगलाचरणके पद्योंमें अलंकारोंका नियोजन भी विद्यमान है। निम्नलिखित पद्यमें सम्यग्ज्ञानको जल-

---

१. अष्टशती, कारिका १०९, पृ० ४८।

२. सिद्धिविनिश्चयटीका, भारतीय ज्ञानपीठ काशी संस्करण, भाग २, पृ० ४३७।

रूपक प्रदान कर मलिन हुए न्यायमार्गके प्रक्षालनकी बात वे कितनी सदयतासे व्यक्त करते हैं—

> बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः
> माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः ।
> न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
> सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः ॥[1]

इसी प्रकार अनुप्रास, यमक आदि अलंकार भी इनके दर्शन-ग्रन्थोंमें काव्य-रचना न होनेपर भी प्राप्त हैं। शैलीकी दृष्टिसे अकलंक निश्चय ही उद्योतकर और धर्मकीर्तिके समकक्ष हैं।

एलाचार्य

एलाचार्यका स्मरण आचार्य वीरसेनने विद्यागुरुके रूपमें किया है। उन्होंने लिखा है—

> जस्साएसेण मए सिद्धंतमिदं हि अहिलहुदं ।
> मह सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ॥

जिसके आदेशसे मैंने इस सिद्धान्तग्रन्थको लिखा है वह एलाचार्य मेरे ऊपर प्रसन्न हों।

वीरसेनाचार्यने जयधवलाटोकामें भी एलाचार्यका स्मरण किया है तथा उनकी कृपासे प्राप्त आगम-सिद्धान्तको लिखे जानेका निर्देश किया है। बताया है—"एदेण वयणेण सुत्तस्स देसाभासियत्तं जेण जाणाविदं तेण चउण्हं गईणं उतुच्चारणाबलेण एलाइरियपसाएण य सेसकम्माणं परूवणा कीरदे।"[2]

अर्थात् उच्चारणाके बलसे और एलाचार्यके प्रसादसे चारों गतियोंमें शेष कर्मोंकी प्ररूपणा करते हैं—कालानुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है—ओघनिर्देश और आदेशनिर्देश। इनमेंसे ओघकी अपेक्षा मिथ्यात्वको तीन प्रकृत्तियोंका जघन्यकाल एक समय है, तथा उत्कृष्टकाल दो समय है। इसी प्रकार असंख्यातभागहानि, संख्यातभागहानि, संख्यातगुण-हानि और असंख्यातगुण-हानिके जघन्य और उत्कृष्ट कालका आनयन एलाचार्यके उपदेशसे किया है।

---

१. धवलाटीका, अन्तिम प्रशस्ति, पुस्तक १६, गाथा १।

२. जयधवलाटीका समन्वित कसायपाहुड, भाग ४, पृ० १६९।

परिचय

गृद्धपिच्छके नामान्तरोंमें एलाचार्यके नामकी गणना पायी जाती है। किन्तु प्रस्तुत एलाचार्य उनसे भिन्न हैं। ये वीरसेनके समकालीन हैं और उनका सैद्धान्तिक पाण्डित्य असाधारण होगा। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें एला-चार्यके सम्बन्धमें लिखा है—

> काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी।
> श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः॥
> तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः।
> उपरितमनिबन्धनाद्याधिकारानष्ट च लिलेख[1]॥

बप्पदेवके पश्चात् कुछ वर्ष बीत जानेपर सिद्धान्तशास्त्रके रहस्य ज्ञाता एलाचार्य हुए। ये चित्रकूट नगरके निवासी थे। इनके पार्श्वमें रहकर वीर-सेनाचार्यने सकल सिद्धान्तोंका अध्ययन कर निबन्धनादि आठ अधिकारोंको लिखा।

इस उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि वीरसेन आचार्यने आगमग्रन्थोंका अध्ययन एलाचार्यसे किया था। प्राचीन समयमें विद्यागुरु और दीक्षागुरु पृथक्-पृथक् हुआ करते थे। अतः एलाचार्य वीरसेनके विद्यागुरुके रूपमें रहे होंगे।

जयधवलाटीकाके प्रथम भागमें एलाचार्यके वात्सल्यकी आचार्य वीरसेनने प्रशंसा की है। लिखा है—'जीभमेलाइरियवच्छओ'[2] इस कथनसे ध्वनित होता है कि एलाचार्य वीरसेनको बहुत स्नेह करते थे। यही कारण है कि उन्होंने अपनेको एलाचार्यका वत्स कहा है।

समय-निर्णय

इनके समयका निर्धारक रूपसे बड़ा प्रमाण यही है कि वीरसेनने उन्हें अपना गुरु बताया है और उन्हींके आदेशसे सिद्धान्त-ग्रन्थोंका प्रणयन किया है। अतः एलाचार्य वीरसेनके समकालीन अथवा कुछ पूर्ववर्ती हैं। वीरसेनने धवलाटीका शक संवत् ७३८ (ई० सन् ८१६)में समाप्त की थी। अतएव एलाचार्य आठवीं शताब्दीके उत्तरार्ध और नवमी शतीके पूर्वार्द्धके विद्वानाचार्य हैं।

प्रतिभा एवं वैदुष्य

एलाचार्यके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं और न कोई ऐसी कृति ही उपलब्ध है,

---

१. इन्द्रनन्दि श्रुतावतार, श्लोक १७७-१७८।

२. जयधवलाटीका समन्वित कसायपाहुड, १ पृ० ८१।

एलाचार्यकी कृतियोंके उद्धरण ही मिलते हों। वीरसेनके गुरु होनेके कारण ये सिद्धान्तशास्त्रके मर्मज्ञ विद्वान् थे, इसमें सन्देह नहीं। वीरसेनस्वामीने जयधवलाटीकामें मतभेदोंका निर्देश करते हुए स्पष्ट लिखा है कि भट्टारक एलाचार्यके द्वारा उपदिष्ट व्याख्यान ही समीचीन होनेसे ग्राह्य है। यथा—

"तदो पुव्वुत्तमेलाइरियभडारएण उवइट्ठवक्खाणमेव पट्ठाणभावेण एत्थ घेतव्वं[1]।"

इस उद्धरणसे एलाचार्यकी प्रतिभाका अनुमान लगाया जा सकता है। एलाचार्य वाचकगुरु थे और उनकी प्रतिभा अप्रतिम थी।

वीरसेनाचार्य

जिनसेन प्रथमने अपने हरिवंशपुराणमें कविचक्रवर्तीके रूपमें वीरसेन आचार्यका स्मरण किया है। यथा—

जितात्म-परलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलङ्कावभासते ॥[2]

जिन्होंने स्वपक्ष और परपक्षके लोगोंको जीत लिया है तथा जो कवियोंके चक्रवर्ती हैं, ऐसे वीरसेनस्वामीकी निर्मल कीर्ति प्रकाशित हो रही है।

आचार्य वीरसेन सिद्धान्तके पारङ्गत विद्वान् तो थे ही, साथ ही गणित, न्याय, ज्यौतिष, व्याकरण आदि विषयोंका भी तलस्पर्शी पाण्डित्य उन्हें प्राप्त था। इनका बुद्धिवैभव अत्यन्त अगाध और पाण्डित्यपूर्ण है। वीरसेनस्वामीके शिष्य जिनसेनने अपने आदिपुराण एवं धवला-प्रशस्तिमें इनको 'कविवृन्दारक' कहकर स्तुति की है। उन्होंने लिखा है—

श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः।
स नः पुनातु पूतात्मा कविवृन्दारका मुनिः॥
लोकवित्त्वं कवित्वञ्च स्थितं भट्टारके द्वयम्।
वाङ्मिताऽवाङ्मिता यस्य वाचा वाचस्पतेरपि॥
सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम्।
मन्मनःसरसि स्थेयान् मृदुपादकुशेशयम्॥[3]

---

१. कसायपाहुड, भाग १, पृ० १६२।
२. हरिवंशपुराण १।३९।
३. आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, १।५५–५७।

वे अत्यन्त प्रसिद्ध वीरसेन भट्टारक हमें पवित्र करें, जिनकी आत्मा स्वयं पवित्र है, जो कवियोंमें श्रेष्ठ हैं, जो लोकव्यवहार और काव्यस्वरूपके महान् ज्ञाता हैं तथा जिनकी वाणीके समक्ष औरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं सुर-गुरु बृहस्पतिकी वाणी भी सीमित—अल्प जान पड़ती है। सिद्धान्त—षट्खण्डागम सिद्धान्तग्रन्थके ऊपर उपनिबन्धन—निबन्धात्मक टीका रचनेवाले मेरे गुरु वीरसेन भट्टारकके कोमल चरण-कमल सर्वदा मेरे मनरूपी सरोवरमें विद्यमान रहें।

ऊपरके अवतरणसे यह स्पष्ट है कि वीरसेनाचार्य कवि और वाग्मी तो थे ही, साथ ही सिद्धान्तग्रन्थोंके टीकाकारके रूपमें भी प्रसिद्ध थे।

जीवन-परिचय

वीरसेनने अपनी धवलाटीका-प्रशस्तिमें अपने गुरुका नाम एलाचार्य लिखा है। पर इसी प्रशस्तिकी चौथी गाथामें गुरुका नाम आर्यनन्दि और दादागुरुका नाम चन्द्रसेन कहा है। डॉ० हीरालाल[1] जैनका अनुमान है कि एलाचार्य इनके विद्या-गुरु और आर्यनन्दि इनके दीक्षा-गुरु थे। इनकी शाखा पञ्चस्तूपान्वय कही गयी है। इस शाखाका सम्बन्ध उत्तर भारतके मथुरा और हस्तिनापुरके साथ रहा है। इसकी एक उपशाखा दक्षिण भारतमें भी जा बसी थी। प्रशस्तिसे[2] वीरसेनाचार्य सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और न्याय शास्त्रके वेत्ता तथा भट्टारकपदसे विभूषित सिद्ध होते हैं।

इन्द्रनन्दिके 'श्रुतावतार'से[3] ज्ञात होता है कि बप्पदेवकी टीका लिखे जानेके उपरान्त कितने ही वर्ष पश्चात् सिद्धान्तोंके तत्त्वज्ञ एलाचार्य हुए, ये चित्रकूटमें निवास करते थे। वीरसेनने इनके पास समस्त सिद्धान्तग्रन्थोंका अध्ययन किया। गुरुकी अनुज्ञा प्राप्त कर वाटग्राम (बड़ौदा) में आये और वहाँके आनतेन्द्र द्वारा बनवाये हुए जिनालयमें ठहरे। यहाँ बप्पदेव गुरु द्वारा निर्मित टीका प्राप्त हुई। अनन्तर उन्होंने ७२००० श्लोकप्रमाण समस्त षट्खण्डागमकी धवलाटीका लिखी। तत्पश्चात् कषायप्राभृतकी चार विभक्तियोंकी २०,००० श्लोकप्रमाण ही जयधवलाटीका लिखे जानेके उपरान्त उनका स्वर्गवास हो

---

१. धवलाटीका, पुस्तक प्रथम, प्रस्तावना, पृ० ३६।

२. सिद्धंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाणसत्थणिवुणेण।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥५॥

—धवलाटीकाकी अन्तिम प्रशस्ति।

३. श्रुतावतार श्लोक १७७–१८४।

गया और उनके शिष्य जिनसेन द्वितीयने अवशेष जयधवलाटीका ४०,००० श्लोकप्रमाण लिखकर पूरी की।

भट्टारक पदवीको प्राप्त वीरसेनस्वामी साक्षात् केवलीके समान समस्त विद्याओंके पारगामी थे। उनकी भारती[1]—दिव्यवाणी भारती—भरतचक्रवर्तीकी आज्ञाके समान षट्खण्डमें प्रवर्त्तित थी। अर्थात् जिस प्रकार षट्खण्ड-पृथ्वीपर भरतचक्रवर्तीकी आज्ञाका अबाधगतिसे पालन किया जाता था, उसी प्रकार आचार्य वीरसेनकी वाणीका भी सञ्चार छह खण्डरूप षट्खण्डागम नामके परमागममें सब ही विषयोंमें निर्विवादरूपसे मान्य है। उन्होंने मूल ग्रन्थमें आये हुए विषयोंकी बहुत स्पष्ट व्याख्या की है, जिसका खण्डन कोई नहीं कर सकता है। चक्रवर्ती भरतकी आज्ञा जहाँ सम्पत्ति—लक्ष्मीवन्तोंको प्रसन्न करनेवाली थी, वहाँ वीरसेनकी मधुर वाणी समस्त प्राणियोंको प्रमुदित करनेवाली थी। भरतकी आज्ञाका सञ्चार यदि उनके द्वारा आक्रान्त समस्त पृथ्वी पर था, तो उनकी वाणीका सञ्चार कुशाग्र बुद्धिके कारण समस्त विषयोंमें—सिद्धान्त, न्याय एवं व्याकरण आदि शास्त्रोंमें था। उनकी स्वाभाविक प्रज्ञा—अदृष्ट और अश्रुतपदार्थोंको अवगत करने रूप योग्यताको देखकर विज्ञजनोंकी सर्वज्ञके विषयमें आशङ्का नष्ट हो गयी थी। यतः जब एक व्यक्ति आगम द्वारा इतना बड़ा ज्ञानी हो सकता है, तो अतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानधारी सर्वज्ञ समस्त पदार्थोंका ज्ञाता यदि है, तो इसमें कौन-सा आश्चर्य है। बताया है—

यं प्राहुः प्रस्फुरद्बोधदीधितिप्रसरोदयः।
श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमम्॥
यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम्।
जाताः सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः॥

—जयधवलाप्रशस्ति, पद्य २२–२१।

स्थिति-काल

आचार्य वीरसेनका स्थिति-काल विवादास्पद नहीं है, क्योंकि उनके शिष्य जिनसेनने उनकी अपूर्ण जयधवलाटीकाको शक संवत् ७५९ की फाल्गुन शुक्ला दशमीको पूर्ण किया है। अतः इस तिथिके पूर्व ही वीरसेनाचार्यका समय होना चाहिए और उनकी धवलाटीकाकी समाप्ति इससे बहुत पहले होनी चाहिए। यह टीका जयतुङ्गदेवके राज्यमें समाप्त हुई थी। राष्ट्रकूट

१. प्रीणितप्राणिसम्पत्तिराक्रान्ताशेषगोचरा।
भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत्॥ —जयधवलाप्रशस्ति।

नरेशोंमें जयतुङ्ग उपाधि अनेक राजाओंकी है, पर इनमेंसे प्रथम जयतुङ्ग गोविन्द तृतीय थे, जिनके शिलालेख शक संवत् ७१६–७३५ के मिले हैं। अतएव यह अनुमान लगाना सहज है कि धवलाटीकाकी समाप्ति इन्हीं गोविन्द तृतीयके समयमें हुई है। डॉ० हीरालालजी जैनने अनेक प्रमाणोंके आधारपर धवलाटीकाका समाप्ति-काल शक संवत् ७३८ सिद्ध किया है। आपने लिखा है कि जब जयतुङ्गदेवका राज्य पूर्ण हो चुका था और बोद्दण-राय (अमोघ वर्ष) राजगद्दीपर आसीन हो चुका था, उस समय धवलाटीका समाप्त हुई।[1]

अत: आचार्य वीरसेनका समय ई० सन्की ९वीं शताब्दि (ई० सन् ८१६) है।

रचनाएँ

इनकी दो ही रचनाएँ उपलब्ध हैं। इन दोमेंसे एक पूर्ण रचना है और दूसरी अपूर्ण। इन्होंने बहत्तर हजार श्लोकप्रमाण प्राकृत और संस्कृत-मिश्रित भाषामें मणि-प्रवालन्यायसे 'धवला'टीका लिखी है।

दूसरी रचना 'जयधवला'टीका है। इस टीकाको केवल बीस हजार श्लोक-प्रमाण ही लिख सके थे कि असमयमें उनका स्वर्गवास हो गया। इस तरह वीरसेनस्वामीने बानबे हजार श्लोकप्रमाण रचनाएँ लिखी हैं। एक व्यक्ति अपने जीवनमें इतना अधिक लिख सका, यह आश्चर्यकी वस्तु है। इन टीकाओंसे वीरसेनकी विशेषज्ञताके साथ बहुज्ञता भी प्रकट होती है। सैद्धान्तिक विषयों-की कितनी सूक्ष्म जानकारी थी, यह देखते ही बनता है।

धवलाटीकाकी रचना करनेका हेतु

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे ज्ञात होता है कि बप्पदेवकी टीकाको देखकर वीरसेनाचार्यको धवलाटीका लिखनेकी प्रेरणा प्राप्त हुई। इस टीकाके स्वाध्यायसे वीरसेनने अनुभव किया कि सिद्धान्तके अनेक विषयोंका निर्वचन छूट गया है, तथा अनेक स्थलोंपर विस्तृत सिद्धान्त-स्फोटन सम्बन्धी व्याख्याएँ भी अपेक्षित हैं। अतएव इन्होंने एक नयी विवृति लिखनेको परम आवश्यकता अनुभव की। फलत: बप्पदेवकी टीकासे प्रेरणा प्राप्त कर 'धवला' एवं 'जयधवला' नामक टीकाएँ लिखीं।

टीकासम्बन्धी मौलिकताएँ

वीरसेनाचार्य मूलत: सैद्धान्तिक, दार्शनिक और कवि हैं। आचार्य जिन-

१. धवलाटीका समन्वित षट्खण्डागम, प्रथम पुस्तक, प्रस्तावना, पृ० ४०–४१।

सेनने उन्हें उपनिबन्धनकर्त्ता कहा है। अतएव इनकी धवला एवं जयधवला टीकाएँ वस्तुतः उपनिबन्धन हैं। उपनिबन्धनमें परम्परानुमोदनके साथ जिस विषयका प्रस्तुतीकरण किया जाता है, उस विषय या वस्तुपर उसके स्वरूप, प्रकृति, गुण-दोष आदिकी दृष्टिसे तर्कपूर्ण विवेचन या समालोचन भी अपेक्षित होता है। इस टीकामें विचार-प्रगल्भता, अनुभव-शीलता एवं विषयकी प्रौढ़ता रहनेके कारण ही इसे उपनिबन्धकी संज्ञा दी गयी है। सांस्कृतिक उपकरणोंका अत्यधिक बाहुल्य है। निमित्त, ज्योतिष एवं न्यायशास्त्रकी अगणित सूक्ष्म और विशेष बातें पायी जाती हैं। इसमें दो मान्यताओंका उल्लेख उपलब्ध होता है—(१) दक्षिण प्रतिपत्ति और (२) उत्तर प्रतिपत्ति[१]।

दक्षिण प्रतिपत्तिको आचार्य प्रमाण मानते हैं और उत्तर प्रतिपत्तिको वाम, क्लिष्ट एवं आचार्याननुमोदित। टीकामें उक्त दोनों-प्रतिपत्तियोंका विवेचन करते हुए लिखा है कि तिर्यञ्च, दो मास और मुहूर्त्तपृथकत्वके ऊपर सम्यक्त्व और संयमासंयमको तथा मनुष्य गर्भसे लेकर आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्तके ऊपर सम्यक्त्व, संयम और संयमासंयमको प्राप्तकर सकते हैं[२]। इस उपदेशको आचार्य-परम्परागत होनेसे उन्होंने दक्षिण प्रतिपत्ति या ऋजु प्रतिपत्ति बतलाया है। इसके विपरीत तिर्यञ्च तीन पक्ष, तीन दिन और तीन अन्तमुहूर्तके ऊपर सम्यक्त्व, संयमासंयमको तथा मनुष्य आठ वर्षके ऊपर सम्यक्त्व, संयमासंयमको प्राप्तकर सकते हैं। इस उपदेशको परम्परागत न होनेके कारण उत्तर प्रतिपत्ति या अनृजु कहा गया[3] है।

---

१. के वि पुव्वुत्तपमाणं पंचूणं करेंति। एदं पंचूणं वक्खाणं पवाइज्जमाणं दक्खिण-माइरियपरंपरागयमिदं जं वुत्तं होइ। पुव्वुत्तवक्खाणमपवाइज्जमाणं वाउं आइरिय-परंपरा-अणागदमिदि णायव्वं.........एसा उत्तरपडिवत्ती। एत्थ दस अवणिदे दक्खिण-पडिवत्ती हवदि।

—धवलाटीका खण्ड १, भाग २, पु० ३, पृ० ९२-९४।

२. एत्थ वे उवदेसा—तं जहा—तिरिक्खेसु वेमास-मुहुत्त-पुधत्तस्सुवरि सम्मत्तं संजमा-संजमं च जीवो पडिवज्जदि। मणुस्सेसु गब्भादिअट्ठ वस्सेसु अंतोमुहुत्तब्भहिएसु सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदि त्ति। एसा दक्खिणपडिवत्ती। दक्खिणं उज्जुवं आइरियपरंपरागदमिदि एयट्ठो। —धवला, पु० ५, पृ० ३२।

३. (क) तिरिक्खेसु तिण्णिपक्ख-तिण्णिदिवस-अंतोमुहुत्तस्सुवरि सम्मत्तं संजमासंजमं च पडिवज्जदि। मणुस्सेसु अट्ठवस्साणमुवरि सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदि त्ति। एसा उत्तरपडिवत्ती उत्तरमणुज्जुवं। आइरियपरंपराए णाग-दमिदि। —धवला, पु० ५, पृ० ३२।

जयधवलाप्रशस्तिसे अवगत होता है कि वीरसेनकी टीका ही यथार्थ टीका है। शेष तो पद्धति या पंजिका हैं। यथा—

टीका श्रीवीरसेनीया शेषाः पद्धति-पञ्जिकाः[1]।

स्पष्ट है कि वीरसेनस्वामीने अपनी इन विशाल टीकाओंमें सैद्धान्तिक चर्चाओंका पूर्णतया समावेश किया है। समस्त श्रुतज्ञानकी ऐसी सुन्दर व्याख्या अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं। महाकर्मप्रकृतिप्राभृत और कषायप्राभृतसंबधी जो ज्ञान वीरसेनको गुरुपम्परासे उपलब्ध हुआ, उसे इन दोनों टीकाओंमें यथावत् निबद्ध किया गया है। आगमकी परिभाषामें ये दोनों टीकाएँ दृष्टिवाद-के अंगभूत दोनों प्राभृतोंका प्रतिनिधित्व करती हैं। अतएव इन्हें स्वतन्त्र ग्रन्थोंकी संज्ञा दी जा सकती है। यही कारण है कि आज 'षट्खण्डागम' सिद्धांत धवलसिद्धान्तके नामसे और 'पेज्जदोसपाहुड' जयधवलासिद्धान्तके नामसे ख्यात हैं।

टीकाकी प्रामाणिकताके लिए वीरसेनाचार्यने समस्त परम्पराके अनुसार ही विवक्षित विषयका प्रतिपादन किया है। यदि उन्हें कहीं किसी आचार्यका अभिप्राय सूत्रविरुद्ध या परम्पराविरुद्ध प्रतीत हुआ है, तो उन्होंने उसे अग्राह्य घोषित किया है। उदाहरणार्थ द्रव्यप्रमाणसूत्र ७ की व्याख्यामें प्रमत्त-संयतोंका प्रमाण ५९, ३९, ८२, ०, ६ बतलाया गया है। इसपर वहाँ शङ्का की गयी है कि सूत्रमें जब उनका प्रमाण कोटिपृथक्त्व ही निर्दिष्ट किया गया है तब उसे एक निश्चित संख्यामें कैसे गिनाया गया? इस शंकाके उत्तरमें बताया गया है कि हमने इसे आचार्यपरम्परागत जिनोपदेशसे जाना[2] है।

यदि वीरसेनको कहीं किसी आचार्यका व्याख्यान सूत्रसे विरुद्ध मालूम हुआ है, तो उसे उन्होंने अप्रमाण बताया है। यथा—परिकर्ममें राजुके अर्धच्छेदोंकी संख्या और द्वीप-सागरसंख्या जम्बूद्वीपके अर्धच्छेदोंसे एक अधिक निर्दिष्ट की गयी है। इस व्याख्यानको सूत्रविरुद्ध बतलाकर अग्राह्य कहा है।

(ख) एसा उत्तरपडिवत्ती। एत्थ दस अवणिदे दक्खिणपडिवत्ती हवदि।

—धवला, पु० ३, पृ० ९४।

(ग) एसा दक्खिणपडिवत्ती····एत्तो उत्तरपडिवत्तिं वत्तइस्सामो।

वही, ३।९८, ९९।

१. जयधवला प्रशस्ति, पद्य ३९।

२. एदमेत्तियं होदि त्ति कधं णव्वदे? आइरियपरंपरागदजिणोवदेसादो।

—धवला पु० ३, पृ०८९।

जहाँ उन्हें आचार्यपरम्परागत उपदेश प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु गुरुका उपदेश प्राप्त रहा है वहाँ उन्होंने उसके आधारसे भी विषयका विवेचन किया है[1]।

यदि उन्हें कहींपर उक्त दोनों ही प्रकारका उपदेश नहीं प्राप्त हुआ, तो वहाँ उन्होंने युक्तिबलसे सूत्रके अनुकूल विषय-व्यवस्था प्रतिपादित की है। पर इसकी घोषणा उन्होंने कर दी है। यथा—

द्वीपसमुद्रोंकी संख्याके विषयमें आचार्योंमें मतभेद रहा है। आचार्य वीरसेन-स्वामी ज्योतिषी देवोंकी संख्या लानेके लिए स्वम्भूरमण समुद्रकी 'बाह्यवेदिका' के आगे भी पृथ्वीका अस्तित्व स्वीकार करते हैं, तथा राजुके संख्यात अर्द्धच्छेदों-का पतन भी अनिवार्य मानते हैं। इस प्रकार उनको अर्द्धच्छेदोंके प्रमाणकी परीक्षा-विधि अन्य आचार्योंकी उपदेश-परम्पराका अनुसरण नहीं करती है। यह तो केवल 'तिलोयपणत्ती'के अनुसार ज्योतिषी देवोंके भागहारको उत्पन्न करनेवाले सूत्रके आश्रयसे युक्ति द्वारा कथन किया है। इस सम्बन्धमें अन्य उदाहरण भी दृष्टव्य हैं। यथा, सासादन स्थानगत जीवोंकी संख्या निकालनेमें 'अन्तर्मुहूर्त' शब्दमें अवस्थित 'अन्तर' शब्दको सामीप्य अर्थका वाचक मानकर मुहूर्तसे अधिक कालको भी अन्तर्मुहूर्त स्वीकार करते हुए असंख्यात आवली प्रमाण अवहार कालका कथन किया है। इसी प्रकार आयतचतुरस्र लोकका कथन किया है।

आचार्य वीरसेनस्वामीने सूत्रों द्वारा प्राप्त होनेवाले विरोधोंका भी समन्वय करनेकी चेष्टा की है।

सूत्रविरोध-समन्वय

आचार्य वीरसेनने सूत्रोंमें प्राप्त होनेवाले पारस्परिक विरोधोंका समन्वय करते हुए व्याख्यान किया है। छुद्रकबन्धके अन्तर्गत अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारके ७४ वें सूत्रमें सूक्ष्म वनस्पतिकायिकजीवोंसे वनस्पतिकायिक जीवोंका प्रमाण विशेष अधिक कहकर ७५ वें सूत्रमें निगोदजीवोंको उन वनस्पतिकायिकजीवोंसे विशेष अधिक निर्दिष्ट किया है। इसपर शंकाकारने निगोदजीवोंके वनस्पति-कायिकजीवोंसे भिन्न न होनेके कारण उक्त वनस्पतिकायिकोंके ही अन्तर्गत होनेसे इस ७५ वें सूत्रको निरर्थक बताया है। आचार्य वीरसेनने शंकाकारकी शंकाका समाधान करते हुए लिखा है कि वनस्पतिकायिकजीवोंके अल्पबहुत्वका कथन करनेके पश्चात् उसके आगे निगोदजीवोंको विशेष अधिक कहनेवाला

१. सव्वकम्माणं ट्ठिदीओ ण घेप्पंति, किंतु एक्कस्सेव कम्मट्ठिदी घेप्पदि। कुदो? गुरूवदेसादो। —धवला, पुस्तक ४, पृ० ४०२।

विरचित[1] सारसंग्रह, ११. प्रभाचन्द्र[2] भट्टारक (ग्रन्थकार), १२. समन्तभद्र[3] स्वामी (ग्रन्थकार), १३. छेदसूत्र[4], १४. सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत[5], १५. मूल-तन्त्र[6], १६. योनिप्राभृत[7] और १७ सिद्धिविनिश्चय[8] ।

इनके अतिरिक्त 'षट्खण्डागम'के अन्तर्गत विविध अनुयोगद्वार जैसे सन्त-सूत्र (पु० २, पृ० ६५७), वर्गणासूत्र (पु० १, पृ० २९०), वेदनाक्षेत्रविधान (पु० ४, पृ० ९४), चूलिकासूत्र (पु० ६, पृ० ११८) और वर्गणासूत्र (पु० १, पृ० २९०) इत्यादि उसी षट्खण्डागमके छठे खण्डस्वरूप महाबन्ध (पु० ७, पृ० १९५) तथा कसायपाहुड (पु० १, पृ० २१७) व उससे सम्बद्ध चूर्णिसूत्र (पु० ६, पृ० १७७), उच्चारणाचार्य (पु० १०, पृ० १४४), निक्षेपाचार्य (पु० १०, पृ० ४५७), महावाचक आर्यनन्दी (पु० १६, पृ० ५७७), आर्यमंक्षु क्षमाश्रमण (पु० १६, पृ० ५१८) और नागहस्ती (पु० १५, पृ० ३२७) आदिका उल्लेख तो जहाँ-तहाँ बहुतायतसे हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य वीरसेनने 'कसायपाहुड' और उससे सम्बद्ध चूर्णिसूत्रोंका अध्ययन भी सूक्ष्मरूपसे किया है। धवलाटोकामें अनेक स्थलोंपर चूर्णिसूत्र और कसायपाहुडके उल्लेख आये हैं। निम्नलिखित ग्रन्थोंके उद्धरण या नाम भी धवलाटीकामें पाये जाते हैं। १ आचाराङ्गनिर्युक्ति, २ मूलाचार, ३ प्रवचनसार, ४ सन्मतिसूत्र, ५ पंचास्ति-कायप्राभृत, ६ दशवैकालिक, ७ भगवती-आराधना, ८ अनुयोगद्वार, ९ चारित्र-प्राभृत, १० स्थानांगसूत्र, ११ शाकटायनन्यास, १२ आचाराङ्गसूत्र, १३ लघीय-स्त्रय, १४ आप्तमीमांसा, १५ युक्त्यनुशासन, १६ विशेषावश्यकभाष्य, १७ सर्वार्थ-सिद्धि, १८ सौन्दरनन्द, १९ धनञ्जयनाममाला और अनेकार्थनाममाला, २० भावप्राभृत, २१ बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, २२ नन्दिसूत्र, २३ समवायाङ्ग, २४ आवश्यक-सूत्र, २५ प्रमाणवार्तिक, २६ सांख्यकारिका और २७ कर्मप्रकृति ।

धवलाटीकामें जिन गाथाओंको उद्धृत किया गया है उनमेंसे अधिकांश

१: धवलटीका समन्वित षट्खण्डागम, पु० ९ पृ० १६७ ।
२. वही, पु० ९ पृ० १६६ ।
३. वही, पु० ९, पृ० ६७ ।
४. वही, पु० ११, पृ० ११५ ।
५. वही, पु० ९, पृ० ३१८ : पु० १५, पृ० ४३ ।
६. वही, पु० १३, पृ० ९० ।
७. वही, पु० १३, पृ० ३४९ ।
८. वही, पु० १३, पृ० ३५६ ।

गाथाएँ गोम्मटसारमें उपलब्ध होती हैं। कुछ गाथाएँ 'त्रिलोकसार', 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' और 'वसुनन्दिश्रावकाचार'में भी पायी जाती हैं। ये सब ग्रन्थ धवलाटीकाके पश्चात् रचे गये हैं। अतः यह अनुमान होता है कि इन प्राचीन गाथाओंका स्रोत एक ही रहा है। उस एक ही स्रोतसे वीरसेनाचार्यने गाथाएँ ग्रहण की हैं और उसी स्रोतसे अन्य ग्रन्थरचयिताओंने भी। अतएव वीरसेनाचार्यका वैदुष्य बहुज्ञके रूपमें स्पष्टतया अवगत होता है।

ज्योतिष एवं गणित विषयक निर्देश

आचार्य वीरसेन ज्योतिष, गणित, निमित्त आदि विषयोंके भी ज्ञाता थे। ज्योतिषकी अनेक महत्त्वपूर्ण चर्चाएँ इनकी टीकामें आयी हैं। ५ वीं शताब्दीसे लेकर ८ वीं शताब्दी तक ज्योतिषविषयक इतिहास लिखनेके लिए इनकी यह रचना बड़ी ही उपयोगी है।

ज्योतिषसम्बन्धी चर्चाओंमें नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता, पूर्णा संज्ञाओंके नाम आये हैं। रात्रि-मुहूर्त और दिन-मुहूर्तोंकी भी चर्चा की गयी है। वर्ष, अयन और ऋतु सम्बन्धी विचार भी महत्त्वपूर्ण हैं। निमित्तोंमें व्यंजन और छिन्न निमित्तोंकी चर्चाएँ आयी हैं।

बीजगणित

गणितकी दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ अपूर्व है। यहाँ हम गणितके कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

इसमें प्रधानरूपसे एकवर्णसमीकरण, अनेकवर्णसमीकरण, करणी, कल्पितराशियाँ, समानान्तर, गुणोत्तर, व्युत्क्रम, समानान्तर श्रेणियाँ, क्रम, संचय, घातांकों और लघुगणकोंका सिद्धान्त आदि बीजसम्बन्धी प्रक्रियाएँ मिलती हैं। धवलामें $\text{अ}^{\frac{३}{२}}$ को अके घनका प्रथम वर्गमूल कहा है। $\text{अ}^{९}$ को अके घनका घन बताया है। $\text{अ}^{६}$ को अके वर्गका घन बतलाया है। अके उत्तरोत्तर-वर्ग और घनमूल निम्नप्रकार है :—

अ का प्रथम वर्ग अर्थात् $(\text{अ}^{२}) = \text{अ}^{२}$
,, द्वितीय वर्ग ,, $(\text{अ}^{२})^{२} = \text{अ}^{४} = \text{अ}^{२\ २}$
,, तृतीय वर्ग ,, $(\text{अ}^{२})^{३} = \text{अ}^{६} = \text{अ}^{२\ ३}$
,, चतुर्थ वर्ग ,, $(\text{अ}^{२})^{४} = \text{अ}^{८} = \text{अ}^{२\ ४}$
इसी प्रकार क वर्ग ,, ,, $(\text{अ}^{२})^{\text{क}} = \text{अ}^{२\ \text{क}}$

इन्हीं सिद्धान्तोंपरसे घाताङ्क-सिद्धान्त निम्न प्रकार बनाया है—

१. $\frac{क}{अ} + \frac{ब}{अ} = \frac{क}{अ} + ब$ २. $\frac{म}{अ}$ । $अ^{न} = \frac{म}{अ} - न$ ३. $\left(\frac{म}{अ}\right)^{न} = \frac{म}{अ} न$, इन घातांक-सिद्धान्तोंके उदाहरण धवलाके फुटकर गणितमें मिलते[1] हैं।

श्रेणोव्यवहार, अर्द्धच्छेद, व्यास, त्रिज्या, चतुरस्र, त्रिकोण एवं अनेक प्रकारके बहुभुज क्षेत्रोंके क्षेत्रफलानयनकी विधि विस्तारपूर्वक वर्णित है। गणितानुयोगकी दृष्टिसे वीरसेनाचार्यका ज्ञान असाधारण था। उन्होंने वर्गांक, घातांक, वर्गवर्गांक, घनांक, ऋण एवं धन करणियोंके गणित विस्तारपूर्वक वर्णित किये हैं। कोण, रेखा, समकोण, अधिकोण, न्यूनकोण, समतल, घन-परिमाण, व्यवच्छेदक, सूचीछेद, वक्ररेखा आदिकी गणितविधियाँ भी वर्णित हैं।

शैली

धवला और जयधवला टीकाओंकी शैलीमें निम्नलिखित पाँच गुण समाहित हैं—

१. प्रसादगुण
२. समाहारशक्ति
३. तर्क या न्यायशैली
४. पाठकशैली
५. सर्जकशैली

१. प्रसादगुण

विषय-विवेचनमें आचार्यने पद और वाक्योंका अर्थ तो स्पष्ट किया ही है, पर साथ ही तत्सम्बन्धी विषयको उपस्थित कर सूत्रोंका इतना स्पष्टीकरण किया है, जिससे सूत्रके समान्य अर्थके साथ उसके विशेष हृदयको भी अवगत करनेमें बुद्धिको व्यायाम नहीं करना पड़ता है। शंका-समाधानद्वारा विषय-निरूपणमें सरलता, स्वच्छता और आडम्बरहीनता परिलक्षित होती है। इस टीकाका धवलानाम भी विषय-प्रतिपादनकी स्वच्छताका द्योतक है। यथा—"'एत्ता' एतस्मादित्यर्थः। कस्मात्, प्रमाणात्। कुत एतदवगम्यते? प्रमाणस्य जीवस्थानस्याप्रमाणादवतारविरोधात्। नाजलात्मकहिमवतो निपतज्जलात्मक-गङ्गया व्यभिचारः, अवयविनोऽवयस्यात्र वियोगापायस्य विवक्षितत्वात्। नावय-

---

१. छट्ठवग्गस्स उवरि सत्तमवग्गस्स हेट्ठदो त्ति वुत्ते अत्थवत्ती ण जादेत्ति।
—धवला, पुस्तक ३, पृ० २५३।

विनोऽवयवो भिन्नो, विरोधात् । तदपि प्रमाणं द्विविधं द्रव्यभावप्रमाणभेदात् । द्रव्यप्रमाणात् संख्येयासंख्येयानन्तात्मकद्रव्यजीवस्थानस्यावतार: । भावप्रमाणं पञ्चविधम्—आभिणिबोहियभावपमाणं सुदभावपमाणं मणपज्जवभावपमाणं ओहिभावपमाणं केवलभावपमाणं चेदि"[1] ।

२. समाहारशक्ति

शंका-समाधान द्वारा विषयका समन्वय और संक्षेपण करते हुए विविध भंगोंका संयोजन करना समाहारशक्तिके अन्तर्गत है । टीकामें इस गुणके कारण अपने विषयकी पुष्टिके लिए पूर्वाचार्यों द्वारा प्ररूपित गाथाओं और वाक्योंका 'उक्तञ्च' कहकर ऐसा उपन्यास किया है, जिससे उद्धृतांश विषयमें दूध-पानीकी तरह मिश्रित हो गये हैं । आचार्यकी यह समाहारशक्तिका ही परिणाम है, जिससे विस्तृत विवृतिमें विभिन्न विषयोंका समावेश गंगामें समाविष्ट होनेवाली विभिन्न नदियोंके समान एक ही स्थान पर हुआ है और सभी विषय अन्तिम निष्कर्षके रूपमें एक ही तथ्यकी सम्मिलित रूपम अभिव्यञ्जना करते हैं । यथा—"तद्व्यतिरिक्तं द्विविधं कर्मनोकर्ममङ्गलभेदात् । तत्र कर्ममङ्गलं दर्शन-विशुद्धयादि-षोडशधा-प्रविभक्त-तीर्थंकर-नामकर्म-कारणैर्जीव-प्रदेश -निबद्ध-तीर्थं-कर-नामकर्म माङ्गल्य-निबन्धनत्वान्मङ्गलम् । यत्तन्नोकर्ममङ्गलं तद् द्विविधम्, लौकिकं लोकोत्तरमिति । तत्र लौकिकं त्रिविधम्, सचित्तमचित्तं मिश्रमिति । तत्राचित्तमङ्गलम्—

सिद्धत्थ-पुण्ण-कुंभो वंदणमाला य मंगलं छत्तं ।
सेदो वण्णो आदंसणो य कण्णा य जच्चस्सो ।।

सचित्तमङ्गलम् । मिश्रमङ्गलं सालङ्कारकन्यादि: ।"[2]

तर्क या न्यायशैली

न्यायकी शैलीमें स्वयं नानाप्रकारके विकल्प उठाकर तटस्थभावसे विषय-को प्रस्तुत करना और विषयके उपस्थापनमें तर्कका आश्रय लेकर निष्कर्ष निकालना आचार्य वीरसेनको अभीष्ट है । लौकिक और सैद्धान्तिक दोनों ही प्रकारके विषयोंके प्ररूपणमें उक्त प्रक्रियाको अपनाया गया है । यथा—"स्याद-मस्तु वग्रहो निर्णयरूपो वा स्यादनिर्णयरूपो वा ? आद्ये अवायान्तर्भाव: । चेन्न, तत: पश्चात्संशयोत्पत्तेरभावप्रसंगान्निर्णयस्य विपर्ययानध्यवसाय विरोधात् । अनिर्णयरूपश्चेत्, संशयविपर्ययानध्यवसायेष्वन्तर्भावादिति ? न,

---

१. धवलाटीका समन्वित षट्खण्डागम, पु० १, पृ० ९२-९३ ।

२. वही, पु० १, पृ० २६-२७ ।

अवग्रहस्य द्वैविध्यात् । द्विविधोऽवग्रहो विशदाविशदावग्रहभेदेन । तत्र विशदो निर्णयरूपः अनियमेनेहावाय-धारणाप्रत्ययोत्पत्तिनिबन्धनः''। यहाँ अवग्रह निर्णयरूप है या अनिर्णयरूप। प्रथम पक्षमें उसका अवायमें अन्तर्भाव होना चाहिये, पर ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि ऐसा माननेपर उसके संशयकी उत्पत्तिके अभावका प्रसंग आयगा। तथा निर्णयके विपर्यय और अनध्यवसाय रूप होनेका विरोध भी है। अनिर्णयस्वरूप माननेपर अवग्रह प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होनेपर उसका संशय, विपयर्य और अनध्यवसायमें अन्तर्भाव होगा ? उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अवग्रह दो प्रकारका है विशदावग्रह और अविशदावग्रह। इस प्रकार तर्कपूर्वक विषयका प्रस्तुतीकरण किया गया है।

४. पाठकशैली

जिस प्रकार कोई पाठक—शिक्षक अपने छात्रको विषय समझाते समय ज्ञानकी विभिन्न दिशाओंसे तथ्योंका चयन कर उदाहरणों और दृष्टान्तों द्वारा विषयबोध कराता है तथा अपने अभिमतकी पुष्टिके लिए प्रामाणिक व्यक्तियोंके मतोंको उद्धरणके रूपमें उपस्थित करता है। ठीक इसी प्रकारकी धवलाटीका-की शैली है। कठिन शब्दों और वाक्योंके निर्वचन एक कुशल प्राध्यापककी शैलीमें निबद्ध किये गये हैं।

५. सर्जकशैली

'धवलाटीका' टीका होनेपर भी, एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। आचार्य वीरसेनने इस टीकाको टीका या भाष्यके रूपमें ही ग्रथित नहीं किया है, बल्कि एक स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें विषयको उपस्थित किया है। स्वतन्त्रग्रन्थकर्त्ता और भाष्य-प्रणेतामें मूल अन्तर यह होता है कि स्वतन्त्रग्रन्थरचयिता विषयकी अभि-व्यञ्जना अपने क्रमसे निश्चित शैलीमें प्रस्तुत करता है, साथ ही मौलिक तथ्योंकी स्थापना भी करता चलता है। विषयप्ररूपणके लिए उसके समक्ष किसी भी तरहका अवरोध या अन्य कोई बन्धन नहीं रहता है। भाष्य या विवृतिकारके समक्ष मूल-ग्रन्थकार द्वारा निरूपित विषयोंकी सीमा एवं उनके प्रतिपादनके मार्गमें विभिन्न प्रकारके अवरोध उपस्थित रहते हैं। अतः टीकाकार-में परवशानुवर्तित्त्व पाया जाता है। विवृति-लेखक स्वतन्त्र मतकी स्थापनाके लिए भीतरसे बेचैन रहता है, पर उसकी सीमा उसे आगे बढ़नेसे रोकती है। आचार्य वीरसेनमें परवशानुवर्तित्त्व रहनेपर भी स्वतन्त्र रूपसे कर्म-सिद्धान्त एवं विभिन्न दार्शनिक मान्यताओंके निरूपणकी पूर्ण क्षमता है। यही कारण है

१. षट्खण्डागम, धवला पु० ९, पृ० १४४-१४५।

कि उन्होंने कतिपय तथ्य बहुत मौलिक और नूतनरूपमें अभिव्यक्त किये हैं। अतएव वीरसेनस्वामीकी शैलीमें सर्जनात्मक प्रतिभाका पूर्ण समावेश पाया जाता है।

मूल्य एवं निष्कर्ष

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि धवलाटीकाका मूल्य किसी भी स्वतन्त्र ग्रन्थसे कम नहीं है। इसमें ग्रहीतग्राही ज्ञानको प्रमाण माना गया है। आचार्य वीरसेनकी दृष्टिमें प्रमाणताका कारण संशय, विपर्यय और अनध्यवसायका न उत्पन्न होना है। जिस ज्ञानमें तीनों अज्ञानोंकी निवृत्ति रहती है, वह ज्ञान प्रमाण होता है। इसी प्रकार अवग्रह, ईहा आदि ज्ञानोंके निर्वचन भी नवीन रूपमें प्रस्तुत किये गये हैं। उपयोगके स्वरूप-विवेचनमें सामान्यपदसे आत्माका ग्रहण कर दर्शनोपयोगका स्वरूप आभ्यन्तरप्रवृत्ति और ज्ञानोपयोगका स्वरूप बाह्यप्रवृत्ति बतलाया है। संक्षेपमें इस टीकाका मूल्य निम्नलिखित सूत्रोंमें अभिव्यक्त किया जा सकता है—

१. पूर्वाचार्योंकी मान्यताओंका पुष्टीकरण।

२. पारिभाषिक शब्दोंके व्युत्पत्तिमूलक निर्वचनोंका विवेचन।

३. नवीन दार्शनिक मान्यताओंका सयुक्तिक प्रतिपादन।

४. मणि-प्रवालन्यायद्वारा मिश्रित भाषाका प्रयोग कर अपने युग तककी भाषामूलक प्रवृत्तियोंका निरूपण।

५. पाठकशैलीद्वारा विषयोंका विशदीकरण।

६. संख्याओं, सूत्रों एवं गणितविषयक मान्यताओंका विवेचन।

७. भंग और विकल्प जालका विस्तार कर विषयका वितत भिन्नकी प्रक्रिया द्वारा उत्थापन।

८. मूलसूत्रोंमें प्रयुक्त प्रत्येक पदका पर्याप्त विस्तार और सन्दर्भोंका विशदीकरण।

९. प्रश्नोत्तरों द्वारा विषयका स्फुटीकरण।

१०. शंकाओं और समाधानोंके सन्दर्भमें पाठान्तरोंका संकेतीकरण।

११. पूर्वाचार्योंके सन्दर्भोंको उद्धृत कर ऐतिहासिक तथ्योंका प्रतिपादन।

१२. स्वकथनके पुष्टीकरणके हेतु अन्य आचार्योंके वाक्यों या मान्यताओंका प्रस्तुतीकरण।

१३. विरोधी विषयोंमें गुरु-परम्पराका अनुसरण कर निर्णयका प्रतिपादन।

१४. श्रुतबहुभागको विस्मृतिके गर्भसे निकालकर स्वतन्त्र एवं सर्जनात्मक शक्तिमें निबद्धीकरण।

१५. सूत्रकारके वंशानुवर्तित्व रहनेपर भी स्वतन्त्ररूपसे कर्म-सिद्धान्त एवं दार्शनिक सिद्धान्तोंका निरूपण।

वीरसेनाचार्यने अकेले वह कार्य किया है, जो कार्य महाभारतके रचयिताने किया है। महाभारतका प्रमाण एक लक्ष श्लोक है और यह टीका भी लगभग इतनी ही बड़ी है। अतएव 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तद्क्वचिद्' उक्ति यहाँ भी चरितार्थ है।

जिनसेन द्वितीय

आचार्य जिनसेन द्वितीय, श्रुतधर और प्रबुद्धाचार्योंके बीचकी कड़ी होनेके कारण इनका स्थान सारस्वताचार्योंमें परिगणित है। ये प्रतिभा और कल्पनाके अद्वितीय धनी हैं। यही कारण है कि इन्हें 'भगवत् जिनसेनाचार्य' कहा जाता है। श्रुत या आगम ग्रन्थोंकी टीका रचनेके अतिरिक्त मूलग्रन्थरचयिता भी हैं। इनका पाण्डित्य साहित्य-गगनमें भास्करके समान निरन्तर प्रकाशित है।

जीवन-परिचय

इनके वैयक्तिक जीवनके सम्बन्धमें विशेष जानकारी अप्राप्त है। जयधवला टीकाके अन्तमें दी गयी पद्य-रचनासे इनके व्यक्तित्वके सम्बन्धमें कुछ जानकारी प्राप्त होती है। इन्होंने बाल्यकालमें (अबिद्धकर्ण—कर्णसंस्कारके पूर्व) ही जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली थी। कठोर ब्रह्मचर्यकी साधना द्वारा वाग्देवीकी आराधनामें तत्पर रहे। इनका शरीर कृश था, आकृति भी भव्य और रम्य नहीं थी। बाह्य व्यक्तित्वके मनोरम न होनेपर भी तपश्चरण, ज्ञानाराधन एवं कुशाग्र बुद्धिके कारण इनका अन्तरङ्ग व्यक्तित्व बहुत ही भव्य था। ये ज्ञान और अध्यात्मके अवतार थे। इनको जन्म देनेका गौरव किस जाति-कुलको प्राप्त हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

जिनसेन मूलसंघके पञ्चस्तूपान्वयके आचार्य हैं। इनके गुरुका नाम वीरसेन और दादागुरुका नाम आर्यनन्दि था। वीरसेनके एक गुरुभाई जयसेन थे। यही कारण है कि जिनसेनने अपने आदिपुराणमें 'जयसेन'का भी गुरुरूपमें स्मरण किया है। जिनसेनके सतीर्थ दशरथ नामके आचार्य थे। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें गुणभद्राचार्यने बताया है कि जिस प्रकार चन्द्रमाका सधर्मी सूर्य होता है, उसी प्रकार जिनसेनके सधर्मी या सतीर्थ दशरथ गुरु थे, जो कि संसारके पदार्थोंका अवलोकन करानेके लिए अद्वितीय नेत्र थे। इनकी वाणीसे जगत्का स्वरूप

वर्धमानपुराणोद्यदादित्योक्तिगभस्तयः ।
प्रस्फुरन्ति गिरीशान्तः स्फुटस्फटिकभित्तिषु[1] ॥

जिन्होंने परलोकको जीत लिया है और जो कवियोंके चक्रवर्ती हैं उन वीरसेनगुरुकी कलङ्करहित कीर्ति प्रकाशित हो रही है। जिनसेनस्वामीने पार्श्वनाथ भगवानके गुणोंकी स्तुति बनायी है—पार्श्वाभ्युदयकी रचना की है, वही स्तुति उनकी कीर्त्तिका वर्णन कर रही है। इन जिनसेनके वर्धमानपुराण रूपी उदित होते हुए सूर्यकी उक्तिरूपी रश्मियाँ विद्वद् पुरुषोंके अन्तःकरण-रूपी स्फटिक-भूमिमें प्रकाशमान हो रही हैं।

उक्त सन्दर्भमें प्रयुक्त 'अवभासते', 'सङ्कीर्तयति', 'प्रस्फुरन्ति' जैसे वर्त्तमानकालिक क्रियापद हरिवंशपुराणके रचयिता जिनसेनका इनको समकालीन सिद्ध करते हैं। हरिवंशपुराणकी रचना शक संवत् ७०५ (ई० सन् ७८३) में पूर्ण हुई है। अतः जिनसेनस्वामीका समय ई० सन्की आठवीं शतीका उत्तरार्द्ध है। जयधवलाटीकाकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि इसकी समाप्ति जिनसेनने शक संवत् ७५९ फाल्गुन शुक्ला दशमीके पूर्वाह्णमें की है। इस टीकाको वीरसेनस्वामीने प्रारम्भ किया था, पर वे ४० हजारश्लोकप्रमाण ही लिख सके थे। अपने गुरुके इस अपूर्ण कार्यको जिनसेनने पूर्ण किया है। जिनसेनने आदिपुराणका प्रारम्भ अपनी वृद्धावस्थामें किया होगा। इसी कारण वे इसके ४२ पर्व ही लिख सके। अतः जयधवलाटीकाके अनन्तर आदिपुराणकी रचना माननेमें जिनसेनका अस्तित्व ई० सन्की नवम् शती तक माना जा सकता है। गुणभद्रने उत्तरपुराणकी समाप्ति ई० सन् ८९७में की है।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि जिनसेनाचार्यके शिष्य गुणभद्रने आदिपुराणके ४३ वें पर्वके चतुर्थ पद्यसे समाप्तिपर्यन्त कुल १६२० श्लोक रचे हैं। महापुराणके द्वितीय भागस्वरूप उत्तरपुराणको गुणभद्रने पूर्ण किया है। आदिपुराणमें आदितीर्थङ्करका जीवनवृत्त है और उत्तरपुराणमें अजितनाथ तीर्थङ्करसे महावीरपर्यन्त २३ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ बलभद्र और ९ प्रतिनारायण तथा जीवन्धर स्वामी आदि विशिष्ट पुण्यात्मा पुरुषोंके कथानक अंकित किये गये हैं। उत्तरपुराणके अन्तमें गुणभद्रके शिष्य लोकसेन द्वारा लिखित प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि शक सवत ८२०, श्रावण शुक्ला पंचमी गुरुवारको इस ग्रन्थकी पूजा की गयी। अतः उत्तरपुराणकी

१. हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, १।३९—४३।

समाप्ति इससे पहले होनी चाहिये। इस प्रकार गुणभद्रका समय भी ई० सन्‌की दशम शताब्दि माननेमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती है। वास्तवमें वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र—इन तीनों आचार्यों का साहित्यिक व्यक्तित्व अत्यन्त महनीय है और तीनों एक दूसरेके अनुपूरक हैं। वीरसेनके अपूर्ण कार्यको जिनसेनने पूर्ण किया है और जिनसेनके अपूर्ण कार्यको गुणभद्रने।

रचनाएँ

जिनसेनाचार्य काव्य, व्याकरण, नाटक, दर्शन, अलङ्कार, आचार, कर्म-सिद्धान्त प्रभृति अनेक विषयोंके बहुज्ञ विद्वान् थे। इनकी केवल तीन ही रचनाएँ उपलब्ध हैं। वर्धमानचरितकी सूचना अवश्य प्राप्त होती है, पर यह कृति अभी तक देखनेमें नहीं आयी है।

१. पार्श्वाभ्युदय
२. आदिपुराण
३. जयधवलाटीका

१. पार्श्वाभ्युदय[1]

यह कालिदासके मेघदूत नामक काव्यकी समस्यापूर्ति है। इसमें कहीं मेघदूतके एक और कहीं दो पादोंको लेकर पद्य-रचना की गयी है। इस काव्य-ग्रन्थमें सम्पूर्ण मेघदूत समाविष्ट है। अतः मेघदूतके पाठशोधनके लिए भी इस ग्रन्थका मूल्य कम नहीं है।

दीक्षा धारण कर तीर्थंकर पार्श्वनाथ प्रतिमायोगमें विराजमान हैं। पूर्व भवका विरोधी कमठका जीव शम्बर नामक ज्योतिष्कदेव अवधिज्ञानसे अपने शत्रुका परिज्ञान कर नानाप्रकारके उपसर्ग देता है। इसी कथावस्तुकी अभिव्यञ्जना पार्श्वाभ्युदयमें की गयी है। शृंगाररससे ओत-प्रोत मेघदूतको शान्तरसमें परिवर्तित कर दिया गया है। साहित्यिक दृष्टिसे यह काव्य बहुत सुन्दर और काव्यगुणोंसे मंडित है। इसमें चार सर्ग हैं—प्रथम सर्गमें ११८, द्वितीय सर्गमें ११८, तृतीयमें ५७ और चतुर्थमें ७१ पद्य हैं। इस काव्यमें शम्बर (कमठ) यक्षके रूपमें कल्पित है। कविता अत्यन्त प्रौढ़ एवं चमत्कार-पूर्ण है। यहाँ उदाहरणार्थ एक-दो पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचित्
स्वाङ्गुल्यग्रैः कुसुममृदुभिर्वल्लरीमस्पृशन्ती।

---

१. पार्श्वाभ्युदय, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

अवगत किया जाता था।[1]

जिनसेन और दशरथ गुरुका सुप्रसिद्ध शिष्य गुणभद्र हुआ, जो व्याकरण, सिद्धान्त और काव्यका परगामी था। गुणभद्रने आदिपुराणके अवशिष्ट अंशको आरम्भ करते समय जिनसेनके प्रति अपनी बड़ी भारी श्रद्धा-भक्ति समर्पित की है तथा उनके ज्ञान-चरित्रकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है।

जिनसेनका चित्रकूट, वंकापुर और बटग्रामसे सम्बन्ध रहा है।[2] वंकापुर उस समय वनवास देशकी राजधानी था, जो वर्तमानमें धारवाड़ जिलेमें है। इसे राष्ट्रकूट अकालवर्षके सामन्त लोकादित्यके पिता वंकेयरसने अपने नामसे राजधानी बनाया था।[3] बटग्राम और बटपदको एक मानकर कुछ विद्वान् बड़ौदा-को बटग्राम या बटपद कहते हैं। चित्रकूट भी वर्तमान चित्तौड़से भिन्न नहीं है। इसी चित्रकूटमें एलाचार्य निवास करते थे, जिनके पास जाकर वीरसेनस्वामीने सिद्धान्तग्रन्थोंका अध्ययन किया था।

जिनसेनके समयमें राजनीतिक स्थिति सुदृढ़ थी तथा शास्त्रसमुन्नतिका यह युग था। इनके समकालीन नरेश राष्ट्रकूटवंशी जयतुङ्ग और नृपतुङ्ग अपरनाम अमोघवर्ष (सन् ८१५-८७७ ई०) थे। इनकी राजधानी मान्यखेटमें उस समय विद्वानोंका अच्छा समागम था। अमोघवर्ष स्वयं कवि और विद्वान् था। उसने 'कविराजमार्ग' नामक एक अलङ्कारविषयक ग्रन्थ कन्नड़ भाषामें लिखा है। अमोघवर्ष जिनसेनका बड़ा भक्त था। महावीराचार्यके 'गणितसार-संग्रह'[4] और 'संस्कृतकाव्य प्रश्नोत्तररत्नमाला'के उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि अमोघ-वर्षने जैन दीक्षा ग्रहण कर ली थी। अमोघवर्षके समयमें केरल, मालवा, गुर्जर और चित्रकूट भी राष्ट्रकूट राज्यमें सम्मिलित थे। श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीका अनुमान है कि बड़ौदा भी अमोघवर्षके राज्यमें सम्मिलित था। आन-तेन्द्र कोई राष्ट्रकूट राजा या सामन्त रहा होगा, जिसके वनवास मन्दिरमें धवलाटीका लिखी गयी।[5] अतएव जिनसेनका सम्बन्ध चित्रकूटके साथ रहनेसे तथा अमोघवर्ष द्वारा सम्मानित होनेसे इनका जन्मस्थान महाराष्ट्र और कर्णा-टककी सीमाभूमिको अनुमानित किया जा सकता है।

---

१. उत्तरपुराणप्रशस्ति श्लोक ११-१३ तक।

२. आगत्य चित्रकूटात्ततः स भगवान् गुरोरनुज्ञानात्।

३. उत्तरपुराण प्रशस्ति ३२-३४ तथा श्रुतावतार श्लोक–१७९।

४. महावीर गणितसार, शोलापुर संस्करण, १।३, १।८।

५. आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रथम संस्करण प्रस्तावना, पृ० १९।

अभिलेखोंमें वर्णित जिनसेनका व्यक्तित्व

श्रवणबेलगोलाके अभिलेखोंमें जिनसेनके उल्लेख अनेक स्थानों पर आये हैं। अभिलेखसंख्या ४७, ५०, १०५ और ४२२ में जिनसेनका निर्देश आया है।

मेघचन्द्रप्रशस्तिमें लिखा है—

"सिद्धान्ते जिन-वीरसेन-सदृशः शास्त्राब्ज-भा-भास्करः।"[1]
जीयाज्जगत्यां जिनसेनसूरिर्यस्योपदेशोज्ज्वलदर्पणेन।
व्यक्तीकृतं सर्वमिदं विनेयाः पुण्यं पुराणं पुरुषा विदन्ति॥
विनय-भरण-पात्रं भव्यलोकैकमित्रं विबुधनुतचरित्रं तद्गणेन्द्राग्रपुत्रं।
विहितभुवनभद्रं वीतमोहोरुनिद्रं विनमत गुणभद्रं तीर्णविद्यासमुद्रं॥[2]

इन दोनों पद्योंमें जिनसेन और गुणभद्र दोनोंकी प्रशंसा की गयी है। जिनसेनके उपदेशसे गुणभद्रने अवशिष्ट आदिपुराणको पूर्ण किया और उत्तरपुराणकी रचना की है। अभिलेखसंख्या ४२२ में जिन जिनसेनका नाम आया है वे आचार्य जिनसेन द्वितीयसे भिन्न कोई भट्टारक हैं। अतः अभिलेखोंसे यह स्पष्ट है कि जिनसेन द्वितीय सिद्धान्त, पुराण और काव्यरचनामें अत्यन्त पटु थे। इनकी कविता-निर्झरिणीके सीकरोंसे सन्तुष्ट भव्यजन आनन्दमें मग्न होने लगते हैं। सरस्वतीका यह लाड़ला अपने युगका महान् विद्वान् और आचार्य है।

अभिलेखमें जो जिनसेनके उपदेशकी बात कही गयी है उसकी पुष्टि महापुराणके मङ्गलपद्योंसे भी होती है। उन्होंने मङ्गलाचरणमें ही यह निर्देश कर दिया है कि यदि मेरे द्वारा यह ग्रन्थ पूर्ण न हो सके तो तुम (गुणभद्र) इसे पूर्ण करना। अतः अभिलेखोंका सम्बन्ध जिनसेनाचार्यके साहित्यके साथ भी घटित हो जाता है।

समय-विचार

हरिवंशपुराणके रचयिता जिनसेन प्रथमने वीरसेन और जिनसेनका उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है—

जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलङ्कावभासते॥
याऽमिताभ्युदये पार्श्वे जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्त्तिं सङ्कीर्तयत्यसौ॥

---

१. जैनशिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख ४७, पृ० ६२, पद्य ३०।
२. वही, अभिलेख-१०५, पृ० १९९, पद्य २२-२३।

सभी लोग आजीविकाविहीन दुःखी हो, नाभिरायके पास जाकर निर्वाह योग्य व्यवस्था पूछते हैं।

नाभिराय चौदहवें कुलकर-मनु थे। उन्होंने धान्य, फल, इक्षु, रस आदि-की उपयोग करनेके विधि बतलायी तथा मिट्टीके बर्त्तन बनाकर आवश्यकताकी पूर्ति करनेका उपदेश दिया। प्रजामें सुख और शान्ति बनाये रखनेके लिए दण्डव्यवस्था भी प्रतिपादित की। इसी पर्वमें सभी कुलकरोंके कार्योंका वर्णन आया है। चतुर्थ पर्वमें पुराणके वर्णनीय विषयोंका प्रतिपादन करनेके अनन्तर जम्बू द्वीपके विदेह क्षेत्रके अन्तर्गत गन्धिलदेश और उसकी अलकानगरीका चित्रण आया है। इस नगरीके अधिपति अतिवल विद्याधर और उसकी मनोहरा नामक राज्ञीका वर्णन किया है। इस दम्पतिके महाबल नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। अतिवल विरक्त होकर दीक्षित हो गया और महाबलको शासन-भार प्राप्त हुआ। महाबलके महामति, सम्भिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध ये चार मन्त्री थे। राजा मन्त्रियोंके ऊपर शासनभार छोड़कर भोगोपभोगोंके सेवनमें आसक्त हो गया।

पंचम पर्वमें महाबलकी विरक्ति और संलेखनाका निरूपण किया है। २२ दिनोंकी संलेखनाके प्रभावसे महाबल ऐशान स्वर्गमें ललितांग नामका महर्द्धिक देव होता है। षष्ठ पर्वमें आयुके छः मास शेष रहनेपर ललितांग दुःखी होता है, पर समझाये जानेपर वह अच्युत स्वर्गकी जिनप्रतिमाओंका पूजन करते-करते चैत्यवृक्षके नीचे पंचनमस्कार मन्त्रका जाप करते-करते स्वर्गकी आयुको पूर्ण करता है। ललितांग स्वर्गसे च्युत हो, पुष्कलावति देशके उत्पल-खेट नगरके राजा वज्रवाहु और रानी वसुन्धराके गर्भसे वज्रजंघ नामका राजपुत्र होता है। ललितांगकी प्रिया स्वयंप्रभा पुण्डरीकिणी नगरीके राजा वज्रदन्तके यहाँ श्रीमती नामकी पुत्री होती है। यशोधर गुरुके कैवल्यमहोत्सव के लिए देवोंको आकाशमें जाते देखकर श्रीमतीको पूर्वभवका स्मरण हो आता है और वह अपने प्रिय ललितांगदेवको प्राप्त करनेके लिए कृतसंकल्प हो जाती है। पंडिताधाय उसकी सहायता करती है। वह श्रीमती द्वारा निर्मित पूर्वभव-के प्रतीकोंसे युक्त चित्रपटको लेकर उत्पलखेटके महापूत जिनालयमें पहुँचती है। यहांपर चित्रपटको फैला देती है। दर्शकवृन्द उसे देखकर चकित हो जाते हैं, पर उसके यथार्थ रहस्यसे अनभिज्ञ ही रहते हैं।

सप्तम पर्वमें बताया गया है कि ललितांगदेवका जीव वज्रजंघ महापूत चैत्यालयमें आता है, और उस चित्रपटको देखते ही, उसे अपने पूर्वजन्मका स्मरण हो जाता है, जिससे वह अपनी प्रिया स्वयंप्रभाको प्राप्त करनेके लिए

बेचैन हो जाता है। पण्डिताधायको वह भी एक चित्रपट भेंट करता है, जिसमें स्वयंप्रभाके जीवनरहस्यको अंकित किया गया है। वज्रजंघ पुण्डरीकिणी नगरीमें आता है और श्रीमतीके साथ उसका विवाह हो जाता है। ललितांगदेव और स्वयंप्रभा पुन: वज्रजंघ और श्रीमतीके रूपमें सयोगको प्राप्त करते है।

अष्टम पर्वमें वज्रजंघ और श्रीमतीके भोगोपभोगोंका वर्णन किया गया है। वज्रजंघका श्वसुर वज्रदन्त चक्रवर्ती कमलमें बन्द मृत भ्रमरको देखकर विरक्त हो जाता है। पुत्र अमिततेजके द्वारा शासन स्वीकृत न किये जानेपर वह उसके पुत्र पुण्डरीकको राज्य देकर यशोधर मुनिके समक्ष अनेक राजाओंके साथ दीक्षित हो जाता है। पण्डिताधाय भी दीक्षित हो जाती है। चक्रवर्तीकी पत्नी लक्ष्मीमति पुण्डरीकको अल्पवयस्क जानकर राज्य सम्भालनेके लिए अपने जामाता वज्रजघको बुलाती है। वज्रजंघ अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ पुण्डरीकिणी नगरीको प्रस्थान करता है। वह मार्गमें चारणऋद्धिधारी मुनियोंको आहारदान देता है। वह दमधर नामक मुनिराजसे अपने भवान्तर जानना चाहता है, मुनिराज उसे आठवें भवमें तीर्थंकर होने तथा श्रीमतीको दानतीर्थका प्रवर्तक श्रेयांस होनेकी भविष्यवाणी करते हैं। वज्रजघ पुण्डरीकिणी नगरमें पहुँचकर सबको सान्त्वना देता है और अपने नगरमें लौट आता है।

नवम पर्वके प्रारम्भमें भोगोपभोगोंका चित्रण आया है। एक दिन वज्रजघ और श्रीमती शयनागारमें शयन कर रहे थे, सुगन्धित द्रव्यका धूम्र फलनेस शयनागार अत्यन्त सुवासित हो रहा था। सयोगवश द्वारपाल उस दिन गवाक्ष खोलना भूल गया, जिससे श्वास रुक जानेके कारण उन दोनोकी मृत्यु हो गयी। पात्रदानके प्रभावसे दोनों उत्तरकुरुमे आर्य-आर्या हुए। प्रीतिकर मुनिराजके सम्पर्कसे आर्य मरण कर ईशान स्वर्गमें श्रीधर नामका देव हुआ। आर्या भी उसी स्वर्गमें देवी हुई।

दशम पर्वके प्रारम्भमें प्रीतिकरके केवलज्ञान-उत्सवका वर्णन आया है। श्रीधर भी इस उत्सवमें सम्मिलित हुआ। अन्तमें वह स्वर्गसे च्युत होकर जम्बूद्वीपके पूर्व विदेहकी सुषमा नगरीमें सुदृष्टि राजाकी सुन्दरनन्दा नामक रानीके गर्भसे सुविधि नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। यह चक्रवर्ती राजा हुआ और श्रीमतीका जीव केशव नामक इसका पुत्र हुआ। सुविधि पुत्रके अनुरागके कारण मुनि न बन सका, पर घरपर ही श्रावकके व्रतोंका पालन कर सन्यासके प्रभावसे सोलहवें स्वर्गमें अच्युतेन्द्र हुआ।

एकादश पर्वमें अच्युतेन्द्रके पर्याय वज्रनाभिका वर्णन आया है। वज्रनाभि चक्ररत्नकी प्राप्तिके अनन्तर दिग्विजयके लिए प्रस्थान करता है। राज्यको

ध्यायं ध्यायं त्वदुपगमनं शून्यचिन्तानुकण्ठी,
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्छनां विस्मरन्ती[1] ॥

आम्रकूट पर्वतके शिखर पर मेघके पहुँचने पर कवि पर्वत-शोभाका वर्णन करता हुआ कहता है—

कृष्णाहिः किं बलयिततनुः मध्यमस्याधिशेते;
किं वा नीलोत्पलविरचितं शेखरं भूभृतः स्यात् ।
इत्याशङ्कां जनयति पुरा मुग्धविद्याधरीणां,
त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे[2] ॥

समस्यापूर्तिमें कविने सर्वथा नवीन भावयोजना की है। मार्गवर्णन और वसुन्धराकी विरहावस्थाका वर्णन मेघदूतके समान ही है। परन्तु इसका संदेश मेघदूतसे भिन्न है। शम्बर पार्श्वनाथके धैर्य, सौजन्य, सहिष्णुता और अपार शक्तिसे प्रभावित होकर स्वयं वैरभावका त्याग कर उनकी शरणमें पहुँचता है और पश्चात्ताप करता हुआ अपने अपराधकी क्षमायाचना करता है। कविने काव्यके बीचमें "पापापाये प्रथममुदितं कारणं भक्तिरेव" जैसी सूक्तियोंकी भी योजना की है। इस काव्यमें कुल ३६४ मन्दाक्रान्ता पद्य हैं।

२. आदिपुराण[3]

यह आकर ग्रन्थ है। पुराण होते हुए भी इसमें इतिहास, भूगोल, संस्कृति समाज, राजनीति और अर्थशास्त्र आदि विषय भी समाविष्ट हैं। जिनसेनने पुराणके लिए आठ वर्ण्य विषय बतलाये हैं।

१. लोक—लोक-संस्थान, लोक-आकृति, क्षेत्रफल, भेद एवं उर्ध्व, मध्य और अधोलोकका वर्णन, क्षेत्र, द्वीप, पर्वत, नदी आदिका वर्णन।

२. देश—जनपदोंका चित्रण।

३. नगर—अयोध्या, वाराणसी प्रभृति नगरियोंका चित्रण।

४. राज्य—राज्योंकी समृद्धिका चित्रण।

५. तीर्थ - धर्मप्रवृत्ति एवं तीर्थभूमियोंका निरूपण।

६. दान-तप—तप-दानकी फलोत्पादक कथाओंका वर्णन।

७. गति—चतुर्गतिके दुःखोंका वर्णन।

८. फल—पुण्य-पापके फलके साथ मोक्षप्राप्तिका निरूपण।

---

१. पार्श्वाभ्युदय ३।३९।

२. वही १।७०।

३. यह भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित है।

इन आठ विषयोंके अतिरिक्त आदिपुराणमें निम्नलिखित पौराणिक तत्त्व भी विद्यमान हैं—

१. शलाकापुरुषोंके कथानकसंयोगोंका दैवी घटनाओं पर आश्रयण।

२. आख्यानोंमें सहसा दिशापरिवर्तन।

३. समकालीन सामाजिक समस्याओंका उद्घाटन।

४. पारिवारिक जीवनके कटु-मधु चित्र।

५. संवाद-तत्त्वकी अल्पता रहनेपर भी घटनासूत्रों द्वारा आख्यानोंमें गतिमत्वधर्मकी उत्पत्ति।

६. कथाओंके मध्यमें पूर्वजन्मके आख्यानोंका समवाय, धर्मतत्त्व और धर्मसिद्धान्तोंका नियोजन।

७. रोचकता मध्यबिन्दु तक रहती है। अतः आगेकी कथावस्तुमें सघनता और घटनाओंका बाहुल्य।

८. अलंकृत वर्णनोंके साथ लोकतत्त्व और कथानकरूढ़ियोंका प्रयोग।

९. लोकानुश्रुतियाँ, पुराणगाथाएँ, लोकविश्वास प्रभृतिका संयोग।

१०. प्रेम, शृंगार, कुतूहल, मनोरंजन, रहस्य एवं धर्मश्रद्धाका वर्णन।

११. जनमानसका प्रतिफलन, पूर्वजन्मके संस्कार और फलोपभोगोंकी तरलताका चित्रण।

आदिपुराणकी संक्षिप्त कथा-वस्तु

आदिपुराणकी कथा-वस्तुके प्रधान नायक आदि तीर्थंकर ऋषभदेव और उनके पुत्र भरतचक्रवर्ती हैं। इन दोनों शलाकापुरुषोंके जीवनसे सम्पर्क रखनेवाले कितने ही अन्य महापुरुषोंकी कथाएँ भी आयी हैं। इस महाग्रन्थकी कथावस्तु ४७ पर्वोंमें विभक्त है। प्रथम दो पर्वोंमें कथाके वक्ता, श्रोता एवं पुराण श्रवणका फल आदि वर्णित है। तृतीय पर्वमें उत्सर्पण और अवसर्पण कालोंके सुषमसुषमादिभेदों एवं भोगभूमिकी व्यवस्थापर प्रकाश डाला गया है। प्रतिश्रुति आदि कुलकरोंकी उत्पत्ति, उनके कार्य और उनकी आयु आदिका वर्णन आया है। अन्तिम कुलकर नाभिरायके समयमें गगनाङ्गणमें सर्वप्रथम घनघटा, विद्युत् प्रकाश और सूर्यकी स्वर्णरश्मियोंके सम्पर्कसे उसमें रंग-बिरंगे इन्द्रधनुष दिखलायी पड़ते हैं। वर्षा होती है और वसुधातल जलमय हो जाता है। मयूर नृत्य करने लगते हैं और चिरसंतप्त चातक सन्तोषकी साँस लेता है। कल्पवृक्ष नष्ट हो जाते हैं और विविध प्रकारके धान्य अपने-आप उत्पन्न होने लगते हैं। कल्पवृक्षोंके न रहनेसे प्रजामें व्याकुलता व्याप्त हो जाती है और

चतुस्त्रिशत्तम पर्वमें चक्रवर्ती कैलाससे उतरकर अयोध्याकी ओर बढ़ता है। यहाँ चक्ररत्न नगरीके भीतर प्रविष्ट नहीं होता, निमितज्ञानियों द्वारा भाइयोंको विजित करनेकी बात ज्ञातकर भरत उनके पास दूत भेजता है। बाहुबलीको छोड़ भरतके अन्य सब भाई ऋषभदेवके चरणमूलमें जाकर दीक्षित हो जाते हैं।

पञ्चत्रिंशत्तमपर्वमें बाहुबलिद्वारा भरतका युद्ध-निमन्त्रण स्वीकार कर लिया जाता है। षट्त्रिंशत्तमपर्वमें भरत और बाहुबलिके नेत्र, जल और मल्ल-युद्धका वर्णन आया है। उक्त तीनों युद्धोंमें बाहुबलिको विजयी देखकर भरत कुपित हो चक्ररत्नका उपयोग करते हैं, जिससे बाहुबलि विरक्त हो जिन-दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। सप्तत्रिंशत्तम पर्वमें चक्रवर्तीके अयोध्या नगरीमें प्रवेश-का वर्णन आया है। अष्टत्रिंशत्तम पर्वमे भरतद्वारा अणुव्रतियोंको अपने घर बुलाये जानेका उल्लेख आता है। भरत इस सन्दर्भमें ब्राह्मणवर्णकी स्थापना करते हैं। एकोनचत्वारिंशत्तम और एकचत्वारिंशत्तम पर्वों में क्रियाओं और संस्कारोंका वर्णन आया है। द्विचत्वारिंशत्तम पर्वमें राजनीति और वर्णाश्रम-धर्मका उपदेश अंकित है। त्रिचत्वारिंशत्तम और चतुश्चत्वारिंशत्तम पर्वों में जयकुमारका सुलोचनाके स्वयंवरमें सम्मिलित होना तथा अन्य राजाओंके साथ युद्ध करनेका वर्णन आया है।

पञ्चचत्वारिंशत्तम पर्वमें जयकुमार और सुलोचनाके प्रेम-मिलनका चित्रण आया है। जयकुमार सुलोचनाको पटरानी बनाता है। षट्चत्वारिंशत्तमपर्वमें जयकुमार और सुलोचनाके अपने पूर्वभवका स्मरणकर मूर्छित होनेका वर्णन आया है। अन्तिम सप्तचत्वारिंशत्तम पर्वमें पूर्वभवावलीको चर्चा करते हुए कहा है कि जयकुमार संसारसे विरक्त हो जाता है और दीक्षित हो ऋषभदेवके समवशरणमें गणधरपद प्राप्त करता है। चक्रवर्ती भरत दीक्षा ग्रहण करता है, और उसे तत्काल केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। भगवान् ऋषभदेव अन्तिम विहार करते हैं और कैलासपर्वतपर उन्हें निर्वाणप्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार आदिपुराणमें ऋषभदेवके दस पूर्वभवोंकी कथाएँ आयी हैं। दोनों शलाकापुरुषोंका विस्तृत जीवन-परिचय इस पुराणमें अंकित है।

इस ग्रन्थके ४२ पर्व (पर्व) जिनसेनने लिखे हैं और उनकी मृत्यु हो जानेपर शेष पाँच पर्व उनके शिष्य गुणभद्रने लिखे हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ 'महापुराण' के नामसे प्रसिद्ध है और सुयोग्य गुरु-शिष्यकी यह अनुपम कृति मानी जाती है।

३. जयधवलाटीका

कषायप्राभृतके प्रथम स्कन्धको चारों विभक्तियों पर जयधवला नामकी

बीस हजार श्लोकप्रमाण टीका लिखनेके अनन्तर आचार्य वीरसेनका स्वर्गवास हो गया, अतः उनके शिष्य जिनसेनने अवशिष्ट भागपर चालीस हजार श्लोक-प्रमाण टीका लिखकर उसे पूर्ण किया[1]। यह टीका भी वीरसेनस्वामीकी शैली (संस्कृतमिश्रित प्राकृत भाषा) में मणि-प्रवालन्यायसे लिखी गयी है। टीका इस रूपमें लिखी गयी है कि अन्तःपरीक्षणसे भी यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि गुरु और शिष्यमसे किसने कितना भाग रचा है। इसीसे जिनसेनाचार्यके वैदुष्य और रचनाचातुर्यका अनुमान किया जा सकता है। इन्होंने जयधवलाकी प्रशस्तिमें लिखा है कि गुरुके द्वारा बहुवक्तव्य पूर्वार्धके प्रकाशित कर दिये जानेपर, उसको देखकर इस अल्पवक्तव्य उत्तरार्धको पूरा किया।

इस टीकाको तीन स्कन्धोंमें विभाजित किया गया है—१. प्रदेशविभक्ति-पर्यन्त प्रथम स्कन्ध; २. संक्रम, उदय और उपयोग द्वितीय स्कन्ध एवं ३. शेष भाग तृतीय स्कन्ध है। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके अनुसार संक्रमके पहलेका विभक्तिपर्यन्त भाग वीरसेनस्वामीने रचा है। गणना करनेपर विभक्तिपर्यन्त ग्रन्थका परिमाण साढ़े छब्बीस हजार श्लोक है, पर यहाँ गणना स्थूलरूपमें ग्रहणकर बीस हजार प्रमाण कहा गया है। अवशेष टीका जिनसेनस्वामीकी है।

आचार्य विद्यानन्द

आचार्य विद्यानन्द ऐसे सारस्वत हैं, जिन्होंने प्रमाण और दर्शनसम्बन्धी ग्रन्थोंकी रचनाकर श्रुतपरम्पराको गतिशील बनाया है। इनके जीवनवृत्तके सम्बन्धमें प्रामाणिक इतिवृत्त ज्ञात नहीं है। 'राजावलीकथे'में विद्यानन्दिका उल्लेख आता है और संक्षिप्त जीवन-वृत्त भी उपलब्ध होता है, पर वे सारस्वताचार्य विद्यानन्द नहीं हैं, परम्परा-पोषक विद्यानन्दि हैं।

जीवन-वृत्त

आचार्य विद्यानन्दको रचनाओंके अवलोकनसे यह अवगत होता है कि ये दक्षिण भारतके कर्णाटक प्रान्तके निवासी थे। इसी प्रदेशको इनकी साधना और कार्यभूमि होनेका सौभाग्य प्राप्त है। किंवदन्तियोंके आधारपर यह माना जाता है कि इनका जन्म ब्राह्मण परिवारमें हुआ था। इस मान्यताकी सिद्धि इनके प्रखर पाण्डित्य और महती विद्वत्तासे भी होती है। इन्होंने कुमारावस्थामें

---

१. षष्टिरेव सहस्राणि ग्रन्थानां परिमाणतः। श्लोकेनानुष्टुभेनात्र निर्दिष्टान्यानुपूर्वशः॥
विभक्तिः प्रथमस्कन्धो द्वितीयः संक्रमोदयौ। उपयोगश्च शेषस्तु तृतीयः स्कन्ध इष्यते॥
जयधवला प्रशस्ति ९।१०।

समृद्ध करनेके पश्चात् वह दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारणभावनाओंका चिंतन कर तीर्थंकरप्रकृतिका बन्ध करता है। अन्तमें प्रायोपगमन सन्यास धारण कर सर्वार्थसिद्धि विमानमें उत्पन्न होता है।

द्वादश पर्वमें अहमिन्द्रका जीव ऋषभदेवके रूपमें नाभिराय और मरुदेवी-के यहाँ जन्म धारण करता है। इस पर्वमें मरुदेवीकी गर्भावस्था और देवियोंकी की गयी सेवाका वर्णन किया गया है।

त्रयोदश पर्वमें आदितीर्थंकर ऋषभदेवका इन्द्र द्वारा जन्माभिषेक उत्सवके किये जानेका निरूपण आया है। उनका सुमेरु पर्वतपर एक हजार आठ कलशों-के द्वारा अभिषेक सम्पन्न होता है। चतुर्दश पर्वमें इन्द्राणी बालकको वस्त्रा-भूषणोंसे सुसज्जित कर माताको सौंप देती है। इन्द्र ताण्डवनृत्य कर उनका ऋषभदेव नाम रखता है।

पञ्चदश पर्वमें ऋषभदेवके शारीरिक सौन्दर्य और उनके एक हजार आठ शुभ लक्षणोंका वर्णन आया है। महाराज नाभिराय युवक होनेपर पुत्रसे विवाह करनेका अनुरोध करते हैं। फलस्वरूप कच्छ और महाकच्छकी बहनें यशस्वती और सुनन्दाके साथ ऋषभदेवका विवाह सम्पन्न होता है।

षोडशपर्वके अनुसार यशस्वतीके उदरसे भरतचक्रवर्तीका जन्म होता है और सुनन्दाके उदरसे बाहुवलीका। ऋषभदेवको यशस्वतीसे अन्य ९८ पुत्र और ब्राह्मी नामक कन्याकी प्राप्ति होती है। सुनन्दासे बाहुवलीके अतिरिक्त सुन्दरी नामक कन्यारत्न भी उपलब्ध होती है। ऋषभदेव प्रजाको असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, सेवा और शिल्प इन षट् आजीविकोपयोगी कर्मोंकी शिक्षा देते हैं। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णोंकी व्यवस्था करते हैं।

सप्तदश पर्वमें ऋषभदेवको विरक्ति प्राप्त करनेके लिए एक मार्मिक घटना घटित होती है। नीलाञ्जना नामक नर्तकी अचानक विलीन हो जाती है। ऋषभदेव इस अघटित' घटनाको देखते ही विरक्त हो जाते हैं। स्वर्गसे लौका-न्तिकदेव आकर उनके वैराग्यकी पुष्टि करते हैं। वे अयोध्याके पट्टपर भरतका राज्याभिषेक कर अन्य पुत्रोंको यथायोग्य राज्य देते हैं। सिद्धार्थवनमें जाकर परिग्रहका त्यागकर चैत्र कृष्णा नवमीके दिन ऋषभदेव दीक्षा ग्रहण कर लेते है। इनके साथ चार हजार अन्य राजा भी दीक्षित हो जाते हैं।

अष्टदश पर्वमें बताया गया है कि ऋषभदेव छः माहका योग लेकर शिलापट्टपर आसीन हो जाते हैं। दीक्षा धारण करते ही मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो जाता है। साथमें दीक्षित हुए राजा भ्रष्ट हो जाते हैं और विभिन्न मतोंका

प्रचार करते हैं। कच्छ, महाकच्छके पुत्र नमि-विनमि भगवान ऋषभदेवसे कुछ माँगने आते हैं। धरणेन्द्र उन्हें समझाकर विजयार्धपर्वत पर ले जाता है।

एकोनविंश पर्वमें धरणेन्द्र द्वारा नमि-विनमिको विजयार्द्धपर्वतकी नगरियोंका परिचय दिया गया है। विंशपर्वमें आदितीर्थंकर ऋषभदेवका एक वर्षके तपश्चरणके अनन्तर हस्तिनापुरमें श्रेयांसके यहाँ इक्षुरसका आहार होता है।

एकविंश पर्वमें ध्यानका वर्णन किया गया है। द्वाविंश पर्वमें ऋषभदेवको केवलज्ञानकी प्राप्ति, ज्ञानकल्याणक उत्सव एवं समवशरणका चित्रण आया है। त्रयोविंश पर्वमें समवशरणमें इन्द्रने आदि तीर्थंकरकी पूजा-स्तुति की है। चतुर्विंश पर्वमें भरत द्वारा भगवान ऋषभदेवकी पूजा की गयी है। इसी पर्वमें भगवानकी दिव्यध्वनिका भी वर्णन आया है। पंचविंश पर्वमें अष्टप्रातिहार्यं, चौंतीस अतिशय और अनन्तचतुष्टय सुशोभित तीर्थंकरकी स्तुति की गयी है। इस पर्वमें सहस्रनामरूप महास्तवन भी आया है।

षड्विंशतितम पर्वमें भरत द्वारा चक्ररत्नकी पूजा और पुत्रोत्सव सम्पन्न करनेका वर्णन समाहित है। चक्रवर्ती दिग्विजयके लिए पूर्व दिशाकी ओर प्रस्थान करता है। सप्तविंशतितम पर्वमें गंगा और वन शोभाका वर्णन आया है। अष्टविंशतितम पर्वका आरम्भ दिग्विजयार्थ चक्रवर्तीके सैनिक प्रयाणसे होता है। चक्रवर्तीकी सेना स्थलमार्गसे गंगाके किनारेके उपवनमें प्रविष्ट होती है। उसने लवण समुद्रको पार कर मागधदेवको जीता। एकोनत्रिंशत्तम पर्वमें दक्षिण दिशाकी ओर अभियान करनेका वर्णन आया है। त्रिंशतितम पर्वमें चक्रवर्ती दक्षिणको विजय कर पश्चिम दिशाकी ओर बढ़ता है और विन्ध्यगिरिपर पहुँचता है। अनन्तर समुद्रके किनारे-किनारे जाकर लवण समुद्रके तटपर पहुँचता है।

एकत्रिंशत्तम पर्वमें आया है कि अठारह करोड़ घोड़ोंका अधिपति भरत उत्तरकी ओर प्रस्थान करता है और विजयार्द्धकी उपत्यकामें पहुँचता है। द्वात्रिंशत्तमपर्वमें विजयार्धके गुहा-द्वारके उद्घाटनके अनन्तर नागजातिको वशमें किये जानेका वर्णन है। चिलात और आवर्त दोनों ही मलेच्छ राजा निरुपाय होकर शरणमें आते हैं।

त्रयस्त्रिंशत्तम पर्वमें बताया है कि भरतचक्रवर्ती दिग्विजय करनेके पश्चात् सेना सहित अपनी नगरीमें आता है। मार्गमें अनेक देश, नगर और नदियोंका उल्लंघन कर कैलासपर्वतपर अनेक राजाओंके साथ ऋषभदेवकी पूजा करता है।

विद्यानन्दने अपने 'तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक' और अष्टसहस्री' में उद्योतकर, वाक्यपदीयकार भर्तृहरि, कुमारिलभट्ट, प्रभाकर, प्रशस्तपाद, व्योमशिवाचार्य, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, मण्डनमिश्र और सुरेश्वरमिश्रके मतोंकी समीक्षा की है। है। इन दार्शनिक विद्वानोंका समय ई० सन् ७८८ के पहले ही है। अतः विद्यानन्दके समयकी पूर्ववर्ती सीमा ७८८ ई० है और उत्तर सीमा पार्श्वनाथ-चरित और न्यायविनिश्चयविवरण (प्रशस्ति श्लोक २) में विद्यानन्दका उल्लेख रहनेसे ई० सन् १०२५ है। इन दोनों समय-सीमाओंके बीच ही इनका स्थितिकाल है।

आचार्य विद्यानन्दने 'प्रशस्तपादभाष्य' पर लिखी गयी चार टीकाओंमेंसे व्योमशिवकी 'व्योमवती' टीकाके अतिरिक्त अन्य तीन टीकाओंमेंसे किसी भी टीकाकी समीक्षा नहीं की है। अतः स्पष्ट है कि श्रीधरकी न्यायकन्दली (ई० सन् ९९१) और उदयनकी किरणावली (ई० सन् ९८४) के पूर्व विद्यानन्दका समय होना चाहिए। इस प्रकार इनकी उत्तर सीमा ई० सन् १०२५ से हटकर ई० सन् ९८४ हो जाती है।

'अष्टसहस्री' की अन्तिम प्रशस्तिमें बताया है कि कुमारसेनकी युक्तियोंके वर्धनार्थ ही यह रचना लिखी जा रही है। यथा—

> वीरसेनाख्यमोक्षगे चारुगुणानर्घ्यरत्नसिन्धुगिरिसततम्।
> सारतरात्मध्यानगे मारमदाम्भोदपवनगिरिगह्वरायितु॥
> कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्।
> शश्वदभीष्टसहस्रीं कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्थां॥ (नर्द्धा)[1]

इससे ध्वनित होता है कि कुमारसेनने आप्तमीमांसापर कोई विवृति या विवरण लिखा होगा, जिसका स्पष्टीकरण विद्यानन्दने किया है। निश्चयतः कुमारसेन इनके पूर्ववर्ती हैं। कुमारसेनका समय ई० सन् ७८३ के पूर्व माना गया है। जिनसेन प्रथमने अपने हरिवंशपुराणमें कुमारसेनका उल्लेख किया है—

> "आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्।
> गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम्[2]॥

और जिनसेनने अपने हरिवंशपुराणकी रचना ई० सन् ७८३में की है। यहाँ यह विचारणीय है कि जिनसेन प्रथमने कुमारसेनका तो स्मरण किया है, पर विद्यानन्दका नहीं। अतः इससे सिद्ध होता है कि हरिवंशपुराणकी

---

१. अष्टसहस्री, निर्णयसार प्रेस, बम्बई, सन् १९१५, अन्तिम प्रशस्ति पृ० २९५।

१. हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, १।३८ पृ० ५।

रचनाके समय तक विद्यानन्दको ऐसी ख्याति प्राप्त नहीं हुई थी, जिससे पुराणकार उनका स्मरण करता।

कतिपय विद्वानोंका अभिमत है कि विद्यानन्दका कार्यक्षेत्र दक्षिणमें गंगवंशका गंगवाड़ी प्रदेश है और विद्यानन्दकी स्थिति गंगनरेश शिवमार द्वितीय तथा राममल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० सन् ८१०-८१६)के समयमें रही है। विद्यानन्दने प्रायः अपनी समस्त कृतियोंको रचना गंगनरेशोंके राज्यकालमें[1] की है। अतः सम्भव है कि पुन्नाटवंशी जिनसेनने इनका स्मरण न किया हो।

जैनन्यायके उद्भट विद्वान् डॉ० पं० दरबारीलाल कोठियाने विद्यानन्दके जीवन और समय पर विशेष विचार किया है। उन्होंने निष्कर्ष निकालते हुए लिखा है—

"विद्यानन्द गङ्गनरेश शिवमार द्वितीय (ई० सन् ८१०) और राचल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० सन् ८१६) के समकालीन हैं। और इन्होंने अपनी कृतियाँ प्रायः इन्हींके राज्य-समयमें बनाई हैं, विद्यानन्दमहोदय और तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकको शिवमार द्वितीयके और आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा तथा युक्त्यनुशासनालङ्कृति ये तीन कृतियाँ राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६-८३०) के राज्यकालमें बनी जान पड़ती हैं। अष्टसहस्री, श्लोकवार्त्तिकके बादकी और आप्तपरीक्षा आदिके पूर्वकी रचना है – करीब ई० ८१०-८१५ में रचीं गयी प्रतीत होती है तथा पत्रपरीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र और सत्यशासनपरीक्षा ये तीन रचनाएँ ई० सन् ८३०-८४० में रची ज्ञात होती हैं। इससे भी आचार्य विद्यानन्दका समय ई० सन् ७७५-८४० ई० प्रमाणित होता है।"[2]

डॉ० कोठिया द्वारा निर्धारित समय भी उपर्युक्त समयके समकक्ष है। अतएव आचार्य विद्यानन्दका समय ई० सन् की नवम शती है।

रचनाएँ

आचार्य विद्यानन्दकी रचनाओंको दो वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—१. स्वतन्त्र ग्रन्थ और २. टीका ग्रन्थ।

स्वतन्त्र ग्रन्थ

इनकी स्वतन्त्र रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

१. आप्तपरीक्षा स्वोपज्ञवृत्तिसहित

---

१. श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र, वीर सेवा मन्दिर सरसावा, सन् १९४९ ई०, प्रस्तावना, पृ० १२।

२. आप्तपरीक्षा, वीरसेवामन्दिर संस्करण; सन् १९४९, पृ० ५३।

ही वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनोंका अध्ययन कर लिया था। इन आस्तिक दर्शनोंके अतिरिक्त ये दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकर आदि बौद्ध दार्शनिकोंके मन्तव्योंसे भी परिचित थे। शक संवत् १३२० के एक अभिलेखमें[1] वर्णित नन्दिसंघके मुनियोंकी नामावलिमें विद्यानन्दका नाम प्राप्त कर यह अनुमान सहजमें लगाया जा सकता है कि इन्होंने नन्दिसंघके किसी आचार्यसे दीक्षा ग्रहण की होगी। जैन-वाङ्मयका आलोडन-विलोडन कर इन्होंने अपूर्व पाण्डित्य प्राप्त किया। साथ ही मुनि-पद धारणकर तपश्चर्या द्वारा अपने चरितको भी निर्मल बनाया।

इनके पाण्डित्यकी ख्याति १० वीं, ११ वीं शतीमें ही हो चुकी थी। यही कारण है कि वादिराजने (ई० सन् १०५५) अपने 'पार्श्वनाथचरित' नामक काव्यमें इनका स्मरण करते हुए लिखा है—

ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः।
शृण्वतामप्यलङ्कारं दीप्तिरङ्गेषु रङ्गति[2]॥

आश्चर्य है कि विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री जैसे दीप्तिमान अलङ्कारोंको सुननेवालोंके भी अङ्गोंमें दीप्ति आ जाती है, तो उन्हें धारण करनेवालोंकी बात ही क्या है ?

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि सारस्वताचार्य विद्यानन्दकी कीर्ति ई० सन् की १०वीं शताब्दिमें ही व्याप्त हो चुकी थी। उनके महनीय व्यक्तित्वका सभी पर प्रभाव था। दक्षिणसे उत्तर तक उनकी प्रखर न्यायप्रतिभासे सभी आश्चर्यचकित थे।

समय-विचार

आचार्य विद्यानन्दने अपनी किसी भी कृतिमें समयका निर्देश नहीं किया है। अतः इनके समयका निर्णय इनकी रचनाओंकी विषय-वस्तुके आधारपर ही सम्भव है। विद्यानन्द और इनकी कृतियोंपर पूर्ववर्ती ग्रन्थकार गृद्धपिच्छाचार्य, स्वामी समन्तभद्र, श्रीदत्त, सिद्धसेन, पात्रस्वामी, भट्टाकलङ्क, कुमारसेन, कुमारनन्दि भट्टारकका प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होता है। अतः विद्यानन्द इन आचार्यों के पश्चात्वर्ती हैं। विद्यानन्दने 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें श्रीदत्तके जल्प और वाद सम्बन्धी नियमोंका उल्लेख किया है। वादके दो भेद हैं—१. वीतरागवाद और २. आभिमानिकवाद। वीतरागवाद तत्त्व-जिज्ञासुओंमें होता है। अतः

१. जैनशिललेख संग्रह, प्रथम भाग, लेखाङ्क १०५, (२५४)।

२. पार्श्वनाथचरित, १।२८।

इसके दो अंग हैं—वादी और प्रतिवादी। आभिमानिकवाद जिगीषुओंमें होता है और उसके वादी, प्रतिवादी, सभापति और प्राश्निक—ये चार अङ्ग हैं। आभिमानिकवादके भी दो भेद हैं—(१) तात्त्विकवाद और (२) प्रातिभवाद। अपने इस वादसम्बन्धी कथनकी पुष्टिके लिए श्रीदत्तके मतका उपस्थापन किया है। जल्पके भी तात्त्विक और प्रतिभ ये दो भेद किये गये हैं। इस प्रकार विद्यानन्दने अपनेसे पूर्ववर्ती श्रीदत्त और उनके 'जल्पनिर्णय' ग्रन्थका उल्लेख किया है।

आचार्य जिनसेन द्वितीयने श्रीदत्तका स्मरण किया है और जिनसेनका समय ई० सन् नौवीं शताब्दि है। अतः श्रीदत्तका सयय इनसे पहले होना चाहिए। आचार्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्र व्याकरणके "गणे श्रीदत्तस्य स्त्रियां"[1] सूत्र द्वारा श्रीदत्तका उल्लेख किया है। यदि ये श्रीदत्त ही प्रस्तुत श्रीदत्त हों तो श्रीदत्तका समय पूज्यपादसे पूर्व अर्थात् छठी शताब्दिसे पूर्व आता है। अतः इस आधारसे विद्यानन्दका समय छठीं शताब्दिके बाद सिद्ध होता है।

विद्यानन्दने 'तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक'में[2] सिद्धसेनके सन्मतिसूत्रके तीसरे काण्डगत "जो हेउवायपक्खम्मि" आदि ४५वीं गाथा उद्धृत की है। एक दूसरी जगह[3] "जावदिया वयणवहा तावदिया होंति णयवाया" आदि तीसरे काण्डकी ४७वीं गाथाका संस्कृतरूपान्तर दिया है। अतः विद्यानन्द सिद्धसेनके पश्चाद्वर्ती हैं, यह स्पष्ट है। पात्रस्वामी और भट्टाकलङ्कके उद्धरण और नामोल्लेख भी इनके ग्रन्थोंमें मिलते हैं। अकलङ्ककी 'अष्टशती' को तो अष्टसहस्रीमें आत्मसात् ही कर लिया गया है। अतएव इनका समय सातवीं शताब्दिके पश्चात् होना चाहिए। अकलङ्कके उत्तरवर्ती कुमारनन्दि भट्टारकके वादन्यायका 'तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक', 'प्रमाणपरीक्षा' और 'पत्रपरीक्षा'में नामोल्लेख किया है, तथा वादन्यायसे कुछ कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं। अतः विद्यानन्द कुमारनन्दि भट्टारकके उत्तरवर्ती हैं। कुमारनन्दि अकलङ्क और विद्यानन्दके मध्यमें हुए हैं। अतः इनका समय आठवीं और नौवीं शताब्दिका मध्यभाग होना चाहिए।

विद्यानन्दका प्रभाव माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, देवसूरि आदि आचार्योंपर है। माणिक्यनन्दिका समय विक्रमकी ११ वीं शती है और अकलंकदेवका समय विक्रमकी ८ वीं शती है। अतएव विद्यानन्दका समय माणिक्यनन्दि और अकलंकका मध्य अर्थात् ९ वीं शती होना चाहिए।

---

१. जैनेन्द्रव्याकरण १।४।३४।
२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ३।
३. वही, पृ० ११४।

२. प्रमाणपरीक्षा
३. पत्रपरीक्षा
४. सत्यशासनपरीक्षा
५. श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र
६. विद्यानन्दमहोदय

टीकाग्रन्थ

१. अष्टसहस्री
२. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक
३. युक्त्यनुशासनालङ्कार

१. आप्त-परीक्षा[1] स्वोपज्ञवृत्तिसहित

इस ग्रन्थमें १२४ कारिकाएँ, स्वोपज्ञ वृत्ति सहित निबद्ध हैं। इस ग्रन्थमें परमेष्ठीगुणस्तोत्रकी आवश्यकता प्रतिपादित करनेके पश्चात् पर-अपर निःश्रेयस्का स्वरूप, बन्ध और बन्धकारणोंकी सिद्धि, उनके अभावकी सिद्धि, सहेतुक निर्जराकी सिद्धि परमेष्ठीगत प्रसादका लक्षण, मंगलकी निर्युक्ति और अर्थ, शास्त्रारम्भमें परमेष्ठीगुणस्तोत्रकी आवश्यकता एवं पराभिमत आप्तोके निराकरणकी सार्थकता बतलायी गयी है।

ईश्वर-परीक्षा प्रकरणमें ईश्वरके मोक्षमार्गोपदेशको असम्भवता, वैशेषिकाभिमत षट्पदार्थ समीक्षा, द्रव्यलक्षणके योगसे एक द्रव्यपदार्थकी असिद्धि, द्रव्यलक्षणत्वके योगसे दो द्रव्यलक्षणोंमें एकताकी असिद्धि, द्रव्यत्वके योगसे एक द्रव्यपदार्थकी असिद्धि, गुणत्वादिके योगसे एक-एक गुणादि पदार्थोंकी असिद्धि, 'इहेदम् प्रत्यय' सामान्यसे भी द्रव्यादि पदार्थोंकी असिद्धि, संग्रहसे भो द्रव्यादि पदार्थोंकी असिद्धि, द्रव्यत्वाभिसम्बन्धसे एक द्रव्यपदार्थ माननेका निरास, गुणत्वादि अभिसम्बन्धसे एक-एक गुणादिपदार्थ माननेका निरास, पृथ्वीत्वादि अभिसम्बन्धसे एक-एक पृथ्वी आदि द्रव्य माननेका निरास, संग्रहके तीन भेद और उनकी समीक्षा, ईश्वरके जगत् कर्तृत्वकी समालोचना, ईश्वरके नित्य ज्ञान माननेमें दोष-प्रदर्शन, ईश्वरके अनित्यज्ञानकी मोमांसा, अव्यापक ज्ञानमें दोष, ईश्वरके नित्य व्यापक ज्ञानमें दोष, समवायका स्वरूप और समीक्षा, संयोग और समवायकी व्यर्थता, सत्ता और समवायके एकत्वका खण्डन, सत्ताको

१. डॉ० दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित और वीरसेवा मन्दिर द्वारा प्रकाशित, १९४९।

स्वतन्त्र पदार्थ न माननेमें दोष एवं ईश्वर-परीक्षाका उपसंहार आदि विषय वर्णित हैं।

कपिल-परीक्षाके अन्तर्गत कपिलके मोक्षमार्गोपदेशकत्वका निरास, प्रधानके मुक्तामुक्तत्वकी कल्पना और उसकी समीक्षा एवं प्रधानके मोक्षमार्गोपदेशकत्वका समालोचन आया है।

सुगत-परीक्षामें सुगतके आप्तत्वका परीक्षण किया गया है। इस प्रकरणमें सुगतके मोक्षमार्गोपदेशकत्वका निराकरण, सौत्रान्तिकोंके मतकी समीक्षा, योगाचार—संवेदनाद्वैत और चित्राद्वैतका समालोचन विस्तारपूर्वक किया गया है।

परमपुरुष-परीक्षाके अन्तर्गत ब्रह्माद्वैत—प्रतिभाससामान्य-अद्वैतकी समीक्षा आयी है।

अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि-प्रकरणमें प्रमेयत्वहेतुसे सामान्यसर्वज्ञकी सिद्धि की गयी है। सर्वज्ञाभाववादी भट्टके मतको उपस्थितकर उसके मतका निराकरण किया गया है। बाधकाभावहेतुसे अर्हन्तको सर्वज्ञ सिद्ध किया है और पुष्टिके लिए प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, आगम और अभाव प्रमाणके द्वारा सर्वज्ञके बाधकत्वका निरास किया गया है।

अर्हत्-कर्मभूभृत्भेतृत्व-सिद्धिप्रसङ्गमें सञ्चित और आगामी कर्मोंके निरोध-का कारण संवर और निर्जराको सिद्ध किया है। इस सन्दर्भमें नैयायिक, वैशे-षिक और सांख्य द्वारा अभिमत कर्मके स्वरूपका विवेचन कर उसकी पौद्ग-लिकता सिद्ध की गयी है।

अर्हन्तको मोक्षमार्गका नेता सिद्ध करते हुए मोक्ष, आत्मा, संवर, निर्जरा आदिके स्वरूप और भेदोंका प्रतिपादन किया है। नास्तिक मतका प्रतिवाद कर मोक्षमार्गका स्वरूप और उसके प्रणेताको सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है। यह ग्रन्थ निम्नलिखित प्रकरणोंमें विभक्त है—

१. परमेष्ठीगुणस्तोत्र
२. परमेष्ठीगुणस्तोत्रका प्रयोजन
३. ईश्वरपरीक्षा
४. कपिलपरीक्षा
५. सुगतपरीक्षा
६. परमपुरुषपरीक्षा या ब्रह्माद्वैतपरीक्षा
७. अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि

८. अर्हत्कर्मभूभृद्भेतृत्वसिद्धि
९. अर्हन्मोक्षमार्गनेतृत्वसिद्धि
१०. अर्हद्वन्द्यत्वसिद्धि

२. प्रमाणपरीक्षा[1]

प्रमाणपरीक्षामें प्रमाणका स्वरूप, प्रामाण्यकी उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति, प्रमाणकी संख्या, विषय एवं उसके फल पर विचार किया गया है। आरम्भमें 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः। सन्निकर्षादिरज्ञानमपि प्रमाणं स्वार्थप्रमितौ साधकतमत्वात्, इति नाशंकनीयं, तस्य स्वप्रमितौ साधकतमत्वासंभवात्"[2]। अर्थात् सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि प्रमाणत्वकी उपपत्ति अन्यथा नहीं हो सकती। सन्निकर्षादि अज्ञानमय होनेके कारण प्रमाण नहीं हैं, और न वे अर्थक्रियाके प्रति साधकतम ही हैं, जो स्वप्रमितिके प्रति साधकतम होता है, वही प्रमाण हो सकता है, अन्य नहीं। इस प्रकार ज्ञानको प्रमाण सिद्ध कर सन्निकर्ष, इन्द्रिय आदिका खण्डन किया है। प्रमाणके प्रसंगमें तादूरूप्य, तदुत्पत्ति और तदाकारता-का भी निरसन किया गया है। विद्यानन्दने अपने समालोचनको पुष्ट बनानेके हेतु 'उक्तञ्च' कहकर अन्य व्यक्तियोंकी कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं।

इस सन्दर्भमें सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञानकी प्रामाणताका भी विचार किया गया है। सौगत अभ्यास, प्रकरण, बुद्धिपाटव आदिके कारण निर्विकल्पकको प्रमाण मानता है। विद्यानन्दने इस सन्दर्भमें सौगतमतकी सुन्दर समीक्षा की है और स्वलक्षणका भी निरसन किया है। क्षणिकवादी बौद्ध स्थूल-पदार्थोंका अस्तित्व स्वीकार न कर स्वलक्षण परमाणु पदार्थको ही ज्ञानका विषय मानता है। ब्रह्माद्वैतवाद और स्वलक्षणवादकी समीक्षा कर स्वप्नज्ञानकी प्रामाणिकताका भी निरसन किया है। 'नैकं स्वस्मात्प्रजायते' को उद्धत करते हुए ज्ञानके ज्ञानान्तरवेद्यत्वका खण्डन किया है।

कपिलमत-समीक्षा और तत्वोपप्लवादका विचार-विमर्श करते हुए अनुमान और आगम प्रमाणकी सिद्धि की गयी है। यहाँ उपमान और अर्थापत्तिका प्रत्य-भिज्ञान और अनुमानमें अन्तर्भाव दिखलाया गया है। 'प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणद्वै-विध्यम्' की समीक्षा करते हुए स्वार्थानुमान और परार्थानुमानकी सिद्धि की गयी है। प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक और अनिन्द्रिय प्रत्यक्षका निरूपण करते हुए अवग्रह

१. सनातन जैन ग्रन्थमालामें आप्तमीमांसाके साथ प्रकाशित तथा डॉ० दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित एवं वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित, १९७३।
२. प्रमाणपरीक्षा, सनातन जैन ग्रन्थमाला संस्करण, पृ० ५१।

५. चार्वाक-शासन-परीक्षा ।
६. बौद्ध-शासन-परीक्षा ।
७. सेश्वरसांख्य-शासन-परीक्षा ।
८. निरीश्वरसांख्य-शासन-परीक्षा ।
९. नैयायिक-शासन-परीक्षा ।
१०. वैशेषिक-शासन-परीक्षा ।
११. भाट्ट-शासन-परीक्षा ।
१२. प्रभाकर-शासन-परीक्षा ।
१३. तत्त्वोपप्लव-शासन-परीक्षा ।
१४. अनेकान्त-शासन-परीक्षा ।

उपर्युक्त शासनोंको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है—(१) अद्वैतवादी या अभेदवादी और (२) द्वैतवादी या भेदवादी। अद्वैतवादी सिद्धान्तोंमें एक तत्त्वकी प्रमुखता है और संसारके समस्त पदार्थ उस तत्त्वके ही रूपान्तर हैं। द्वैतवादी वे सम्प्रदाय हैं जो एक से अधिक तत्त्व मानते हैं। नैयायिक, वैशेषिक चार्वाक और बुद्ध आदि दर्शन एकाधिक तत्त्वोंको महत्त्व देनेके कारण द्वैतवादी कहे जाते हैं।

पुरुषाद्वैतकी परीक्षा करते समय अनुमान द्वारा पूर्वपक्ष स्थापित किया है—ब्रह्म एक है, अद्वितीय है, अखण्ड ज्ञानानन्दमय है, सम्पूर्ण अवस्थाओंको व्याप्त करनेवाला है, प्रतिभासमात्र होनेसे। यतः एक ही ब्रह्म अनेक पदार्थोंमें जलमें चन्द्रमाकी तरह भिन्न-भिन्न प्रकारसे दिखलाई देता है, इसी प्रकार पृथ्वी आदि ब्रह्मविवर्त हैं, भिन्न तत्त्व नहीं। अतएव चराचर संसारकी उत्पत्ति ब्रह्मसे होती है। इस प्रकार पूर्वपक्षकी स्थापना कर उत्तरमें बताया है कि ब्रह्माद्वैत प्रत्यक्षविरुद्ध है। प्रत्यक्षसे बाह्य अर्थ परस्परभिन्न और सत्य दिखलायी पड़ते हैं, अतएव ब्रह्माद्वैत नहीं बन सकता। इस तरह प्रतिभासमात्रहेतुमें अनेक दोषोंका उद्भावन कर पुरुषाद्वैतकी समीक्षा की गयी है।

शब्दाद्वैतमें भी ब्रह्माद्वैतके समान दोष आते हैं। विज्ञानाद्वैतकी परीक्षाके प्रसंगमें पूर्वपक्षकी सिद्धिके लिए अनुमान उपस्थित करते हुए लिखा है कि सम्पूर्ण ग्राह्य-ग्राहकाकार ज्ञान भ्रान्त है। जिस प्रकार स्वप्न और इन्द्रजाल आदि ज्ञान भ्रान्त होते हैं, उसी प्रकार ग्राह्य-ग्राहकाकार आदि प्रत्यक्ष भी भ्रान्त हैं। भ्रान्त प्रत्यक्ष आदिके द्वारा जाने गये बाह्य अर्थ वास्तविक नहीं हैं, अन्यथा स्वप्नप्रत्यक्षको भी वास्तविक मानना होगा। इस तरह बाह्य अर्थ असम्भव है, स्वसंवित्ति ही खण्डशः प्रतिभासित होती हुई समस्त वेद्य-वेदक

व्यवहारको करती है। अतः पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पदार्थ ज्ञानसे भिन्न नहीं हैं।

उत्तर पक्षमें पूर्ववत् असिद्ध, विरुद्ध आदि दोषोंकी उद्भावना की गयी है। अनुमानसे संवित्तिका वेद्य-वेदकभाव मानने पर बाह्य अर्थमें भी उसीसे वेद्य-वेदकभाव मान लेना चाहिए, क्योंकि दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। "सन्ति बहिरर्थाः साधनदूषणप्रयोगात्" द्वारा बाह्य पदार्थ सिद्ध किये गये हैं। इसी प्रकार चित्राद्वैतकी परीक्षा भी की है।

चार्वाक, बौद्धशासन, सांख्यपरीक्षा, वैशेषिकशासनपरीक्षा, नैयायिकशासन-परीक्षा, मीमांसकपरीक्षा और भाट्ट-प्रभाकरशासनपरीक्षा भी तर्कपूर्वक लिखी गयी है।

इस ग्रन्थ पर तत्त्वार्थसूत्रका प्रभाव भी दिखलायी पड़ता है। विद्यानन्दने अपनेसे पूर्ववर्त्ती आचार्योंका प्रभाव ग्रहण किया है। बीच-बीचमें अनेक ग्रन्थों-के उद्धरण भी आये हैं।

५. विद्यानन्दमहोदय

आचार्य विद्यानन्दकी यह सबसे पहली रचना है। इसके पश्चात् ही उन्होंने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक और अष्टसहस्री आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है। यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं, पर उसका नामोल्लेख श्लोक-वार्त्तिक आदि ग्रन्थोंमें मिलता है। देवसूरिने तो अपने स्याद्वादरत्नाकरमें इसकी एक पंक्ति भी उद्धृत की है—"महोदये च 'कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कारः प्रतीयते' इति वदन् (विद्यानन्दः) संस्कारधारणयोरं-कार्थ्यमचकथत्[१]"। इस ग्रन्थका नाम विद्यानन्दमहोदय और संक्षिप्त महो-दय है।

६. श्रीपुर-पार्श्वनाथ-स्तोत्र

श्रीपुर या अन्तरिक्षके पार्श्वनाथकी स्तुतिमें तीस पद्य लिखे गये हैं। इस स्तोत्रमें दर्शन और काव्यका गंगा-यमुनी संगम है। रूपक अलंकारकी योजना करते हुए आराध्यकी भक्तिकी प्रशंसा की गयी है। कवि कहता है—

शरण्यं नाथाऽर्हन् भव भव भवारण्य-विगति-
च्युतानामस्माकं निरवकर-कारुण्य-निलय।
यतोऽगण्यात्पुण्याच्चिरतरमपेक्ष्यं तव पदम्
परिप्राप्ता भक्त्या वयमचल-लक्ष्मीगृहमिदम्[२] ॥

१. स्याद्वादरत्नाकर, पु० ३४९।
२. श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र, पद्य २९, वीरसेवामन्दिर-संस्करण।

हे नाथ ! अर्हन् ! आप संसाररूपी वनमें भटकनेवाले हम संसारियोंके लिए शरण हैं। आप हमें अपना आश्रय प्रदान कर संसार-परिभ्रमणसे मुक्त करें; यतः आप पूर्णतया करुणानिधान हैं। हम चिरकालसे आपके पदों—चरणोंकी अपेक्षा कर रहे हैं। आज बड़े पुण्योदयसे मोक्षलक्ष्मीके स्थानभूत आपके चरणोंकी भक्ति प्राप्त हुई।

इस पद्यमें भवारण्य, कारुण्यनिलय और लक्ष्मीगृह पदोंमें रूपक है। कविने भक्तिकी निष्ठा दिखलाते हुए अन्य दार्शनिकों द्वारा अभिमत आप्तका निरसन किया है। भाषाका प्रवाह और शैलीकी उदात्तता सहृदय पाठकके मनको सहज ही अपनी ओर आकृष्ट करती है।

त्वदन्येऽध्यक्षादि - प्रतिहृत - वचो - युक्ति - विषया
विलुप्ताभा लोक-व्यपलपन - सम्बन्ध - मनसः।
भजन्ते नाऽऽप्तत्वं तदिह विदिता वञ्चन - कृतिः
विसंवादस्तेषां प्रभवति तदर्थापरिगतेः[1] ॥
इच्छा वा नियतेतरा न लभते सम्बन्धमीशेन तत्
कर्मप्राभवतः सुखादिविभवः पर्याप्तमेतेन हि।
भेत्ता कर्ममहीभृतां सकलविज्ञानादिसिद्धस्ततो
यत्कारणाद्-हताक्षपादगदितं तत्स्यात्कथं श्रेयसे[2] ॥

प्रथम पद्यमें आप्तकी समीक्षा करते हुए कपिलादिकको अनाप्त बताया गया है, क्योंकि वे प्रत्यक्षादिविरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाले हैं। प्रामाणिकता रूप सच्ची ज्योतिसे शून्य हैं और लोगोंको गुमराह करनेवाले हैं। चूँकि लोकमें उनकी वञ्चना प्रसिद्ध है तथा पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान न होनेसे उनके विसम्वाद भी स्पष्ट है, अतएव वे आप्तताको प्राप्त नहीं होते। द्वितीय पद्यमें नैयायिक और वैशेषिकों द्वारा अभिमत ईश्वरेच्छाको जगतके कारणका खण्डन किया है। संसारके समस्त पदार्थोंका निर्माण ईश्वरकी इच्छासे सम्भव नहीं है। यह इच्छा नियत—नित्य है अथवा अनियत—अनित्य। यदि नित्य है, तो एकस्वभाव ईश्वरकी तरह, वह भी एक स्वभाववाली हो जायगी और संसारके सभी कार्य एक समान होने लगेंगे। यदि अनित्य है, तो संसारके कार्य ही उत्पन्न नहीं हो पायेंगे। अतएव सुख-दुःखादि ईश्वरेच्छाजन्य नहीं, अपितु कर्मजन्य हैं। कोई भी परमात्मा अनादिसिद्ध सर्वज्ञ नहीं होता। वह कर्म-

१. श्रीपुर-पार्श्वनाथ-स्तोत्र, पद्य १६।
२. वही, पद्य २०।

समूहको नाश करके ही सर्वज्ञपद प्राप्त करता है। ऐसी अवस्थामें नैयायिक और वैशेषिकों द्वारा, जो अनादिसिद्ध सर्वज्ञ माना गया है, उससे जगत्-कर्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

इस स्तोत्रमें सर्वज्ञसिद्धि, अनेकान्तसिद्धि, भावाभवात्मक वस्तुनिरूपण, सप्त-भंगीनय, सुनय, निक्षेप, जीवादिपदार्थ, मोक्षमार्ग, वेदकी अपौरुषेयताका निराकरण, ईश्वरके जगत्कर्तृत्वका खण्डन, सर्वथा क्षणिकत्व और नित्यत्व मीमांसा, कपिलाभिमत पच्चीस तत्त्व समीक्षा, ब्रह्माद्वैत-मीमांसा, चार्वाक-समीक्षा आदि दार्शनिक विषयोंका समावेश किया गया है। भगवान् पार्श्वनाथको राग-द्वेषका विजेता सिद्ध करते हुए, उनकी दिव्यवाणीका जयघोष किया है—

> विदधदतिशयममित-मति-मुनिनाथ-मान्यमनन्यभाङ्
> नमित-सुर-रवि-भुवन-परगुरु-तीर्थकृत्त्व-सनामयत् ।
> उदय-पथ-गत - तदनु - विसृतिरशेष-तत्त्व-विभासिनी
> जयति जिन जिन विजित-मनसिज भारती तव भासुरा[1] ॥

इस प्रकार विद्यानन्दने इस दार्शनिक ग्रन्थमें भी काव्यत्वका निर्वाह किया है।

७. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[2]

टीकाग्रन्थोंमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक है। यह ग्रन्थ आचार्य गृद्धपिच्छके सुप्रसिद्ध तत्त्वार्थसूत्रपर कुमारिलके मीमांसाश्लोक-वार्तिक और धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी तरह पद्यात्मक शैलीमें लिखा गया है। साथ ही पद्यवार्तिकों पर उन्होंने स्वयं भाष्य अथवा गद्यमें व्याख्यान भी लिखा है। यह जैनदर्शनके प्रमाणभूत ग्रन्थोंमें प्रथमकोटिका ग्रन्थ है। विद्यानन्दने इसकी रचना करके कुमारिल, धर्मकीर्ति जैसे प्रसिद्ध तार्किकोंके जैनदर्शन पर किये गये आक्षेपोंका उत्तर दिया है। इस ग्रन्थकी समता करनेवाला जैन-दर्शनमें तो क्या अन्य किसी भी दर्शनमें एक भी ग्रन्थ नहीं है।

इस ग्रन्थमें आगमके मूल आप्तकी सिद्धि कर पराभिमत आप्तका खण्डन किया गया है। विषयका वर्गीकरण तत्त्वार्थसूत्रके समान ही दश अध्यायोंमें है। चार्वाक आत्माका अस्तित्व न मानकर भूतचतुष्टयका अस्तित्व स्वीकार करता है। अतः विद्यानन्दने चार्वाकका खण्डन कर आत्मतत्त्वकी सिद्धि की है। यतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उत्पत्तिका स्थान आत्मा ही

---

१. श्रीपुरपा० पद्य २७।

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, सम्पादक पंडित मनोहरलाल शास्त्री, प्रकाशक गांधी नाथा-रंग जैन ग्रन्थमाला, पोस्ट माण्डवी बम्बई, सन् १९१८।

है। आत्माके सद्भावमें ही मोक्ष और मोक्षके कारणीभूत तत्त्वोंकी सिद्धि सम्भव है।

प्रथम अध्यायमें मोक्षमार्गके निरूपणके साथ-साथ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानका विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है। बताया है—

ज्ञानमेव स्थिरीभूतं समाधिरिति चेन्मतम्।
तस्य प्रधानधर्मत्वे निवृत्तिस्तत्क्षयाद्यदि॥
तदा सोपि कुतो ज्ञानादुक्तदोषानुषंगतः
समाध्यंतरतश्चेन्न तुल्यपर्यनुयोगतः[1]॥

स्पष्ट है कि आचार्य विद्यानन्दने तत्त्वार्थसूत्रके प्रमेयोंका अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थमें किया है। प्रथम सूत्रके वार्तिकोंमें मोक्षोपायके सम्बन्धमें अत्यन्त गवेषणाके साथ विचार किया है। जीवका अन्तिम ध्येय मोक्ष है। बन्धनबद्ध आत्माको मुक्तिके अतिरिक्त और क्या चाहिए? अतः मुक्तिके साधनभूत रत्नत्रयमार्गका सुन्दर और गहन विवेचन किया है। अनन्तर सम्यग्दर्शनका स्वरूप, भेद, अधिगमोपाय, तत्त्वोंका स्वरूप और भेद, एवं सत्-संख्या-क्षेत्रादि तत्त्वज्ञानके साधनों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। पश्चात् सम्यग्ज्ञानका स्वरूप, सम्यग्ज्ञानके भेद, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञानके विषय, क्षेत्र, स्वामी आदिका निर्देश किया है। इस सन्दर्भमें सर्वज्ञसिद्धिका भी प्रकरण आया है, जिसमें मीमांसक द्वारा उठाई गयी शंकाओंका समाधान भी किया है।

श्रुतज्ञान बाह्य अर्थोंको किस प्रकार विषय करता है, इस आशंकाका उत्तर देते हुए आचार्य विद्यानन्दने लिखा है—

श्रुतेनार्थं परिच्छिद्य वर्त्तमानो न बाध्यते।
अक्षजेनैव तत्तस्य बाह्यार्थालंबना स्थितिः॥

सामान्यमेव श्रुतं प्रकाशयति विशेषमेव परस्परनिरपेक्षमुभयमेवेति वा-शंकामपाकरोति।

अनेकान्तात्मकं वस्तु संप्रकाशयति श्रुतं।
सद्बोधत्वाद्यथाक्षोत्थबोध इत्युपपत्तिमत्॥
नयेन व्यभिचारश्चेन्न तस्य गुणभावतः।
स्वगोचरार्थधर्माण्यधर्मार्थप्रकाशनात्॥

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रथम अध्याय, श्लोक ५१–५२, पृ० १७।

श्रुतस्यावस्तुवेदित्वे परप्रत्यायनं कुतः ।
संवृतेश्चेद् वृथैवेषा परमार्थस्य निश्चितेः ॥

ननु स्वत एव परमार्थव्यवस्थितेः कुतश्चिदविद्याप्रक्षयान्न पुनः श्रुतविकल्पात् । तदुक्तं "शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते । अनागमविकल्पा हि स्वयं विद्योपवर्त्तते" इति, तदयुक्तं, परेष्टतत्त्वस्याप्रत्यक्षविषयत्वात्तद्विपरीतस्यानेकान्तात्मनो वस्तुनः सर्वदा परस्याप्यवभासनात् । लिङ्गस्य त्वस्याङ्गीकरणीयत्वात्[1] ।

अर्थात् श्रुतज्ञान द्वारा अर्थकी परिच्छित्ति कर प्रवृत्ति करनेवाला पुरुष अर्थक्रिया करनेमें उसी प्रकार बाधा नहीं प्राप्त करता है, जिस प्रकार इन्द्रियजन्य मतिज्ञान द्वारा अर्थको अवग्रह कर प्रवृत्ति करने वाला पुरुष बाधाको प्राप्त नहीं करता है। श्रुतज्ञान सामान्यका प्रकाशन करता है, विशेषका प्रकाशन करता है या निरपेक्ष दोनोंका प्रकाशन करता है? इस शंकाका उत्तर देते हुए आचार्य विद्यानन्दने बताया है—सामान्यविशेषात्मक अनेकान्तरूप वस्तुको श्रुतज्ञान अवगत करता है। जिस प्रकार इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ सांव्यवहारिक प्रत्यक्षज्ञान अनेकान्तात्मक अर्थका प्रकाशन करता है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान सामान्यविशेषात्मक वस्तुको प्रकाशित करनेमें समर्थ रहता है। अतः "अनेकान्तात्मकं वस्तु श्रुतं प्रकाशयति, सद्बोधत्वात्" यह अनुमान समीचीन है। इसका नयके साथ भी दोष नहीं है, क्योंकि नयज्ञान मुख्यरूपसे एक धर्मको जानता है, पर गौणरूपसे वस्तुके अन्य धर्मोंका भी वह ज्ञाता है। अतः श्रुतज्ञानका नयज्ञानके साथ दोष नहीं आता।

यदि श्रुतज्ञानको वस्तुभूत पदार्थका ज्ञापक नहीं माना जाय, तो प्रतिवादी या शिष्योंको स्वकीय तत्त्वोंका ज्ञान किस प्रकार कराया जा सकेगा। अतएव श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञात वस्तु प्रमाणभूत है। इस प्रकार विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकमें प्रमेयोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

८. अष्टसहस्री

जैन न्यायका यह अत्यन्त महनीय ग्रन्थ है। इस एक ग्रन्थके अध्ययन कर लेनेपर अन्य ग्रन्थ पढ़नेकी आवश्यकता नहीं। विद्यानन्दने स्वयं ही यह प्रकट किया है—

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, गांधी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला, प्रथम अध्याय, सूत्र २६ श्लोक १५–१८ तथा गद्यांश, पृ० २४९।

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव हि स्वसमय-परसमयसद्भावः॥[1]

अर्थात् हजार शास्त्रोंको सुननेसे क्या, केवल अष्टसहस्रीको सुन लेनेसे, स्व-सिद्धान्त और परसिद्धान्तोंका ज्ञान हो जायगा।

यह समन्तभद्रविरचित आप्तमीमांसा अपरनाम देवागमस्तोत्रपर लिखा गया विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण भाष्य है। विद्यानन्दने बड़ी ही कुशलताके साथ अकलंकदेव द्वारा रचित अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें अन्तःप्रविष्ट कर लिया है। यह न्यायकी प्राञ्जल भाषामें रचा गया दुरूह और जटिल ग्रन्थ है। स्वयं विद्यानन्दने इसे कष्टसहस्री कहा है। उन्होंने लिखा है—

'कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्'[2]

इस ग्रन्थमें एकादश नियोग, विधि और भावनावाद और उनका निरसन, चार्वाकमत, तत्त्वोपप्लववाद, संवेदनाद्वैत, चित्राद्वैत, ब्रह्माद्वैत, सर्वज्ञाभाव, अनुमानद्वारा सर्वज्ञसिद्धि, अर्हद्सर्वज्ञसिद्धि आदि अनेक विषयोंका समावेश किया गया है। यह ग्रन्थ दश परिच्छेदोंमें विभक्त है। प्रथमपरिच्छेद सबसे बड़ा है और आधा ग्रन्थ इसीमें समाप्त है।

प्रथमपरिच्छेदमें अनुमान द्वारा सर्वज्ञकी सिद्धिके पश्चात् भाव, अभाव, भावाभवरूप, तत्त्वका निराकरण कर अनेकान्तात्मक वस्तुकी सिद्धि की गयी है। इस सन्दर्भमें भावापह्नववादी बौद्ध और अत्यन्ता भावप्रागभाव और प्रध्वंसाभाव अस्वीकार करनेवाले सांख्य मतमें दूषण दिया गया है। वस्तुतः इस अध्यायमें नैयायिक, सांख्य, वेदान्त, बौद्ध, मीमांसक आदि दर्शनोंका वस्तुतत्त्वके सम्बन्धमें विचार किया गया है। द्वितीय परिच्छेदमें द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत आदिका विचार किया है। तृतीयपरिच्छेदमें क्षणिकवादमें दोषोंका प्रतिपादन कर कार्यकरिणादि समन्वित कथञ्चित्क्षणिक वस्तुकी सिद्धि की गयी है। प्रागभावको सर्वथा अभाव न मानकर कथञ्चित् सद्भावरूप सिद्ध किया गया है। वैशेषिक और नैयायिकाभिमत अवयव-अवयवी का विचार किया गया है। चतुर्थमें वैशेषिकाभिमत भेदैकान्तका खण्डन कर कथंचित् भेदाभेदात्मक वस्तुकी सिद्धि की है। पंचम परिच्छेदमें बौद्धकी अपेक्षासे सर्वथा अनापेक्षिक वस्तुका निरसन किया है। षष्ठ परिच्छेदमें वस्तुकी सिद्धिके लिए प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीनों प्रमाणोंकी सिद्धि की गयी है। वेद-

१. अष्टसहस्री, पृ० १५७।

२. अष्टसहस्री, अन्तिम प्रशस्ति, पृ० २९५।

प्रमाण्यवादकी समीक्षा भी विस्तारपूर्वक इसी परिच्छेदमें प्रतिपादित है। सप्तम परिच्छेदमें बौद्धाभिमत ज्ञानेकान्तका निरसन किया गया है। उपेय और उपाय तत्त्वकी चर्चा भी इसी परिच्छेदमें आयी है। अष्टम परिच्छेदमें दैवपुरुषार्थवाद-की समीक्षा है। नवममें पुण्य-पापकी समीक्षा की गयी है। दशममें सांख्य, नैयायिक और बौद्धमतानुसार बन्ध, मोक्ष और उनके कारणोंकी चर्चा आयी है। वाक्य और नयका लक्षण भी इसी परिच्छेदमें वर्णित है।

९. युक्त्यनुशासनालङ्कार

स्वामी समन्तभद्रके ६४ कारिकात्मक दार्शनिक 'युक्त्यनुशासनस्तोत्र' पर विद्यानन्दने मध्यम परिमाणकी यह 'युक्त्यनुशासनालङ्कार' टीका लिखी है। टीला सरल एवं विशद है।

वस्तुतः समन्तभद्रने मूल कारिकाओंमें जिन प्रमेयोंकी स्थापना की है, उन-पर विस्तारपूर्वक इसमें विचार किया है। अद्वैतवाद, द्वैतवाद, शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद, वक्तव्यवाद, अवक्तव्यवाद, अन्यतावाद, अनन्यतावाद, अपेक्षावाद, अनपेक्षावाद, हेतुवाद, अहेतुवाद, विज्ञानवाद, बहिरर्थवाद, दैववाद, पुरुषार्थ-वाद, पाप-पुण्यवाद, बन्धवाद, मोक्षवाद और बन्ध-मोक्षकारणवादकी समीक्षा विभिन्न दर्शनोंके पूर्वपक्षोंको उपस्थित कर की है। निश्चयतः समग्र दर्शनोंके प्रमेयोंका विचार इस ग्रन्थमें किया गया है। अतः हमें विद्यानन्दकी "श्रोतव्या-ष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः। विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमय-सद्भावः॥" आदि गर्वोक्ति स्वभावोक्ति प्रतीत होती है।

आचार्य देवसेन

देवसेन नामके कई आचार्योंके उल्लेख मिलते हैं। एक देवसेन वे हैं, जिन्होंने विक्रम सं० ९९० में दर्शनसारनामक ग्रन्थकी रचना की थी। आलापपद्धति, लघुनयचक्र, आराधनासार और तत्त्वसार नामक ग्रन्थ भी देवसेनके द्वारा रचित हैं। इन सब ग्रन्थोंको दर्शनसारके रचयिता देवसेनकी कृति माना जाता है। दर्शनसारके अन्तमें प्रशस्तिरूप दो गाथाएँ आयी हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण॥
× × × ×
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए॥[1]

---

1. दर्शनसार, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, वि० सं १९७४, गाथा–४९-५०।

अर्थात् पूर्वाचार्योंके द्वारा रची हुई गाथाओंको एकत्र करके यह दर्शनसार नामका ग्रन्थ श्री देवसेनगणिने माघ शुक्ला दशमी, विक्रम सं० ९९०में धारा-नगरीमें निवास करते समय पार्श्वनाथ भगवानके मन्दिरमें रचा, जो भव्य-जीवोंके हृदयमें हारके समान शोभा देगा।

तत्त्वसारकी प्रशस्तिमें बताया गया है—

सोऊण तच्चसारं रइयं मुणिणाहदेवसेणेण।
जो सद्दिट्ठी भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥[1]

मुनिनाथ देवसेनने सुनकर तत्त्वसार रचा, जो सम्यक्दृष्टि उसकी भावना करता है वह शाश्वत सुख प्राप्त करता है। आराधनासारके अन्तमें बताया है—

ण य मे अत्थि कवित्तं ण मुणामो छंदलक्खणं किं पि।
णियभावणाणिमित्तं रइयं आराहणासारं ॥[2]
अमुणियतच्चेण इमं भणियं जं किं पि देवसेणेण।
सोहंतु तं मुणिंदा अत्थि हु जइ पवयण-विरुद्धं ॥

न मुझे कवित्वका परिज्ञान है, न छन्दका और न व्याकरणका ही। अपनी-भावनाके निमित्त मैंने आराधनासार रचा है। पूर्णतत्त्वज्ञानसे अपरिचित देवसेनने जो कुछ भी इसमें कहा है यदि उसमें आगमविरुद्ध कथन हो तो मुनीन्द्र उसे शुद्ध कर लें।

इस तरह देवसेनने दर्शनसारमें रचनाकाल और रचना-स्थानका निर्देश किया है किन्तु अन्य रचनाओंमें रचना-काल और रचना-स्थानका निर्देश नहीं है। दर्शनसारमें देवसेनने अपनेको देवसेनगणि कहा है और तत्त्वसारमें मुनिनाथ देवसेन कहा है तथा आराधनासारमें केवल देवसेन। गणि और मुनिनाथपदको एकार्थवाचक मान लेने पर एकरूपता आ सकती है।

भावसंग्रहके अतिरिक्त अन्यत्र किसी भी रचनामें गुरुके नामका स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता है, पर प्रकारान्तरसे गुरुके नामका अध्याहार किया जा सकता है। आराधनासारकी मङ्गलगाथामें "विमलगुणसमिद्धं" पदके द्वारा, दर्शनसारमें "विमलणाणं" पद द्वारा, नयचक्रमें "विगयमलं" और "विमलणाण-संयुत्तं" पदोंके द्वारा गुरुके नामका उल्लेख माना जा सकता है। अतः आरा-धनासार, दर्शनसार, भाव-संग्रह आदिके रचयिता एक ही व्यक्ति हैं। दर्शनसार और भाव-संग्रह तो एक ही व्यक्तिकी रचनाएँ हैं क्योंकि श्वेताम्बर मतकी

---

१. तत्त्वसार, अन्तिम प्रशस्ति, गाथा ७४।

२. आराधनासार, गाथा ११४-११५।

उत्पत्तिके सम्बन्धमें दी गयी गाथाओंमेंसे एक गाथा ज्यों-की-त्यों है और अन्य गाथाओंके भाव प्रायः मिलते हैं। यहाँ तुलनाके लिए कुछ गाथाएँ उद्धृत की जाती हैं। यथा—

छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडसंघो हु वलहीए ॥
आसि उज्जेणिणयरे आयरिओ भद्दबाहुणामेण।
जाणिय सुणिमित्तधरो भणिओ संघो णिओ तेण ॥
होहइ इह दुब्भिक्खं बारह वरसाणि जाम पुण्णाणि।
देसंतराइं गच्छह णियणियसंघेण संजुत्ता ॥
सोऊण इमं वयणं णाणादेसेहिं गणहरा सव्वे।
णियणियसंघपउत्ता विहरीआ जत्थ सुब्भिक्खं[1] ॥

दर्शनसारमें श्वेताम्बरमतकी उत्पत्ति निम्न प्रकार बतायी है—

छत्तीसे वरिस-सए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥
सिरिभद्दबाहुगणिणो सीसो णामेण संति आइरिओ।
तस्स य सीसो दुट्ठो जिणचंदो मंदचारित्तो ॥
तेण कियं मयमेयं इत्थीणं अत्थि तब्भवे मोक्खो।
केवलणाणीण पुणो अद्दक्खाणं तहा रोओ[2] ॥

इन गाथाओंकी तुलनासे यह स्पष्ट है कि दोनों ग्रन्थोंका रचयिता एक ही व्यक्ति है।

पण्डित परमानन्दजी शास्त्री दिल्लीका अभिमत है कि 'भावसंग्रह' 'दर्शनसार'के रचयिता देवसेनकी कृति नहीं है, क्योंकि 'दर्शनसार' मूल संघका ग्रन्थ है, उसमें काष्ठासंघ, द्रविडसंघ, यापनीयसंघ और माथुरसंघको जैनाभास घोषित किया है। पर 'भावसंग्रह' केवल मूलसंघका ही मालूम नहीं होता, क्योंकि उसमें 'त्रिवर्णाचार'के समान आचमन, सकलीकरण और पञ्चामृताभिषेक आदिका विधान है। इतना ही नहीं, अपितु इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋत्य, वरुण, पवन, यक्ष और ऐशान आदि दिग्पाल देवोंको सशस्त्र और युवतिवाहन सहित आह्वानन करने, बलि, चरु आदि पूजा-द्रव्य तथा यज्ञके भागको बीजाक्षरयुक्त मन्त्रोंसे देनेका विधान है। अतएव पं० परमानन्दजीने बताया है कि

---

१. भावसंग्रह, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, गाथा १३७-१४०।
२. दर्शनसार, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, गाथा ११-१३।

अपभ्रंश-भाषाके 'सुलोचनाचरिउ'के रचयिता देवसेन ही 'भावसंग्रह'के कर्त्ता हैं। इनके गुरुका नाम भी विमलसेनगणि है।

श्री प्रेमीजीने भी उनके इस मतको प्रायः स्वीकार करते हुए लिखा है— "एक और प्राकृत ग्रन्थ 'भाव संग्रह' है, जो विमलगणिके शिष्य देवसेनका है। यह भी मुद्रित हो चुका है। इसमें कई जगह 'दर्शनसार'की अनेक गाथाएँ उद्धृत हैं। इसपरसे हमने अनुमान किया था कि 'दर्शनसार'के कर्त्ता ही इसके कर्त्ता हैं, परन्तु परमानन्दजी शास्त्रीने (अनेकान्त वर्ष ७ अंक ११-१२में) इस पर सन्देह किया है और सुलोचनाचरिउके कर्त्ता तथा भावसंग्रहके कर्त्ताको एक बतलाया है, जो कि विमलगणिके शिष्य हैं।"[1]

'सुलोचनाचरिउ'में उसके रचना-कालका निर्देश करते हुए लिखा है कि संवत्सरकी श्रावण शुक्ला चतुर्दशीके दिन यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ। पं० परमानन्दजीने ज्यौतिष गणनाका प्रमाण देते हुए उक्त कालको विक्रम संवत् ११३२ तथा ११९२ में पड़ता हुआ लिखा है।

पता नहीं पं० परमानन्दजीने किस आधारपर यह ज्यौतिष गणना की है। राक्षस-संवत्सर श्रावण शुक्ला चतुर्दशीको ग्रह-लाघवके गणितानुसार वि० सं० १०१२ में आता है। यों राक्षससंवत्सरकी स्थिति वि० सं० ९५२, १०१२, १०७२, ११३२ और ११९२ में आती है, पर श्रावणशुक्ला चतुर्दशीको राक्षस संवत्सरका योग विक्रम सं० १०१२ के अतिरिक्त १३७२ में आता है। इसके बीचके संवत्सरोंमें बार्हस्पत्य गणनानुसार राक्षससंवत्सर और श्रावण शुक्ला चतुर्दशीकी स्थिति एक साथ घटित नहीं होती है। अतः अनुमान है कि दर्शनसार, भावसंग्रह और सुलोचनाचरिउ इन तीनों ग्रन्थोंका कर्त्ता एक देवसेन नहीं है। श्री जुगलकिशोर मुख्तारने श्री पं० परमानन्दजीकी समालोचना करते हुए लिखा है—

"अतः भावसंग्रहके कर्त्ता देवसेन उनसे पहले हुए, तब सुलोचनाचरिउके कर्त्ता देवसेन और पाण्डवपुराणकी गुरुपरम्परावाले देवसेनके साथ उनकी एकता किसी भी तरह स्थापित नहीं की जा सकती और न उन्हें १२वीं १३वीं शताब्दीका विद्वान् ही ठहराया जा सकता है। इसलिए जब तक भिन्न कर्तृकताका द्योतक कोई दूसरा स्पष्ट प्रमाण सामने न आ जावे, तब तक दर्शनसार और भावसंग्रहको एक ही देवसेनकृत माननेमें कोई खास बाधा मालूम नहीं होती"।[2]

१. जैन साहित्य और इतिहास, द्वितीय संस्करण पृ०–१७६
२. पुरातनवाक्यसूचीकी प्रस्तावना, पृ० १६।

मुख्तार साहबके इस कथनसे स्पष्ट है कि सुलोचनाचरिउ १४ वीं शतीके किसी देवसेनका है। भावसंग्रह और दर्शनसार एक ही कर्त्ताकी रचनाएँ हैं।

श्री पं० परमानन्दजी का यह तर्क कि 'दर्शनसार' मूलसंघका ग्रन्थ है और 'भावसंग्रह' मूलसंघसे इतर संघका ग्रन्थ है, क्योंकि इसमें पञ्चामृत अभिषेक आदिकी विधि प्रतिपादित की गयी है, अधिक सबल नहीं है, क्योंकि काष्ठासंघमें, जो कि मूलसंघके समान ही मान्य था, पञ्चामृत-अभिषेक आदिका विधान किया है।

श्री प्रेमीजीने दर्शनसारके अन्तर्गत आये हुए संघोकी समीक्षा करते हुए लिखा है कि दर्शनसारमें आये हुए चार संघोंमें यापनीयसंघको छोड़ शेष तीन संघोंका मूलसंघसे इतना पार्थक्य नहीं है कि वे जैनाभास बतला दिये जायें। दर्शनसारकी रचना वि० सं० ९९० में की है। भावसंग्रह, आराधनासार और तत्त्वसार इनकी रचना दर्शनसारके बाद की गयी है। अतः हमारा अनुमान है कि दर्शनसार देवसेनकी सबसे पहली रचना है। इस रचनाके समयमें वे कट्टर मूलसंघी रहे होंगे। पर पाँच-दस वर्षके बीच उनके विचार और अधिक परिपक्व हुए तथा वे काष्ठासंघी आचार्योंके सम्पर्कमें पहुँचे, जिससे उन्होंने प्रभावित होकर वि० सं० १००५ के लगभग भावसंग्रह लिखा।

श्री मुख्तार साहबने श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीके मतको उपस्थित करते हुए लिखा है—"इसके प्रारम्भिक अंशमें अन्य ग्रंथोंके उद्धरणोंकी भरमार है, जो मूल-ग्रन्थकारके द्वारा उद्धृत नहीं हुए हैं और अनेक स्थानोंपर—खासकर पाँचवें गुण-स्थानके वर्णनमें—इसके पद्योंकी स्थिति रयणसार जैसी सन्दिग्ध पायी जाती है। अतः प्राचीन प्रतियोंको खोज करके इसके मूलरूपको सुनिश्चित करनेकी खास जरूरत है"[1]।

एक और तर्क भी विचारणीय है कि प्राकृत भाषाके ग्रन्थोंकी रचनाके पश्चात् ही अपभ्रंशमें रचनाएँ लिखी जाती हैं। कोई भी लेखक प्रथम प्राकृत और संस्कृतमें रचना करता है, तत्पश्चात् अपभ्रंशमें। जो लेखक तीनों भाषाओंमें ही रचनाओंका प्रणयन करते हैं, वे प्रथम प्राकृत अनन्तर संस्कृत और तत्पश्चात् अपभ्रंशमें ग्रन्थ लिखते हैं। अतएव देवसेनने भी प्राकृत, संस्कृत और अप-भ्रंशमें रचनाओंका प्रणयन किया होगा। उनकी सरस्वती-आराधनाका काल वि० सं० ९९० (ई० सन् ९३३) से वि० सं० १०१२ (ई० सन् ९५५) तक है।

---

१. पुरातन जैन वाक्य-सूची, प्रस्तावना पृ० ६१।

अतएव दर्शनसार, भावसंग्रह, आराधनासार, तत्त्वसार आदि ग्रन्थोंके रचयिता विमलसेनगणिके शिष्य देवसेनगणि हैं।

रचनाएँ

१. दर्शनसार, २. भावसंग्रह, ३. आलापपद्धति, ४. लघुनयचक्र, ५ आराधनासार, ६. तत्त्वसार।

१. **दर्शनसार**—इस लघुकाय ग्रन्थमें कुल ५१ गाथाएँ हैं। प्रथम गाथामें श्लेषमें गुरुका स्मरण करते हुए तीर्थङ्कर महावीरको नमस्कार किया है और पूर्वाचार्यों द्वारा कथित गाथाओंका संग्रह किया है। उत्थानिकाके अनन्तर समस्त इतर दार्शनिक मतोंका प्रवर्त्तक ऋषभदेवके पुत्र मरीचिको माना है। मरीचिने एकान्त, संशय, विपरीत, विनय और अज्ञान इन पाँचों एकान्त मार्गोंका प्रवर्त्तन किया है। बताया है कि तीर्थङ्कर पार्श्वनाथके तीर्थकालमें सरयू नदीके तटवर्ती पलाश नामक नगरमें पिहितास्रव साधुका शिष्य बुद्धिकीर्ति मुनि हुआ, जो बहुत बड़ा शास्त्रज्ञ था। मत्स्याहारके कारण वह दीक्षासे भ्रष्ट हो गया और रक्ताम्बर धारण कर उसने एकान्तमतका प्रचलन किया। फल, दधि, दुग्ध, शक्कर आदिके समान मांसमें भी जीव नहीं है, अतएव उसकी इच्छा करने और भक्षण करनेमें कोई पाप नहीं है। उसने बतलाया कि जिस प्रकार जल एक द्रव पदार्थ है, उसके सेवनमें दोष नहीं उसी प्रकार मद्य भी द्रव पदार्थ है, उसके सेवनमें भी किसी प्रकारका दोष नहीं है।

एक पाप करता है और फल दूसरा भोगता है। इस प्रकार अनर्गल सिद्धान्तोंका प्रचार कर वह बुद्धकीर्ति नरक गया। कर्त्ता कोई अन्य व्यक्ति है और फल-भोक्ता कोई अन्य। इस सिद्धान्तमें क्षणिकवादका कथन किया गया है। इस प्रकार मरीचि और बुद्धकीर्तिने मिथ्या मतोंका प्रचार किया।

इस अवतारणके पश्चात् श्वेताम्बर मत, विपरीत मत, वाचनिक मत, अज्ञान मत, द्राविड़संघ, यापनीयसंघ, काष्ठासंघ, माथुरसंघ और भिल्लकसंघकी उत्पत्ति एवं समीक्षा की गयी है। काष्ठासंघकी समीक्षा करते हुए वीरसेन स्वामीके शिष्य जिनसेन, कुन्दकुन्द, गुणभद्र, विनयसेन, कुमारसेनके निर्देश आये हैं। कुमारसेनको काष्ठासंघका उपदेशक बतलाया है और इस संघका उत्पत्ति-काल वि० सं० ७५३ माना है। माथुरसंघकी उत्पत्ति रामसेन द्वारा वि० सं० ९५३ में मथुरा नगरीमें मानी गयी है। भिल्लकसंघकी उत्पत्ति भविष्य-कल्पनाके रूपमें अङ्कित है—

पणमिय वीरजिणिंदं सुरसेणणमंसियं विमलणाणं।
वोच्छं दंसणसारं जह कहियं पुव्वसूरीहिं॥[1]
भरहे तित्थयराणं पणमिय देविंदणागरुडाणं।
समएसु होंति केई मिच्छत्तपवट्टगा जीवा॥[2]

× × ×

सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुड्डकित्तिमुणी॥[3]

× × ×

णंदियडे वरगामे कुमारसेणो य सत्थविण्णाणी।
कट्ठो दंसणभट्ठो जादो सल्लेहणाकाले॥[4]
तत्तो दुसए तीदे महुराए माहुराण गुरुणाहो।
णामेण रामसेणो णिप्पिच्छं वण्णियं तेण॥[5]

दर्शनसारसे देवसेनके अक्खड़ स्वभावका पता चलता है। उन्होंने अन्तिम गाथामें अपनी स्पष्टता व्यक्त करते हुए लिखा है—

रूसउ तूसउ लोओ सच्चं अक्खंतयस्स साहुस्स।
किं जूयभए साडी विवज्जियव्वा णरिंदेण॥[6]

सत्य कहने वाले साधुसे कोई रुष्ट हो, चाहे सन्तुष्ट हो, इसकी चिन्ता नहीं। क्या राजाको यूका (जूँआ) के भयसे वस्त्र पहनना छोड़ देना चाहिए? कभी नहीं।

इससे देवसेनका अक्खड़पना प्रकट होता है।

२. भावसंग्रह

इस ग्रन्थमें ७०१ गाथाएँ हैं। इसमें चौदह गुणस्थानोंका अवलम्बन लेकर विविध विषयोंका निरूपण किया गया है। दो गाथाओं द्वारा १४ गुणस्थानोंके नाम बतला कर मिथ्यात्वगुणस्थानका स्वरूप प्रतिपादित किया है। मिथ्यात्वके एकान्त, विनय, संशय, अज्ञान और विपरीत इन पाँच भेदोंको बतलाकर ब्राह्मण मतको विपरीतमिथ्यादृष्टि कहा है—

मण्णइ जलेण सुद्धि तित्ति मंसेण पियरवग्गस्स।
पसुकयवहेण सग्गं धम्मं गोजोणिफासेण॥
जइ जलण्हाणपउत्ता जीवा मुइ णिययपावेण।
तो तत्थ वसिय जलयरा सव्वे पावंति दिवलोयं॥

१-५. दर्शनसार, गाथा १, २, ६, ३९, ४०।

६. दर्शनसार, गाथा ५१।

जं कम्मं दिढबद्धं जीवपएसेहि तिविहजोएण।
तं जलफासणिमित्ते कह फट्टइ तित्थण्हाणेण॥
मलिणो देहो णिच्चं देही पुण णिम्मलो सयारुवी।
को इह जलेण सुज्झइ तम्हा ण्हाणे ण हु सुद्धी॥[1]

जलसे शुद्धि होती है, मांससे पितरोंकी तृप्ति होती है, पशुबलिसे स्वर्ग मिलता है और गोयोनिके स्पर्शसे धर्म होता है, इन चार ब्राह्मणधर्मके प्रमुख सिद्धान्तोंकी समीक्षा करते हुए बताया है कि जलस्नानसे यदि समस्त पापोंका प्रक्षालन सम्भव हो, तो नदी, समुद्र और तालाबोंमें रहनेवाले जलचर जीव भी स्वर्गको प्राप्त कर लेंगे। कर्म-मैलसे मलिन इस आत्माकी जलसे शुद्धि नहीं हो सकती है, जो जलसे शुद्धि मानता है, वह अच्छा विचारक नहीं है। आत्माकी शुद्धि तप, इन्द्रियनिग्रह और रत्नत्रयके द्वारा होती है। जिस प्रकार अग्निके संयोगसे स्वर्ण पवित्र हो जाता है, उसी प्रकार अनशन, ऊनोदर आदि तपोंके करनेसे जीव भी पवित्र हो जाता है। जो व्यक्ति विषय और कषायमें संलग्न हैं और राग-द्वेषको उत्पन्न करनेवाले गृहकार्योंमें आसक्त हैं उनकी जलस्नानसे शुद्धि नहीं हो सकती। कषायरहित, व्रतनियम और शीलसे युक्त व्यक्ति जल-स्नानके बिना भी आत्माको पवित्र कर सकता है।

मांसद्वारा पितरोंकी तृप्ति मानने वाला व्यक्ति भी विवेकी नहीं है। हिंसा, क्रूरता और निर्दयता करने वाला व्यक्ति चारों गतियोंके दुःखोंको उठाता है। जो माँस द्वारा श्राद्ध करके पितरोंकी तृप्ति चाहता है वह व्यक्ति भी बालूसे तेल निकालना चाहता है। अतएव माँसको न तो दान ही माना जा सकता है, और न इससे पितरोंकी तृप्ति ही हो सकती है।

जो श्राद्धद्वारा पितरोंकी तृप्ति मानता है, वह भ्रममें है। किसीके भोजनसे किसीकी तृप्ति नहीं हो सकती। यदि पिता भोजन करता है, तो पुत्रका पेट नहीं भरता, और पुत्र भोजन करता है तो पिताका पेट नहीं भरता। जो भोजन करता है, वही तृप्त हो सकता है, अन्य कैसे तृप्त हो सकता है? जो यह मानता है कि पाप करके नरक जाने पर पिताको पिण्डदानद्वारा पुत्र स्वर्ग भेज सकता है, उसके यहाँ जो कार्य करने वाला है उसे फल न मिल कर अन्यको होगा। अतः कृतनाश और अकृताभ्यागम नामक दोष आयगा। इस प्रकार उक्त चारों सिद्धान्तोंकी समीक्षा करते हुए गीता, महाभारत आदि ग्रन्थोंसे ही समर्थनके लिए प्रमाण उद्धृत किये हैं।

विपरीतमिथ्यात्वके पश्चात् एकान्तमिथ्यात्वकी समीक्षा की गयी है।

---

१. भावसंग्रह, गाथा १७–२०।

इस प्रसंगमें क्षणिकैकान्तवादी बुद्धका खण्डन किया है। वैनायिक मिथ्यात्वके निरसनमें यक्ष, नाग, दुर्गा, चण्डिका आदिके पूजनेका निषेध किया है। संशय-मिथ्यात्वका निरूपण करते हुए उदाहरणके हेतु श्वेताम्बर मतका निरसन किया गया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्त्रीमुक्ति, केवली कवलाहार और साधुओं-का वस्त्र-पात्र रखना इन तीनों बातोंकी आलोचना की गयी है। श्वेताम्बर अपने साधुओंको स्थविरकल्पी बतलाते हैं। ग्रन्थकारके मतसे वे स्थविर नहीं, बल्कि गृहस्थकल्पी हैं। जिनकल्प और स्थविरकल्पका विवेचन विस्तार-पूर्वक किया है। इस सन्दर्भमें बताया है—

दुद्धरतवस्स भग्गा परिसहविसएहिं पीडिया जे य।
जो गिहकप्पो लोए स थविरकप्पो कओ तेहिं[1]॥

अर्थात् परीषहसे पीडित और दुर्द्धर तपसे भीत जनोंने गृहस्थकल्पको स्थविर कल्प बना दिया है। १३७ वीं गाथासे श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिकी कथा दी गयी है। इस कथामें बताया है कि सौराष्ट्र देशकी बलभी नगरीमें वि० सं० १३६ में श्वेताम्बर संघकी उत्पत्ति हुई। दर्शनसारमें भी श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिका यही समय अंकित किया गया है।

अज्ञानमिथ्यात्वका कथन करते हुए लिखा है कि भगवान पार्श्वनाथके तीर्थकल्पमें मस्करीपूरण नामक ऋषि हुआ। यह भगवान महावीरके समवचरणमें गया, किन्तु उसके जानेपर भगवानकी वाणी नहीं खिरी। वह रुष्ट होकर समवशरणसे चला आया और कहने लगा—मैं ग्यारह अंगोंका धारी हूँ, फिर भी मेरे जाने पर तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनि प्रवाहित नहीं हुई और गौतमके आने पर दिव्यध्वनि होने लगी। गौतमने अभी दीक्षा ली है। वह तो वेदवादी पण्डित है। वह जिनोक्त श्रुतको क्या जाने। अतः उसने अज्ञानसे लोगोंके मध्य मोक्षका उपदेश दिया—

अण्णाणाओ मोक्खं एवं लोयाण पयडमाणो हु।
देवो ण अत्थि कोई सुण्णं झाएह इच्छाए[2]॥

अर्थात् अज्ञानसे ही मोक्ष होता है। इसके लिये ध्यान, संयम, तप, सज्ज्ञान की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार पाँचों मिथ्यात्वोंकी समीक्षा करनेके पश्चात् चार्वाकके द्वारा मान्य दर्शनकी समीक्षा की है। चार्वाक चैतन्यको भूतोंका विकारमात्र मानता है। ग्रन्थकारने इसे कौलिकाचार्यका मत कहा है—

१. भावसंग्रह, गाथा १३३।
२. भावसंग्रह, गाथा १६४।

कउलायरिओ अक्खइ अत्थि ण जीवो हु कस्स तं पावं।
पुण्णं वा कस्स भवे को गच्छइ णरय-सग्गं[1] वा॥

यह कौलिकमत शैवतन्त्रका एकमत है। एक प्रकारसे यह वामाङ्गो है। है। माँस, मदिराके सेवनके साथ स्त्रीरमण एवं स्वयं शिव-पार्वतीका प्रतिरूपक अपनेको मानना आदि इसके सिद्धान्त हैं। यहाँ हमें ग्रन्थकारका भ्रम प्रतीत होता है। कौलिक और चार्वाक ये दोनों मत स्वतन्त्र हैं। दोनोंमें समता इतनी है कि पुण्य-पाप, परलोक आदिकी स्थिति दोनोंमें तुल्य है। कौलिक मतके ग्रन्थोंमें वामाचारको भी पुण्यरूप कहा गया है तथा वाममार्गीधर्माचरणसे स्वर्गादिक सुखोंकी उपलब्धि भी मानी गयी है। शिव और पार्वती रूप कृत्य-अकृत्योंका संकल्प कर लेने पर कहीं कोई बाधा नहीं आती और स्वार्गादिक प्राप्त हो जाते हैं।

चार्वाकमतके पश्चात् सांख्यमतकी समीक्षा की गयी है। बताया है कि जीव सदा अकर्त्ता है और पुण्य-पापका भोक्ता भी नहीं है। ऐसा लोकमें प्रकट करके बहन और पुत्रीको भी अंगीकार किया गया है। यथा—

जीवो सया अकत्ता भुत्ता ण हु होइ पुण्ण-पावस्स।
इय पयडिऊण लोए गहिया वहिणी सधूया वि[2]॥
× × ×
धूयमायरिवहिणि अण्णावि पुत्तत्थिणि।
आयति य पासवयणुपयडे वि विप्पें।
जह रमियकामाउरेण वेयगव्वे उप्पण्णदप्पें॥
बंभणि-छिपिणि-डोंवि-नडिय-वरुडि-रज्जइ-चम्मारि।
कवले समइ समागमइ तह भुत्ति य परणारि[3]॥

अर्थात् पुत्री, माता, वहन या अन्य कोई भी नारी पुत्रोत्पत्तिकी भावनासे कामवचन प्रकट करे, तो कामातुर हो वेदज्ञानी ब्राह्मणको उसका उपभोग करना चाहिये। लेखकने बतलाया है कि कपिलदर्शनमें प्रतिपादित ब्राह्मणी, डोम्बी, नटी, धोबिन, चमारिन आदि परनारियोंके साथ भोग करना उचित है।

स्मृतिकारोंके इस कथनका आशय लेकर कि जो पुरुष स्वयं आगता नारीका भोग नहीं करता उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है; को लक्ष्यमें रखकर

---

१. भावसंग्रह, गाथा १७२।
२. वही, गाथा १७९।
३. भावसंग्रह, गाथा १८५।

ही उक्त कथन किया गया है। सांख्यदर्शनके साथ इसका कुछ भी मेल नहीं है। हाँ, कौलिक सम्प्रदायमें उक्त सिद्धान्त अवश्य स्वीकृत है। राजशेखरने अपनी 'कर्पूरमंजरी-सट्टक'में रण्डा, चण्डा आदिके भोगका औचित्य बतलाया है। अतः कपिलदर्शनका यह सिद्धान्त न होकर, स्मृति या कौलिक सम्प्रदायका सिद्धान्त है। देवसेनने इसी सिद्धान्तकी समीक्षा की है।

तृतीय मिश्रगुणस्थानका कथन करते हुए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रकी समालोचना की गयी है। ब्रह्माकी आलोचना करते हुए तिलोत्तमा आदिके उपाख्यानोंको उपस्थित किया है। विष्णुकी आलोचनामें उनके विभिन्न अवतारोंकी समीक्षा की गयी है। रुद्रकी आलोचनामें उनके स्वरूप और ब्रह्महत्या आदि कार्योंकी समीक्षा आयी है।

चतुर्थ अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानका स्वरूप बतलाते हुए सात तत्त्वोंका कथन किया गया है। पाँचवें गुणस्थानका स्वरूप २५० गाथाओंके द्वारा बहुत विस्तारसे बतलाया है। इसमें अणुव्रत, गुणव्रत, और शिक्षाव्रतोंके साथ अष्टमूलगुणोंका भी उल्लेख आया है। चार प्रकारके ध्यान, देवपूजा, स्वाध्याय, संयम, तप, दान, आदि श्रावकाचारका भी निरूपण आया है। अभिषेकके समय यम, वरुण, कुवेर, ईशान आदिके आह्वानपूर्वक पञ्चामृत-अभिषेक करनेका विधान किया है।

षष्ठ व सप्तम गुणस्थानके स्वरूपकथनमें पिण्डस्थ, पदस्थ रूपस्थ, और रूपातीत ध्यानोंका कथन आया है। शेष गुणस्थानोंका सामान्यतया स्वरूपविवेचन हुआ है। गुणस्थानोंके स्वरूपकथनमें देवसेनने पंचसंग्रहप्राकृतसे अनेक गाथाएँ ज्यों-की-त्यों रूपमें ग्रहण की हैं। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने गोम्मटसारमें पंचसंग्रहकी अनेक गाथाएँ ग्रहण की हैं। यहाँ तुलनाके लिए कतिपय सामान गाथाएँ दी जाती हैं—

मिच्छो सासण मिस्सो अविरयसम्मो य देसविरदो य।
विरओ पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य॥
उवसंत खीणमोहे सजोइकेवलिजिणो अजोगी य।
ए चउदस गुणठाणा कमेण सिद्धा य णायव्वा॥
णो इंदिएसु विरओ णो जीवे थावरे तसे वा पि।
जो सद्दहइ जिणुत्तं अविरइसम्मो त्ति णायव्वो॥[1]

इस प्रकार अनेक गाथाएँ पंचसंग्रहमें प्राप्त होती हैं। इतना ही नहीं, भाव-

१. पंचसंग्रह, गाथा १०, ११, २६१।

संग्रहकी कई गाथाएँ कुछ रूपान्तरके साथ राजशेखरकी कर्पूरमंजरीमें भी मिलती हैं। कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं, जिनमें पंचसंग्रह और धवलाटीकाका मिश्रित रूप है।

पंचसंग्रह

जे तसवहाउ विरदो णो विरओ अक्खथावरवहाओ।
पडिसमयं सो जोवो बिरयाविरओ जिणेक्कमई॥—गाथा १३

धवला और जीवकांड

जो तसबहादु बिरदो अविरदओ तह य थावरवहाओ।
एक्कसमयम्मि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई॥—गाथा ३१

भावसंग्रह

जो तसवहाउ विरओ णो विरओ तह य थावरवहाओ।
एक्कसमयम्मि जीवो विरयाविरउ त्ति जिणु कहई॥—गाथा ३५१

भावसंग्रहपर कुन्दकुन्दाचार्यके पञ्चास्तिकाय ग्रन्थका भी प्रभाव है—

पञ्चास्तिकाय

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओयविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥[1]
पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो॥[2]

भावसंग्रह

जीवो अणाइ णिच्चो उवओगसंजुदो देहमित्तो य।
कत्ता भोक्ता चेत्ता ण हु मुत्तो सहावउड्ढगई॥[3]
पाणचउक्कपउत्तो जीवस्सइ जो हु जीविओ पुव्वं।
जीवेइ वट्टमाणं जीवत्तणगुणसमावण्णो॥[4]

स्पष्ट है कि भावसंग्रहपर पञ्चास्तिकायका भी प्रभाव है।

१. पंचास्तिकाय, गाथा २७।
२. वही, गाथा ३०।
३. भावसंग्रह, गाथा-२८६।
४. भावसंग्रह, गाथा-२८८।

३. आराधनासार

एकसौ पन्द्रह प्राकृत-गाथाओंमें यह ग्रन्थ रचा गया है। आराधनाओंका वर्णन करते हुए बताया है—

आराहणाइसारो तव-दंसण-णाण-चरणसमवाओ।
सो दुब्भेओ उत्तो ववहारो चेव परमट्ठो[1]॥

अर्थात् तपाराधना, दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना और चारित्राराधना इन चारों आराधनाओंका सार इसमें वर्णित रहेगा। यह आराधनासार दो प्रकारका है—(१) व्यवहार और (२) परमार्थ। व्यवहार-आराधनाका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि सूत्र और अर्थ द्वारा कथित वस्तुको ग्रहण करना ज्ञानाराधना है। अर्थात् तीर्थङ्करकी वाणी द्वारा प्रतिपादित ११ अंग और १४ पूर्वोंको अवगत करना ज्ञानाराधना है। भावशुद्धिपूर्वक १३ प्रकारके चारित्र-का आचरण करना चारित्राराधना है। १३ प्रकारके चारित्रमें ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्तिको स्थान दिया गया है। १२ प्रकारके तपोंका आचरण करनेके लिए प्रवृत्त होना तपाराधना है। इस प्रकार व्यवहार-आराधनाका स्वरूप कथन कर निश्चय-आराधनाका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

सुद्धणये चउखंधं उत्तं आराहणाइ एरिसियं।
सव्ववियप्पविमुक्को सुद्धो अप्पा णिरालंबो[2]॥

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप इन चारों भेद-विकल्पोंका त्याग कर पञ्चेन्द्रियके विषयसुखसे रहित निर्विकल्प आत्मतत्त्वका आराधन करना निश्चय-आराधना है। आगे इसीके स्वरूपका विशेषरूपसे वर्णन करते हुए बताया है—

सद्दहइ सहावं जाणइ अप्पाणमप्पणो सुद्धं।
तं चि य अणुचरइ पुणो इंदियविसए णिरोहित्ता[3]॥

अर्थात् स्वस्वरूपका श्रद्धान करना, शुद्ध आत्माको जानना और निज आत्मरूप आचरण करना एवं निज स्वरूप तपश्चरण करना निश्चयाराधना है। निश्चय-आराधनामें इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ रुक जाती हैं और आत्मस्वरूप श्रद्धान, ज्ञान, आचरण और तपाराधना होने लगती है। इसलिए दर्शन, ज्ञान,

---

१. आधनासार, गाथा २।

२. आराधनासार, गाथा ८।

३. वही, गाथा ९।

चारित्र, तपरूप आत्मा ही है, जो राग-द्वेष छोड़कर इस शुद्ध आत्माका आराधन करता है उसीको निश्चय-आराधना होती है।

जीव चतुर्गतिमें भ्रमण करता है, भ्रमण करेगा और भ्रमण किया है। इसका कारण ज्ञानमयी आत्माराधनको प्राप्त न करना है। मरणकालमें वही व्यक्ति आत्माराधन कर सकता है जो राग-द्वेष रहित है। बताया है—

अप्पसहावे णिरओ वज्जियपरदव्वसंगसुक्खरसो।
णिग्गहियरायदोसो हवई आराहओ मरणे ॥
जो रयणत्तयमइओ मुत्तूणं अप्पणो विसुद्धप्पा।
चिंतेइ य परदव्वं विराहओ णिच्छयं भणियो[1] ॥

राग-द्वेषोंको दूर कर और परद्रव्योंके संयोगजन्य सुखका त्याग कर जो आत्मस्वभावमें निरत है वही मरण-कालमें आराधक होता है। जो रत्नत्रय-मयी विशुद्ध आत्माको छोड़कर परद्रव्योंका चिन्तन करता है वह आराधनाका विराधक माना जाता है। जो न सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चरित्ररूप आत्माको समझता है और न आत्मासे विलक्षण शरीरादि परद्रव्योंको ही जानता है, उसे न ज्ञानकी प्राप्ति रहती है और न आराधनाकी ही।

जब तक वृद्धावस्था नहीं आती है, इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं होती है, बुद्धि नष्ट नहीं होती है, आयुरूपी जल समाप्त नहीं होता है तब तक आत्म-कल्याणके लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। जो व्यक्ति यह सोचता रहता है कि अभी तो युवावस्था है, विषयसुख-सेवनके दिन हैं वह वृद्धावस्था आने पर कुछ नहीं कर सकता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप आराधनाकी प्राप्ति शारीरिक शक्ति और इन्द्रियोंकी शक्ति रहने पर ही सम्भव है। बताया है—

जरवग्घिणी ण चंपइ जाम ण वियलाइ हुंति अक्खाइं।
बुद्धी जाम ण णासइ आउजलं जाम ण परिगलई ॥
जा उज्जमो ण वियलइ संजम-तव-णाण-झाणजोएसु।
तावरिहो सो पुरिसो उत्तमठाणस्स संभवई[2] ॥

बाह्य और अन्तरङ्ग परिग्रहका त्यागकर अन्तरङ्ग कषाय और विकारोंको कृश करनेका प्रयास करना ही वास्तविक आराधना है। कषाएँ अत्यधिक शक्तिशाली हैं। इन्हींके कारण चतुर्गति परिभ्रमण होता है। जब तक कषाय

१. आराधनासार, माणिचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, गाथा १९,२०।
२. वही, गाथा २५, २८।

और भोगोंका त्याग नहीं किया जायगा, तब तक संयमकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है और संयमरहित व्यक्तिके गुण विशुद्ध नहीं हो सकते। बताया है—

जाम ण हणइ कसाए सकसाई णेव संजमी होई।
संजमरहियस्स गुणा ण हुंति सव्वे विसुद्धियरा[1]॥

जो परीषहोंको सहन करता हुआ शान्तिभावपूर्वक व्रत, समिति और गुप्तियोंका पालन करता है वह अनादिकालीन काम-क्रोधादिको नष्ट कर देता है। इस प्रसङ्गमें उपसर्ग और परीषहोंको सहन करनेवाले शिवभूति, सुकुमाल और सुकोशलके उदाहरण दिये गये हैं और मनुष्यकृत उपसर्ग सहन करनेमें गुरुदत्त, पाण्डव और गजकुमारके आख्यान दृष्टान्तके रूपमें प्रस्तुत किये हैं। देवकृत उपसर्गके सहन करनेमें प्रसिद्ध हुए श्रीदत्त, सुवर्णभद्र आदिके उदाहरण दिये गये हैं। इस प्रकार उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों द्वारा सैद्धान्तिक विषयको भी सरस बनानेकी चेष्टा की है।

मन, वचन और कायको वश करनेकी आवश्यकता पर जोर देते हुए लिखा है—

सिक्खह मणवसियरणं सवसीहूएण जेण मणुआणं।
णासंति राय-दोसे तेसिं णासे समो परमो॥[2]

मनको वशमें करनेकी शिक्षा देनी चाहिए। जिसका मन वशीभूत है वही राग-द्वेषको नाश कर सकता है और राग-द्वेषके नाश करनेसे ही परमपदकी प्राप्ति होती है।

उपशमभवान जीव ही मनका निग्रह कर सकता है और मनका निग्रह करनेसे ही आत्मा परमात्मापदको प्राप्त कर सकती है।

आचार्यने ध्यान, ध्याता और ध्येयका लक्षण बतलाया है और ध्यानके द्वारा ही सकल कर्मोंका नाश होता है। अतः राग-द्वेष, मोहका विनाश करने पर ही ध्यानकी प्राप्ति सम्भव है। जो यह अनुभव करता है कि न मैं देह हूँ, न मन हूँ और न मुझमें दुःख ही है वह क्षपक समभावनासे युक्त होकर दुःखका विनाश कर लेता है। यथा—

णाहं देहो ण मणो ण तेण मे अत्थि इत्थ दुक्खाइं।
समभावणाइ जुत्तो वि सहसु दुक्खं अहो खवय॥[3]

१. आराधनासार गाथा ३७।
२. वही, गाथा ६४।
३. वही, गाथा १०१।

इस प्रकार समस्त परिग्रहका त्यागकर आत्मसाधनामें संलग्न रहनेका निर्देश किया है।

४. तत्त्वसार

इस ग्रन्थमें ७४ गाथाएँ हैं। तत्त्वके मूलत: दो भेद हैं—(१) स्वगत तत्त्व और (२) परगत तत्त्व। स्वगत तत्त्व निजात्मा है और परगत तत्त्वमें परमेष्ठी हैं। स्वगत तत्त्वके भी दो भेद हैं—(१) सविकल्पक और (२) निर्विकल्पक। आस्रवसहितको सविकल्पक कहते हैं और आस्रवरहितको निर्विकल्पक। इन्द्रियविषय-सुखके समाप्त होनेपर मनकी चंचलता जब अरुवद्ध हो जाती है तब आत्मा अपने स्वरूपमें निर्विकल्पक हो जाती है। यथा—

जं पुणु सगयं तच्चं सवियप्पं हवइ तह य अवियप्पं।
सवियप्पं सासवयं णिरासवं विगयसंकप्पं॥
इंदियविसयविरामे मणस्स णिल्लूरणं हवे जइया।
तइया तं अविअप्प ससरूवे अप्पणो तं तु॥[१]

जो अविकल्पक तत्त्व है वही मोक्षका कारण है। उसीको शुद्ध समझकर ध्यान करना चाहिए।

इस प्रकरणमें श्रमण और योगीकी व्युत्पत्ति बतलाते हुए लिखा है—"मन-वचन-कायसे जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहसे रहित है, वह निर्ग्रन्थ कहलाता है और जिसने जिनलिङ्गका आश्रय ग्रहण किया है वह श्रमण कहलाता है—

बहिरब्भंतरगंथा मुक्का जेणेह तिविहजोएण।
सो णिग्गंथो भणिओ जिणलिंगसमासिओ सवणो॥[२]

लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख, जीवन-मरण, मित्र-शत्रुको जो समानरूपसे ध्यान करता है वह योगी है। यथा—

लाहालाहे सरिसो सुहदुक्खे तह य जीविए मरणे।
बंधव-अरयसमाणो झाणसमत्थो हु सो जोई॥[३]

जो व्यक्ति आत्माकी सिद्धि करना चाहता है वह ध्यान द्वारा कर्मोंका क्षय कर मोक्षको प्राप्त करे। यह आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्रस्वरूप है, असंख्यात प्रदेशी है और प्रदेशोंके संहार तथा विसर्पणके कारण यह शरीरप्रमाण है जो

१. तत्त्वसार, गाथा–५,६।
२. वही, गाथा–१०।
३. वही, गाथा–११।

राग, द्वेष, मोहका त्याग कर जन्म-जरा-मरणसे रहित इस निरञ्जन आत्माका ध्यान करता है वह सिद्धिको प्राप्त कर लेता है। आत्मामें न रूप है, न रस है, न गन्ध है, न शब्द है। यह तो शुद्ध चेतनस्वरूप निरञ्जन है। यथा—

फासरसरूवगंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो।
सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ॥[1]

व्यवहारनयसे इस आत्मामें कर्म-नोकर्म माने जाते हैं। आत्मा और कर्मका सम्बन्ध दूध-पानीके समान है। जिस प्रकार दूध और पानी अपने-अपने स्वभावसे विकृत होकर एकमें एक मिल जाते हैं उसी प्रकार आत्मा और पौद्गलिक कर्म भी अपने-अपने स्वभावको छोड़ एकमें एक मिल गये हैं। अतएव मैं शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ, ज्ञानरूप हूँ, कर्म-नोकर्मसे रहित हूँ, एक हूँ, निरालम्ब हूँ, देहप्रमाण हूँ, नित्य हूँ, असंख्यातदेशिक हूँ, अमूर्त हूँ। इस प्रकार चिन्तन कर आत्म-स्वरूपको प्राप्त करना चाहिए। जब तक पर द्रव्योंसे चित्त व्यावृत्त नहीं होता तब तक भव्यजीव मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकता है। चाहे कितना भी उग्र तप क्यों न करता रहे। आत्मसिद्धिका मूलकारण राग-द्वेष और विषयसुखसे मुक्ति प्राप्त कर लेना है।

यह ग्रन्थ आध्यात्मिक है तथा इसमें आत्मानुभूति तथा आत्मसिद्धिका उपाय वर्णित है।

५. लघुनयचक्र

इस ग्रन्थमें ८७ गाथाएँ हैं। नयका स्वरूप, उपयोगिता एवं उसके भेद-प्रभेदोंका वर्णन किया है। नयका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

जं णाणीण वियप्पं सुयभेयं वत्थूयंससंगहणं।
तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेहि णाणेहि॥[2]

जो वस्तुके एक अंशका ग्रहण करता है श्रुतज्ञानका वह भेद नय कहलाता है। नयके बिना वस्तुस्वरूपकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है और नय द्वारा ही स्याद्वादका ज्ञान होता है। अतः नयका ज्ञान अनेकान्तात्मक वस्तुकी प्रति-पत्तिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। नयसे जिन वचनोंका बोध होता है और नयसे ही वस्तुकी प्रतिपत्ति होती है। मूल नय दो है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। नयके सामान्यतया नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत ये सात भेद हैं। अन्य भेद निम्न प्रकार हैं—

१. त० सा०, गाथा २१।
२. लघुनयचक्र, गाथा २।

दव्वत्थं दहभेयं छब्भेयं पज्जयत्थियं णेयं।
तिविहं च णेगमं तह दुविहं पुण संगहं तत्थ ॥
ववहारं रिउसुत्तं दुवियप्पं सेसमाहु एक्केक्का ।[1]
उत्ता इह णयभेया उपणयभेया वि पभणामो ॥

द्रव्यार्थिकके १० भेद, पर्यायार्थिकके ६ भेद, नैगम नयके तीन भेद, संग्रहके दो, व्यवहार और ऋतुसूत्रके दो-दो भेद और शेष नयोंका एक-एक भेद है। उपनयके तीन भेद हैं—(१) सद्भूत, (२) असद्भूत और (३) उपचरित नय। सद्भूतके दो भेद हैं और असद्भूतके तीन तथा उपचरितके तीन। इस प्रकार नयके भेद-प्रभेदोंका कथन कर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंकी अपेक्षासे वस्तु-विवेचन किया गया है।

६. आलाप-पद्धति

यह संस्कृत-गद्यमें रचित छोटी-सी रचना है। अन्य ग्रन्थोंके समान इसका प्रकाशन भी माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमालासे हुआ है। इस ग्रन्थमें गुण, पर्याय, स्वभाव, प्रमाण, नय, गुण-व्यत्पत्ति, स्वभाव-व्युत्पत्ति, प्रमाणका कथन, निक्षेपकी व्युत्पत्ति, नयोंके भेदोंकी व्युत्पत्ति एवं अध्यात्मनयोंका कथन किया गया है। आरम्भमें वचनपद्धतिको ही आलापपद्धति कहा है। यह ग्रन्थ निम्नलिखित अधिकारोंमें विभक्त है—

१. द्रव्याधिकार, २. गुणाधिकार, ३. पर्यायाधिकार, ४. स्वभावाधिकार, ५. प्रमाणाधिकार, ६. नय-अधिकार, ७. गुण व्युत्पत्ति-अधिकार, ८. पर्याय-व्युत्पत्ति-अधिकार, ९. स्वभावव्युत्पत्ति-अधिकार, १०. एकान्तपक्षमें दोष, ११. नययोजना, १२. प्रमाणकथन, १३. नयलक्षण और भेद, १४. निक्षेप व्युत्पत्ति, १५. नयोंके भेदोंकी व्युत्पत्ति, १६. अध्यात्मनय।

नामानुसार विषयोंका निरूपण इन अधिकारोंमें किया गया है। जैन सिद्धान्तको अवगत करनेके लिए यह छोटा-सा ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। द्रव्यके सामान्य और विशेष गुणोंका विवेचन करते हुए लिखा है—

"अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, चेतनत्वमचेतनत्वं, मूर्त्तत्वममूर्त्तत्वं द्रव्याणां दश सामान्यगुणाः। प्रत्येकमष्टावष्टौ सर्वेषाम्।

[एकैकद्रव्ये अष्टौ अष्टौ गुणा भवंति। जीवद्रव्ये अचेतनत्वं मूर्तत्वं च नास्ति, पुद्गलद्रव्ये चेतनत्वममूर्तत्वं च नास्ति, धर्माधर्माकाशकालद्रव्येषु

१. आलापपद्धति, गाथा १३–१४।

चेतनत्वं मूर्तत्वं च नास्ति। एवं द्विद्विगुणवर्जिते अष्टौ अष्टौ गुणाः प्रत्येकद्रव्ये भवन्ति।]

ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि स्पर्शरसगंधवर्णाः गतिहेतुत्वं स्थितिहेतुत्वमवगाहनहेतुत्वं वर्त्तनाहेतुत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं द्रव्याणां षोडश विशेषगुणाः।"[1]

"अर्थात् अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व ये द्रव्योंके सामान्यगुण हैं। सदैव द्रव्योंके साथ रहते हैं, द्रव्योंसे पृथक् नहीं होते। प्रत्येक द्रव्यमें दश सामान्यगुणोंमेंसे आठ-आठ गुण रहते हैं, दो-दो गुण नहीं होते। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व ये द्रव्योंके सोलह विशेषगुण हैं।

इस प्रकार द्रव्य, गुण, स्वभावके अतिरिक्त नय और प्रमाणका भी विवेचन किया है।

आचार्य अमितगति प्रथम

जैन साहित्यमें अमितगति नामके दो आचार्योंके उल्लेख मिलते हैं। एक माधवसेनके शिष्य और नेमिषेणके प्रशिष्य हैं। और जिन्होंने सुभाषितरत्नसन्दोह, धर्मपरीक्षा, उपासकाचार, संस्कृतपञ्चसंग्रह आदि ग्रन्थ रचे हैं। दूसरे अमितगति वे हैं, जो नेमिषेणके गुरु तथा देवसेनसूरिके शिष्य हैं और जिनका गुणकीर्तन सुभाषितरत्नसन्दोहकी अन्तिम प्रशस्तिमें उसके रचयिता अमितगतिने स्वयं किया है। इस तरह सुभाषितरत्नसन्दोहके कर्ता अमितगति द्वारा उल्लिखित एवं नेमिषेणके गुरु तथा देवसेनके शिष्य अमितगति प्रथम-अमितगति हैं और इनका उल्लेख करनेवाले तथा दो पीढ़ी पीछे होनेवाले माधवसेनके शिष्य और नेमिषेणके प्रशिष्य सुभाषितरत्नसन्दोहकार अमितगति द्वितीय अमितगति हैं। इन अमितगतिने प्रथम अमितगतिको 'त्यक्तनिःशेषशङ्कः' विशेषण देकर अपनेको उनसे पृथक् सिद्ध किया है। प्रथम अमितगतिने[2] स्वयं उक्त विशेषण अपने साथ लगाया है। आचार्य जुगलकिशोर

---

१. आलापपद्धति, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, पृ० १३३-१३४।

२. 'निःसङ्गात्मामितगतिरिदं प्राभृतं योगसारम्'—योगसारप्राभृत, सम्पादक पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, सन् १९६८ अधिकार ९, पद्य ८३।

मुख्तारका अभिमत है—"यह कृति (योगसार प्राभृत) निश्चितरूपसे अमितगति प्रथमकी कृति है, जिसका प्रमाण अमितगतिके साथ 'निःसंङ्गात्मा विशेषणका प्रयोग है, जिसे ग्रन्थकारने स्वयं अपने लिये प्रयुक्त किया है।........। यह विशेषण अमितगति द्वितीयके लिये कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है; बल्कि स्वयं अमितगति द्वितीयने इस विशेषणको 'त्यक्त-निःशेषसंगः' रूपमें अमितगति प्रथमके लिये प्रयुक्त किया है। जैसा कि सुभाषितरत्नसन्दोहकी प्रशस्तिके निम्नपद्यसे जाना जाता है और जिससे उक्त निश्चय एवं निर्णयकी भरपूर पुष्टि होती है—

> आशीर्विध्वस्त-कन्तोर्विपुलशमभृतः श्रीमतः कान्तकीर्तेः
> सूरेर्यातस्य पारं श्रुतसलिलनिधेर्देवसेनस्य शिष्यः।
> विज्ञाताशेषशास्त्रो व्रतसमितिभृतामग्रणीरस्तकोपः
> श्रीमान्मान्यो मुनीनाममितगतियतिस्त्यक्तनिःशेषसंगः॥

इस पद्यमें अमितगति प्रथमके गुरु देवसेनका नामोल्लेख करते हुए उन्हें विध्वस्तकामदेव, विपुलशमभृत, कान्तकीर्ति और श्रुतसमुद्रका परगामी आचार्य लिखा है तथा उनके शिष्य अमितगति योगीको अशेषशास्त्रोंका ज्ञाता, महाव्रत-समितियोंके धारकोमें अग्रणी, क्रोधरहित, मुनिमान्य और समस्त वाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्यागी सूचित किया है। पिछला विशेषण सर्वोपरि मुख्य जान पड़ता है। इसीसे अमितगतिने उसे निःसंङ्गात्माके रूपमें अपने लिये प्रयुक्त किया है।"[1]

इस प्रकार द्वितीय अमितगतिसे अमितगति प्रथमका 'निःसङ्गात्मा' विशेषण द्वारा पार्थक्य सिद्ध है। इसके अतिरिक्त अमितगति द्वितीयने सुभाषितरत्नसन्दोह, धर्मपरीक्षा आदि ग्रन्थोंमें अमितगति प्रथमके महान् गुणोंकी स्तुति की है। अतः अमितगति प्रथम उनसे पूर्ववर्ती हैं।

स्थितिकाल

अमितगति द्वितीयने सुभाषितरत्नसन्दोहको वि० सं० १०५० में पौष शुक्ला पञ्चमीके दिन समाप्त किया है। इसके पश्चात् धर्मपरीक्षाको वि० सं० १०७० में और पञ्चसंग्रहको वि० सं० १०७३ में पूरा किया है। अतएव अमितगति द्वितीयका समय वि० सं० १०५० है। इनके द्वारा उल्लिखित अमितगति प्रथम इनसे दो पीढी पूर्व होनेसे उनका समय वि० सं० १००० निश्चित होता है।

---

१. योगसारप्राभृत, प्रस्तावना, पृ० २०।

रचना

इनका एकमात्र योगसारप्राभृत नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो प्रकाशित हो चुका है। यह ग्रन्थ ९ अधिकारोंमें विभक्त है—१. जीवाधिकार, २. अजीवाधिकार, ३. आस्रवाधिकार, ४. बन्धाधिकार, ५. संवराधिकार, ६. निर्जराधिकार, ७. मोक्षाधिकार और ८. चारित्राधिकार और नवम अधिकारको नवाधिकार या नवमाधिकारके नामसे उल्लिखित किया है। इस अधिकारकी संज्ञा चूलिकाधिकारके रूपमें की गयी है।

प्रथम अधिकारमें मङ्गलाचरणके अनन्तर स्वभावकी उपलब्धिके हेतु जीव और अजीवके लक्षणोंके जाननेकी प्रेरणा की है, क्योंकि दो प्रकारके पदार्थोंसे भिन्न संसारमें तीसरे प्रकारका कोई पदार्थ नहीं है। सभीका अन्तर्भाव इन दो पदार्थोंमें हो जाता है। जीव-अजीवको वास्तविक रूपमें जान लेनेसे जीवकी अजीवमें अनुरक्ति तथा आसक्ति नहीं रहती है और आत्मलीनतासे राग-द्वेषका क्षय हो जाता है। अन्तर जीवके उपयोग लक्षण और उसके भेद-प्रभेदोंका निर्देश करके केवलज्ञान और केवलदर्शन नामके दोनों उपयोगोंका कर्मोंके क्षयसे और शेष उपयोगोंका कर्मोंके क्षयोपशमसे उदित होना बताया है। आत्माको ज्ञानप्रमाण, ज्ञानको ज्ञेयप्रमाण, सर्वगत और ज्ञेयको लोकालोक-प्रमाण बतलाकर ज्ञानको आत्मप्रदेशोंके तुल्य सिद्ध किया है। ज्ञान ज्ञेयको जानता हुआ भी ज्ञेयरूप परिणत नहीं होता है। आचार्यने इस अधिकारमें केवलज्ञानको त्रिकालगोचर, सभी सत्-असत् विषयोंका ज्ञाता, युगपदभासक सिद्ध किया है।

आत्मा सम्यक्चारित्रको कब प्राप्त करती है, इस कथनके पश्चात् निश्चय और व्यवहारचारित्रका स्वरूप बतलाया है। इस प्रकार प्रथम अधिकारमें आत्माके शुद्धस्वरूपका निरूपण किया गया है।

दूसरे अधिकारमें धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पाँचों अजीव-द्रव्योंका कथन किया है। ये पाँचों अजीवद्रव्य परस्पर मिलते-जुलते एकदूसरेको अपनेमें अवकाश देते हुए कभी भी अपने स्वभावको नही छोड़ते। इनमें पुद्गलको छोड़कर शेष सब अमूर्तिक और निष्क्रिय हैं। जीवसहित ये पाँचों द्रव्य कहलाते हैं, क्योंकि गुणपर्ययवद्द्रव्यं इस लक्षणसे युक्त हैं। इसके पश्चात् द्रव्यको निर्युक्तिपरक लिखकर सभी द्रव्योंको सत्तात्मक कहा है।

पश्चात् पुद्गलके स्कन्ध, देश, प्रदेश और अणुमे चार भेद बतलाये गये हैं। सभी द्रव्योंके मूर्त्त और अमूर्तके भेदसे दो भेद बतलाकर उनका स्वरूपांकन किया है। कर्मरूप परिणत होनेवाली कर्मवर्गणाओंका भी प्रतिपादन किया

है। मिथ्यात्व आदि १३ गुणस्थान भी पौद्गलिक तथा अचेतन हैं। देह-चेतनको एक मानना मोहका परिणाम है। जो इन्द्रियगोचर है, वह सब आत्मबाह्य है। जीव कभी कर्मरूप और कर्म कभी जीवरूप नहीं होता है।

तृतीय अधिकारमें मन-वचन-कायकी शुभाशुभ प्रवृत्तियोंका कर्मास्रवरूप वर्णन आया है। निश्चय और व्यवहारनयकी दृष्टिसे आत्मा और कर्मके कर्तृत्व और भोक्तृत्वपर प्रकाश डाला गया है। एकको उपादानरूपसे दूसरेका कर्त्ता मानने तथा एकके कर्मफलका दूसरेको भोक्ता माननेपर, जो आपत्ति प्रस्तुत होती है, उसे दर्शाया है। कषायस्रोतसे आया हुआ कर्म ही जीवमें स्थित होता है। तदनन्तर ग्राही जीव कर्मसंतति हेतु इन्द्रियजन्य सुख, कर्मोंके आस्रवबन्धके कारण आदिका कथन किया है।

चतुर्थ अधिकारमें बन्धका लक्षण लिखकर उसे जीवकी पराधीनताका कारण बताया है। बन्धके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चारों भेदोंका निर्देश करते हुए कौन जीव कर्म बाँधता है कौन नहीं बाँधता, इसका सोदाहरण स्पष्टीकरण किया है। इसी प्रकार रागी, वीतरागी, ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मबन्धके होने न होनेका भी निर्देश किया है। ज्ञानी जानता है, अज्ञानी वेदता है। इसलिए एक अबन्धक और दूसरा बन्धक होता है। पर द्रव्यगत दोषसे कोई वीतरागी बन्धको प्राप्त नहीं करता।

पञ्चम अधिकारमें संवरका लक्षण बतलाकर द्रव्य-भावके भेदसे उसके दो भेद बतलाये हैं। कषायोंके निरोधको भावसंवर और कषायोंका निरोध होनेपर द्रव्यकर्मोंके आस्रवविच्छेदको द्रव्यसंवर बतलाया है। कषाय और द्रव्यकर्म दोनोंके अभावसे पूर्ण शुद्धि प्राप्त होती है। इस प्रकार इस अधिकारमें संवरका विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

षष्ठ अधिकारमें निर्जरातत्त्वका कथन आया है। निर्जराकी निर्युक्तिके पश्चात् उसके पाकजा और अपाकजा दो भेद बतलाये हैं। संवरके बिना निर्जरा अकार्यकारी हैं। ध्यान और तप द्वारा योगी कर्मोंकी निर्जरा करता है और कर्ममलको धो डालता है।

सप्तम अधिकारमें मोक्षतत्त्वका निरूपण किया गया है। आत्मा शुद्धात्माके ध्यान बिना मोहादिदोषोंका नाश नहीं कर पाता। ध्यानवज्रसे कर्मग्रन्थका छेदन सम्भव है। इसी अधिकारमें जीवके शुद्ध और अशुद्ध इन दो भेदोंका कथन भी आया है। कर्मसे युक्त संसारी जीव अशुद्ध है और कर्मरहित मुक्त जीव शुद्ध है। शुद्ध जीवको 'अपुनर्भव' कहनेके हेतुका निर्देश किया है। साथ ही मुक्तिमें आत्मा किस रूपमें निवास करती है, यह भी बतलाया है। ध्यान-

विधिसे कर्मोंका उन्मूलन होता है, अतएव ध्यानकी महिमाका वर्णन किया गया है। ध्यानको बाह्यसामग्रीके साथ, ध्यानप्राप्तिके लिए बुद्धिका आगम, अनुमान और ध्यानाभ्यासरससे संशोधन आवश्यक बतलाया है। इस प्रकार इस अधिकारमें ध्यानकी विभिन्न स्थितियोंका निरूपण आया है।

अष्टम अधिकारमें चारित्रका निरूपण है। इसमें श्रमण बननेकी योग्यता और आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए श्रमणोंके २८ मूलगुणोंके नाम दिये गये हैं, जिनका योगी निष्प्रमाद रूपसे पालन करता है। जो इनके पालन करनेमें प्रमाद करता है, उस योगीको छेदोपस्थापक कहा है। श्रमणोंके दो भेद बतलाये हैं, सूरि और निर्यापक। इन दोनोंका विवेचन किया गया है। इस अधिकारमें श्रमणोंकी चर्चाका कथन आया है।

नवम अधिकारमें मुक्तात्माकी सदानन्दरूप स्थितिका उल्लेख करते हुए चेतनस्वभावकी अविनश्वरतापर प्रकाश डाला गया है। योगीके योगका लक्षण बतलाकर योगसे उत्पन्न सुखकी विशिष्टता, सुख-दुःखका संक्षिप्त लक्षण और उस लक्षणकी दृष्टिसे पुण्यसे उत्पन्न होनेवाले भोगोंको भी दुःखरूप निर्दिष्ट किया है। संसारके विषयभोगोंकी निस्सारता तथा भोक्ताकी स्थितिका विवेचन किया है। भोग संसारसे सच्ची विरक्ति कब प्राप्त होती है और निर्वाणतत्त्वमें परमभक्ति किस प्रकार उपलब्ध होती है, इसे भी बतलाया है। इस प्रकार इस ग्रन्थमें आत्मोपलब्धिके साधन, विषयभोगोंकी अस्थिरता और ध्यानकी महत्तापर प्रकाश डाला गया है।

योगसम्बन्धी ग्रन्थोंमें इस योगसारप्राभृतका महत्त्वपूर्ण स्थान है। निःसन्देह योगके अध्ययन, मनन और चिन्तनके लिए यह नितान्त उपादेय है।

अमितगति द्वितीय

आचार्य अमितगति द्वितीय भी प्रथितयश सारस्वताचार्य है। ये माथुर संघके आचार्य थे। दर्शनसारके कर्ता देवसेनने अपने 'दर्शनसार' में माथुर संघको जैनाभासोंमें परिगणित किया है। इसे निःपिच्छिक भी कहा गया है, क्योंकि इस संघके मुनि मयूरपिच्छि नहीं रखते थे। यह संघ काष्ठासंघकी एक शाखा है। इस संघकी उत्पत्ति वीरसेनके शिष्य कुमारसेन द्वारा हुई है।

अमितगति द्वितीयने अपनी धर्मपरीक्षामें, जो प्रशस्ति अंकित की है, उससे इनकी गुरुपरम्परापर प्रकाश पड़ता है—

वीरसेन, इनके शिष्य देवसेन, देवसेनके शिष्य अमितगति प्रथम, इनके

शिष्य नेमिषेण, नेमिषेणके शिष्य माधवसेन और माधवसेनके शिष्य अमितगति हुए। अमितगतिकी शिष्यपरम्पराका परिज्ञान अमरकीर्तिके 'छक्कम्मोवएस' से भी होता है। इस ग्रन्थके अनुसार अमितगति, शान्तिषेण, अमरसेन, श्रीसेन, चन्द्रकीर्ति और चन्द्रकीर्तिके शिष्य अमरकीर्ति हुए हैं। इनकी गुरु-शिष्य-परम्परा निम्न प्रकार ज्ञातव्य है—

(अमितगति द्वितीयकी धर्मपरीक्षानुसार)

वीरसेन
|
देवसेन
|
योगसारप्राभृतकार **अमितगति** (प्रथम)
|
नेमिषेण
|
माधवसेन
|
धर्मपरीक्षादिकार **अमितगति** (द्वितीय)
|
(अमरकीर्तिके 'छक्कम्मोवएस' के अनुसार)
शान्तिषेण
|
अमरसेन
|
श्रीसेन
|
चन्द्रकीर्ति
|
'छक्कम्मोवएस' के कर्ता **अमरकीर्ति**

श्री पण्डित विश्वेश्वरनाथ[1] रेउने अमितगति द्वितीयको वाक्पतिराज मुञ्जकी सभाके एक रत्नके रूपमें स्वीकार किया है।

अमितगति बहुश्रुत थे। उन्होंने विविध विषयोंपर ग्रन्थोंका निर्माण किया है। काव्य, न्याय, व्याकरण, आचारप्रभृति अनेक विषयोंके विद्वान् थे। इन्होंने पञ्चसंग्रहकी रचना मसूतिकापुरमें की थी। यह स्थान धारसे सात कोस दूर मसीदकिलौदा नामक गाँव बताया जाता है।

---

१. भारतके प्राचीन राजवंश, प्रथम भाग, प्रकाशक हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, सन् १९२०, पृ० १०१।

समय-विचार

श्री विश्वेश्वरनाथ रेउने लिखा है—"अमितगतिने विक्रम सं० १०५० (ई० सन् ९९३)में राजा मुंजके राज्यकालमें सुभाषितरत्नसंदोहनामक ग्रन्थ बनाया और वि० सं० १०७० (ई० १०१३)में धर्मपरीक्षानामक ग्रन्थकी रचना की। इनके गुरुका नाम माधवसेन था[1]"।

'सुभाषितरत्नसंदोह'की प्रशस्तिमें रचनाकालका निर्देश निम्न प्रकार है—
"समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके।
समाप्ते पंचम्यामवति धरणीं मुंजनृपतौ सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्[2]॥

अर्थात् वि० सं० १०५० पौष शुक्ला पञ्चमीको मुंज राजाके राज्यकालमें यह निर्दोष शास्त्र पूर्ण हुआ।

धर्मपरीक्षाका रचना-काल वि० सं० १०७० और संस्कृतपञ्चसंग्रहका वि० सं० १०७३ है। पचसंग्रहकी प्रशस्तिमें लिखा है—

त्रिसप्तत्याधिकेऽब्दानां सहस्रे शकविद्विषः।
मसूतिकापुरे जातमिदं शास्त्रं मनोरमम्[3]॥

अर्थात् वि० सं० १०७३ में, जबकि मुंजके राज्यपट्टपर भोज आसीन हुआ, यह ग्रन्थ लिखा गया। अतएव स्पष्ट है कि अमितगतिका समय वि० सं०की ११वीं शताब्दि है।

रचनाएँ

अमितगतिकी अनेक रचनाएँ मानी जाती हैं। पर जिन्हें निर्विवादरूपसे अमितगतिकी रचना माना गया है उनके नाम निम्नलिखित हैं—

१. सुभाषितरत्नसंदोह
२. धर्मपरीक्षा
३. उपासकाचार
४. पञ्चसंग्रह
५. आराधना
६. भावनाद्वात्रिंशतिका

---

१. भारतके प्राचीन राजवंश, प्रथम भाग, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९३०, पृ० १०६।
२. सुभाषितरत्नसंदोह, पद्य ९२२।
३. पञ्चसंग्रह, अन्तिम प्रशस्ति, पृ० २३९, पद्य ६।

७. चन्द्र-प्रज्ञप्ति
८. सार्द्धद्वयद्वीप-प्रज्ञप्ति
९. व्याख्या-प्रज्ञप्ति

१. सुभाषितरत्नसंदोह

सुभाषितरत्नसंदोह काव्यमें सुभाषितरूपी रत्नोंका भण्डार निबद्ध है। इसमें ९२२ पद्य हैं। कविने सांसारिक विषयनिराकरण, माया-अहङ्कार-निराकरण, इन्द्रिय-निग्रहोपदेश, स्त्री-गुण-दोष, कोप-लोभ-निराकरण, सदसद्स्वरूपनिरूपण, ज्ञाननिरूपण, चारित्रनिरूपण, जातिनिरूपण, जरा-निरूपण, मृत्यु-सामान्यनित्यता-दैव-जठर-जीव-सम्बोधन-दुर्जन-सज्जन-दान-मद्यनिषेध-मांसनिषेध-मधुनिषेध - कामनिषेध - वेश्यासंग-द्यूत-आत्मस्वरूप गुरुस्वरूप-धर्म-शोक-शौच-श्रावकधर्म और द्वादशविध तपश्चरण इस प्रकार बत्तीस विषयोंका प्रतिपादन किया है।

कविने अपने सुभाषितोंका उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है--

जनयति मुदमन्तर्भव्यपाथोरुहाणां, हरति तिमिरराशिं या प्रभा मानवीव।
कृतनिखिलपदार्थद्योतना भारतीद्धा वितरतु युतदोषा सोऽर्हति भारती वः[१]॥

अर्थात् जिस प्रकार सूर्यकी किरणें अन्धकारका नाश कर समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करती हैं और कमलोंको विकसित करती हैं, उसी प्रकार ये सुभाषित चेतन-अचेतनविषयक अज्ञानको दूर कर भक्तोंके—सहृदयोंके चित्तको प्रसन्न करते हैं।

कविने उत्प्रेक्षाद्वारा वृद्धावस्थाका कितना सजीव और साङ्गोपाङ्ग चित्रण किया है। काव्य-कलाकी दृष्टिसे यह चित्रण रमणीय है—

प्रबलपवनापातध्वस्तप्रदीपशिखोपमै—
रत्नमलनिचयैः कामोद्भूतैः सुखैर्विषसंनिभैः।
समपरिचितैर्दुःखप्राप्तैः सतामतिनिन्दितै—
रिति कृतमनाः शङ्के वृद्धः प्रकम्पयते करौ[२]॥

अर्थात् वृद्धावस्थामें जो हाथ काँपते हैं, वे यह प्रकट करते हैं कि युवावस्थामें जो कामजन्य सुख भोगे थे वे विषतुल्य हानिकारक सिद्ध हुए। आँधीके वेगसे शान्त की गयी दीपककी लौके समान क्षण-विध्वंसी और अत्यन्त दुःख-

---

१. सुभाषितरत्नसंदोह, पद्य १।
२. वही, पद्य २७०।

कारक इन विषयभोगोंकी सज्जनोंने पहले निन्दा की थी, वह निन्दा, निन्दा नहीं है, यथार्थ है।

उक्त पद्यमें हाथोंके काँपनेपर कवि द्वारा की गयी कल्पना सहृदयोंको अपनी ओर आकृष्ट करती है। उक्ति-वैचित्र्य भी यहाँ निहित है।

मदिराकी उपमा देकर वृद्धावस्थाका जीवन्त चित्रण किया है। यह उपमा श्लेषमूलक है। विशेषण जरा और मदिरा दोनों पक्षोंमें समानरूपसे घटित होते हैं। यथा—

> चलयति तनुं दृष्टेर्भ्रान्तिं करोति शरीरिणां
> रचयति बलादव्यक्तोक्तिं तनोति गतिक्षतिम्।
> जनयति जनेर्नुद्यां निन्दामनर्थपरम्परां
> हरति सुरभिगन्धं देहाज्जरा मदिरा यथा[1]॥

जिस प्रकार मदिरा-पान शरीरको अस्त-व्यस्त कर देता है, आँखें घूमने लगती हैं, मुँहसे अस्फुट वचन निकलते हैं, चलनेमें बाधा होती है, लोगोंमें निन्दाका पात्र बन जाता है एवं शरीरसे दुर्गन्धि निकलती है—उसी प्रकार वृद्धावस्था शरीरको कँपा देती है, नेत्रोंकी ज्योति घट जाती है, दाँत टूट जानेसे मुँहसे अस्फुट ध्वनि निकलती है, चलनेमें कष्ट होता है, शरीरसे दुर्गन्धि निकलती और नाना प्रकारकी अवहेलना होनेसे निन्दा होती है। इस प्रकार कविने मदिरा-पानकी स्थितिसे वृद्धावस्थाकी तुलना की है।

इस सुभाषित काव्यमें नारीकी सर्वत्र प्रशंसा की गयी है। कवि नारीको श्रेष्ठरत्नका रूपक देकर उसके गुणोंका उद्घाटन करता हुआ कहता है—

> यत्कामार्तिं धुनीते सुखमुपचिनुते प्रीतिमाविष्करोति
> सत्पात्राहारदानप्रभववरवृषस्यास्तदोषस्य हेतुः।
> वंशाभ्युद्धारकर्तुर्भवति तनुभुवः कारणं कान्तकीर्ति-
> स्तत्सर्वाभीष्टदात्री प्रवदत न कथं प्रार्थ्यते स्त्रीसुरत्नम्[2]॥

अर्थात् स्त्री वासना शान्त करती है, परम सुख देती है, अपना प्रेम प्रकट करती है, सत्पात्रको आहारदान देनेमें सहायता करती है, वंशोद्धार करनेवाले पुत्रको जन्म देती है। नारी-श्रेष्ठ-रत्न समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेमें समर्थ है। कवि कहता है कि स्वल्पज्ञानी बकुल और अशोक वृक्ष जब नारीका सम्मान करते हैं—उसके सान्निध्यसे प्रसन्न हो जाते हैं, तब मनुष्यको

---

१. सुभाषि०, पद्य २७१।

२. वही, पद्य १०९।

बात ही क्या। जो पुरुष नारीका परित्याग कर देता है, वह जड़ वृक्षोंसे भी हीन है, विवेक-शून्य है।

कारणमालालङ्कारकी योजना करते हुए ज्ञानका महत्त्व प्रदर्शित किया है—

ज्ञानं विना नास्त्यहितान्निवृत्तिस्ततः प्रवृत्तिर्न हिते जनानाम्।
ततो न पूर्वार्जितकर्मनाशस्ततो न सौख्यं लभतेऽप्यभीष्टम्[1]॥

अर्थात् ज्ञानके बिना मनुष्यकी अहितसे निवृत्ति नहीं होती है और अहितकी निवृत्ति न होनेसे हितकार्यमें प्रवृत्ति नहीं होती। हितकार्यमें प्रवृत्ति न होनेसे पूर्वोपार्जित कर्मोंका नाश नहीं होता और पूर्वोपार्जित कर्मके नाश न होनेसे अभीष्ट मोक्ष-सुख नहीं मिलता। कषायका सद्भाव ही चरित्रका असद्-भाव है। कषायकी जितने रूपमें कमी होने लगती है उतने ही रूपमें चरित्रका विकास होने लगता है। कविने संसार, कषाय और चरित्र इन तीनोंकी व्याख्या बड़े ही सुन्दर रूपमें की है।

शोकाभिभूत व्यक्तिकी अवस्थाका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

वितनोति वचः करुणं विमना
विधुनोति करौ च रणौ च भृशाम्।
रमते न गृहे न वने न जने
पुरुषः कुरुते न किमत्र शुचा॥[2]

शोकके कारण व्यक्ति निर्मनस्क हो जाता है, दीन वचन बोलता है, हाथ-पैरोंको पटकता है और घर-बाहर स्वजनों एवं परिजनोंके बीच कहीं भी शान्तिलाभ प्राप्त नहीं करता। शोकके कारण मनुष्यकी स्थिति बहुत विचित्र हो जाती है। कवि द्वारा अङ्कित चित्र बहुत ही सजीव है। अतएव संसारकी यथार्थ स्थितिका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

स्वजनोऽन्यजनः कुरुते न सुखं न धनं न वृषो विषयो न भवेत्।
विमतेः स्वहितस्य शुचा भविनः स्तुतिमस्य न कोपि करोति बुधः[3]॥

शोकसे विह्वलचित्त पुरुष स्वहितसे वंचित रहता है। अतः वह न तो स्वजनोंसे सुख प्राप्त करता है और न परिजनोंके सम्बन्धसे ही आनन्दित होता

---

१. सुभाषि०, पद्य १९८।

२. वही, पद्य ७१३।

३. वही, पद्य ७१६।

है, न धनसे ही किसी प्रकारकी शान्ति प्राप्त करता है और न किसी धर्म-ध्यानका आचरण कर पाता है और न इन्द्रियविषयका सेवन ही कर पाता है। कवि शोक-त्यागके लिए पुनः जोर देता हुआ कहता है—

> यदि रक्षणमन्यजनस्य भवेद्यदि कोऽपि करोति बुधः स्तवनं।
> यदि किञ्चन सौख्यमथ स्वतनयोर्यदि कञ्चन तस्य गुणो भवति॥
> यदि वाऽऽगमनं कुरुतेऽत्र मृतः सगुणं भुवि शोचनमस्य तदा।
> विगुणं विमना बहु शोचति यो विगुणां स दशां लभते मनुजः॥[1]

यदि शोक करनेसे अन्य व्यक्तिकी रक्षा हो जाय या शोक करनेवाले व्यक्तिकी लोग प्रशंसा करे अथवा शोक करनेसे शरीरको सुख प्राप्त हो या शोक करनेसे मृत प्राणि जीवित हो जायँ, तभी शोक करना उचित कहा जायगा। शोक करनेसे कोई भी गुण तो प्राप्त नहीं होता है बल्कि शोक करनेसे श्रेष्ठ गुणोंका विनाश हो जाता है। अतएव शोक करना निरर्थक है।

इस ग्रन्थमें आध्यात्मिक आचारात्मक और नैतिक तथ्योंकी अभिव्यंजना सुभाषितों द्वारा की गयी है।

२. धर्मपरीक्षा

संस्कृत-साहित्यमें व्यंग्यप्रधान यह अपने ढंगकी अद्भुत रचना है। इसमें पौराणिक ऊटपटांग कथाओं और मान्यताओंको बड़े ही मनोरञ्जकरूपमें अविश्वसनीय सिद्ध किया है। तथ्योंकी अभिव्यञ्जनाके लिए कथानकोंका आश्रय लिया गया है। इस ग्रन्थमें निम्नलिखित मान्यताओंकी समीक्षा कथाओं द्वारा की गयी है—

१. सृष्टि-उत्पत्तिवाद
२. सृष्टि-प्रलयवाद
३. त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु और महेश सम्बन्धी भ्रान्त धारणाएँ
४. अन्ध-विश्वास
५. अस्वाभाविक मान्यताएँ—अग्निका वीर्यपान, तिलोत्तमाकी उत्पत्ति
६. जातिवाद—सम्भ्रान्त जातिमें उत्पन्न होनेका अहङ्कार
७. ऋषियोंके सम्बन्धमें असम्भव और असंगत मान्यताएँ
८. अमानवीय तत्त्व
९. अविश्वसनीय और अबुद्धिसंगत पौराणिक उपाख्यान

---

१. सुभाषि०, पद्य ७१८, ७१९।

यद्यपि इस ग्रन्थका आधार हरिभद्रका धूर्ताख्यान है, पर कविने स्वेच्छया कथावस्तुमें परिवर्त्तन भी किया है। संस्कृतकाव्यमें इस कोटिके व्यंग्यप्रधान काव्योंका प्राय: अभाव है। इस ग्रन्थकी कथाओंकी शैली आक्रमणात्मक नहीं है, सुझावात्मक है। व्यंग्य और संकेतोंके आधारपर असम्भव एवं मनगढ़न्त बातोंका निराकरण किया गया है।

३. उपासकाचार

यह अमितगति-श्रावकाचारके नामसे प्रसिद्ध है। उपलब्ध श्रावकाचारोंमें यह बहुत विशद, सुगम और विस्तृत है। इसमें १३५२ पद्य और १५ अध्याय हैं। अन्तमें गुरुपरम्परा तो पायी जाती है, पर रचना-काल निर्दिष्ट नहीं है। मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका अन्तर, सप्ततत्त्व, अष्टमूलगुण, द्वादशव्रत और उनके अतिचार, सामायिकादि षट् आवश्यक, दान, पूजा, उपवास एवं १२ भावनाओं-का सुविस्तृत वर्णन आया है। अन्तिम अध्यायमें ध्यानका वर्णन ११४ पद्योंमें किया गया है। ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यान-फल—इन चारोंका विस्तृत वर्णन किया गया है।

४. आराधना

शिवार्यकृत प्राकृत आराधनाका यह संस्कृत रूपान्तर है। कविने इस रूपान्तरको चार महीनेमें पूर्ण किया है। इसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप—इन चारों आराधनाओंका प्राकृत आराधनाके समान ही वर्णन किया है। प्रसंग-वश जैनधर्मके प्राय: समस्त प्रमेय इसमें समाविष्ट हैं। प्रशस्तिमें देवसेनसे लेकर अमितगति तककी गुरुपरम्परा भी दी गयी है।

५. भावना द्वात्रिंशतिका

३२ पद्योंका यह छोटा-सा प्रकरण है। संसारके पदार्थोंसे पृथक् अनुभवकर आत्मशुद्धिकी भावना व्यक्त की गयी है। हृदयको पवित्र बनानेके लिए यह एक अच्छा काव्य है। इसके पढ़नेसे पवित्र और उच्च भावनाओंका सञ्चार होता है।

प्रारम्भमें ही प्राणी-मात्रके साथ मैत्रीकी भावना प्रकट करते हुए लिखा है—

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥[1]

कविने इसमें परपदार्थोंसे भिन्न आत्मानुभूति करते हुए अपने द्वारा किये

---

१. द्वात्रिंशतिका, प्रथम पद्य, यह ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रन्थमालामें प्रकाशित है, साथ ही काशीसे प्रकाशित प्रथम गुच्छकमें भी संगृहीत है।

गये मिथ्याचरणकी निन्दा की है। प्रत्येक जीवात्मा प्रमाद और कषायके योगसे नाना प्रकारके कदाचारका सेवन करता है। इतस्ततः भ्रमण करनेवाले एक-इन्द्रियादि जीवोंकी विराधना करता है और द्वीन्द्रियादि त्रसजीवोंको भी कष्ट पहुँचाता है। इसके लिए उसे अपनी निन्दा आदिके द्वारा प्रायश्चित्त करना चाहिए।

कविने आराध्य देवकी बड़े ही सुन्दररूपमें स्तुति की है। यह आराध्य वीतरागी, हितोपदेशी और सर्वज्ञ ही हो सकता है। कवि उसकी स्तुति करता हुआ कहता है—

> यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैर्यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
> यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥
> यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः समस्तसंसारविकारबाह्यः।
> समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥
> निषूदते यो भवदुःखजालं निरीक्षते यो जगदन्तरालं।
> योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥
> विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो यो जन्ममृत्युव्यसनाद्यतीतः।
> त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥
> क्रोडीकृताशेषशरीरिवर्गा रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः।
> निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥
> यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तेः सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः।
> ध्यातो धुनीते सकलं विकारं स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥[1]

यह छोटा-सा ग्रन्थ अत्यन्त सरस और हृदयको पावन करनेवाला है। परमात्माका स्वरूप इसमें निर्धारित किया गया है और उसी परमात्माकी स्तुति की गयी है।

६. पञ्चसंग्रह (संस्कृत)

यह पञ्चसंग्रह प्राकृतपञ्चसंग्रहके समान पाँच प्रकरणोंमें विभक्त है। जीवसमास, प्रकृतिस्तव, कर्मबन्धस्तव, शतक और सप्तति। प्रथमप्रकरणमें ३५३ पद्य, द्वितीयमें ४८, तृतीयमें १०६, चतुर्थमें ७७८ और पञ्चममें ९० पद्य हैं। कुल पद्योंकी संख्या १३७५ है। प्राकृतपंचसंग्रहके समान संस्कृतपंचसंग्रहमें भी पद्योंके साथ गद्य भी प्रयुक्त मिलता है। यह प्राकृतपंचसंग्रहका रूपान्तर होनेपर भी कई दृष्टियोंसे विशिष्ट है। जहाँ प्राकृतमें दो गाथाओंमें बात कही गयी है, वहाँ

---

१. द्वात्रिंश०, पद्य १२-१७।

संस्कृतपंचसंग्रहमें एक ही पद्यमें उसी तथ्यमें सन्निविष्ट कर दिया गया है और जहाँ एक पद्यमें तथ्य कहा गया है उसे दो या अधिक पद्योंमें भी कहा गया है। अमितगतिकी यह रचना अत्यन्त सरल और मधुर है। कहीं-कहीं अन्य ग्रन्थोंसे आधार ग्रहणकर नये पद्य भी लिखे गये हैं। अतः प्राकृतपंचसंग्रहकी अपेक्षा यह संस्कृत पंचसंग्रह किन्हीं रूपोंमें विशिष्ट है। प्राकृतपंचसंग्रहके प्रथम प्रकरणमें वेदमार्गणाके अन्तर्गत द्रव्यवेद और भाववेदकी अपेक्षासे जीवोंकी सदृशता और विसदृशताका वर्णन करनेवाली दो गाथाएँ आयी हैं। इनके स्थानपर अमितगतिने संस्कृतपद्यसंग्रहमें एक ही पद्य रचा है। यथा—

प्राकृतपंचसंग्रह

तिव्वेद एव सव्वे वि जीवा दिट्ठा हु दव्वभावादो।
ते चेव हु विवरीया संभवंति जहाकमं सव्वे ॥१०२॥
इत्थी पुरिस णउंसय वेया खलु दव्व-भावदो होंति।
ते चेव य विवरीया हवंति सव्वे जहाकमसो ॥१०४॥

संस्कृतपंचसंग्रह

स्त्रीपुन्नपुंसका जीवाः सदृशाः द्रव्य-भावतः।
जायन्ते विसदृक्षाश्च कर्मपाकनियन्त्रिताः ॥१९२॥

प्राकृतपञ्चसंग्रह

छद्दव्व-णवपयत्थे दव्वाइचउव्विहेण जाणंते।
वंदित्ता अरहंते जीवस्स परूवणं वोच्छं ॥ १ ॥

संस्कृतपञ्चसंग्रह

ये षट् द्रव्याणि बुध्यंते द्रव्यक्षेत्रादिभेदतः।
जिनेशास्तांस्त्रिधा नत्वा करिष्ये जीवरूपणम् ॥ ३ ॥

प्राकृतपंचसंग्रह

गुण जीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिया ॥ २ ॥

संस्कृतपंचसंग्रह

विज्ञातव्या गुणा जीवाः प्राणपर्याप्तिमार्गणाः।
उपयोगा बुधैः संज्ञा विंशतिर्जीवरूपणाः ॥ ११ ॥

प्राकृतपंचसंग्रह

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं ॥ ३ ॥

जीवा यैरवबुध्यन्ते भावैरौदयिकादिभिः ।
गुणागुणस्वरूपज्ञैरत्र ते गदिता गुणाः ॥ १२ ॥

अमितगतिके पञ्चसंग्रहका वैशिष्टच

प्राकृतपंचसंग्रहकी अपेक्षा संस्कृतपञ्चसंग्रहमें कई विशेषताएँ हैं। इन विशेषताओंको हम निम्नलिखित वर्गोंमें विभक्त कर सकते हैं—

१. संक्षेपीकरण,

२. पल्लवन,

३. विषयोंका प्रकारान्तरसे संयोजन।

उपर्युक्त विशेषताओंके स्पष्टीकरणके लिए प्राकृतपंचसंग्रहके साथ तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

जीवसमास नामक प्रथम प्रकरणमें चौदह गुणस्थानों और सिद्धोंका कथन करनेके बाद किस गुणस्थानमें कौन भाव होता है, इसका विवेचन किया है। अनन्तर चौदह गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीवोंकी संख्याका निरूपण आया है। यह कथन गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ११–१४ तथा ६२२–६३० में किया गया है। संस्कृत पंचसंग्रहमें इससे भी कुछ विशेष कथन आया है। अमितगतिने जीवट्ठाणके द्रव्यप्रमाणानुगमकी धवलाटीकासे उक्त विषय ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार योगनिरूपणके अन्तमें पद्य १८१–१८५ तक विग्रहगति आदिमें शरीरोंका कथन आया है। यह कथन प्राकृतपञ्चसंग्रहकी अपेक्षा विशिष्ट है। इसी तरह वेदमार्गणाके कथनके अन्तमें पद्य १९३–२०२में वेद-वैषम्यके नवभंगोंका विवेचन तथा स्त्रीवेद आदिके चिह्नोंका कथन भी प्राकृत-पंचसंग्रहकी अपेक्षा विशिष्ट है। ज्ञानमार्गणाके निरूपणमें भी कई विशेषताएँ आयी हैं। इन सन्दर्भोंमें प्राकृतपंचसंग्रहका आधार न ग्रहणकर तत्त्वार्थ-वार्तिकका आधार ग्रहण किया गया है। मतिज्ञानके २८८, ३३६ और ३८४ भेद आये हैं तथा श्रुतपूर्वक श्रुतका भी समर्थन किया गया है। अवधिज्ञानके लक्षणों और चिह्नोंका कथन तत्त्वार्थवार्त्तिकके अनुसार आया है।

प्राकृतपंचसंग्रहमें लेश्याका कथन प्रथम प्रकरणमें दो स्थलोंपर आया है, पर संस्कृतपञ्चसंग्रहमें अमितगतिने इसे एक ही स्थानपर निबद्ध कर दिया है।

रूपान्तरोंमें भी मौलिकताका कई जगह समावेश किया है। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—

भव्वो पंचिंदिओ सण्णी जीवो पज्जत्तओ तहा।
काललद्धाइ-संजुत्तो सम्मत्तं पडिवज्जए ॥१।१५८॥

अमितगतिने इसका रूपान्तर निम्न प्रकार किया है—

पूर्णपंचेन्द्रियः संज्ञी लब्धकालादिलब्धिकः।
सम्यक्त्वग्रहणे योग्यो भव्यो भवति शुद्धधीः ॥ २८६ ॥

अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव कालादिलब्धिकी प्राप्ति होनेपर सम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य होता है। अमितगतिने यहाँ लब्धियोंका वर्णन भी विस्तारपूर्वक किया है और तत्त्वार्थवार्तिकके नवम अध्यायके प्रथम सूत्रसे बहुत-सा गद्यांश ज्यों-का-त्यों ले लिया है। सम्यक्त्वके भेद-प्रभेदोंका विवेचन भी विस्तारपूर्वक किया गया है, जो प्राकृतपंचसंग्रहमें प्राप्त नहीं है। इसी सन्दर्भमें मिथ्यात्वका कथन करते हुए ३६३ मतोंकी उत्पत्ति दी गयी है, जो कर्मकाण्डके अनुरूप है। प्रथम अध्यायके अतिरिक्त अन्य अध्यायोंके कथनमें भी यत्र-तत्र वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होता है। चतुर्थ अध्यायमें ९वें गुणस्थानमें होनेवाले प्रत्ययोंका कथन प्राकृतपंचसंग्रहमें आया है। यथा—

संजलण-तिवेदाणं णवजोगाणं च होइ एयदरं।
संढणदुवेदाणं एयदरं पुरिसवेदो य ॥४।२०१॥
—ज्ञानपीठ संस्करण

अर्थात् नवें गुणस्थानके सवेद भागमें चार संज्वलन कषायमेंसे एक, तीन वेदोंमेंसे एक और नौ वेदोंमेंसे एक होता है। नपुंसकवेदकी उदयव्युच्छित्ति हो जानेपर दो वेदोंमें से एक वेदका उदय होता है और स्त्रीवेदकी उदयच्छित्ति हो जानेपर एक पुरुषवेदका उदय होता है। अतः ४ × ३ × ९ = १०८, ४ × २ × ९ = ७२ और ४ × १ × ९ = ३६ भंग होते हैं और कुल भंग १०८ + ७२ + ३६ = २१६ ये भंग सवेद भागके हुए। अवेदभागमें भंगोंका क्रम निम्नप्रकार है—

चदुसंजलणणवण्हं जोगाणं होइ एयदर दो ते।
कोहूणमाणवज्जं मायारहियाण एगदरगं वा ॥४।२०२॥
—ज्ञानपीठ संस्करण

अर्थात् अवेदभागमें चार स्वंजलन कषायोंमेंसे एकका, तथा नौ योगोंमेंसे एकका उदय होता है। क्रोधकी उदयव्युच्छित्ति हो जानेपर तीन कषायोंमेंसे एकका उदय होता है। मानकी व्युच्छित्ति हो जानेपर दो कषायोंमेंसे एकका उदय और मायाकी व्युच्छित्ति हो जानेपर केवल लोभ कषायका उदय होता है। नौ योगोंमेंसे एक योगका उदय सर्वत्र रहता है। अतएव ४ × १ × ९ = ३६, ३ × १ × ९ = २७, २ × १ × ५ = १८ और १ × १ × ९ = ९ इस प्रकार

अवेदभागके कुल भंग ३६ + २७ + १८ + ९ = ९० । सवेद और अवेद भागके कुल भंग २१६ + ९० = ३०६ ।

अमितगतिने संस्कृतपञ्चसंग्रहमें नवें गुणस्थानके अवेद भागमें चार कषाय और ९ योगोंमेंसे एक-एकके उदयकी अपेक्षा ४×९ = ३६ भंग बताये हैं—

जघन्यौ प्रत्ययौ ज्ञेयौ द्वाववेदानिवृत्तिके ।
संज्वालेषु चतुर्ष्वेको योगानां नवेक परः ।४।६६।।

१ × १ भंग = ४।९ अन्योन्याभ्यस्त करनेपर ४ × ३ × ९ = १०८ सवेद भाग । यहाँ ४ कषाय, ३ वेद और ९ योगोंमेंसे एक-एक योगका उदय होता है । अवेद भागमें—

कषायवेदयोगानामेकैकग्रहणे सति ।
अनिवृत्तेः सवेदस्य प्रकृष्टाः प्रत्ययास्त्रयः ।।४।६७।।

४।३।९ अन्योन्याभ्यस्त करनेपर १०८ होते हैं ।

इस प्रकार अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके सवेदभाग और अवेदभागमें १४४ भंग योगकी अपेक्षा मोहनीयके उदयस्थान बतलाये गये हैं । प्राकृतपंचसंग्रहमें भी इतने ही भंग लिये हैं । गोम्मटसार कर्मकाण्डमें भी १४४ ही भंगसंख्या आयी है । यही कारण है कि अमितगतिने सर्वसम्मत १४४ भेदोंको ही मान्यता दी है, शेष भंगोंका उल्लेख नहीं किया ।

पञ्चम अध्यायमें भी कई विशेषताएँ पायी जाती हैं । प्राकृतपंचसंग्रहमें मनुष्यगतिमें नामकर्मके २६०९ भंग बतलाये हैं, पर संस्कृत पञ्चसंग्रहमें २६६८ भंग आये हैं । यहाँ २६०९ भंगोंमें सयोगकेवलीके ५९ भंग और जोड़े गये हैं । इसप्रकारके जोड़नेकी प्रक्रिया प्राकृतपंचसंग्रहमें नहीं मिलती है ।

प्राकृतपंचसंग्रह और संस्कृतपञ्चसंग्रहमें योगकी अपेक्षा गुणस्थानोंमें मोहनीयकर्मके उदयस्थानोंके भग १३२०९ बतलाये हैं और कर्म-काण्डमें छठे १२९५३ भंग आये हैं । इस अन्तरका कारण यह है कि कर्मकाण्डमें छठे गुण-स्थानमें आहारकका उदय स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके उदयमें नहीं माना गया है । अतः छठे गुणस्थानमें पञ्चसंग्रहकी अपेक्षा २११२ भंग होते हैं और कर्मकाण्ड-की अपेक्षा १८५६ भंग होते हैं । इस प्रकार २५६ भंगका अन्तर पड़ता है । यहाँ यह स्मरणीय है कि अमितगतिने प्रथम अध्यायके ३४३वें पद्य द्वारा इसबातको स्वीकार किया है कि आहारकऋद्धि, परिहार विशुद्धि, तीर्थंकरप्रकृतिका उदय और मनःपर्ययज्ञान ये स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके उदयमें नहीं होते ।

विषय-परिचय

प्रथम प्रकरण जीवसमास है। इसमें गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इन २० प्ररूपणाओं द्वारा जीवोंकी विविध दशाओंका वर्णन किया गया है।

मोह और योगके निमित्तसे होनेवाले जीवोंके परिणामोंके तारतम्यरूप क्रम-विकसित स्थानों—भावोंको गुणस्थान कहा है। गुणस्थान १४ हैं—मिथ्यात्व, सासादन, सम्यग्मिथ्यात्व, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्त-विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली। प्रथम प्रकरणके प्रारम्भमें ही इन गुणस्थानों-का स्वरूप विवेचन किया गया है।

दूसरी प्ररूपणा जीवसमास है। जिन धर्मविशेषोंके द्वारा नाना जीव और नाना प्रकारकी उनकी जातियाँ जानी जाती हैं, उन धर्मविशेषोंको जीवसमास कहते हैं। जीवसमासके संक्षेपकी अपेक्षा १४ भेद हैं और विस्तारकी अपेक्षा २१, ३०, ३२, ३६, ३८, ४८, ५४ और ५७ भेद हैं। प्रथम प्रकरणमें इन समस्त भेदोंका विस्तारपूर्वक विवेचन आया है।

तीसरी पर्याप्तिप्ररूपणा है। प्राणोंके कारणभूत शक्तिकी प्राप्तिको पर्याप्ति कहते हैं। पर्याप्तियाँ छह हैं—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वा-सोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। एकेन्द्रियजीवके प्रारम्भकी चार पर्याप्तियाँ, द्वीइन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रियपर्यन्त पाँच पर्याप्तियाँ और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवकी छह पर्याप्तियाँ होती हैं।

चौथी प्राणप्ररूपणा है। पर्याप्तियोंके कार्यरूप, इन्द्रियादिकके उत्पन्न होनेको प्राण कहते हैं। प्राणोंके दश भेद हैं—पाँच इन्द्रियाँ, मनोबल, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छवास। एकेन्द्रिय जीवके स्पर्शन इन्द्रिय, कायवल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं। द्वीन्द्रियजीवके रसनेन्द्रिय और वचनबल इन दो प्राणोंके अधिक होनेसे छह प्राण होते हैं। त्रीन्द्रियजीवके घ्राणेन्द्रिय बढ़नेसे सात प्राण, चतुरिन्द्रियजीवके चक्षु इन्द्रिय बढ़नेसे आठ प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रियजीवके कर्णेन्द्रिय बढ़नेसे ९ प्राण और संज्ञी पचेन्द्रियजीवके मनोबल बढ़नेसे दश प्राण होते हैं।

पाँचवीं संज्ञाप्ररूपणा है। आहारादिकी वाञ्छाको संज्ञा कहते हैं। संज्ञा-के चार भेद हैं—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा। चारों संज्ञाएँ सभी संसारी जीवोंमें पायी जाती हैं।

जिन अवस्थाविशेषोंमें जीवोंका अन्वेषण किया जाता है, उन्हें मार्गणा कहते हैं। मार्गणाओंके चौदह भेद हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारमार्गणा। प्रथम प्रकरणमें इन १४ मार्गणाओंका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है।

२०वीं उपयोगप्ररूपणा है। वस्तुके स्वरूपको जाननेके लिए जीवका जो भाव प्रवृत्त होता है, उसे उपयोग कहते हैं। उपयोग दो प्रकारका होता है— साकारोपयोग और निराकारोपयोग। निराकारोपयोगके चार भेद हैं।

इस प्रकार प्रथम जीवसमासप्रकरणमें २० प्ररूपणाओं द्वारा जीवोंकी विविध दशाओंका विस्तारके साथ वर्णन किया है।

दूसरा प्रकरण प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामका है। इसमें कर्मोंकी मूलप्रकृतियों और उत्तरप्रकृतियोंका वर्णन किया गया है। मूलप्रकृतियाँ आठ हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनकी उत्तर प्रकृतियाँ क्रमशः पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तिरानवे, दो और पाँच हैं। सब उत्तरप्रकृतियाँ १४८ होती हैं। इनमेंसे बन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ, उदय-योग्य १२२ प्रकृतियाँ, उद्वेलन ११ प्रकृतियाँ, ध्रुवबन्धी ४७, अध्रुवबन्धी ११, वर्त्तमान प्रकृतियाँ ६२ एवं सत्त्वयोग्य १४८ प्रकृतियाँ हैं। पञ्चसंग्रहके पाँचों प्रकरणोंमें यह सबसे छोटा प्रकरण है।

कर्मस्तव नामका तीसरा प्रकरण है। इसके अन्य नामान्तर बन्धस्तव और कही कर्मबन्धस्तव भी हैं। इस प्रकरणमें १४ गुणस्थानोंमें बंधनेवाली, नहीं बंधने वाली और बन्धव्युच्छित्तिको प्राप्त होनेवाली प्रकृतियोंका तथा सत्वयोग्य, असत्वयोग्य और सत्वसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोंका विवेचन किया गया है। अन्तमें चूलिकाके अन्तर्गत नौ प्रश्नोंको उठाकर उनका समाधान करते हुए बतलाया गया है कि किन प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति, उदयव्युच्छित्ति और सत्त्वव्युच्छित्ति पहिले, पीछे या साथमें होती है। इस नौ प्रश्नरूप चूलिकामें कर्मप्रकृतियोंके बन्ध, उदय और सत्त्वव्युच्छित्ति सम्बन्धी कितनी ही ज्ञातव्य बातें बतलाई गयी हैं।

चौथे प्रकरणका नाम शतक है। इस प्रकरणमें १४ मार्गणाओंके आधारसे जीवसमास, गुणस्थान, उपयोग और योगका वर्णन करनेके अनन्तर कर्मबन्धके कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बन्धप्रत्ययोंका विस्तार-से वर्णन किया है। साथ ही मिथ्यात्व आदि गुणस्थानोंमें जघन्य और उत्कृष्ट प्रत्ययोंकी अपेक्षा सम्भव संयोगी भंगोंका विस्तृत विवेचन किया है। तत्पश्चात् ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके विशेष बन्धप्रत्ययोंका वर्णन किया गया है।

पञ्चम प्रकरणका नाम सप्तति या सप्ततिका है। इसे सित्तरी भी कहते हैं। इस प्रकरणमें मूल कर्मों और उनके अवान्तर भेदोंके बन्धस्थान, उदय-स्थान और सत्वस्थानोंका स्वतन्त्र रूपसे एवं चौदह जीवसमास और गुण-स्थानोंके आश्रयसे भंगोंका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। अन्तमें कर्मोंकी उपशमना और क्षपणाका विवेचन आया है। शतक और सप्ततिका इन दोनों ही प्रकरणोंमें भंगोंका विवेचन करनेवाले पद्य प्राकृतपंचसंग्रहके तुल्य ही हैं। कर्मसिद्धान्तको अवगत करनेके लिये यह एक अच्छा साधनग्रन्थ है।

उपर्युक्त ग्रन्थोंके अतिरिक्त लघु एवं बृहत् सामायिक पाठ, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सार्द्धद्वयद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति ग्रन्थ भी इनके द्वारा रचे गये माने जाते हैं। सामायिकपाठमें १२० पद्य हैं। इसमें सामायिकका स्वरूप, विधि और महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। शेष चार ग्रन्थ अभी तक उप-लब्ध नहीं हैं।

अमृतचन्द्रसूरि

सारस्वताचार्योंमें टीकाकार अमृतचन्द्रसूरिका वही स्थान है, जो स्थान संस्कृतकाव्यरचयिताओंमें कालिदासके टीकाकार मल्लिनाथका है। कहा जाता है कि यदि मल्लिनाथ न होते, तो कालिदासके ग्रन्थोंके रहस्यको समझना कठिन हो जाता। उसी तरह यदि अमृतचन्द्रसूरि न होते, तो आचार्य कुन्दकुन्दके रहस्यको समझना कठिन हो जाता। अतएव कुन्दकुन्द आचार्यके व्याख्याताके रूपमें और मौलिक ग्रन्थरचयिताके रूपमें अमृतचन्द्रसूरिका महत्त्वपूर्ण स्थान है। निश्चयतः इन आचार्यकी विद्वत्ता, वाग्मिता और प्राञ्जल शैली अप्रतिम है। इनका परिचय किसी भी कृतिमें प्राप्त नहीं होता है, पर कुछ ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं, जिनसे इनके व्यक्तित्वका निश्चय किया जा सकता है।

अध्यात्मिक विद्वानोंमें कुन्दकुन्दके पश्चात् यदि आदरपूर्वक किसीका नाम लिया जा सकता है, तो वे अमृतचन्द्रसूरि ही हैं। इन्होंने टीकाओंके अन्तमें जो संक्षिप्त परिचय दिया है उससे अवगत होता है कि ये बड़े निस्पृह आध्या-त्मिक आचार्य थे। 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' के अन्तमें लिखा है—

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥ २२६॥

अर्थात् नाना प्रकारके वर्णोंसे पद बन गये, पदोंसे वाक्य बन गये और वाक्योंसे यह पवित्र शास्त्र बन गया। इसमें मेरा कर्तृत्व कुछ भी नहीं है।

इसमें अमृतचन्द्रसूरिकी कितनी निस्पृहता और आध्यात्मिकता टपक रही है। अतः वे अपनेको आत्मभावोंका ही कर्त्ता मानते हैं, परवस्तुका नहीं। इससे उनकी आध्यात्मिकता तो सिद्ध होती ही है, साथ ही वे आचार्य या मुनिपदसे विभूषित भी व्यक्त होते हैं।

जीवन-परिचय

पंडित आशाधरने अमृतचन्द्रसूरिका उल्लेख ठक्कुरपदके साथ किया है—

'एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरिविरचितसमयसारटीकायां दृष्टव्यम्।' *अनगारधर्मामृतटीका*, पृ० ५८८।

यहाँ 'ठक्कुर' शब्द विचारणीय है। ठक्कुरका प्रयोग जागीरदार या जमींदारोंके लिए होता है। हरिभद्रसूरिने अपनी 'समराइच्चकहा' में ठक्कुर पदका प्रयोग किया है। यह पद क्षत्रिय और ब्राह्मण इन दोनोंके लिए समान रूपमें प्रयुक्त होता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अमृतचन्द्रसूरि क्षत्रिय थे या ब्राह्मण। इतना निश्चित है कि वे किसी सम्मानित कुलके व्यक्ति थे।

संस्कृत और प्राकृत इन दोनों ही भाषाओंपर इनका पूर्ण अधिकार था। ये मूलसंघके आचार्य थे।

समय-विचार

पण्डित आशाधरजीने अमृतचन्द्रसूरिका उल्लेख किया है और आशाधरजीका समय वि० सं० १३०० है। अतः अमृतचन्द्रसूरिका समय वि० सं० १३०० के पहले होना चाहिये। अमृतचन्द्रसूरिने प्रवचनसारकी टीकामें चार गाथायें उद्धृत की हैं। "णिद्धा णिद्धेण" और "णिद्धस्स णिद्धेण" ये दो गाथाएँ क्रमसे एक साथ उद्धृत की हैं और 'जावदिया वयणवहा' तथा 'परसमयाणं वयणं' आदि दो गाथाएँ 'तदुक्तम्' कहकर क्रमसे एक साथ टीकाके अन्त (पृ० ३७२) में उद्धृत हैं। पहलेकी दोनों गाथाएँ गोम्मटसार जीवकाण्डकी क्रमशः ६१२ तथा ६१४ संख्यक हैं और दूसरी दोनों गाथाएँ गोम्मटसार कर्मकाण्डकी ८९४ और ८९५ संख्यक हैं। इन गाथाओंके सम्बन्धमें डॉ० उपाध्येने लिखा है कि चूँकि गोम्मटसार कर्मकाण्डमें वे दोनों गाथाएँ उसी क्रमसे पायी जाती हैं और उनमें शाब्दिक समानता भी है। अतएव यह अनुमान लगाना असंगत नहीं है कि अमृतचन्द्रने इन गाथाओंको गोम्मटसार कर्मकाण्डसे लिया है। बहुत सम्भव है कि ये दोनों गाथाएँ 'धवला' और 'जयधवला' टीकामें भी मिल जाएँ। इन दोनोंमेंसे 'जावदिया वयणवहा' गाथा सन्मतितर्क (३।४७) में भी पायी जाती है। डॉ० उपाध्येने लिखा है कि अमृतचन्द्र सिद्धसेनके सन्मतितर्कसे परिचित

अवश्य थे, पर उन्होंने उक्त गाथा वहाँसे उद्धृत नहीं की है। इसके प्रमुख दो कारण हैं। पहली बात तो यह है कि सिद्धसेनकी गाथाका रूप महाराष्ट्री है जबकि अमृतचन्द्रके द्वारा उद्धृत गाथाएँ शौरसेनीमें हैं। दूसरी बात यह है कि अमृतचन्द्रने दोनों गाथाओंको एक साथ उद्धृत किया है जबकि सिद्धसेनके ग्रंथ-में उनमेंसे एक ही पायी जाती है। अतः डॉ० उपाध्येने अमृतचन्द्रका समय गोम्मटसार जीवकाण्ड व कर्मकाण्डके कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके बाद अर्थात् ई० सन् की दशवीं शताब्दीके लगभग माना है।

डॉ० उपाध्येके अभिमतकी समीक्षा पण्डित परमानन्दजीने की है। उनका कथन है कि वि० सं० १०५५ में बने हुए धर्मरत्नाकर ग्रन्थमें आचार्य अमृत-चन्द्रके कुछ पद्य उद्धृत हैं, तो अमृतचन्द्र वि० की ११ वीं शतीके पूर्वार्द्धमें रचे गये गोम्मटसारसे कैसे पद्य उद्धृत कर सकते हैं? प्रवचनसारकी प्रस्तावना लिखते समय डॉ० उपाध्येके सामने धर्मरत्नाकरवाली बात नहीं थी। तथा अमृतचन्द्रके द्वारा प्रवचनसारकी टीकामें उद्धृत चारों गाथाओंमेंसे प्रथम दो गाथाएँ 'षट्खण्डागम'की धवलाटीकासे उद्धृत की गयी हैं, किन्तु दूसरी दो गाथाओंमेंसे प्रथम गाथा सिद्धसेनके सन्मतितर्कमें भी है, पर उसके साथवाली दूसरी गाथा गोम्मटसार कर्मकाण्डके अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलती। अतः धर्म-रत्नाकरमें अमृतचन्द्रके पद्योंको उद्धृत देखकर यह माननेके लिए बाध्य होना पड़ता है कि गोम्मटसारमें वह गाथा किसी अन्य स्रोतसे ग्रहण की गयी है। अथवा यह भी सम्भव है कि गोम्मटसारमें ही दोनों उक्त गाथाएँ अमृतचन्द्रके प्रवचनसारकी टीकासे ली गयी हों, क्योंकि गोम्मटसार एक संग्रहग्रन्थ है। यदि गोम्मटसारकी रचना अमृतचन्द्रके पश्चात् हुई है, तो निश्चयतः ये दोनों गाथाएँ प्रवचनसारकी टीकासे ली गयी हैं। अतः अमृतचन्द्रका समय आचार्य नेमिचन्द्रके पहले है। श्री पण्डित नाथूरामजी प्रेमीने अमृतचन्द्रके सम्बन्धमें जो नया प्रकाश प्राप्त किया है उसके आधारपर उन्होंने बताया है कि माधवचन्द्र-के शिष्य अमृतचन्द्र विहार करते हुए बाँभणबाड़ेमें आये। कविने रल्हणके पुत्र सिंह या सिद्ध नामक कविको 'पज्जुण्णचरिउ' बनानेकी प्रेरणा की। उस समय वहाँका राजा गुहिलवंशी भुल्लण था, जो मालवनरेश वल्लालका माण्डलिक था, जिसका राज्यकाल वि० सं० १२०० के आस-पास है। यदि इस उल्लेखके आधारपर मल्लहधारि माधवचन्द्रके शिष्य अमृतचन्द्रको इन अमृतचन्द्रसे अभिन्न मान लिया जाये, तो अमृतचन्द्रका समय ११ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध या १२ वीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है।

आचार्य शुभचन्द्रने अपने ज्ञानार्णवमें अमृतचन्द्रके पुरुषार्थसिद्धयुपायका

'मिथ्यात्ववेदरागा' आदि पद्य 'उक्तञ्च' रूपसे उद्धृत किया है। अतएव अमृतचन्द्र, शुभचन्द्रसे भी पूर्ववर्ती हैं और पद्मप्रभ मलधारिदेवने शुभचन्द्रके ज्ञानार्णवका एक श्लोक उद्धृत किया है। अतएव शुभचन्द्र पद्मप्रभसे पूर्ववर्ती हैं। पद्मप्रभका समय वि० की १२ वीं शतीका अन्त माना जाता है। अतः अमृतचन्द्रका समय इसके पहले होना चाहिये। हमारा अनुमान है कि इनका समय ई० सन्‌की १०वीं शताब्दीका अन्तिम भाग है। पट्टावलीमें अमृतचन्द्रके पट्टारोहणका समय वि० सं० ९६२ दिया है, जो ठीक प्रतीत होता है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें जयसेनके धर्मरत्नाकरके कई पद्य पाये जाते हैं और धर्मरत्नाकरका रचनाकाल वि० सं० १०५५ है, अतएव अमृतचन्द्रकी यह उत्तरसीमा समय है।

रचनाएँ

अमृतचन्द्रसूरिकी निम्नलिखित रचनाएँ मानी जाती हैं। इनकी रचनाओंको दो कोटिमें रखा जा सकता है—मौलिक और टीकाग्रन्थ।

मौलिक रचनाएँ—१ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २ तत्त्वार्थसार, ३ समयसारकलश।
टीकाग्रन्थ—४ समयसारटीका, ५ प्रवचनसारटीका, ६ पंचास्तिकायटीका।

१. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**—यह श्रावकाचार सम्बन्धी ग्रन्थ है। इसमें २२६ पद्य हैं। आर्यावृत्तमें लिखा गया है। प्रारम्भके आठ पद्योंमें ग्रन्थकी उत्थानिका दी गयी है। इस उत्थानिकामें निश्चय और व्यवहार नयका स्वरूप, कर्मोंका कर्त्ता और भोक्ता आत्मा, जीवपरिणमन एवं पुरुषार्थसिद्ध्युपायका अर्थ बतलाया गया है। ग्रन्थ पाँच भागोंमें विभक्त है १. सम्यक्त्व-विवेचन, २. सम्यक्‌ज्ञानव्याख्यान, ३. सम्यक्‌चारित्रव्याख्यान, ४. संल्लेखनाधर्मव्याख्यान, ५. सकलचारित्रव्याख्यान। यह आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुखस्वरूप है, चेतनायुक्त है, अमूर्तिक है और स्पर्श, गंध, रस, वर्णसे रहित है। यह अनादिकालसे अशुद्ध हो रही है। रागादिरूप भावकर्मोंके कारण पुद्‌गलद्रव्य आत्मामें प्रविष्ट हो कर्मबन्धरूप परिणमन करता है। कर्मबन्धकी इस प्रक्रियाका वर्णन करते हुए कहा है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्‌गलाः कर्मभावेन॥१२॥

जिस समय जीव राग-द्वेष-मोहभावरूप परिणमन करता है, उस समय उन भावोंका निमित्त पाकर पुद्‌गलद्रव्य स्वतः ही कर्मअवस्थाको धारण कर लेते हैं। जो प्रशस्त रागादिरूप परिणमन करता है उसके शुभ कर्मबन्ध होता है

१. पुरुषार्थसि०, पद्य १२।

और जो अप्रशस्त राग-द्वेष-मोहरूप परिणमन करता है उसके पापबन्ध होता है। आचार्यने कर्मबन्धके प्रति निमित्तकारणका कथन करते हुए कहा है—

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि[1] ॥१३॥

इस प्रकार राग-द्वेष, कर्म-बन्धके स्वरूप विश्लेषणके पश्चात् श्रावकधर्मका व्याख्यान किया गया है। आरम्भमें रत्नत्रयको मोक्षमार्ग बतलाकर गृहस्थको यथाशक्ति इसके सेवन करनेपर जोर दिया है। और बताया है कि सम्यक्त्वके बिना ग्यारह अंगपर्यन्त किया हुआ पठन-पाठन ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है तथा महाव्रतादिकोंकी साधनासे अन्तिम ग्रैवेयकपर्यन्त बन्धयोग्य विशुद्ध परिणामोंसे भी असंयमी कहलाता है। परन्तु सम्यक्त्वसहित थोड़ा-सा ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान और अल्पत्याग भी सम्यक्चारित्र कहलाता है। जिस प्रकार अंकरहित शून्य कुछ भी कार्यसाधक नहीं होता, उसी प्रकार सम्यक्त्वरहित ज्ञान और चारित्र भी कार्यसाधक नहीं होता। इस तरह सम्यक्त्वका महत्त्व बतलाते हुए उसके स्वरूपका विवेचन किया है—

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत्[2] ॥

जीव-अजीव आदि तत्त्वरूप पदार्थोंका विपरीत आग्रह रहित श्रद्धान करना सम्यक्त्व कहलाता है।

सम्यक्त्वकी परिभाषाके अनन्तर निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टित्व, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठों अंगोंके स्वरूपका विवेचन किया है।

पदार्थका जो स्वरूप जिनागममें मिलता है, उसे यथावत् जानना सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनमें कार्यकारणभावका सम्बन्ध है। सम्यग्ज्ञान कार्य है और सम्यग्दर्शन कारण। इन दोनोंके एक कालमें उत्पन्न होनेपर भी दीपक और प्रकाशके समान कार्य-कारणभाव घटित होता है। अतएव तत्त्वार्थ-श्रद्धान प्राप्त करनेके अनन्तर संशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित हो पदार्थोंके स्वरूपको अवगत करनेके लिए प्रवृत्त होना चाहिये। ग्रन्थका ज्ञान आठ प्रकारसे प्राप्त किया जाता है—१. शब्दाचार, २. अर्थाचार, ३.

---

१. पुरुषा०, पद्य १३।

२. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, पद्य २२।

उभयाचार, ४. कालाचार, ५. विनयाचार ६. उपधानाचार, ७. बहुमानाचार, ८ अनिन्ह्वाचार ज्ञानप्राप्तिके ये आठ अंग हैं।

तृतीय अधिकारमें सम्यक्चारित्रका व्याख्यान किया गया है और सकलचारित्र और विकलचारित्र कहकर मुनिधर्म और श्रावकधर्मका विवेचन किया है। पंचव्रतोंके प्रसंगमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका मुनि एवं गृहस्थकी अपेक्षासे स्वरूप बतलाया गया है। कषायसे 'अपने' और 'पर'के भावप्राण और द्रव्यप्राणका घात करना हिंसा है। हिंसा और अहिंसाका सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए लिखा है—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥
युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव॥
यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां[1] तु॥

निश्चयतः रागादि भावोंका प्रकट न होना अहिंसा है और रागादिभावोंकी उत्पत्ति होना हिंसा है। रागादि भावोंके न रहनेपर सन्त पुरुषोंके केवल प्राणपीड़नसे हिंसा नहीं होती। रागादि भावोंके वशमें प्रवृत्त हुई अयतनाचाररूप प्रमाद अवस्थामें जीव मरे अथवा न मरे हिंसा अवश्य होती है। आशय यह है कि हिंसाशब्दका अर्थ घात करना है। यह घात दो प्रकारका है—एक आत्मघात दूसरा परघात। जिस समय आत्मामें कषायभावोंकी उत्पत्ति होती है उसी समय आत्मघात हो जाता है। पश्चात् यदि अन्य जीवकी आयु पूरी हो गयी हो अथवा पापका उदय आया हो, तो उनका भी घात हो जाता है। अन्यथा आयुकर्म पूर्ण न हुआ हो, पापका उदय न आया हो तो कुछ भी नहीं होता है, क्योंकि उनका घात उनके कर्मोंके अधीन है। परन्तु आत्मघात तो कषायोंकी उत्पत्ति होते ही हो जाता है और आत्म तथा परघात दोनों ही हिंसा हैं। इस प्रकार रागदि कषायभावको हिंसा बताया है। इन रागादिभावोंके सद्भावके कारण ही हिंसा न करनेपर भी हिंसाका सद्भाव बताया है तथा कई भंगों द्वारा हिंसा-अहिंसाका विवेचन किया है।

१. एक व्यक्ति पाप करता है और अनेक व्यक्ति फल भोगते हैं।
२. अनेक व्यक्ति हिंसा करते हैं और एक व्यक्ति फल भोगता है।

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य ४४, ४५, ४७।

३. हिंसा करनेपर भी अहिंसक बना रहता है।
४. प्राणघात न करने पर भी हिंसक हो जाता है।

इस प्रकार अनेक भंगों द्वारा हिंसाके अल्पबहुत्वका कथन किया गया है। हिंसाके कारण, मद्य, मांस, मधु और पंचउदम्बर फलोंके त्यागका उपदेश दिया गया है। इस प्रसंगमें मद्य, मांस, मधु और पंचउदम्बर फलोंके दोषोंका भी विश्लेषण किया गया है। इसके पश्चात् अनृतका वर्णन आया है। अनृतके अन्तर्गत गर्हित, सावद्य और अप्रिय वचन भी सम्मिलित हैं। गर्हितवचनोंमें शास्त्रविरुद्ध कहे जानेवाले वचनोंको शामिल किया गया है। छेदन-भेदन, मारण, कर्षण, वाणिज्य, चौर्य आदि वचन सावद्यवचन कहलाते हैं। अरतिकर, भीतिकर, खेदकर, वैरकर, शोककर, कलहकर आदि सन्ताप देनेवाले वचन अप्रियवचन कहलाते हैं। स्तेयका विवेचन करते हुए धनके साथ अधिकार अपहरणको भी स्तेय बतलाया है। रागादिकके आवेगसे मैथुनरूप प्रवृत्ति करना अब्रह्म है। इस अब्रह्मके त्यागको ब्रह्मचर्यव्रत कहा है। मूर्छाको परिग्रहलक्षण बतलाकर अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहके भेद-प्रभेदोंको निरूपण किया है। पंचव्रतोंके पश्चात् रात्रिभोजनत्यागका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। पञ्चव्रतोंका पालन करनेके लिए सात शीलव्रतोंका पालन करना चाहिये! जिस प्रकार परकोटा नगरकी रक्षा करता है, उसी प्रकार तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत पञ्चव्रतोंकी रक्षा करते हैं। गुणव्रतके तीन भेद बतलाये हैं— दिक्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत। अनर्थदण्डव्रतके अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसादान और दुःश्रुति इन पांच भेदोंका स्वरूपसहित विवेचन किया गया है। शिक्षाव्रतके सामायिक, प्रौषधोपवास, अतिथिसंविभाग और भोगोपभोगपरिमाण इन चारोंका विवेचन किया है।

चतुर्थ संल्लेखना-अधिकरणमें संल्लेखनाका स्वरूप, आवश्यकता और उसकी विधिका वर्णन किया गया है। पंचम-सकलचारित्रव्याख्यानाधिकारमें मुनियोंके व्रत चरित्रका वर्णन किया है। इसमें द्वादश तप, दशधर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजयका वर्णन किया है। इस प्रकार इस लघुकाय ग्रन्थमें श्रावक-धर्मका वर्णन आया है।

[1]तत्त्वार्थसार

यह ग्रन्थ ९ अधिकारोंमें विभक्त है। प्रथम अधिकारमें ५४ पद्य, द्वितीय अधिकारमें २३८ पद्य, तृतीय अधिकारमें ७७ पद्य, चतुर्थ अधिकारमें १०५ पद्य,

१. यह पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित-अनूदित और श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला काशी द्वारा सन् १९७० में प्रकाशित है।

पंचम अधिकारमें ५४ पद्य, षष्ठ अधिकारमें ५२ पद्य, सप्तम अधिकारमें ६० पद्य, अष्टम अधिकारमें ५५ पद्य और नवम अधिकारमें २३ पद्य हैं। इन अधिकारोंके नाम क्रमशः निम्न प्रकार हैं—

१. मोक्षमार्गाधिकार—जीवाधिकार
२. जीवतत्त्वनिरूपणाधिकार
३. अजीवाधिकार,
४ आस्रवतत्त्वाधिकार,
५. बन्धतत्त्वाधिकार,
६. संवरतत्त्वाधिकार,
७. निर्जरातत्त्वाधिकार,
८. मोक्षतत्त्वाधिकार,
९ उपसंहार,

इस ग्रन्थको आचार्यने मोक्षमार्गका प्रकाश करनेवाला दीपक बतलाया है; क्योंकि इसमें युक्ति और आगमसे सुनिश्चित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका स्वरूप प्रतिपादित किया है। सम्यग्दर्शनादिका स्वरूप बतलाते हुए जीवादितत्त्वोंका विशद विवेचन किया है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व बतलाये हैं। इनमें जीवतत्त्व उपादेय है और अजीवतत्त्व हेय है। अजीवका जीवके साथ सम्बन्ध क्यों होता है, इसका कारण बतलानेके लिए आस्रवका और अजीवका सम्बन्ध होनेसे जीवकी क्या दशा होती है, यह बतलानेके लिए बन्धका कथन किया है। हेय—अजीवतत्त्वका सम्बन्ध जीवसे किस प्रकार छूट सकता है, यह बतलानेके लिए संवर और निर्जराका कथन तथा अजीवतत्त्वका सम्बन्ध छूटनेपर जीवकी क्या दशा होती है, यह दिखलानेके लिए मोक्षतत्त्वका कथन किया है। इन सात तत्त्वोंके सम्यक्-परिज्ञानके लिए नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपोंका तथा प्रमाण और नयोंका विस्तारसे वर्णन किया है। प्रथम अधिकारके अन्तमें निर्देश स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्व अनुयोगोंका भी उल्लेख किया है।

द्वितीय अधिकारमें जीवके औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन पाँच स्वतत्त्वोंका वर्णन किया गया है। जीवका लक्षण बतलानेके लिए उपयोगका निरूपण आया है। उपयोगके साकार और अनाकारके भेदसे दो भेद बतलाते हुए ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगका वर्णन किया है।

पश्चात् जीवके संसारी और मुक्तके भेदसे दो भेद कर संसारी जीवोंका वर्णन गुणस्थान आदि बीस प्ररूपणाओंके द्वारा किया है।

तृतीय अधिकारमें अजीवतत्त्वका वर्णन करते हुए पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव इन छह द्रव्योंका स्वरूप, इनके देश, काल, पुद्गलोंके भेद, अणु और स्कन्धका स्वरूप, पुद्गल द्रव्यकी पर्याएँ तथा स्कन्ध बननेकी प्रक्रियाका वर्णन किया गया है।

चतुर्थ अधिकारमें आस्रवतत्त्वका वर्णन है। कर्मोंके आस्रवोंका विस्तार-सहित वर्णन किया है। शुभास्रवके वर्णनप्रसंगमें व्रतोंका निर्देश आया है। पंचम अधिकारमें बन्धका स्वरूप, बन्धके कारण और बन्धके भेद वर्णित हैं। इसमें कर्मोंकी मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंके नाम, लक्षण तथा उनकी स्थिति आदिका कथन किया है।

षष्ठ अधिकारमें संवरतत्त्वका वर्णन है। इसमें संवरका स्वरूप तथा उसके कारणभूत गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह, जय और चारित्रका वर्णन किया गया है। सप्तम अधिकारमें निर्जराका वर्णन आया है। इसमें निर्जराके भेद तथा निर्जराके कारणभूत तपोंका विस्तारसे वर्णन किया गया है।

अष्टम अधिकारमें मोक्षका वर्णन है। मोक्षके लक्षण तथा उसकी प्राप्तिके क्रमका सुन्दर विवेचन किया है।

नवम अधिकारमें ग्रन्थका उपसंहार करते हुए प्रमाण, नय, निक्षेप और निर्देश आदिके द्वारा सात तत्त्वोंको जानकर मोक्षमार्गका आश्रय लेनेका कथन किया है। निश्चय और व्यवहारके भेदसे मोक्षमार्ग दो प्रकारका है। निश्चयमोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहारमोक्षमार्ग साधन है। अपनी शुद्धात्माकी जो श्रद्धा, ज्ञान और उपेक्षण—राग-द्वेषसे रहित प्रवर्तन है वह निश्चयमोक्षमार्ग है और देव-शास्त्रगुरुका श्रद्धान व्यवहारमोक्षमार्ग है। व्यवहारमोक्षमार्ग अन्तमें चलकर निश्चयमोक्षमार्गमें विलीन हो जाता है और उससे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः मोक्षप्राप्तिका साक्षात् कारण निश्चयमोक्षमार्ग है। व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गका साधक होनेके कारण परम्परासे मोक्षमार्ग है। अतएव साधकको निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गको अपनाकर मोक्षकी प्राप्ति करनी चाहिये। बताया है—

स्यात्सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः
पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ॥
एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः
स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः[1] ॥

---

१. तत्त्वार्थसार, वर्णीग्रन्थमाला संस्करण ९।२१।

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्ररूप है और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सदा अद्वितीय रहने वाला एक ज्ञानी आत्मा ही मोक्ष-मार्ग है।

विषय-स्रोत

यों तो तत्त्वार्थसार तत्त्वार्थसूत्रका ही व्याख्यान अथवा सार है, फिर भी इसके विषय-स्रोत गृद्धपिच्छाचार्यके तत्त्वार्थसूत्रके अतिरिक्त पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि, अकलङ्कदेवका तत्त्वार्थवार्तिक, प्राकृतपंचसंग्रह आदि ग्रन्थ हैं। प्रथम अधिकार तत्त्वार्थसूत्रके आधार पर ही रचा गया है! द्वितीय अधिकारकी विषयवस्तुका आधार पंचसंग्रह और तत्त्वार्थवार्तिक हैं। तत्त्वार्थसूत्रके द्वितीय तृतीय और चतुर्थ अध्यायमें वर्णित समस्त प्रमेयोंको तत्त्वार्थसारके द्वितीय अधिकारमें समाविष्ट किया गया है। सर्वार्थसिद्धिसे भी अनेक विषय गृहीत हैं।

तृतीय अधिकारमें वर्णित अजीवतत्त्व और षड्द्रव्योंके निरूपणका आधार तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकका पञ्चम अध्याय है।

चतुर्थ अधिकरणके प्रमेयोंका स्रोत तत्त्वार्थसूत्रके षष्ठ और सप्तम अध्याय हैं। अनेक प्रमेय इन्हीं अध्यायोंसे सम्बद्ध तत्त्वार्थवार्तिक और सर्वार्थसिद्धिसे भी संगृहीत हैं। पञ्चम अधिकारका आधार तत्त्वार्थसूत्र और उससे सम्बन्धित टीकाओंका अष्टम अध्याय है। अष्टम अधिकारके प्रमेय तत्त्वार्थवार्तिकसे ग्रहण किये गये हैं। यहाँ हम तुलना द्वारा अपने उपर्युक्त कथनको पुष्टि करते हैं—

जवणालियामसूरीचंदद्धअइमुत्तफुल्लतुल्लाइं ।
इंदियसंठाणाइं फासं पुण णेगसंठाणं ॥१।६५॥ —पंचसंग्रह

यवनालमसूरातिमुक्तेन्द्वर्धसमाः क्रमात् ।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युः स्पर्शनं नैकसंस्थितिः ॥ २।५०॥
त० सा०, अधिकार–२

खुल्ला वराडसंखा अंक्खुणहअरिट्ठगा य गंडोला ।
कुक्खिकिमिसिप्पिआई णेया वेइंदिया जीवा ॥१।७०॥ —पंचसंग्रह

शम्बूकः शंखशुक्तिर्वा गण्डूपदकपर्दकाः ।
कुक्षिकृम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाः प्राणिनो मताः ॥२।५३॥
त० सा०, अधिकार–२

कुंथुपिपीलयमंकुणविच्छियजूविंदगोवगोम्हीया ।
उत्तिगमट्टियाई णेया तेइंदिया जीवा ॥१।७१। —पंचसंग्रह

कुंथुः पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चेन्द्रगोपकः ।
घुणमत्कुणपूकाद्यास्त्रीन्द्रियाः सन्ति जन्तवः ॥२।५४॥ त० सा०

'अथोत्पादः क्व तेषामिति ? अत्रोच्यते प्रथमायामसंज्ञिन उत्पद्यंते, प्रथमा-द्वितीययोः सरीसृपाः, तिसृषु पक्षिणः, चतसृषूरगाः, पञ्चसु सिंहाः, षट्सु स्त्रियः, सप्तसु मत्स्य-मनुष्याः। न च देवा नारका वा नरकेषु उत्पद्यन्ते।'

—तत्त्वार्थवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, पृष्ठ–१६८

घर्मामसंज्ञिनो यान्ति वंशान्ताश्च सरीसृपाः ।
मेघान्ताश्च विहङ्गाश्च अञ्जनान्ताश्च भोगिनः ॥

—तत्त्वार्थसार। २।१४६

तामरिष्टां च सिंहास्तु मेघाद्यन्तास्तु यौषितः ।
नरा मत्स्याश्च गच्छन्ति माघवीं ताश्च पापिनः ॥

—तत्त्वार्थसार। २।१४७

आद्यभावादन्ताभाव इति चेत्, न, दृष्टत्वादन्त्यबीजवत्

– तत्त्वार्थवार्तिक, ज्ञानपीठ संस्करण पृ० ६४१

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबन्धनसन्ततेः ।
अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्त्यबीजवत् ॥

—तत्त्वार्थसार। ८।६

पुनर्बन्धप्रसंगो जानतः पश्यतश्च कारुण्यादिति चेत्, न, सर्वास्रवपरिक्षयात्

—तत्त्वार्थवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, पृ० ६४३

जानतः पश्यतश्चोर्द्ध्वं जगत्कारुण्यतः पुनः ।
तस्य बन्धप्रसङ्गो न सर्वास्रवपरिक्षयात् ॥

—तत्त्वार्थसार। ८।९

अकस्मादिति चेत्, अनिर्मोक्षप्रसङ्गः ।

—तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ६४३

अकस्माच्च न बन्धः स्यादनिर्मोक्षप्रसङ्गतः ।
बन्धोपपत्तिस्तत्र स्यान्मुक्तिप्राप्तेरनन्तरम् ॥

—तत्त्वार्थसार ८।१०

गौरवाभावाच्च ॥८॥ —तत्त्वार्थवार्तिक पृ०-६४३

तथातिगौरवाभावान्न पातोऽस्य प्रसज्जते ।
वृन्तसम्बन्धविच्छेदो पतत्याम्रफलं गुरु ॥

—तत्त्वार्थसार। ८।१२

शरीरानुविधायित्वे तदभावाद्विसर्पणप्रसङ्ग इति चेत्, न, कारणाभावात्।।१३।।

—तत्त्वार्थवार्तिक पृ०-७४३

शरीरानुविधायित्वे तद्भावाद्विसर्पणम्।
लोकाकाशप्रमाणस्य तावन्नाकारणत्वतः॥

—तत्त्वार्थसार ८।१६

दृष्टत्वाच्च निगलादिवियोगे देवदत्ताद्यवस्थानवत्।

—तत्त्वार्थवार्तिक पृ०-६४४

कस्यचिच्छृङ्खलामोक्षे तत्रावस्थानदर्शनात्।
अवस्थानं न मुक्तानामूर्ध्वव्रज्यात्मकत्त्वतः॥

—तत्त्वार्थसार। ८।१९

समयसार-कलश

समयसार-कलश यथार्थतः कुन्दकुन्दके समयसारपर कलशरूपमें लिखा गया है। इसका विषय-वर्गीकरण भी कुन्दकुन्दके विषयके समान ही है। इसमें कुल २७८ पद्य हैं, जो निम्न अधिकारोंमें विभक्त हैं—

१. पूर्वरङ्ग
२. जीवाजीवाधिकार
३. कर्तृकर्माधिकार
४. पुण्यपापाधिकार
५. आस्रवाधिकार
६. संवराधिकार
७. निर्जराधिकार
८. बन्धाधिकार
९. मोक्षाधिकार
१०. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार
११. स्याद्वादाधिकार
१२. साध्य-साधकाधिकार

आरम्भमें ही आत्म-तत्त्वको नमस्कार करते हुए बताया है—

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाच भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे॥ —पद्य-१।

मैं समयसार—समस्त पदार्थोंमें श्रेष्ठ उस आत्मतत्त्वको नमस्कार करता हूँ, जो स्वानुभूतिसे स्वयंप्रकाश है, चैतन्यस्वभाववाला है, शुद्ध सत्ता-रूप

है और समस्त पदार्थोंको जाननेवाला है अथवा चैतन्यस्वभावसे भिन्न समस्त रागादि विकारोंको नष्ट करनेवाला है। इस प्रकार आरम्भमें ही शुद्ध आत्म-तत्त्वको नमस्कार किया गया है। समयसारकी व्याख्याका प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है—

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा—
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
ममपरमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते—
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

इस समयसारकी व्याख्यासे मेरी अनुभूतिकी परम विशुद्धता प्रकट हो। यद्यपि मेरी वह अनुभूति शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्तिसे युक्त है अर्थात् परम ज्ञायक भावसे सहित है तथापि वर्तमानमें परपरिणतिका कारण जो मोहनामका कर्म है, उसके उदयरूप विपाकसे निरन्तर रागादिकी व्याप्तिसे कल्माषित—मलिन हो रही है। अर्थात् इस व्याख्यासे मेरी अनुभूतिमें परम विशुद्धता उत्पन्न होगी। निश्चय और व्यवहार नयके विवादको समाप्त करते हुए बताया है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥४॥

अर्थात् निश्चय और व्यवहार नयके विषयमें परस्पर विरोध है, क्योंकि निश्चयनय अभेदको ग्रहण करता है और व्यवहारनय भेदको। किन्तु इस विरोध-का परिहार करनेवाला स्याद्वादवचन है, उस वचनमें वे ही रमण कर सकते हैं, जिन्होंने मोहका वमन कर दिया है और वे ही पुरुष शीघ्र ही उस समयसार-का अवलोकन करते हैं, जो कि अतिशयसे परमज्योतिस्वरूप है। नवीन नहीं अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे नित्य हैं और एकान्तपक्षसे जिसका खण्डन नहीं हो सकता।

शुद्धनयकी दृष्टिसे आत्मा अपने एकपनमें नियत है। स्वकीय गुणपर्यायों-में व्याप्त होकर रहता है तथा पूर्णज्ञानका पिण्ड है। ऐसे आत्मतत्त्वका आत्मातिरिक्त द्रव्योंसे भिन्न अवलोकन करता है, इसीका नाम सम्यक्दर्शन है। इसके होते ही जो आत्मज्ञान होता है वह सम्यक्ज्ञान कहलाता है। जब तक आत्मामें परसे भिन्न अपनी यथार्थ प्रतीति नहीं होती तब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता। अतएव नवतत्त्वकी संततिको छोड़कर केवल एक आत्माको ही परसे भिन्न शुद्धरूपमें अनुभूत करना ही यथार्थ पुरुषार्थ है। बताया है—

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्माऽयमेकोऽस्तु नः ॥६॥

इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने समयसारके समान ही विषयोंका विवेचन करते हुए आत्माका कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिका निरूपण किया है। अन्तमें आत्माकी आश्चर्यंकारक महिमाका वर्णन करते हुए लिखा है—"जब विभावशक्तिकी अपेक्षासे विचार करते हैं तब आत्मामें कषायका उपद्रव दिखाई देता है और जब स्वभावदशाका विचार करते हैं तो शान्तिका प्रसार अनुभवमें आता है। कर्मबन्धकी अपेक्षा संसारकी जन्म-मरण रूप बाधा दिखाई देती है और शुद्ध स्वरूपका विचार करनेपर मुक्तिका स्पर्श अनुभवमें आता है। स्वपरिज्ञायक भावकी अपेक्षा करनेपर आत्मा लोकत्रयका ज्ञाता है और ज्ञायकभावकी अपेक्षा एक चैतन्यमात्र अनुभवमें आता है। इस प्रकार अनेक विरुद्ध धर्मोंके समावेश-के कारण आत्मस्वभावकी अद्भुत महिमा दिखलाई पड़ती है—

कषायकलिरेकतः स्खलति शान्तिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः ॥२७३॥

समयसारकी अपेक्षा समयसारकलश अतिगहन है। निश्चयतः आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने अध्यात्मगंगा प्रवाहित की है। इस गंगामें अवगाहन करनेवाले सभी प्रकारसे शान्तिलाभ करते हैं।

समयसार-टीका

अमृतचन्द्रकी समयसार-टीका आत्मख्यातिके नामसे प्रसिद्ध है। यह आचाय-की प्रांजल शैलीका उत्कृष्ट नमूना है। उन्होंने गाथाके शब्दोंका व्याख्यान न कर उसके अभिप्रायको अपनी परिष्कृत गद्यशैलीमें व्यक्त किया है। जहाँ उन्हें गाथा-के मूलभावमें कोई कमी दिखलाई पड़ी है वहाँ उन्होंने समयसारकलश नामसे पद्य भी लिख दिया है। यह समयसारकलश आत्मख्यातिटीकामें मिश्रित हो जानेपर भी उसका ग्रंथरूपमें पृथक् अस्तित्व भी है। टीकामें समस्यन्तपद भी विद्यमान हैं तथा अनेक शब्दोंके निर्वचन भी दिये गये हैं और भावको स्पष्ट करनेका पूर्ण प्रयास किया है। जहाँ कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें प्रमेय अस्पष्ट थे वहाँ कलश अथवा आत्मख्याति टीकाद्वारा ही स्पष्टता लाकर जैनतत्त्वज्ञानको समृद्ध किया है।

अमृतचन्द्रने ही समयसारके विषयोंका वर्गीकरण किया है तथा समयपाहुड-को समयसार नाम देनेका श्रेय भी इन्हींको प्राप्त है। टीकाको नाटकके समान अङ्कोंमें विभाजित किया है। प्रथम अङ्कसे पूर्वके प्रारम्भिक भागको पूर्वरङ्ग कहा गया है। जिस प्रकार नाटकमें पात्रोंका निष्क्रमण और प्रवेश होता है उसी प्रकार यहाँपर भी प्रवेश और निष्क्रमण कराया गया है। प्रथम अङ्क जीवा-जीवाधिकार है। इसमें जीवको अजीवसे भिन्न बतलाया है और अन्तमें लिखा है—"जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रान्तौ" अर्थात् जीव और अजीव पृथक्-पृथक् होकर चले गये। दूसरे कर्तृकर्म अधिकारके आरम्भमें लिखा है—"जीव-अजीव ही कर्त्ता और कर्मका वेष धारणकर प्रवेश करते हैं तथा अन्तमें लिखा है—"जीव और अजीव कर्त्ता एवं कर्मका वेष छोड़कर निकल गये।" तीसरे पुण्य-पाप अधिकारके आदिमें लिखा है—"एक ही कर्म पुण्य और पापके रूपमें दो पात्रोंका वेष धारण करके प्रवेश करता है" और अन्तमें लिखा है—पुण्य और पापके रूपसे दो पात्रोंका वेषधारण करनेवाला कर्म एक पात्ररूप होकर निकल गया अर्थात् कर्ममें पुण्य-पापका भेद मिथ्या है, दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष अधिकारोंमें उन-उन तत्त्वोंका प्रवेश और निर्गमन कराया गया है। वस्तुतः यह संसार एक रंगमंच है जिसपर जीव और अजीव नानारूप धारण करके अभिनय करते हैं। यहाँ अभिनयका आचरण करनेवाला या सूत्रधार पौद्‌गलिक कर्म है।

यह टीका पर्याप्त विस्तृत और गहन है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ उद्‌धृत की जाती हैं—

"अज्ञानी हि शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन, स्वपरयोरेकत्व-दर्शनेन, स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात् प्रकृतिस्वभाव-मप्यहंतया अनुभवन् कर्मफलं वेदयते। ज्ञानी तु शुद्धात्मज्ञानं सद्भावात्स्वपरयोर्वि भागज्ञानेन स्वपरयोर्विभागदर्शनेन स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वाभावा दपसृतत्वात् शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहंतयानुभवन् कर्मफलमुदितं ज्ञेयमात्रत्वात् जानात्येव न पुनस्तस्याहंतयाऽनुभवितुमशक्यत्वाद्वेद्यते ॥३१६॥

प्रवचनसार-टीका

प्रवचनसारकी टीकाका नाम तत्त्वदीपिका है। यह टीका भी प्रांजल शैलीमें समयसारकी टीकाके समान ही लिखी गयी है। इससे भी उनकी आध्यात्मिक रसिकता, आत्मानुभव, प्रखर विद्वत्ता, वस्तुस्वरूपको तर्कपूर्वक सिद्ध करनेकी असाधारण शक्ति, तत्त्वतत्त्वार्थका गम्भीरज्ञान, निश्चय व्यवहारका क्रमबद्ध

निरूपण आदि अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं। मूलग्रन्थकारने जिन भावोंको छोड़ भी दिया है उनका भी प्रकटीकरण टीकाकारने किया है। टीका समस्यन्त गद्यमें लिखी गयी है, शैली पर्याप्त प्रौढ़ है और शब्दार्थके स्थानपर विषयको स्पष्ट करनेवाली है। यथा—

"यतो न खल्विन्द्रियाण्यालम्ब्यावग्रहेहावायपूर्वकप्रक्रमेण केवली विजानाति, स्वयमेव समस्तावरणक्षयक्षण एवानाद्यनन्ताहेतुकासाधारणभूतज्ञानस्वभावमेव कारणत्वेनोपादाय तदुपरि प्रविकसत्केवलज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमते, ततोऽस्याक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया समक्षसंवेदनालम्बनभूताः सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा एव भवन्ति।"

पञ्चास्तिकाय-टीका

पंचास्तिकायकी १७३ गाथाओंपर आचार्य अमृतचन्द्रने टीका लिखी है। टीकाकारने इस ग्रन्थको चार भागोंमें विभाजित किया है—

१. पीठिका
२. प्रथम श्रुतस्कन्ध
३. द्वितीय श्रुतस्कन्ध
४. चूलिका

पीठिकामें २६ गाथाएँ हैं और उनकी व्याख्या उक्त दोनों ग्रन्थोंके समान ही की गयी है। प्रथम श्रुतस्कन्धमें ७८ गाथाओंकी व्याख्या है। द्वितीय श्रुतस्कन्धमें ४९ गाथाओंकी व्याख्या दी गयी है। चूलिकामें बीस गाथाओंकी टीका है। इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने पंचास्तिकायके विषयको भी अपनी टीकामें विस्तृत और स्पष्ट बनानेका पूर्ण प्रयास किया है। इस टीकाका नाम भी तत्त्वदीपिका है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

विक्रमकी नवम शताब्दीमें धवला और जयधवलाकी रचनाके पश्चात् सिद्धान्तविषयक विद्वत्ताका मापदण्ड इन ग्रन्थोंको मान लिया गया और इनके पठन-पाठनका सर्वत्र प्रचार हुआ। कालक्रमानुसार ये दोनों अगाध टीकाएँ जब दुष्कर प्रतीत होने लगीं, तो इनके सारभागको एकत्र करनेके लिए सिद्धान्तचक्रवर्तीने प्रयास किया। सिद्धान्तचक्रवर्ती इनकी उपाधि थी। इन्होंने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें बताया है—

जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण ।
तह मइ-चक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं[1] ॥

जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने चक्ररत्नसे भारतवर्षके छह खण्डोंको बिना किसी विघ्न-बाधाके अधीन करता है, उसी तरह मैंने (नेमिचन्द्रने) अपनी बुद्धि-रूपी चक्रसे षट्खण्डोंको अर्थात् षट्खण्डागमसिद्धान्तको सम्यक्रीतिसे अधीन किया है।

सिद्धान्तग्रन्थोंके अभ्यासीको सिद्धान्तचक्रवर्तीका पद प्राचीन समयसे ही दिया जाता रहा है। वीरसेनस्वामीने जयधवलाकी प्रशस्तिमें लिखा है कि भरतचक्रवर्तीकी आज्ञाके समान जिनकी भारती षट्खण्डागममें स्खलित नहीं हुई, अनुमान है कि वीरसेनस्वामीके समयसे ही सिद्धान्तविषयज्ञको सिद्धान्त-चक्रवर्ती कहा जाने लगा है। निश्चयतः आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तग्रन्थोंके अधिकारी विद्वान् थे। यही कारण है कि उन्होंने धवलासिद्धान्तका मंथन कर गोम्मटसार; और जयधवलाटीकाका मंथन कर लब्धिसार ग्रन्थकी रचना की है।

जीवन-परिचय

आचार्य नेमिचन्द्र देशीयगणके हैं। इन्होंने अभयनन्दि, वीरनन्दि और इन्द्र-नन्दिको अपना गुरु बतलाया है। कर्मकाण्डमें आया है—

जस्स य पायपसायेणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो ।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं[2] ॥

× × × ×

णमिऊण अभयणंदिं सुदसायरपारगिंदणंदिगुरुं ।
वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं[3] ॥

अर्थात् जिनके चरणप्रसादसे वीरनन्दि और इन्दनन्दिका वत्स अनन्त-संसाररूपी समुद्रसे पार हो गया, उन अभयनन्दिगुरुको मैं नमस्कार करता हूँ।

अभयनन्दिको, श्रुतसमुद्रके पारगामी इन्द्रनदिगुरुको और वीरनन्दिको नमस्कार करके प्रकृतियोंके प्रत्यय—कारणको कहूँगा।

लब्धिसारमें लिखा है—"वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिके वत्स एवं अभयनन्दि-

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ३९७।
२. वही, गाथा ४३६।
३. वही, गाथा ७८५।

के शिष्य अल्पज्ञानी नेमिचन्द्रने दर्शनलब्धि और चारित्रलब्धिका कथन किया[1] है।" 'त्रिलोकसार' में अपनी गुरुपरम्पराका कथन करते हुए लिखा है—

"इदि णेमिचंदमुणिणा अप्पसुदेणभयणंदिवच्छेण।
रइयो तिलोयसारो खमंतु तं बहुसुदाइरिया॥[2]

अर्थात् अभयनन्दिके वत्स अल्पश्रुतज्ञानी नेमिचन्द्रमुनिने इस त्रिलोकसार ग्रन्थको रचा।

उपर्युक्त ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंसे स्पष्ट है कि अभयनन्दि, वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि इनके गुरु थे। इन तीनोंमेंसे वीरनन्दि तो चन्द्रप्रभचरितके कर्त्ता ज्ञात होते हैं, क्योंकि उन्होंने चन्द्रप्रभचरितकी प्रशस्तिमें अपनेको अभयनन्दिका शिष्य बतलाया है और ये अभयनन्दि नेमिचन्द्रके गुरु ही होना चाहिये, क्योंकि कालगणनासे उनका वही समय आता है। अतः स्पष्ट है कि उक्त तीनों गुरुओंमें अभयनन्दि ज्येष्ठ गुरु होने चाहिये। वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और नेमिचन्द्र उनके शिष्य रहे होंगे। यहाँ यह कल्पना करना उचित नहीं कि नेमिचन्द्र सबसे छोटे थे, अतः उन्होंने अभयनन्दिके शिष्य वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिसे भी शास्त्राध्ययन किया हो। वस्तुतः अभयनन्दिके वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और नेमिचन्द्र ये तीनों ही शिष्य थे। वय और ज्ञानमें लघु होनेके कारण नेमिचन्द्रने वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिसे भी अध्ययन किया होगा।

नेमिचन्द्रने वीरनन्दिको चन्द्रमाकी उपमा देकर सिद्धान्तरूपी अमृतके समुद्रसे उनका उद्भव बतलाया है। अतः वीरनन्दि भी सिद्धान्तग्रन्थोंके पारगामी थे। इन्द्रनन्दिको तो, नेमिचन्द्रने स्पष्टरूपसे श्रुतसमुद्रका पारगामी लिखा है। उन्हींके समीप सिद्धान्तग्रन्थोंका अध्ययन करके कनकनन्दि आचार्यने सत्त्वस्थानका कथन किया है। उसी सत्त्वस्थानका संग्रह नेमिचन्द्रने कर्मकाण्ड गोम्मटसारमें किया है—

वरइंदणंदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धंतं।
सिरिकणयणंदिगुरुणा सत्तट्ठाणं समुद्दिट्ठं॥[3]

इन्द्रनन्दिके सम्बन्धमें आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने लिखा है—'इस नामके कई आचार्य हो गये हैं, उनमेंसे 'ज्वालामालिनीकल्प' के कर्ता इन्द्रनन्दिने अपने इस ग्रन्थका रचनाकाल शक सं० ८६१ (वि० सं० ९९६) दिया है और

---

१. लब्धिसार, गाथा ६४८।
२. त्रिलोकसार, गाथा १०१८।
३. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३९६।

यह समय नेमिचन्द्रके गुरु इन्द्रनन्दिके साथ बिल्कुल संगत बैठता है, पर इन्होंने अपनेको वप्पनन्दिका शिष्य कहा है। बहुत सम्भव है कि इन इन्द्रनन्दिने वप्पनन्दिसे दीक्षा ली हो और अभयनन्दिसे सिद्धान्तग्रन्थोंका अध्ययन किया हो।

आचार्य नेमिचन्द्रका शिष्यत्व चामुण्डरायने ग्रहण किया था। यह चामुण्डराय गंगवंशी राजा राचमल्लका प्रधानमन्त्री और सेनापति था। उसने अनेक युद्ध जीते थे और इसके उपलक्ष्यमें अनेक उपाधियाँ प्राप्त की थीं। यह वीर-मार्तण्ड कहलाता था। गोम्मटसारमें 'सम्मत्तरयणनिलय'—सम्यक्त्वरत्ननिलय,[1] 'गुणरयणभूषणं—गुणरत्नभूषण, 'सत्ययुधिष्ठिर'[3] 'देवराज'[4] आदि विशेषणोंका प्रयोग किया है। इन चामुण्डरायने श्रवणबेलगोला (मैसूर) में स्थित विन्ध्यगिरि पर्वतपर बाहुबलि स्वामीकी ५७ फीट ऊँची अतिशय मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। बाहुबलि भगवान् ऋषभदेवके पुत्र थे। उन्होंने बड़ी कठोर तपस्या की थी। उनकी स्मृतिमें उनके बड़े भाई चक्रवर्ती भरतने एक प्रतिमा स्थापित करायी थी। वह कुक्कुटसर्पोंसे व्याप्त हो जानेके कारण कुक्कुटजिनके नामसे प्रसिद्ध थी। उत्तर भारतकी इस मूर्तिसे भिन्नता बतलानेके लिए चामुण्डरायके द्वारा स्थापित मूर्ति 'दक्षिणकुक्कुटजिन' कहलायी। गोम्मटसार कर्मकाण्डमें बताया है—

जेण विणिम्मियपडिमावयणं सव्वट्ठसिद्धिदेवेहिं।
सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ[5] ॥

× × × ×

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य।
गोम्मटरायविणिम्मियदक्खिणकुक्कडजिणो जयउ ॥[6]

इन दोनों गाथाओंसे स्पष्ट है कि चामुण्डरायने गोम्मट स्वामीकी जो प्रतिमा विन्ध्यगिरि पर्वतपर स्थापित की उसके मुखका दर्शन सर्वार्थसिद्धिके देवोंने किया। इससे यह ध्वनित होता है कि विन्ध्यगिरिपर्वतकी ऊँचाईके कारण गोम्मटस्वामीकी मूर्ति अधिक ऊँची दिखलायी पड़ती थी, जिससे

१. कर्मकाण्ड, गाथा १।
२. जीवकाण्ड, गाथा १।
३. कर्मकाण्ड, गाथा ४५।
४. वही, गाथा २५८।
५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ९६९।
६. वही, गाथा ९६८।

सर्वार्थसिद्धिके देव भी उसका दर्शन कर सकते थे। इस चैत्यालयके उन्नत स्तम्भ, स्वर्णमयी कलश एवं उसके अन्य आकार-प्रकारका निर्देश भी गोम्मटसारमें प्राप्त होता है। लिखा है—

वज्जयणं जिणभवणं ईसिपभारं सुवण्णकलसं तु।
तिहुवणपडिमाणिक्कं जेण कयं जयउ सो राओ॥
जेणुब्भियथंभुवरिमजक्खतिरीटग्गकिरणजलधोया।
सिद्धाण सुद्धपाया सो राओ गोम्मटो जयउ॥[1]

विन्ध्यगिरिके सामने स्थित दूसरे चन्द्रगिरिपर चामुण्डरायबसतिके नामसे एक सुन्दर जिनालय स्थित है। इस जिनालयमें चामुण्डरायने इन्द्रनीलमणिकी एक हाथ ऊँची तीर्थंकर नेमिनाथकी प्रतिमा स्थापितकी थी, जो अब अनुपलब्ध है।

चामुण्डरायका घरू नाम गोम्मट था। यह तथ्य डॉ० ए० एन० उपाध्येने अपने एक लेखमें लिखा है। उनके इस नामके कारण ही उनके द्वारा स्थापित बाहुबलिकी मूर्ति गोमटेश्वरके नामसे प्रसिद्ध हुई। डॉ० उपाध्येके अनुसार गोम्मटेश्वरका अर्थ है, चामुण्डरायका देवता। इसी कारण विन्ध्यगिरि, जिसपर गोम्मटेश्वरकी मूर्ति स्थित है, गोम्मट कहा गया। इसी गोम्मट उपनामधारी चामुण्डरायके लिए नेमिचन्द्राचार्यने अपने गोम्मटसार नामक ग्रन्थकी रचना की है। इसीसे इस ग्रन्थको गोम्मटसारकी संज्ञा दी गयी है। अतएव यह स्पष्ट है कि गंगनरेश राचमल्लदेवके प्रधान सचिव और सेनापति चामुण्डरायका आचार्य नेमिचन्द्रके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

समय-विचार

चामुण्डरायने अपना चामुण्डपुराण शक सं० ९०० (वि० सं० १०३५) में बनाकर समाप्त किया। अतः उनके लिए निर्मित गोम्मटसारका सुनिश्चित समय विक्रम की ११ वीं शताब्दी है। श्री मुख्तार साहब और प्रेमीजी भी इसी समयको स्वीकार करते हैं।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें चामुण्डरायके द्वारा निर्मित गोम्मटजिनकी मूर्तिका निर्देश है। अतः यह निश्चित है कि गोम्मटसारकी समाप्ति गोम्मटमूर्तिकी स्थापनाके पश्चात् ही हुई है। किन्तु मूर्तिके स्थापनाकालको लेकर इतिहासज्ञोंमें बड़ा मतभेद है। 'बाहुबलिचरित्र' में गोम्मटेश्वरकी प्रतिष्ठाका समय निम्नप्रकार बतलाया है—

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ९७०–९७१।

"कल्क्यब्दे षट्शताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासिचैत्रे
पञ्चम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार
श्रीमच्चामुण्डराजो वेल्गुलनगरे गोम्मटेश प्रतिष्ठाम् ॥"

अर्थात् कल्कि सं० ६०० में विभव संवत्सरमें चैत्र शुक्ला पंचमी रविवारको कुम्भ लग्न, सौभाग्य योग, मृगशिरा नक्षत्रमें, चामुण्डरायने वेल्गुलनगरमें गोम्मटेशको प्रतिष्ठा करायी।

इस निर्दिष्ट तिथिके सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतभेद है। घोषालने अपने बृहद्द्रव्यसंग्रहके अंग्रेजी .अनुवादकी प्रस्तावनामें उक्त तिथिको २ अप्रैल ९८० माना है। श्रीगोविन्द पैने १३ मार्च ९८१ स्वीकार किया है। प्रो० हीरालालजीने २३ मार्च सन् १०२८ में उक्त तिथियोगको ठीक घटित बताया है। किन्तु श्यामशास्त्रीने तीन मार्च सन् १०२८ को उक्त तिथिके घटित होनेकी चर्चा की है। इस तरह बावनीचरित्रमें निर्दिष्ट सम्बन्धमें विवाद प्रस्तुत किया है। हमारे नम्र मतानुसार भारतीय ज्योतिषकी गणनाके आधार पर विभव संवत्सर चैत्र शुक्ला पंचमी रविवारको मृगशिर नक्षत्रका योग १३ मार्च सन् ९८१ में घटित होता है। अन्य ग्रहोंको स्थिति भी इसी दिन सम्यक् घटित होती है। अतः मूर्तिका प्रतिष्ठाकाल सन् ९८१ होना चाहिये।

चामुण्डरायने अपने चामुण्डपुराणमें मूर्तिस्थापनाकी कोई चर्चा नहीं की है। इससे यही अनुमान होता है कि चामुण्डपुराणके पश्चात् ही मूर्तिकी प्रतिष्ठा की गयी है। रन्नने अपना अजितनाथपुराण शक सं० ९१५ में समाप्त किया है। उसमें लिखा है कि अतिमव्वेने गोम्मटेश्वरको मूर्तिके दर्शन किये। अतः यह निश्चित है कि शक सं० ९१५ (वि० सं० १०५०) से पहले ही मूर्तिकी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। यदि चामुण्डपुराणमें मूर्तिकी स्थापनाकी कोई चर्चा न होनेको महत्त्व दिया जाय, तो वि० सं० १०३५ और वि० सं० १०५० के बीचमें मूर्तिकी प्रतिष्ठा माननी पड़ेगी, जिससे हमारे पूर्वकथनकी सिद्धि होती है। गंग राचमल्लका समय वि० सं० १०३१—१०४१ तक है। भुजवलिशतकके अनुसार उन्हींके राज्यकालमें मूर्तिकी प्रतिष्ठा हुई है। अतः मूर्ति स्थापनाका समय ई० सन् ९८१ उपयुक्त जान पड़ता है। अतएव आचार्य नेमिचन्द्रका समय ई० सन्‌की दशम शताब्दीका उत्तरार्द्ध या वि० सं० ११वीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध है।

रचनाएँ

आचार्य नेमिचन्द्र आगमशास्त्रके विशेषज्ञ हैं। इनकी निम्नलिखित रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—

१. गोम्मटसार
२. त्रिलोकसार
३. लब्धिसार
४. क्षपणासार

१. गोम्मटसार

यह ग्रन्थ दो भागोंमें विभक्त है—जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड। जीवकाण्डमें ७३४ गाथाएँ है और कर्मकाण्डमें ९६२ गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थपर दो संस्कृत-टीकाएँ भी लिखी गयी हैं—१. नेमिचन्द्र द्वारा जीवप्रदीपिका और २. अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा मन्दप्रबोधिनी। गोम्मटसारपर केशव वर्णी द्वारा एक कन्नड़वृत्ति भी लिखी मिलती है। टोडरमलजीने सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका नामकी वचनिका लिखी है।

गोम्मटसार षट्खण्डागमकी परम्पराका ग्रन्थ है। जीवकाण्डमें महाकर्म प्राभृतके सिद्धान्तसम्बन्धी जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदनाखण्ड और वर्गणाखंड इन पाँच विषयोंका वर्णन है। गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इन २० प्ररूपणाओंमें जीवकी अनेक अवस्थाओंका प्रतिपादन किया गया है।

जीवकाण्डमें जीवोंका कथन किया गया है। बीस प्ररूपणाओंका कथन पंचसंग्रहके समान ही किया गया है। गोम्मटसार संग्रहग्रन्थ है, इसमें सन्देह नहीं। जीवकाण्डका संकलन मुख्यरूपसे पञ्चसंग्रहके जीवसमास अधिकार तथा षट्खण्डागम प्रथम खण्ड जीवट्ठाणके सत्प्ररूपणानामक अधिकारोंसे किया गया है। धवला ग्रन्थमें पञ्चसंग्रहकी बहुत-सी गाथाएँ शाब्दिक अन्तरके साथ मिलती हैं। अतः जीवकाण्डकी अधिकांश गाथाएँ धवलाटीकामें मिलती हैं। पञ्चसंग्रहकी गाथाओंसे विषयका सम्बन्ध नहीं है।

पञ्चसंग्रहकी अपेक्षा जीवकाण्डकी गाथाओंमें विशेषता भी प्राप्त होती है। पंचसंग्रहमें ३० गाथाओंमें ही गुणस्थानोंके स्वरूपोंका निर्धारण किया गया है, जबकि जीवकाण्डमें ६८ गाथाओंमें गुणस्थानोंका स्वरूप वर्णित है। इस ग्रन्थमें २० प्ररूपणाओंका परस्परमें अन्तरभाव सम्बन्धी कथन और प्रमादोंके भंगोंका निरूपण भी पंचसंग्रहकी अपेक्षा विशिष्ट है। पंचसंग्रहमें जीवसमासका कथन केवल ग्यारह गाथाओंमें है, पर जीवकाण्डमें यह विषय ४८ गाथाओंमें निरूपित है। जीवकाण्डमें स्थान, योनि, शरीरकी अवगाहना और कुलोंके द्वारा जीवसमासका कथन भी विस्तारपूर्वक आया है। इस प्रकारका विस्तार

पञ्चसंग्रहमें नहीं मिलता है। पर्याप्तिका कथन पंचसंग्रहमें केवल दो गाथाओंमें आया है। किन्तु जीवकाण्डमें यह विषय ११ गाथाओंमें निबद्ध है। प्राणोंका कथन पंचसंग्रहमें छह गाथाओंमें है, पर जीवकाण्डमें यह विषय पाँच ही गाथाओंमें आया है। इसी प्रकार संज्ञाओं, स्वामियों, मार्गणाओंमें जीवों, इन्द्रिय मार्गणाकी अपेक्षा एकेन्द्रिय आदि जीवोंके कथन प्रभृतिमें विशेषताएँ विद्यमान हैं।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड

गोम्मटसार कर्मकाण्डके दो संस्करण प्राप्त होते हैं। पहला संस्करण रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बईका है और दूसरा देवकरण-शास्त्रमालाका है इस ग्रन्थमें ९ अधिकार हैं—

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन
२. बन्धोदयसत्व
३. सत्वस्थानभंग
४. त्रिचूलिका
५. स्थानसमुत्कीर्तन
६. प्रत्यय
७. भावचूलिका
८. त्रिकरणचूलिका
९. कर्मस्थितिबन्ध

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तनका अर्थ है आठों कर्मों और उनकी उत्तरप्रकृतियोंका कथन जिसमें हो। यतः कर्मकाण्डमें कर्मों और उनकी विविध अवस्थाओंका कथन आया है। इसमें जीव और कर्मोंके अनादि सम्बन्धका वर्णन कर कर्मों के आठ भेदोंके नाम, उनके कार्य, उनका क्रम और उनकी उत्तर प्रकृतियोंमेंसे कुछ विशेष प्रकृतियोंका स्वरूप, बन्धप्रकृतियों, उदयप्रकृतियों और सत्वप्रकृतियोंकी संख्या, देशघाती, सर्वघाती पुण्य और पाप प्रकृतियाँ, पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी और जीवविपाकी प्रकृतियाँ, कर्ममें निक्षेप-योजना आदिका कथन ८६ गाथाओंमें किया गया है। २२वीं गाथामें कर्मोंके उत्तरभेदोंकी संख्या अंकित की है, किन्तु आगे उन भेदोंको न बतलाकर उनमेंसे कुछ भेदोंके सम्बन्धमें विशेष बातें बतला दी गयी हैं। जैसे दर्शनावरणीयकर्मके ९ भेदोंमेंसे ५ निद्राओंका स्वरूप गाथा २३, २४, और २५ द्वारा बतलाया है। २६वीं गाथामें मोहनीयकर्मके एक भेद मिथ्यात्वके तीन भाग कैसे होते हैं, यह बतलाया है। गाथा २७ में नामकर्मके भेदोंमें

से शरीरनामकर्मके पाँच भेदोंके संयोगी भेद बतलाये हैं। गाथा २८ में अंगोपांगके भेद आये हैं। गाथा २९, ३०, ३१ और ३२ में किस संहननवाला जीव मरकर किस नरक और किस स्वर्ग तक जन्म लेता है, यह कथन किया है। ३३वीं गाथामें उष्णनामकर्म और आतपनामकर्मके उदयकी चर्चा की गयी है। इस प्रकार कर्मोंकी विशेष-विशेष प्रकृतियोंके सम्बन्धमें कथन आया है। कर्मप्रकृतिकी विभिन्न स्थितियोंको अवगत करनेके लिए यह कर्मकाण्डग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

बन्धोदयसत्वाधिकारमें कर्मोदयके बन्ध, उदय और सत्वका कथन आया है। स्तवके लक्षणानुसार कर्मकाण्डके इस दूसरे अधिकारमें कर्मोंके बन्ध, उदय और सत्वका गुणस्थान एव मार्गणाओंमें अन्वयपूर्वक कथन किया है। बन्धके प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका क्रमशः कथन किया है। प्रकृतिबन्धका कथन करते हुए यह बतलाया है कि किन-किन कर्मप्रकृतियोंका बन्ध किस-किस गुणस्थान तक होता है, आगे नहीं होता। यह कथन पञ्चसंग्रहमें भी है। गुणस्थानोंमें आठों कर्मोंकी १२० प्रकृतियोंके बन्ध, अबन्ध और बन्धव्युच्छित्तिका कथन करनेके बाद १४ मार्गणाओंमें भी वही कथन किया है। यह कथन पञ्चसंग्रहमें नहीं मिलता। नेमिचन्द्राचार्यने षट्खण्डागमसे लिया है।

प्रकृतिबन्धके पश्चात् स्थितिबन्धका कथन है। कर्मोंकी मूल एवं उत्तरप्रकृतियोंकी उत्कृष्ट और जघन्यस्थितिका निरूपण बन्धकोंके साथ किया गया है। इस विवेचनके लिये ग्रन्थकारने धवलाटीकाका आधार ग्रहण किया है।

तत्पश्चात् अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका वर्णन आया है। यह वर्णन पञ्चसंग्रहसे मिलता-जुलता है। प्रदेशबन्धका कथन करते हुए पंचसग्रहमें तो समयप्रबद्धका विभाग केवल मूलकर्मोंमें ही बतलाया है, पर कर्मकाण्डमें उत्तरप्रकृतियोंमें भी विभागका कथन किया है। कर्मकाण्डमें प्रदेशबन्धके कारणभूत योगके भेदों और अवयवोंका भी कथन है। पर यह कथन पंचसंग्रहमें नहीं है। केवल धवला और जयधवलामें ही प्राप्त है। उदयप्रकरणमें कर्मोंके उदय और उदीरणाका कथन गुणस्थान और मार्गणाओंमें है। अर्थात् प्रत्येक गुणस्थान और मार्गणामें प्रकृतियोंके उदय, अनुदय और उदय-व्युच्छित्तिका वर्णन है। सत्वप्रकरणमें गुणस्थान और मार्गणाओंमें प्रकृतियोंकी सत्त्वासत्त्व और सत्वविच्छुत्तिका कथन है। मार्गणाओंमें बन्ध, उदय और सत्त्वका कथन अन्यत्र नहीं मिलता। यह आचार्य नेमिचन्द्रकी अपनी विशेषता है।

सत्वस्थानभंगप्रकरणमें कहे गये सत्वस्थानका भंगोंके साथ कथन किया है। प्रत्येक गुणस्थानमें प्रकृतियोंके सत्वस्थानके कितने प्रकार सम्भव हैं और उनके

साथ जीव किस आयुको भोगता है और परभवकी किस आयुको बांधता है, यह सब विस्तारपूर्वक आया है। इसी प्रकरणके अन्तमें ग्रन्थकारने यह कहा है कि इन्द्रनन्दिगुरुके पासमें श्रवण करके कनकनन्दिने सत्वस्थानका निरूपण किया।

त्रिचूलिका अधिकारमें तीन चूलिकाएँ हैं—१. नवप्रश्नचूलिका, २. पंचभागहारचूलिका और ३. दशकरणचूलिका। पहली नवप्रश्नचूलिकामें ९ प्रश्नोंका समाधान किया है—

१. उदयव्युच्छित्तिके पहले बन्धव्युच्छित्तिको प्रकृतिसंख्या।
२. उदयव्युच्छित्तिके पीछे बन्धव्युच्छित्तिकी प्रकृतिसंख्या।
३. उदयव्युच्छित्तिके साथ बन्धव्युच्छित्तिकी प्रकृतिसंख्या।
४. जिनका अपना उदय होनेपर बन्ध हो, ऐसी प्रकृतियाँ।
५. जिनका अन्य प्रकृतिका उदयपर बन्ध हो, ऐसी प्रकृतियाँ।
६. जिनका अपना तथा अन्य प्रकृतियोंके उदय होनेपर बन्ध हो, ऐसी प्रकृतिसंख्या।
७. निरन्तरबन्धप्रकृतियाँ।
८. सान्तरबन्धप्रकृतियाँ।
९. निरन्तर, सान्तरबन्धप्रकृतियाँ।

उपर्युक्त ९ प्रश्नोंका इस अधिकारमें उत्तर दिया गया है।

पंचभागहारचूलिकामें उद्वेलन, विध्यात, अधःप्रवृत्त, गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम इन पाँच भागहारोंका कथन आया है। दशकरणचूलिकामें बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा, सत्ता, उदय, उपशम, निधत्ति और निकाचना इन दश करणोंका स्वरूप कहा गया है। और बतलाया है कि कौन करण किस गुणस्थान तक होता है। करणनाम क्रिया का है। कर्मोंमें ये दश क्रियायें होती हैं।

बन्धोदयसत्वयुक्तस्थानसमुत्कीर्तनमें एकजीवके एकसमयमें कितनी प्रकृतियोंका बन्ध, उदय अथवा सत्व सम्भव है, का कथन किया है। इस अधिकारमें आठों मूलकर्मोंको लेकर और पुनः प्रत्येक कर्मकी उत्तरप्रकृतियोंको लेकर बन्धस्थानों, उदयस्थानों और सत्वस्थानोंका निर्देश किया गया है। यह अधिकार गुणस्थानक्रमसे विचार करनेके कारण पर्याप्त विस्तृत है।

प्रत्ययाधिकारमें कर्मबन्धके कारणोंका कथन है। मूल कारण चार हैं—१. मिथ्यात्व, २. अविरति, ३. कषाय और ४. योग। इनके भेद क्रमसे ५, १२, २५ और १५ होते हैं। गुणस्थानोंमें इन्हीं मूल और उत्तर प्रत्ययोंका कथन इस अधिकारमें किया गया है तथा प्रत्येक गुणस्थानके बन्धके प्रत्यय बतलाये गये हैं।

भावचूलिकाधिकारमें औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक इन पाँच भावों तथा इनके भेदोंका निरूपण करते हुए उनके स्वसंयोगी और परसंयोगी भंगोंका गुणस्थानोंमें कथन किया है। इसके पश्चात् प्राचीन गाथा उद्धृत कर ३६३ मिथ्यावादियोंके मतोंका निर्देश किया है।

त्रिकरणचूलिकाधिकारमें अधःकरण, अपूर्वकरण और अनवृत्तिकरण इन तीन करणोंका स्वरूप कहा गया है।

कर्मस्थितिरचनाधिकारमें प्रतिसमय बंधनेवाले कर्मपरमाणुओंका आठों कर्मोंमें विभाजन होनेके पश्चात् प्रत्येक कर्मप्रकृतिको प्राप्त कर्मनिषेकोंकी रचना उसकी स्थितिके अनुसार आबाधाकालको छोड़कर हो जाती है। अर्थात् बन्धको प्राप्त हुए वे कर्मपरमाणु उदयकाल आनेपर निर्जीर्ण होने लगते हैं और अन्तिम स्थितिपर्यन्त बिखरते रहते हैं। उनकी रचनाको ही कर्मस्थिति-रचना कहते हैं। इस गोम्मटसार कर्मकाण्डके स्वाध्याय द्वारा कर्मसाहित्यका सम्यक् बोध प्राप्त किया जा सकता है।

त्रिलोकसार

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमें १०१८ गाथाएँ हैं। यह करणानुयोगका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसका आधार 'तिलोयपण्णत्ती' और 'तत्त्वार्थवार्तिक' हैं। ग्रन्थ निम्नलिखित अधिकारोंमें विभक्त है—

१. लोकसामान्याधिकार
२. भवनाधिकार
३. व्यन्तरलोकाधिकार
४. ज्योतिर्लोकाधिकार
५. वैमानिकलोकाधिकार
६. मनुष्य-तिर्यक्लोकाधिकार

सामान्यलोकाधिकारमें २०७ गाथाएँ हैं। प्रारम्भमें लोकका स्वरूप बतलाया गया है। यह लोक अकृत्रिम है, अनादिनिधन है, स्वभावनिर्वृत्त है, जीवाजीवोंसे सहित है और नित्य है। इस लोकमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य जहाँ तक पाये जाते हैं, वहाँ तक लोक माना जाता है, उसके पश्चात् अलोकाकाश है और यह अनन्त है। लोकके कई आकार बतलाये गये हैं। अधोलोक अर्द्धमृदंगके समान है, ऊर्ध्वलोक मृदंगके तुल्य है। यह लोक १४ राजुप्रमाण है। लोकके स्वरूपनिरूपणके पश्चात् 'मान'का वर्णन

किया है। 'मान' दो प्रकारका है—लोक और लोकोत्तर। लौकिक 'मान'के छह भेद हैं—१. मान २. उन्मान ३. अवमान ४. गणिमान ५. प्रतिमान और ६. तत्प्रतिमान। गणनाके मूलत: तीन भेद हैं—१. संख्यात २. असंख्यात और ३. अनन्त। संख्यातका एक ही भेद है, और असंख्यातके तीन भेद हैं—१. परीतासंख्यात २. युक्तासंख्यात और ३. संख्यातासंख्यात। अनन्तके भी तीन भेद हैं—परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त। इस प्रकार उपमाप्रमाण या गणनाके ३ + ३ + १ = ७ भेद हैं और इन सातोंके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन-तीन भेद होते हैं। इस प्रकार ७ × ३ = २१ भेद हुए। असंख्यात ज्ञानके निमित्त अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका इन चार, कुण्डोंकी कल्पना की गयी है। इन कुण्डोंका व्यास एक लक्ष योजन प्रमाण और उत्सेध एक सहस्र योजन प्रमाण है। कुण्ड गोलाकार होते हैं। इन कुण्डोंमें दो आदिक सरसोंसे भरना अनवस्था कुण्ड है।

इस सन्दर्भमें गणना और संख्याकी परिभाषा भी बतायी गयी है। लिखा है—

एयादीया गणणा बीयादीया हवंति संखेज्जा।
तीयादीणं णियमा कदित्ति सण्णा मुणेदव्वा[1]॥

अर्थात् एकादिकको गणना, दो आदिकको संख्या एवं तीन आदिकको कृति कहते हैं। एक और दोमें कृतित्व नहीं है। यतः जिस संख्याके वर्गमेंसे वर्गमूलको घटानेपर जो शेष रहे उसका वर्ग करनेपर उस संख्यासे अधिक राशिकी उपलब्धि हो, वही कृति है। यह कृतिधर्म तीन आदिक संख्याओंमें ही पाया जाता है। एकके संख्यात्वका भी निषेध आचार्य नेमिचन्द्रने किया है, क्योंकि एककी गिनती गणनासंख्यामें नहीं होती। कारण स्पष्ट है। एक घटको देखकर, यहाँ घट है, इसकी प्रतीति तो होती है, पर उसकी तादादके विषयमें कुछ ज्ञान नहीं होता। अथवा दान, समर्पणादि कालमें एक वस्तुकी प्रायः गिनती नहीं की जाती। इसका कारण असम व्यवहार, सम्भवव्यवहारका अभाव अथवा गिननेसे अल्पत्वका बोध होना है।

उपर्युक्त वक्तव्यका परीक्षण करनेपर ज्ञात होता है कि संख्या 'समूह'की जानकारी प्राप्त करनेके हेतु होती है। मनुष्यको उसके विकासकी प्रारम्भिक अवस्थासे ही इस प्रकारका आन्तरिक ज्ञान प्राप्त होता है, जिसे हम सम्बोधनके

---

१. त्रिलोकसार, प्रथमाधिकार, गाथा १६।

अभावमें संख्याज्ञान कहते हैं। अतएव समूहगत प्रत्येक वस्तुकी पृथक्-पृथक् जानकारीके अभावमें समूहके मध्यमें होनेवाले परिवर्तनका बोध नहीं हो सकता है। समूहबोधकी क्षमता और गिननेकी क्षमता इन दोनोंमें पर्याप्त अन्तर है। गिनना सीखनेसे पूर्व मनुष्यने संख्याज्ञान प्राप्त किया होगा।

मनुष्यने समूहके बीच रहकर संख्याका बोध प्राप्त किया होगा। जब उसे दो समूहोंको जोड़नेकी आवश्यकता प्रतीत हुई होगी, तो धनचिह्न और धनात्मक संख्याएँ प्रादुर्भूत हुई होंगी। संख्याज्ञानके अनन्तर मनुष्यने गिनना सीखा और गिननेके फलस्वरूप अंकगणितका आरम्भ हुआ। अंकका महत्व तभी व्यक्त होता है, जब हम कई समूहोंमें एक संख्याको पाते हैं। इस अवस्थामें उस अंककी भावना हमारे हृदयमें वस्तुओंसे पृथक् अंकित हो जाती है और फलस्वरूप हम वस्तुओंका बार-बार नाम न लेकर उनकी सख्याको व्यक्त करते हैं। इस प्रकार त्रिलोकसारमें संख्या, गणना, कृति आदिका स्वरूप निर्धारित किया है।

संख्याओंके दो भेद हैं—१. वास्तविक और २. अवास्तविक। वास्तविक संख्याएँ भी दो प्रकारकी हैं—संगत और असंगत। प्रथम प्रकारकी संख्याओंमें भिन्न राशियोंका समूह पाया जाता है और द्वितीय प्रकारकी संख्याओंमें करणीगत राशियाँ निहित हैं। इन राशियोंके भी असंख्यात भेद हैं। आचार्य नेमिचन्द्रके संख्या-भेदोंको निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

(अ) जघन्य-परीत-असंख्यात = स ^{3} + १
(आ) मध्यम-परीत-असंख्यात = स $^{3\,१}$∠अ यु उ
(इ) उत्कृष्ट-परीत-असंख्यात = अ यु ज—१
(ई) जघन्य-युक्त-असंख्यात = (स उ + १) (स उ + १)
(उ) मध्यम-युक्त-असंख्यात = (स उ + १) (स उ + १)∠अ यु उ
(ऊ) उत्कृष्ट-युक्त-असंख्यात = अ यु उ = ऊ ऊ ज—१
(क) जघन्य-असंख्यातासंख्यात = (अ यु ज)^{२}
(ख) मध्यम-असंख्यातासंख्यात = (अ यु ज)^{२} ∠अ स उ
(ग) उत्कृष्ट-असंख्यातासंख्यात = अ प ज १
धवलाटीकामें अनन्तके निम्नलिखित भेद वर्णित हैं—

(च) नामानन्त—वस्तुके यथार्थतः अनन्त होने या न होनेका विचार किये बिना ही उसका बहुत्व प्रकट करनेके लिए अनन्तका प्रयोग करना नामानन्त है।[२]

(छ) स्थापनानन्त—यथार्थतः अनन्त नहीं, किन्तु किसी संख्यामें आरोपित अनन्त[३]।

(ज) द्रव्यानन्त—तत्काल उपयोग न आते हुए ज्ञानकी अपेक्षा अनन्त[४]।

(झ) गणनानन्त—संख्यात्मक अनन्त।

(ञ) अप्रदेशिकानन्त—परिमाणहीन अनन्त।

(ट) एकानन्त—एक दिशात्मक अनन्त।

(ठ) विस्तारानन्त—द्विविस्तारात्मक—प्रतरात्मक अनन्ताकाश।

(ड) उभयानन्त—द्विदिशात्मक अनन्त—एक सीधी रेखा, जो दोनों दिशाओंमें अनन्त तक जाती है।

(ढ) सर्वानन्त—आकाशात्मक अनन्त।

(ण) भावानन्त—ज्ञानकी अपेक्षा अनन्त।

अनन्तके सामान्यतया १. परीतानन्त, २. युक्तानन्त, ३. अनन्तानन्त ये तीन भेद माने जाते हैं। इन तीनोंके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन-तीन भेद होनेसे कुल नौ भेद हो जाते हैं। त्रिलोकसारमें उक्त ३ + ९ + ९ = २१ भेद वर्णित हैं।

त्रिलोकसारमें धारासंख्याओंका भी कथन आया है। ये १४ प्रकारकी होती हैं—

१. सर्वधारा—१ + २ + ३ + ४ + ५ ·············· अनन्तानन्त

२. समधारा—२ + ४ + ६ + ८ + १० + १२ + १४ + १६ + १८ ···· + न

३. विषमधारा—१ + २ = ३, ४ + − १ = ५, ६ + − १ = ७, ८ + − १ = ९, १० + − १ = ११, १२ + − १ = १३, १४ + − १ = १५, १६ + − १ = १७, १८ + − १ = १९ ······· न + − १ = न तथा वि + − १ ··········· $\frac{\text{क}}{\text{न}}$।

४. कृतिधारा—$१^{२}$ = १, $२^{२}$ = ४, $३^{२}$ = ९, $४^{२}$ = १६, $५^{२}$ = २५, $६^{२}$ = ३६, $७^{२}$ = ४९, $८^{२}$ = ६४, $९^{२}$ = ८१, $१०^{२}$ = १००, $११^{२}$ = १२१, $१२^{२}$ = १४४, $१३^{२}$ = १६९ ······· $न^{२} = \overset{।}{न}$

५. अकृतिधारा—२, ३, ५, ७, ८, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १७ ···· $न^{२} + - १ = \overset{॥}{न}$

६. घनधारा—$१^{३}$ = १, $२^{३}$ = ८, $३^{३}$ = २७, $४^{३}$ = ६४, $५^{३}$ = १२५, $६^{३}$ = २१६ ········ $न^{३} = \overset{॥}{न}$

७. अघनधारा— २, ३, ४, ५, ६, ७, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २८, ६३ .... न (|||||)

न३ = नअ

८. कृतिमातृका या वर्गमातृका—१, २, ३, ५ .... न२√ = न

९. अकृतिमातृका या अवर्गमातृका—√(मू + १), √(मू + ३)
√(मू + २), √(मू + ५)

√(मू + न) = नव

१०. घनमातृका –१, २ .... न .... न। .... न॥ .... न।।।

११. अघनमातृका— ३√(मू + १), ३√(मू + २)
३√(मू + ३)

.... नच

१२. द्विरूपवर्गधारा—(२)१६ = ६५५३६, (२)३२ = (६५५३६)२ या
४२९४९६७२९६, (२)६४ = (४२९४९६७२९६)२ =
१८४४६७४४०७३७०९५५१६१६

.... (न)न = नछ

१३. द्विरूपघनधारा—(२)३, (४)३, (९)३, ... (न२)३ ।

१४. द्विरूपघनाघनधारा—[(२)२]३ .... [(४३)]३ .... [(न३)]३१

इस प्रकार त्रिलोकसारमें १४ धाराओंके कथनके पश्चात् सामान्यलोकाधिकारमें ही वर्गशलाका, अर्द्धच्छेद, त्रिकच्छेद, चतुर्च्छेद आदिका भी कथन आया है। अर्द्धच्छेद गणितको वर्त्तमानमें लघुगणकसिद्धान्त कहा गया है। अर्द्धच्छेदों द्वारा राशिज्ञान प्राप्त करनेके सिद्धान्तका विवेचन करते हुए त्रिलोकसारमें कई नियम आये हैं। इसी प्रकार कुण्डगणितके अनन्तर पल्य, सागर, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर और घनलोकका कथन आया है। पल्यके तीन भेद बतलाये हैं—१. व्यवहारपल्य २. उद्धारपल्य ३. और अद्धापल्य। इस प्रकार संख्याओंका विधान कर अधोलोकका क्षेत्र-

फल आठ आकृतियों द्वारा निकाला गया है। ये आकृतियाँ सामान्य, ऊर्ध्वायत, तिर्गायत, यवमुरज, यवमध्य, मन्दर, दूष्य और गिरिकटक हैं। पिनष्टि क्षेत्रका क्षेत्रफल तो आश्चर्यजनक रीतिमें निकाला गया है। अधोलोकके पश्चात् उर्ध्वलोकका सामान्य वर्णन आया है और उसका भी क्षेत्रफल निकाला गया है। इसके पश्चात् त्रसनालीका कथन आया है। यह त्रसनाली एक राजु लम्बी और चौदह राजु चौड़ी होती है। सामान्यलोकाधिकारके अन्तर्गत ही नरकों-के पटलोंका कथन किया किया है। प्रथम नरकमें १३, द्वितीयमें ११, तृतीयमें ९, चतुर्थमें ७, पंचममें ५, षष्ठमें ३ और सप्तममें १ इन्द्रक है। पश्चात् नारकीय जीवोंके रहन-सहन, उनके क्षेत्रगत दुःख आदिका वर्णन किया है।

वस्तुतः इस ग्रन्थमें जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, मानुषक्षेत्र, भवनवासियोंके रहनेके स्थान, आवास, भवन, आयु, परिवार आदिका विस्तृत वर्णन किया है। ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक, तारा एवं सूर्य, चन्द्रके आयु, विमान, गति, परिवार आदिका भी सांगोपांग वर्णन पाया जाता है। स्वर्गोंके सुख, विमान एवं वहाँ-के निवासियोंकी शक्ति आदिका भी कथन आया है। त्रिलोककी रचनाके सम्बन्धमें सभी प्रकारकी जानकारी इस ग्रन्थसे प्राप्त की जा सकती है।

लब्धिसार

आचार्य नेमिचन्द्रकी तीसरी रचना लब्धिसार है। यह भी गाथाबद्ध है। इसके दो संस्करण प्रकाशित हैं—एक रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बईसे और दूसरा हरिभाई देवकरण ग्रन्थमालासे। इस ग्रन्थमें ६४९ गाथाएँ हैं। सर्व-प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी लब्धि अर्थात् प्राप्तिका कथन होनेके कारण इसके नामकी सार्थकता बतलायी गयी है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति पाँच लब्धियोंके प्राप्त होनेपर ही होती है। वे लब्धियाँ हैं—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण। इनमेंसे प्रारम्भकी चार लब्धियाँ तो सर्वसाधारण-को होती रहती हैं, पर करणलब्धि सभीको नहीं होती। इसके प्राप्त होने-पर ही सम्यक्त्वका लाभ होता है। इन लब्धियोंका स्वरूप ग्रन्थके प्रारम्भमें दिया है। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणकी प्राप्तिको ही करण-लब्धि कहा गया है। अनिवृत्ति करणके होने पर अन्तर्मुहूर्तके लिए प्रथमोपशम सम्यक्त्वका लाभ होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्वके कालमें कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक छह आवली काल शेष रहनेपर यदि अनन्तानु-बन्धी कषायका उदय आ जाता है, तो जीव सम्यक्त्वसे च्युत होकर सासादन-सम्यक्त्वी बन जाता है और उपशमसम्यक्त्वका काल पूरा होनेपर यदि मिथ्यात्वकर्मका उदय आ जाये, तो जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। इस

प्रकार १०९ गाथापर्यन्त प्रथमोपशमसम्यक्त्वका कथन है। इस प्रकरणमें ९९ वीं गाथा कषायपाहुडकी है और १०६, १०८ और १०९ वीं गाथा गोम्मटसार जीवकाण्डकी।

गाथा ११० से क्षायिकसम्यक्त्वका कथन आरम्भ होता है। दर्शनमोहनीयकर्मका क्षय होनेसे क्षायिकसम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है, पर दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयका प्रारम्भ कर्मभूमिका मनुष्य तीर्थंकरके पादमूलमें अथवा केवली, श्रुतकेवलीके पादमूलमें करता है और उसकी पूर्ति वहीं अथवा सौधर्मादि कल्पोंमें अथवा कल्पातीतदेवोंमें अथवा भोगभूमिमें अथवा नरकमें करता है, क्योंकि बद्धायुष्क कृतकृत्यवेदक मरकर चारों गतियोंमें जन्म ले सकती है।

अनन्तानुबन्धीचतुष्क और दर्शनमोहनीयकी तीन, इन सात प्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ क्षायिकसम्यक्त्व मेरुकी तरह निष्कम्प, अत्यन्त निर्मल और अक्षय होता है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि उसी भवमें, तीसरे भवमें अथवा चौथे भवमें मुक्त हो जाता है। क्षायिकसम्यक्त्वके कथनके साथ दर्शनलब्धिका कथन भी समाप्त हो जाता है। चारित्रलब्धि एकदेश और सम्पूर्णके भेदसे दो प्रकारकी है। अनादिमिथ्यादृष्टि जीव उपशमसम्यक्त्वके साथ देशचारित्रको ग्रहण करता है और सादिमिथ्यादृष्टि जीव उपशमसम्यक्त्व अथवा वेदकसम्यक्त्वके साथ देशचारित्रको धारण करता है।

सकलचारित्रके तीन भेद बताये हैं—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक। क्षायोपशमिक चारित्र छट्टे और सातवें गुणस्थानमें होता है। यह उपशम और वेदक दोनों ही प्रकारके सम्यक्त्वोंके साथ उत्पन्न होता है। म्लेच्छ मनुष्य भी आर्य मनुष्योंके समान सकलसंयम धारण कर सकता है। इस प्रकार लब्धिसारमें, पाँचों लब्धियोंका विस्तारपूर्वक वर्णन आया है।

क्षपणासार

क्षपणासारमें ६५३ गाथाएँ हैं। यह भी गोम्मटसारका उत्तरार्ध जैसा है। कर्मोंको क्षय करनेकी विधिका निरूपण इस ग्रन्थमें किया गया है। इसकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि माधवचन्द्र त्रैवेद्यने बाहुलो मन्त्रीकी प्रार्थना पर संस्कृत-टीका लिखकर पूर्ण की है।

आचार्य नरेन्द्रसेन

अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसारकी शैलीपर आचार्य नरेन्द्रसेनने 'सिद्धान्तसार संग्रह'[1] नामक ग्रन्थ रचा है। शैलीमें समानता होनेपर भी दोनोंके नामोंके अनुरूप

१. सिद्धान्तसारसंग्रहनामक ग्रन्थ जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुरसे वि० सं० २०१३ में प्रकाशित हुआ है।

विषयमें अन्तर है। तत्त्वार्थसारमें तत्त्वार्थसूत्र और उसके टीकाग्रन्थोंका सार है तथा उसका विषयानुक्रम भी तत्त्वार्थसूत्रके अनुरूप है, पर सिद्धान्तसारसंग्रहमें सिद्धान्तसम्बन्धी ऐसे विषय चर्चित हैं जो तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओंके अतिरिक्त अन्यत्र भी प्राप्त हैं।

जीवन-परिचय और समय-विचार

ग्रन्थके अन्तमें ग्रन्थकारने अपनी प्रशस्ति दी है, जिससे अवगत होता है कि लाडवागड़ संघमें धर्मसेननामके दिगम्बर मुनिराज हुए। उनके पश्चात् क्रमशः शान्तिषेण, गोपसेन, भावसेन, जयसेन, ब्रह्मसेन और वीरसेन हुए। वीरसेनके शिष्य गुणसेन हुए और गुणसेनके शिष्य नरेन्द्रसेन हुए।

जयसेनसूरिने 'धर्मरत्नाकर' नामक ग्रन्थ रचा है। इसकी अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि यह भी लाडवागड़ या झाडवागड़ संघके आचार्य थे। इन्होंने जो गुरुपरम्परा दी है उसमें धर्मसेन, शान्तिषेण, गोपसेन, भावसेन और जयसेनके[1] नाम आये हैं। यह गुरु-परम्परा नरेन्द्रसेनद्वारा प्रदत्त परम्परासे मिलती-जुलती है।

अतः नरेन्द्रसेन धर्मरत्नाकरके कर्त्ता जयसेनके वंशज है। जयसेनने धर्मरत्नाकरकी प्रशस्तिके अन्तसे उसका रचनाकाल १०५५ दिया है। जयसेन और नरेन्द्रसेनके मध्यमें ब्रह्मसेन, वीरसेन और गुणसेन नामके तीन आचार्य और हुए हैं। नरेन्द्रसेनने अपने ग्रन्थके मध्यमें भी दो स्थानोंपर वीरसेनका स्मरण किया है और अपनेको वीरसेनसे 'लब्धप्रसाद' कहा है। अतः नरेन्द्रसेन वीरसेनके समयमें वर्त्तमान थे और जयसेन तथा वीरसेनके मध्यमें केवल एक ब्रह्मसेन आते हैं। अतः जयसेनके धर्मरत्नाकरकी समाप्तिसे अधिक-से-अधिक पचास वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० सं० ११०५ वीरसेनका समय माना जा सकता है। और इस तरह नरेन्द्रसेनको विक्रमकी १२वीं शताब्दिके द्वितीय चरणका विद्वान् मानना उचित है।

अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसारसे नरेन्द्रसेनको सिद्धान्तसार रचनेकी प्रेरणा मिली अवगत होती है, क्योंकि नरेन्द्रसेनके पूर्वज जयसेनने अपने धर्मरत्नाकरमें अमृत-

---

१. तेनागीयत झाडवागड इति त्वेको हि संघोऽनघः··· ···धर्मसेनोगणींद्र·······तेभ्यः श्री (तस्माच्छी) शांतिषेणः समजनि·········श्रीगोपसेनगुरुराविरभूत्स·······जगत्सुबलिना श्रीभावसेनस्ततः··········जगति जयसेनाख्य इह सः··········इति श्री सूरि जयसेनविरचितं धर्मरत्नाकरनामशास्त्रं समाप्तम्। —जैनग्रन्थ प्रशस्ति-संग्रह, प्रथम भाग, वीरसेवामन्दिर, दरियागंज दिल्ली द्वारा प्रकाशित, पृ०—४।

चन्द्रके पुरुषार्थसिद्धयुपायके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। अतएव वि० सं० १०५० के पश्चात् नरेन्द्रसेनका होना स्वाभाविक है।

सिद्धान्तसारपर अमितगतिके श्रावकाचारका भी प्रभाव सम्भव है। सिद्धान्तसारके चतुर्थ अध्यायमें निदानके प्रशस्त और अप्रशस्त भेदोंका कथन किया है। यह सन्दर्भ अमितगतिका अनुकरण जान पड़ता है। अमितगति-श्रावकाचारके सप्तम अध्यायके २०, २१ और २२वें पद्यका सिद्धान्तसार चतुर्थ अध्यायके पद्य २४६–५० का मिलान करनेपर अमितगति-श्रावकाचारके उक्त पद्योंपर स्पष्टतः प्रभाव ज्ञात होता है। अमितगति माथुरसंघके आचार्य थे, यह पहले कहा जा चुका है।

अतएव नरेन्द्रसेन भी अमितगतिके समान काष्ठासंघी ही प्रतीत होते हैं। काष्ठासंघमें नन्दितट, माथुर, बागड़ और लाटवागड या झाडवागड ये चार प्रसिद्ध गच्छ हुए हैं, ऐसा सुरेन्द्रकीर्तिविरचित पट्टावलीसे ज्ञात होता है—

काष्ठासंघो भुवि ख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ ॥
श्रीनन्दितटसंज्ञश्च माथुरो बागडाभिधः।
लाडवागड इत्येते विख्याताः क्षितिमण्डले ॥[१]

श्री डॉ० कोठियाजीने अत्यन्त विस्तारपूर्वक इनके वंश और समयपर विचार किया है[२]।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा विरचित गोम्मटसार तथा त्रिलोकसारका भी उपयोग नरेन्द्रसेनने अपनी रचनामें किया प्रतीत होता है। उनके जीवतत्त्व-विषयक वर्णनमें उक्त ग्रन्थोंके अनेक गाथासूत्र अनुवाद जैसे प्रतीत होते हैं। सिद्धान्तसारसंग्रहके चतुर्थ अध्यायमें केवलि-भुक्ति और स्त्री-मुक्तिका खण्डन है, जो आचार्य प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका अनुसरण है। प्रभाचन्द्रका समय वि० सं० १०३७-११२२ निर्धारित किया है। इससे भी नरेन्द्रसेन वि० सं० १२वीं शतीके विद्वान् सिद्ध होते हैं।

रचना

इनकी एक ही रचना उपलब्ध है—सिद्धान्तसारसंग्रह। यह ग्रन्थ १२ अध्यायोंमें विभाजित है और संस्कृत-भाषामें अनुष्टुप छन्दोंमें लिखा गया है। प्रत्येक अध्यायके अन्तमें छन्दपरिवर्तन हुआ है और पुष्पिकामें सिद्धान्तसारसंग्रह—यह नाम दिया गया है।

---

१. जैनसाहित्यका इतिहास पृ० २७७ पर उद्धृत।

२. प्रमाणप्रमेयकालिका, प्रस्तावना, पृ० ५०–५९।

प्रथम अध्यायमें सम्यग्दर्शनका निरूपण है। सम्यग्दर्शनका लक्षण समन्तभद्रके 'रत्नकरण्डश्रावकाचार'के आधारपर रचा गया है। यथा—

सदृष्टिज्ञानसद्वृत्तरत्नत्रितयनायकैः।
कथितः परमो धर्मः कर्मकक्षक्षयानलः॥ १।३३।
श्रद्धानं शुद्धवृत्तीनां देवतागमलिङ्गिनाम्।
मौढ्यादिदोषनिर्मुक्तं दृष्टिं दृष्टिविदो विदुः॥ १।३४।

तुलना करें—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
× × × ×
श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्[1]॥

मिथ्यादृष्टियोंका वर्णन करते हुए गोपूजा, पीपलवृक्षपूजा एवं गतानुगतिकसे आये हुए लोकविश्वासोंका इसमें निर्देश है। इस ग्रन्थमें भाव-संग्रहके अनुसार ही सम्यग्दर्शनके संवेग, निर्वेद आदि आठ गुणोंका कथन किया है तथा आठोंके लक्षण भी दिये गये हैं। मुनियोंमें दोष देखनेवालोंकी भी निन्दा की गयी है। इन विशेष बातोंके अतिरिक्त सम्यग्दर्शनके २५ दोषों और ८ अंगोंका भी कथन है।

द्वितीय अध्यायमें सम्यग्ज्ञानका वर्णन है। इसके आरम्भमें ही ज्ञानको प्रमाण न मानने और इन्द्रिय या सन्निकर्ष आदिको प्रमाण माननेवाले नैयायिक-वैशेषिक आदि मतोंकी समीक्षा की है। मतिज्ञानके भेद-प्रभेदोंका वर्णन करते हुए बुद्धि, ऋद्धिके भेदोंका भी स्वरूप बतलाया गया है। श्रुतज्ञानके प्रकरणमें द्वादशाङ्गके भेद-प्रभेदों एवं अंगबाह्यश्रुतके भेदोंका स्वरूप वर्णित है। इस सन्दर्भमें धवला और जयधवलामें बतलाये हुए स्वरूपसे भी कहीं कुछ अन्तर है। उदाहरणार्थ दशवैकालिकके स्वरूपको लिया जा सकता है। बताया है—द्रुम, पुष्पित आदि दश अधिकारोंके द्वारा जिसमें साधुओंके आचरणका वर्णन हो वह दशवैकालिक है। ये दश अधिकार श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य दशवैकालिकके ही दश अध्याय हैं। गोम्मटसार जीवकाण्डके समान श्रुतज्ञानके पर्याय, पर्याय-समास, अक्षर, अक्षर-समास आदि २० भेदोंका भी कथन किया गया है। शेष ज्ञानोंका वर्णन तो सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्त्तिक जैसा है।

तृतीय अध्यायमें चारित्रका वर्णन है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्य ३-४।

और अपरिग्रह व्रतोंका वर्णन नरेन्द्रसेन अमितगतिके श्रावकाचार जैसा ही किया है। यथा—

यो यस्य हरते वित्तं स तज्जीवितहृन्नरः।
बहिरंगं हि लोकानां जीवितं वित्तमुच्यते[1]॥

× × × ×

यो यस्य हरति वित्तं स तस्य जीवस्य जीवितं हरति।
आश्वासकरं बाह्यं जीवानां जीवितं वित्तम्[2]॥

स्तेय और परिग्रहका लक्षण बतलानेवाले सूत्रोंकी व्याख्यामें सर्वार्थसिद्धिमें जो शङ्का-समाधान किया गया है उसे भी ग्रन्थकारने ज्यों-का-त्यों अपना लिया है।

चतुर्थ अध्यायमें अणुव्रत और महाव्रतोंका सामान्य निर्देशकर मिथ्यात्व नामक शल्यका कथन करते हुए अनेक दार्शनिक मतोंकी विस्तारपूर्वक चर्चा की है। आत्माकी नित्यता, क्षणिकता, बौद्धोंका शून्यवाद, चार्वाकका जड़वाद, सांख्यका कूटस्थ नित्यवाद, मीमांसकोंका सर्वज्ञाभाववाद, वेदकी अपौरुषेयता और जगतत्कर्तृत्ववादकी समीक्षा की है। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य केवली-कवलाहार और स्त्रीमुक्तिकी भी आलोचना की गयी है।

पंचम अध्यायमें जीवादि तत्त्वोंका स्वरूप वर्णित है। जीवका लक्षण और गुण वर्णन करनेके पश्चात् उसके कर्तृत्व, अमूर्तत्व, भोक्तृत्व, स्वदेहपरिमाणत्व, उपयोगमयत्व, संसारित्व और ऊर्ध्वगमन धर्मोंका वर्णन आया है। इनका समर्थन करते हुए लिखा है कि भाट्ट और नास्तिक जीवको मूर्त मानते हैं, अतएव अमूर्त कहा है। योग शुद्धचैतन्यमय मानते हैं, इसलिए उपयोगमय कहा है। सांख्य जीवको अकर्त्ता मानता है, इसलिए कर्त्तापद दिया है। यौग (नैयायिक) भाट्ट (मीमांसक) और सांख्य जीवको व्यापी मानते हैं, इसलिए स्वदेहपरिमाण कहा है। इस अध्यायके अगले संदर्भोंका विषय सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकके द्वितीय अध्यायके समान आया है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपोंका स्वरूप सर्वार्थसिद्धिके समान ही निबद्ध है। इस पंचम अध्यायका उत्तरार्ध तत्त्वार्थसूत्र और उसके टीकाग्रन्थोंके अनुसार लिखा गया है।

छठे अध्यायमें नरकलोकका वर्णन करते हुए सातों भूमियोंका स्वरूप, नरकपटल एवं नरकोंके बिलोंका भी कथन किया गया है। प्रकृति और

१. सिद्धान्तसारसंग्रह, ५४।
२. अमितगति-श्रावकाचार—६।६१।

कर्मोदयसे प्राप्त होनेवाले दुःखोंका भी कथन आया है। इस अध्यायमें भूमियोंके वर्ण, प्रकाश एवं उनके क्षेत्र और विस्तारका भी निरूपण है।

सप्तम अध्यायमें मध्यलोक और उसके अन्तर्गत जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधिसमुद्र, पुष्करवरद्वीप, मानुषोत्तर षट्कुलाचल, भरत, ऐरावत आदि सप्तक्षेत्र, कर्मभूमि, भोगभूमि आदिका प्रतिपादन किया गया है।

अष्टम अध्यायमें वैमानिक देवोंका वर्णन है। सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र आदि सोलह स्वर्ग नवग्रैवेयक, नव अनुदिश, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि विमानोंका कथन है। तत्त्वार्थसूत्रके समान ही स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या और अवधिज्ञानकी उत्तरोत्तर अधिकता प्रतिपादित की है। गति, शरीर, परिग्रह और अभिमानकी अपेक्षा उत्तरोत्तर हीनता बतलायी गयी है। लौकान्तिक देवोंके भेदोंका वर्णन कर देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयुका वर्णन किया है।

नवम अध्यायमें अजीव, आस्रव और बन्धतत्त्वका वर्णन किया है। अजीवके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल भेदों, तथा जीव सहित षड्द्रव्यों, आस्रवका स्वरूप, आस्रवके प्रत्यय और उसके भेद, बन्धतत्त्वका स्वरूप, बन्धके कारण और बन्धके भेदोंका विस्तारपूर्वक कथन आया है।

दशम अध्यायमें निर्जरातत्त्वका वर्णन करते हुए तपके प्रसङ्गसे प्रायश्चित्तका वर्णन बहुत विस्तारपूर्वक किया है। ऐसा वर्णन अन्यत्र नहीं आया है। वस्तुतः प्रायश्चित्त ही इस अध्यायका मुख्य वर्ण्य विषय है। किस अपराधके होनेपर कौन-सा प्रायश्चित्त कब ग्रहण करना चाहिए, इसका विस्तारपूर्वक विवेचन आया है।

एकादश अध्यायमे विनयतपसे लेकर ध्यानतप तकका वर्णन है। ध्यानके आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चारों ध्यानोंका स्वरूप, इनके भेद तथा धर्मध्यानके पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत भेदोंका स्वरूपसहित विवेचन किया है।

द्वादश अध्यायमें भगवती-आराधनाके आधारपर मरणके भेद बतलाकर समाधिमरणका विस्तारपूर्वक कथन किया है। निश्चयतः इस ग्रन्थमें 'तत्त्वार्थसार'की अपेक्षा अधिक विषयोंका समावेश है। तत्त्वार्थसारमें चर्चित विषयोंका विस्तारपूर्वक कथन किया ही गया है।

नरेन्द्रसेनके नामसे एक प्रतिष्ठाग्रन्थ भी मिलता है। पर हमारा विचार है कि यह ग्रन्थ सिद्धान्तसारसंग्रहके रचयिता नरेन्द्रसेनका न होकर किसी अन्य नरेन्द्रसेनका है।

नेमिचन्द्र मुनि

अभी तक यह धारणा चली आ रही थी कि द्रव्यसंग्रह या बृहद्द्रव्यसंग्रहके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। पर अब नये प्रमाणोंके आलोकमें यह मान्यता परिवर्तित हो गयी है। अब समीक्षक विद्वानोंका अभिमत है कि द्रव्यसंग्रहके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीसे भिन्न अन्य कोई नेमिचन्द्र हैं, जिन्हें नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव या नेमिचन्द्रमुनि कहा गया है। बृहद्द्रव्यसंग्रहके टीकाकार ब्रह्मदेवने ग्रन्थका परिचय देते हुए लिखा है—

"अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिराजभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तिसम्बन्धिनः श्रीपालमण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थंकरचैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादविपरीतनारकादिदुःखभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते।"[1]

मालवदेशमें धारानगरीका स्वामी कलिकालसर्वज्ञ राजा भोजदेव था। उससे सम्बद्ध मण्डलेश्वर श्रीपालके आश्रमनामक नगरमें श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरके चैत्यालयमें भाण्डागार आदि अनेक नियोगोंके अधिकारी सोमनामक राजश्रेष्ठिके लिए श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवने पहले २६ गाथाओंके द्वारा लघुद्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ रचा। पीछे विशेषतत्त्वोंके ज्ञानके लिये बृहद्द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ रचा। उसकी वृत्तिको मैं प्रारम्भ करता हूँ।

इस उद्धरणसे स्पष्ट है बृहद्द्रव्यसंग्रह और लघुद्रव्यसंग्रहके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव हैं।

श्री डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने[2] द्रव्यसंग्रहकी प्रस्तावनामें नेमिचन्द्र नामके विद्वानोंका उल्लेख किया है। इनके मतानुसार प्रथम नेमिचन्द्र गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार और क्षपणासार जैसे सिद्धान्तग्रन्थोंके रचयिता हैं। इनकी उपाधि सिद्धान्तचक्रवर्ती थी और गंगवंशी राजा राचमल्लके

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, दिल्ली संस्करण, वि० सं० २०१०, पृ० १-२।

२. श्री दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित द्रव्यसंग्रह, प्रस्तावना पृ० २८, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी।

प्रधान सेनापति चामुण्डरायके गुरु भी थे। इनका अस्तित्वकाल वि० सं० १०३५ या ई० सन् ९७८के पश्चात् है।

द्वितीय नेमिचन्द्र वे हैं, जिनका उल्लेख वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवने अपने उपासकाध्ययनमें किया है और जिन्हें जिनागमरूप समुद्रकी वेलातरंगोंसे धुले हृदयवाला तथा सम्पूर्ण जगतमें विख्यात लिखा है—

सिस्सो तस्य जिणागम-जलणिहि-वेलातरंग-धोयमणो।
संजाओ सयल-जए विक्खाओ णेमिचंदु त्ति॥
तस्स पसाएण मए आइरिय-परंपरागयं सत्थं।
वच्छल्लयाए रइयं भवियाणमुवासयज्झयणं[1]॥

इन नेमिचन्द्रके नयनन्दि गुरु थे और वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव शिष्य।

तृतीय नेमिचन्द्र वे हैं जिन्होंने सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्रके गोम्मटसार पर जीवतत्त्वप्रदीपिका नामकी संस्कृत-टीका लिखी थी। यह टीका अभयचन्द्रको मन्दप्रबोधिका और केशववर्णीकी संस्कृत मिश्रित कन्नड़ टीकाके आधारपर रची गयी है।

चतुर्थ नेमिचन्द्र सम्भवतः द्रव्यसंग्रहके रचयिता हैं। अतएव प्रथम और तृतीय नेमिचन्द्रको तो एक नहीं कह सकते। ये दोनों दो व्यक्ति हैं। सिद्धान्त-चक्रवर्ती मूलग्रन्थकार हैं और तृतीय नेमिचन्द्र टीकाकार हैं। प्रथम नेमिचन्द्रका समय वि० की ११वीं (ई० स० ११) शताब्दी है और तृतीयका ई० सन्की १६वीं शताब्दी। अतः इन दोनों नेमिचन्द्रोंके पौर्वापर्ययमें ५०० वर्षोंका अन्तराल है। इसीप्रकार प्रथम और द्वितीय नेमिचन्द्र भी एक नहीं हैं। प्रथम नेमिचन्द्र वि० की ११वीं शताब्दीमें हुए हैं तो द्वितीय उनसे १०० वर्ष बाद वि० की १२वीं शताब्दीमें, क्योंकि द्वितीय नेमिचन्द्र वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवके गुरु थे और वसुनन्दिका समय वि० सं० ११५०के लगभग है। इन दोनों नेमिचन्द्रोंकी उपाधियां भी भिन्न हैं। प्रथमकी उपाधि सिद्धान्तचक्रवर्ती है, तो द्वितीयकी सिद्धान्तिदेव।

प्रथम और चतुर्थ नेमिचन्द्र भी भिन्न हैं। प्रथम अपनेको सिद्धान्तचक्रवर्ती कहते हैं, तो चतुर्थ अपनेको 'तनुसूत्रधर'। बृहद्द्रव्यसंग्रहके संस्कृतटीकाकार ब्रह्मदेवने द्रव्यसंग्रहकारको सिद्धान्तिदेव लिखा है, सिद्धान्तचक्रवर्ती नहीं। अतएव हमारी दृष्टिमें द्रव्यसंग्रहके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव हैं। पण्डित आशाधरजीने वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवका सागारधर्मामृत और अनगारधर्मा-

१. उपासकाध्ययन, गाथा, ५४३, ५४४।

मृत दोनों ही टीकाओंमें उल्लेख किया है और वसुनन्दिने इन सिद्धान्तिदेवका अपने गुरुके रूपमें स्मरण किया है तथा इन्हें श्रीनन्दिका प्रशिष्य एवं नयनन्दिका शिष्य बतलाया है। ये नयनन्दि यदि 'सुदंसणचरिउ'के रचयिता हैं, जिसकी रचना उन्होंने भोजदेवके राज्यकालमें वि० सं० ११००में की थी, तो नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव नयनन्दिसे कुछ ही उत्तरवर्ती और वसुनन्दिसे कुछ पूर्ववर्ती, अर्थात् वि० सं० ११२५के लगभगके विद्वान सिद्ध होते हैं। पंडित आशाधरजी ने द्रव्यसंग्रहकार नेमिचन्द्रका उल्लेख किया है। अतएव वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवके गुरु द्रव्यसंग्रहके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ही होंगे।

समय-विचार

नयनन्दिने अपना 'सुदंसणचरिउ' वि० सं० ११००में पूर्ण किया है। अतः नयनन्दिका अस्तित्व समय वि० सं० ११०० है। यदि इनके शिष्य नेमिचन्द्रको इनसे २५वर्ष उत्तरवर्ती माना जाय, तो इनका समय लगभग वि० सं० ११२५ सिद्ध होता है। इनके शिष्य वसुनन्दिका समय वि० सं० ११५० माना जाता है। अतएव नयनन्दि और वसुनन्दिके मध्य होनेके कारण नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवका समय वि० सं० ११२५के आस-पास होना चाहिये।

ब्रह्मदेवके अनुसार यह ग्रन्थ भोजके राज्यकाल अर्थात् वि० सं० की १२वीं शताब्दी (ई० सन् ११वीं शती)में लिखा गया है। अतएव द्रव्यसंग्रहके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवका समय वि० सं० की १२वीं शताब्दीका पूर्वार्ध है। अर्थात् ई० सन्की ११वीं शतीका अन्तिम पाद है। डॉ० दरबारीलाल कोठियाने अपना फलितार्थ उपस्थित करते हुए लिखा है—

"यदि नयनन्दिके शिष्य नेमिचन्द्रको उनसे अधिक-से-अधिक २५ वर्ष पीछे माना जाय तो वे लगभग वि० सं० ११२५के ठहरते हैं[1]।"

द्रव्य संग्रहकी रचना आश्रमनगरमें बतलाई गयी है। यह आश्रमनगर 'आशारम्यपट्टण', 'आश्रमपत्तन', 'पट्टण' और 'पुटभेदन'के नामसे उल्लिखित है। दीपचन्द्रपाण्ड्या और डॉ० दशरथ शर्माके अनुसार इस नगरकी स्थिति राजस्थानके अन्तर्गत कोटासे उत्तर-पूरबकी ओर लगभग नौ मीलकी दूरी पर बूंदीसे लगभग तीन मीलकी दूरीपर चम्बल नदीपर अवस्थित वर्तमान 'केशवरायपाटन' अथवा पाटनकेशवराय ही है। प्राचीनकालमें यह राजा भोजदेवके परमार-साम्राज्यके अन्तर्गत मालवामें रहा है। अपनी प्राकृतिक रम्यताके कारण यह स्थान आश्रमभूमि (तपोवन)के उपयुक्त होनेके कारण आश्रम कहलानेका अधिकारी है।

---

१. द्रव्यसंग्रह, प्रस्तावना, पृ० ३६।

रचनाएँ

नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवकी दो ही रचनाएँ उपलब्ध हैं—१. लघुद्रव्यसंग्रह और २. बृहद्द्रव्यसंग्रह।

लघुद्रव्यसंग्रह

इसकी प्रथम गाथामें ग्रन्थकारने जिनेन्द्रदेवके स्तवनके पश्चात् ग्रन्थमें वर्णित विषयका निर्देश करते हुए बताया है कि जिसने छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सप्ततत्त्व और नवपदार्थोंका तथा उत्पादव्ययध्रौव्यका कथन किया है, वे जिन जयवन्त हों। स्पष्ट है कि इस ग्रन्थमें षट्द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, साततत्त्व, नवपदार्थ और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और ध्यानका कथन किया गया है। पाँच अस्तिकाय तो छह द्रव्योंके अन्तर्गत ही हैं। यतः जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं और कालके अतिरिक्त शेष पांच द्रव्य बहु-प्रदेशी होनेसे अस्तिकाय कहे जाते हैं। इसी तरह जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नौ पदार्थ हैं। इनमेंसे पुण्य-पापको पृथक् कर देनेपर शेष सातको तत्त्व कहते हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थमें द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ और अस्तिकायोंका स्वरूप बतलाया गया है।

लघुद्रव्यसंग्रहमें कुल २५ गाथाएँ हैं। पहली गाथामें वक्तव्य विषयके निर्देशके साथ मंगलाचरण है। दूसरी गाथामें द्रव्यों और अस्तिकायोंका तथा तीसरी गाथामें तत्त्वों और पदार्थोंका नाम निर्देश किया है। ग्यारह गाथाओंमें द्रव्योंका, पाँच गाथाओंमें तत्त्वों और पदार्थोंका एवं दो गाथाओंमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका कथन किया है। उत्तरवर्ती दो गाथाओंमें ध्यानका निरूपण आया है। २४ वीं गाथामें नमस्कार और २५ वीं गाथामें नामादि कथन है। संक्षेपमें जैन तत्त्वज्ञानकी जानकारी इस ग्रन्थसे प्राप्त की जा सकती है।

द्रव्योंके स्वरूपको बतलानेवाली गाथाओंमें गाथा-संख्या ८, ९, १० और ११ का पूर्वार्द्ध और १२ तथा १४ गाथाएँ बृहद्द्रव्यसंग्रहमें भी पायी जाती हैं। शेष गाथाएँ भिन्न हैं। ब्रह्मदेवके अनुसार इसमें एक गाथा कम है। सम्भव है कि लघुद्रव्यसंग्रहकी प्राप्त प्रतिमें एक गाथा छूट गयी हो।

बृहद्द्रव्यसंग्रह

बृहद्द्रव्यसंग्रह और पंचास्तिकायकी तुलना करनेपर ज्ञात होता है कि पंचास्तिकायकी शैली और वस्तुको द्रव्यसंग्रहकारने अपनाया है, जिससे उसे लघुपंचास्तिकाय कहा जा सकता है। पंचास्तिकाय भी तीन अधिकारोंमें विभक्त है और द्रव्यसंग्रह भी तीन अधिकारोंमें। पंचास्तिकायके प्रथम अधि-कारमें द्रव्योंका, द्वितीयमें नौ पदार्थोंका और तृतीयमें व्यवहार एवं निश्चय

मोक्षमार्गका कथन आया है। द्रव्यसंग्रहके तीनों अधिकारोंमें भी क्रमशः उक्त विषय ही आया है। पंचास्तिकायमें सत्ता, द्रव्य, गुण, पर्याय आदिकी दार्शनिक चर्चाएँ हैं, पर द्रव्यसंग्रहमें उनका अभाव है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि जैनतत्त्वोंके प्राथमिक अभ्यासीके लिए उक्त दार्शनिक चर्चाएँ दुरूह हैं। यही कारण है कि सोमश्रेष्ठिके बोधार्थ पंचास्तिकायके रहनेपर भी इस इस ग्रन्थके रचनेकी ग्रन्थकारको आवश्यकता प्रतीत हुई।

उल्लेखनीय है कि द्रव्यसंग्रहकारने निश्चय एव व्यवहार दोनों नयोंसे निरूपण किया है। व्यवहारनयमें किसी अवान्तर भेदका निर्देश तो द्रव्यसंग्रहमें नहीं है किन्तु निश्चयके शुद्ध और अशुद्ध भेदोंका निर्देश अवश्य है।

ग्रन्थमें ५८ गाथाएँ हैं। प्रथम गाथामें जीव और अजीव द्रव्योंका कथन करनेवाले भगवान ऋषभदेवको नमस्कार कर ग्रन्थकारने ग्रन्थमें वक्तव्य विषयका भी निर्देश कर दिया है। दूसरी गाथासे जीवद्रव्यका कथन आरम्भ होता है। इसमें जीवको जीव, उपयोगमय, अमूर्तिक, कर्त्ता, स्वदेहपरिमाण, भोक्ता, संसारी और स्वभावसे उर्ध्वगमन करनेवाला बतलाया है। यथा

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई[1] ॥

इस गाथाके द्वारा नौ अवान्तर अधिकारोंकी सूचना दी गयी है। गाथामें निर्दिष्ट क्रमसे प्रत्येक अधिकारका कथन निश्चय और व्यवहार नयकी अपेक्षासे किया है। पंचास्तिकायमें भी इसी तरह कथन है।

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥
कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाण-दरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं[2] ॥

आत्मा जीव है, उपयोगमय है, प्रभु है, कर्त्ता है, भोक्ता है, शरीरपरिमाण है, अमूर्तिक है, कर्मसंयुक्त है और उर्ध्वगमनस्वभाव है।

पंचास्तिकायकी इस शैलीका ही उपयोग द्रव्यसंग्रहकारने किया है। १५वीं गाथासे अजीवद्रव्योंका कथन प्रारम्भ होता है। १६वीं गाथामें तत्त्वार्थसूत्रके समान शब्दादिको पुद्गलका पर्याय कहा है। २८ गाथासे आस्रव आदि तत्त्वोंका वर्णन प्रारम्भ होता है। भाव और द्रव्यकी अपेक्षा प्रत्येकके दो-दो

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा २।
२. पञ्चास्तिकाय, गाथा २७, २८।

भेद बतलाकर बहुत ही संक्षेपमें किन्तु सरल और स्पष्ट विवेचन किया है। गाथा ३५ में व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्रको भावसंवरके भेद बतलाया है। तत्त्वार्थसूत्रमें व्रतोंको तो पुण्यास्रव माना है और शेषको संवरका हेतु बतलाया है। व्रतोंमें निवृत्तिका अंश भी होता है। अतएव यहाँ व्रतोंको संवरका हेतु बतलाया गया है।

तृतीय अधिकारमें द्विविध मोक्षमार्गका कथन करते हुए सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका स्वरूप बतलाकर ध्यानाभ्यास करनेपर जोर दिया है, क्योंकि ध्यानके बिना मोक्षकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। ध्यानके भेद और स्वरूपादिकका कथन तो इस ग्रन्थमें नहीं आया है, किन्तु पंचपरमेष्ठियोंके वाचक मन्त्रोंको जपने तथा उनका ध्यान करनेकी प्रेरणा की है और इसीलिये अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंचपरमेष्ठियोंका स्वरूप एक-एक गाथाके द्वारा बतलाया गया है। अन्तमें तप, श्रुत और व्रतोंका धारी आत्मा ही ध्यान करनेमें समर्थ है, का कथन किया है। इस प्रकार ग्रन्थकारने इसमें बहुत संक्षेपमें जैनदर्शनके प्रमुख तत्त्वोंका कथन किया है।

५८वीं गाथामें ग्रन्थकारने अपने नामका निर्देश करते हुए लघुता प्रकट की है—

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोस-संचय-चुदा सुद-पुण्णा।
सोधयंतु तणु-सुत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भणियं[1] ज॥

यह द्रव्यसंग्रह अल्पसूत्रधारी नेमिचन्द्र मुनिके द्वारा रचा गया है। गुणोंके भण्डार, श्रुतज्ञानी श्रमणनायक इसे निर्दोष बना लेवें।

अन्य चर्चित सारस्वताचार्य

पूर्वोक्त वर्णित प्रमुख सारस्वताचार्योंके अतिरिक्त ऐसे भी कई अन्य सारस्वताचार्य मिलते हैं, जिनकी स्वतन्त्र रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं अथवा जिनके व्यक्तित्वके सम्बन्धमें स्वतन्त्ररूपसे जानकारी प्राप्त नहीं होती है। किन्तु अपने समयमें असाधारण व्यक्तित्व होनेके कारण इनके निर्देश हरिवंशपुराण, आदिपुराण अथवा अन्य ग्रन्थोंमें प्राप्त होते हैं। अतएव यहाँ ऐसे आचार्योंपर भी कुछ प्रकाश डाला जाता है।

आचार्य सिंहनन्दि

गंग-राजवंशकी स्थापनामें सहायता देनेवाले आचार्य सिंहनन्दि विशेष उल्लेखनीय हैं। गंगवंशका सम्बन्ध प्राचीन इक्ष्वाकुवंशसे माना जाता है। मूलतः

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ५८।

यह वंश उत्तर या पूर्वोत्तरका निवासी था। ई० सन्‌की दूसरी शताब्दीके लगभग इस वंशके दो राजकुमार दक्षिणमें आये। उनके नाम दडिग और माधव थे। पेरूर नामक स्थानमें उनकी भेंट जैनाचार्य सिंहनन्दिसे हुई। सिंहनन्दिने उनकी योग्यता और शासनक्षमता देखकर उन्हें शासनकार्यकी शिक्षा दी। एक पत्थरका स्तम्भ साम्राज्यदेवीको प्रवेश करनेसे रोक रहा था। सिंहनन्दिकी आज्ञासे माधवने उसे काट डाला। सिंहनन्दिने उन्हें एक राज्यका शासक बना दिया।

सिंहनन्दिका यह आख्यान मैसूर राज्यसे प्राप्त ११२२ ई० के एक अभिलेखमें अंकित[1] है। इस अभिलेखमें बताया है कि पद्मनाभ राजाके ऊपर उज्जैनके महीपालने आक्रमण किया तब उसने दडिग और माधव नामके दो पुत्रोंको दक्षिणकी ओर भेज दिया। प्रतिदिन यात्रा करते-करते वे पेरूर नामक स्थानमें पहुँचे। उन्होंने वहीं अपना शिविर स्थापित किया। यहाँ एक सरोवरके निकट चैत्यालयके दर्शन कर उन्होंने उसकी तीन प्रदक्षिणाएँ कीं और आचार्य सिंहनन्दिकी वन्दना कर उनके निकट बैठ गये। आचार्यने उन्हें आशीर्वाद दिया। उनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर देवी पद्मावती प्रकट हुई और उसने उन्हें तलवार एवं राज्य प्रदान किया।

समस्त राज्य प्रदान करनेके उपरान्त देवीने उन्हें सावधान करते हुए कहा "यदि तुम अपने वचनको पूरा न करोगे या जिनशासनको साहाय्य न दोगे, दूसरोंकी स्त्रियोंका यदि अपहरण करोगे, मद्य-माँसका यदि सेवन करोगे, या नीचोंकी संगतिमें रहोगे, आवश्यक होनेपर भी यदि दूसरोंको अपना धन नहीं दोगे और यदि युद्धके मैदानमें पीठ दिखाओगे, तो तुम्हारा वंश नष्ट हो जायेगा"।

सन् ११२९ ई० के एक दूसरे अभिलेखमें लिखा है कि सिंहनन्दि मुनिने अपने शिष्योंको अर्हन्त भगवानकी ध्यानरूपी तीक्ष्ण तलवार भी कृपा करके प्रदान की थी, जो घातिकर्मरूपी शत्रुसैन्यकी पर्वतमालाको काट डालती है।

सिंहनन्दिको मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय, काणूरगण और मेषपाषाणगच्छका आचार्य तथा दक्षिणवासी बताया है। सिंहनन्दिके प्रभावसे ही गंगराजाओंने जैनधर्मको संरक्षण प्रदान किया था। चतुर्थ शताब्दीसे द्वादश शताब्दी तकके अभिलेखोंसे प्रमाणित होता है कि गंगवंशके शासकोंने जैनमन्दिरोंका निर्माण कराया, जैनमूर्तियाँ प्रतिष्ठित करायीं, जैनसाधुओंके निवासके लिए गुफाएँ बनवायीं और जैनाचार्योंको दान दिया। एक विरुदावलीमें सिंहनन्दि आचा-

१. Mediaeval Jainism P.—11, तथा जैन शिलालेख संग्रह भाग २, अभिलेख संख्या २७७।

र्यको अत्यन्त प्रभावक आचार्य बताया गया है। कहा गया है कि सम्पूर्ण संसाररूप कमलवनको विकसित करनेमें सूर्यके समान तपस्याकी छविसे उत्पन्न प्रभा द्वारा सभी दिशाओंके अन्धकारको दूर करने वाले सिद्धान्त-समुद्रकी वृद्धिमें चन्द्रमास्वरूप, मिथ्यात्वरूपी अन्धकारको दूर करनेके लिए सूर्यतुल्य, परवादियोंके सिद्धान्तरूपी गजके मस्तकको विदीर्ण करनेमें सिंहके समान श्रीलोकचन्द, प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्र, भानुनन्दि और सिंहनन्दि योगीन्द्र हुए[1]।

इस सन्दर्भमें आये हुए सिंहनन्दि पूर्वोक्त गंगवंश-संस्थापक सिंहनन्दिसे अभिन्न हों, तो उनकी विद्वत्ता जगत्प्रसिद्ध प्रतीत होती है। इस विरुदावलीमें पूज्यपाद, गुणनन्दि, वज्रनन्दि और कुमारनन्दिके पश्चात् सिंहनन्दिका उल्लेख आया है। अतः बहुत सम्भव है कि यह सिंहनन्दि गंगवंश-संस्थापक सिंहनन्दि ही हैं। ये आगम, तर्क, राजनीति और व्याकरण शास्त्र आदि विषयोंके ज्ञाता थे। इनका समय ई० सन्की द्वितीय शताब्दी है।

उपर्युक्त उल्लेखोंसे विदित है कि गंगवंश-संस्थापक सिंहनन्दि राजनीतिके साथ आगम-शास्त्रके भी ज्ञाता थे। अतः असम्भव नहीं कि इनकी रचनाएं भी रही हों, जो आज उपलब्ध नहीं।

आचार्य सुमति

आचार्य सुमतिदेवका उल्लेख सन्मति-टीकाकारके रूपमें पाया जाता है। आचार्य वादिराजने अपने पार्श्वनाथचरितमें सुमतिदेवका निम्नप्रकार उल्लेख किया है—

नमः सन्मतये तस्मै भव-कूप-निपातिनाम्।
सन्मतिर्विवृता येन सुखधाम-प्रवेशिनी ॥१।२२॥

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने अनुमान किया है कि सुमतिदेवकी यह टीका ११वीं शताब्दीके श्वेताम्बराचार्य अभयदेवकी टीकासे लगभग तीन शताब्दी पहलेकी होनी चाहिये।[2]

इन आचार्य और उनके सिद्धान्तका उल्लेख तत्त्वसंग्रहमें प्रत्यक्षलक्षण-समीक्षा सन्दर्भमें तत्त्वसंग्रहकार और उनके शिष्य कमलशीलने भी किया है— "नन्वित्यादिना प्रथमे हेतौ सुमतेर्दिगम्बरस्य मतेनासिद्धतामाशङ्कते। स हि सामान्यविशेषात्मकत्वेनोभयरूपं सर्वं वस्तु वर्णयति। सामान्यं च द्विरूपम्....।"

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ९, किरण २, पृ० ११०।
२. पुरातन जैनवाक्यसूची, वीर सेवा मन्दिर, प्रथम संस्करण, प्रस्तावना, १२१।

—त० सं० पंजिका, का० १२६४। "अत्र किल तेनैव सुमतिना स्वयमाशङ्क्य सामान्येन हेतोरनैकान्तिकत्वं परिहृतम्, तदेवादर्शयति— निर्विशेषमित्यादि।" (त० सं० का० १२७५)।

श्रवणबेलगोलाके अभिलेख-संख्या ५४में भी सुमतिदेवका उल्लेख आया है। यह अभिलेख शक संवत् १०५०का है। यथा—

सुमति-देवममुं स्तुतयेन वस्सुमति-सप्तकमाप्ततया कृतं।
परिहृतापथतत्त्व-पथार्थिनां सुमति-कोटि-विवर्त्तिभवार्त्तिहृत्[1]॥

इस पद्यसे स्पष्ट है कि सुमतिदेव अच्छे प्रभावशाली तार्किक हुए हैं, जिनका स्थितिकाल ८वीं शताब्दीके लगभग रहा है। तत्त्वसंग्रह और शिलालेखके उल्लेख बतलाते हैं कि आचार्य सुमतिदेव प्रमाण और नयके विशिष्ट विद्वान् हैं। तार्किकके रूपमें इनकी ख्याति ८वीं, ९वीं शताब्दीमें पूर्णतया व्याप्त रही है।

आचार्य कुमारनन्दि

आज कुमारनन्दिकी कोई रचना उपलब्ध नहीं है। पर उनके तथा उनके ग्रन्थके उल्लेख कई स्थानोंपर प्राप्त होते हैं। आचार्य विद्यानन्दने अपने ग्रन्थ प्रमाण-परीक्षा, पत्र-परीक्षा और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें कुमारनन्दिका उल्लेख किया है। प्रमाण-परीक्षामें लिखा है—

तथा चाभ्यधायि कुमारनन्दिभट्टारकैः—
अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमंग्यते।
प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः॥[2]

पत्रपरीक्षामें कुमारनन्दि और उनके 'वदन्याय' ग्रन्थ दोनोंका भी उल्लेख प्राप्त होता है। लिखा है—

तथैव हि कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदितत्वात्।

तदाह—

प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा।
प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञैस्तथोदाहरणादिकम्॥
अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिंगमंग्यते।
प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः[3]॥

१. जैन शिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसंख्या ५४, पद्य १३।

२. प्रमाणपरीक्षा, पृ० ३।

३. पत्रपरीक्षा, पृ० ३।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें भी उनके वदन्यायका निर्देश आया है—

कुमारनन्दिनश्चाहुर्वादन्यायविचक्षणाः[1] ॥

आचार्य विद्यानन्दके उक्त उद्धरणोंसे प्रकट है कि कुमारनन्दि विद्यानन्दके पूर्ववर्ती आचार्य हैं। इन्होंने वादन्यायका प्रणयन किया था, जिसकी कतिपय कारिकाएँ विद्यानन्दके अपने ग्रन्थोंमें उद्धृत की हैं।

नागमंगल ताम्रपत्रमें भी कुमारनन्दिका उल्लेख आया है, जो श्रीपुरके जिनालयके लिए शक सं० ६९८ (वि० सं० ८३३) में लिखा गया है। इसमें चंद्रनंदिके शिष्य कुमारनन्दि, कुमारनन्दिके शिष्य कीर्तिनन्दि और कीर्तिनन्दिके शिष्य विमलचन्द्रका उल्लेख है। अतएव नागमंगल ताम्रपत्रमें उल्लिखित कुमारनन्दि यदि प्रस्तुत कुमारनन्दि ही हैं, तो इनका समय वि० सं० की ८ वीं शताब्दी होना चाहिये। ताम्रपत्रकी पंक्तियाँ निम्नप्रकार है—

"अष्टानवत्युत्तरे षट्छतेषु शकवर्षेष्वतीतेष्वात्मानः प्रवर्द्धमान-विजयवीर्य-संवत्सरे पंचशतमे प्रवर्त्तमाने मान्यपुरमधिवसति विजयस्कंदावारे श्रीमूलमूल-शर्णाभिनंदितनन्दिसंघान्वय एरेगित्तुर्न्नाम्नि गणे मूलिकलगच्छे स्वच्छतरगुणिकिर-प्र(ण)तति-प्रल्हादितसकललोकः चंद्र इवापरः चन्द्रनन्दिनामगुरुरासीत्। तस्य शिष्यस्समस्तविबुधलोकपरिरक्षण-क्षमात्मशक्तिः परमेश्वरलालनीयमहिमा कुमारवद्विति(ने)यः कुमारनन्दिनाममुनिपतिरभवत्। तस्यान्तेवासि-समधिगत सकलतत्त्वार्थ-समर्पित-बुधसार्थ-सम्पत्सम्पादितकीर्तिः कीर्तिनन्द्याचार्यो नाम महामुनिस्समजनि। तस्य प्रियशिष्यः शिष्यजनकमलाकर-प्रबोधनकः मिथ्याज्ञान-संततसनुतस्वसन्मानान्तक-सद्धर्म-व्योमावभासनभास्करः विमलचन्द्राचार्यस्स-मुदपादि। तस्य महर्षेर्धर्मोपदेशनया..............[2]।"

इस ताम्रपत्रमें कुमारनन्दिको समस्त विद्वल्लोकका परिरक्षक और मुनिपति कहा है। इससे सम्भावना है कि विद्यानन्द द्वारा उल्लिखित और वादन्यायके कर्त्ता तार्किक कुमारनन्दिका ही इसमें गुणकीर्त्तन है। जो हो, इतना स्पष्ट है कि आचार्य कुमारनन्दि एक प्रभावशाली तार्किक एवं 'वादन्यायविचक्षण' ग्रन्थ-कार थे।

आचार्य श्रीदत्त

तपस्वी और प्रवादियोंके विजेताके रूपमें इनका उल्लेख मिलता है। आदिपुराणमें बताया है—

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० २८०।

२. पुरातन-जैनवाक्य-सूची, प्रस्तावना, पृ० ६७।

श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपःश्रीदीप्तमूर्तये ।
कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रभेदने[1] ॥

मैं उन श्रीदत्तके लिये नमस्कार करता हूँ, जिनका शरीर तपोलक्ष्मीसे अत्यन्त सुन्दर है और प्रवादीरूपी हस्तियोंके भेदनमें सिंहके समान थे ।

श्रीदत्त वादी और दार्शनिक विद्वान थे । आचार्य विद्यानन्दने इनको ६३ वादियोंको पराजित करनेवाला लिखा है। विक्रमकी छठी शतीके विद्वान देवनन्दिने जैनेन्द्रव्याकरणमें 'गुणे श्रीदत्तस्य स्त्रियाम्' (१।४।३४) सूत्रमें श्रीदत्तका उल्लेख किया है । देवनन्दि द्वारा उल्लिखित, आदिपुराण तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकमें निर्दिष्ट श्रीदत्त एक ही हों, तो इनका समय देवनन्दिसे पूर्व अर्थात् वि० सं०की चौथी-पाँचवीं शती होना चाहिए । जल्पनिर्णय नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थका इन्हें रचयिता भी कहा गया है । विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक पृ० २८० पर लिखा है—

द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्व-प्रातिभगोचरम् ।
त्रिषष्ठेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥

कुमारसेनगुरु

चन्द्रोदय ग्रन्थके रचयिता प्रभाचन्द्रके आप गुरु थे । आपका निर्मल यश समुद्रान्त व्याप्त था ।

आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम् ।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम्[2] ॥

अर्थात् कुमारसेन गुरुका यश इस संसारमें समुद्रपर्यन्त सर्वत्र विचरण करता है, जो प्रभाचन्द्रनामक शिष्यके उदयसे उज्जवल है, तथा जो अविजित रूप है—किसीके द्वारा जीता नहीं जा सकता है ।

चामुण्डरायपुराणके पन्द्रहवें पद्यमें भी इनका स्मरण किया गया है ।

इससे ज्ञात होता है कि कुमारसेनगुरु बड़े ही यशस्वी सारस्वत थे। डॉ० ए० एन० उपाध्येने इनका परिचय देते हुए जैनसंदेशके शोधांक १२में लिखा है—कि ये मूलगुण्डनामक स्थानपर आत्मत्यागको स्वीकार करके 'कोप्पणाद्रि' पर ध्यानस्थ हो गये और समाधिमरणपूर्वक स्वर्गलाभ किया ।' इनके सम्बन्धमें दर्शनसारमें बताया है—

---

१. आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी संस्करण, १।४५ ।
२. हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी संस्करण १।३८ ।

णंदियडे वरगामे कुमारसेणो य सत्थविण्णाणी
कट्ठो दंसणभट्ठो जादो सल्लेहणाकाले ॥[1]

अर्थात् काष्ठासंघके संस्थापकके रूपमें कुमारसेनका नाम आता है। बताया है कि विक्रम राजाकी मृत्युके ७५३ वर्ष पश्चात् नन्दीतटग्राममें काष्ठासंघ हुआ। इस नन्दीतटग्राममें कुमारसेननामका शास्त्रज्ञ विद्वान् सल्लेखनाके समय दर्शनसे भ्रष्ट होकर, काष्ठासंघी हुआ। कुमारसेनका समय वि० की ८वीं शताब्दी अवगत होता है।

वज्रसूरि

ये वज्रसूरि देवनन्दि-पूज्यपादके शिष्य द्राविड़ संघके संस्थापक वज्रनन्दि जान पड़ते हैं। हरिवंशपुराणमें इनके सम्बन्धमें कहा है—

वज्रसूरेर्विचारिण्यः सहेत्वोर्बन्धमोक्षयोः।
प्रमाणं धर्मशास्त्राणां प्रवक्तृणामिवोक्तयः ॥

अर्थात् जो हेतु सहित बन्ध और मोक्षका विचार करनेवाली हैं ऐसी श्री वज्रसूरिकी उक्तियाँ धर्मशास्त्रोंका व्याख्यान करनेवाले गणधरोंकी उक्तियोंके समान प्रमाणरूप हैं।

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि वज्रसूरिके वचन गणधरोंके समान मान्य थे। दर्शनसारके उल्लेखानुसार इनका समय छठी शती प्रतीत होता है।

सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदो महासत्तो[2] ॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो[3] ॥

यशोभद्र

प्रखर तार्किकके रूपमें जिनसेनने इनका स्मरण किया है। आदिपुराणमें बताया है—

विदुष्विणीषु संसत्सु यस्य नामापि कीर्तितम्।
निखर्वयति तद्गर्वं यशोभद्रः स पातु नः ॥

१. दर्शनसार, गाथा ३९।
२. वही, गाथा २४।
३. वही, गाथा २८।
४. आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी संस्करण, १।४६।

अर्थात् विद्वानोंकी सभामें जिनका नाम कह देने मात्रसे सभीका गर्व दूर हो जाता है, वे यशोभद्र स्वामी हमारी रक्षा करें।

जैनेन्द्र व्याकरणमें "क्व वृषिमृजां यशोभद्रस्य" (२।१।९९) सूत्र आया है। अतः जिनसेनके द्वारा उल्लिखित यशोभद्र और देवनन्दिके जैनेन्द्र व्याकरणमें निर्दिष्ट यशोभद्र यदि एक ही हैं, तो इनका समय वि० सं० छठी शतीके पूर्व होना चाहिये।

आचार्य शान्त अथवा शान्तिषेण

आचार्य शान्त अथवा शान्तिषेषका साहित्यमें सविशेष उल्लेख है। इनकी उत्प्रेक्षालंकारसे युक्त वक्रोक्तियोंकी प्रशंसा की गयी है। बताया है—

शान्तस्यापि च वक्रोक्ती रम्योत्प्रेक्षा बलान्मनः।
कस्य नोद्घाटितेऽन्वर्थे रमणीयेऽनुरञ्जयेत्[1]॥

अर्थात् श्री शान्त कविकी वक्रोक्तिरूप रचना रमणीय उत्प्रेक्षाओंके बलसे मनोहर अर्थके प्रकट होनेपर किसके मनको अनुरक्त नहीं करती है।

जिनसेनने अपनी गुरुपरम्पराका वर्णन करते हुए जयसेनके पूर्व एक शान्तिषेण आचार्यका नामोल्लेख किया है। यदि ये शान्त ही शान्तिषेण हों, तो जिनसेनकी गुरुपरम्परामें नाम आनेके कारण इनका समय ७वीं शताब्दी होना चाहिये। हरिवंशपुराणके अन्तमें दी हुई प्रशस्तिमें विनयन्धर, गुप्तश्रुति, गुप्तऋषि, मुनीश्वर, शिवगुप्त, अर्हद्वलि, मन्दरार्य, मित्रविरवि, वलदेव, मित्रक, सिंहबल, वीरवित, पद्मसेन, व्याघ्रहस्त, नागहस्ति, जितदण्ड, नन्दिषेण, दीपसेन, श्रीधरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वरसेन, सुनन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन और शान्तिषेण आचार्य हुए। अनन्तर जयसेन, अमितसेन, कीर्तिसेन और जिनसेन[2] हुए हैं। स्पष्ट है कि शान्तिषेण अच्छे कवि और दार्शनिक थे।

विशेषवादि

हरिवंशपुराणके उल्लेखोंसे अवगत होता है कि इनकी कोई गद्य-पद्यमय रचना रही है। वादिराजने भी अपने पार्श्वनाथचरितमें विशेषवादिका उल्लेख किया है। जिनसेनने लिखा है—

१. हरिवंशपुराण, ज्ञानपीठ संस्करण, श्लोक १।३६।

२. वही, ६६, २५–३३।

योऽशेषोक्तिविशेषेषु विशेषः पद्य-गद्ययोः ।
विशेषवादिता तस्य विशेषत्रयवादिनः[१] ॥

अर्थात् जो गद्य-पद्य सम्बन्धी समस्त विशिष्ट उक्तियोंके विषयमें विशेष अर्थात् तिलकरूप हैं, तथा जो विशेषत्रयका निरूपण करनेवाले हैं, ऐसे विशेषवादि कविका विशेषवादिपना सर्वत्र प्रसिद्ध है। विशेषवादि कविका विशेषत्रय कोई ग्रन्थ रहा है, या गद्य, पद्य और गद्य-पद्य तीनों प्रकारकी रचनामें दक्ष होनेसे विशेषत्रयवादी कहा जान पड़ता है।

श्रीपाल

ये वीरसेन स्वामीके शिष्य और जिनसेनके सधर्मा समकालीन विद्वान[२] हैं। जिनसेनने जयधवलाको इनके द्वारा सम्पादित बताया है। इनका समय वि० सं० की ९ वीं शती है।

काणभिक्षु

आचार्य जिनसेनने काणभिक्षुका कथाग्रन्थ-रचयिताके रूपमें उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि उनका कोई प्रथमानुयोगसम्बन्धी कोई ग्रन्थ रहा है। जिनसेनने लिखा है—

धर्मसूत्रानुगा हृद्या यस्य वाङ्मणयोऽमलाः ।
कथालङ्कारतां भेजुः काणभिक्षुर्जयत्यसौ[३] ॥

अर्थात् वे काणभिक्षु जयवन्त हों, जिनके धर्मरूप सूत्रमें पिरोये हुए, मनोहर वचनरूप निर्मलमणि कथाशास्त्रके अलङ्कारपनेको प्राप्त हुए थे। अर्थात् जिनके द्वारा रचे गये कथाग्रन्थ श्रेष्ठ हैं।

ये जिनसेन द्वारा उल्लिखित होनेसे उनके पूर्ववर्ती विद्वान् हैं।

कनकनन्दि

सिद्धान्त-ग्रन्थोंके रचयिताके रूपमें कनकनन्दिका नाम भी नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके समान समादरणीय है। इन्हें भी सिद्धान्त-चक्रवर्ती कहा गया हैं। यह तथ्य गोम्मटसार कर्मकाण्डकी निम्न अन्तिम गाथासे स्पष्ट होता है—

---

१. हरिवंश०, १।३७ ।

२. आदिपुराण, १।५३ ।

३. आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, भाग १, पद्य १।५१ ।

वरइंदणंदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धंतं।
सिरिकणयणंदिगुरुणा सत्तट्ठाणं समुद्दिट्ठं[1]॥

अर्थात् श्री इन्द्रनन्दि गुरुके पास समस्त सिद्धान्तको सुनकर श्री कनकनंदि गुरुने इस सत्त्वस्थानको सम्यक् रीतिसे कहा है। यहाँ कनकनन्दिके साथ गुरु शब्दका संकेत करता है कि नेमिचन्द्रने गोम्मटसारकी रचना कनकनन्दिसे अध्ययन करके की है। और वे उनके गुरु रहे होंगे या 'गुरु' नामसे वे अधिक ख्यात होंगे।

कनकनन्दि द्वारा रचित 'विस्तरसत्त्वत्रिभंगी' नामक ग्रन्थ जैन सिद्धान्त भवन आरामें वर्तमान है। इस ग्रंथकी कागज पर लिखी गयी दो प्रतियाँ विद्यमान हैं। दोनोंकी गाथा-संख्यामें अन्तर है। एक प्रतिमें ४८ गाथा हैं और दूसरीमें ५१। दूसरी प्रतिमें गाथाओंके साथ संदृष्टियाँ भी उल्लिखित हैं। पहली प्रतिमें तीन पृष्ठ हैं और दूसरीमें सात।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें कनकनन्दि विरचित 'विस्तरसत्वत्रिभंगी'को आदिसे अन्तिम गाथा पर्यन्त सम्मिलित कर लिया गया है। केवल मध्यकी आठ या ग्यारह गाथाएँ छाड़ दी गयीं हैं, क्योंकि कर्मकाण्डमें इस प्रकरणकी गाथाओंकी संख्या ३५८–३९७ अर्थात् ४० है। इस प्रकरणमें कर्मोंके सत्व-स्थानोंका कथन गुणस्थानोंमें भङ्गोंके साथ किया गया है।

क्या कनकनन्दि आचार्यने ४८ या ५१ गाथाप्रमाण 'विस्तरसत्वत्रिभंगी' ग्रथकी पृथक् रचना की और बादको उसे नेमिचन्द्रचार्यने अपने गोम्मटसारमें सम्मिलित कर लिया अथवा कर्मकाण्डके लिए ही उन्होंने उसकी रचना की? विचार करने पर ज्ञात होता है कि कनकनंदि सिद्धान्तचक्रवर्त्तीने इतना छोटा-सा ग्रंथ नहीं लिखा होगा। उन्होंने कर्मकाण्डके लिखनेमें सहयोग प्रदान किया होगा और उसीके लिए सत्त्वत्रिभंगीप्रकरण लिखा होगा। इसके पश्चात् उन्होंने कुछ गाथाएँ अधिक जोड़कर उसे स्वतन्त्र ग्रंथका रूप प्रदान किया होगा। कर्मकाण्डमें कनकनंदिके मतान्तरको देखनेसे हमारा उक्त कथन पुष्ट होता है। स्पष्ट है कि कनकनंदि अपने समयके प्रसिद्ध आचार्य हैं।

इस प्रकार प्राप्त सामग्रीके आधारसे श्रुतधराचार्यों और सारस्वताचार्योंका विवेचन किया गया।

●

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला. बम्बई संस्करण, गाथा ३९६।



डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, एम.ए.,पी.एच डी.डी.लिट
उदय पौषकृष्णा द्वादसी सन् १९१५. बामरपुर (राज.)
अवसान : माघकृष्णा द्वितीया सन् १९७४, पटना (बिहार)

जटिल संघर्षों में से उभरता व्यक्तित्व, शैशव में पितृ-वियोग । नाना के संरक्षण में राजाखेड़ा में प्रारंभिक शिक्षा ।तत्पश्चात स्वयंपाठी और स्वावलंबी जीवन । लगभग तीस वर्षों तक ज्ञानार्जन में सतत संलग्न ।

शताधिक शोध-निबंधों के प्रणेता । व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष और समीक्षा-शास्त्र से लेकर पुरा-कथाओं और भक्ति-साहित्य तक को विषय बनाकर सैंतीस पुस्तकों के यशस्वी लेखक । हिन्दी - संस्कृत की अनेक पुस्तकों/ पत्रिकाओं के सफल सम्पादक ।मरणोपरान्त अनेक अप्रकाशित शोध-निबंधों का दो खण्डों में प्रकाशन ।

उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश शासन, श्रमण-संघ और विद्वत्परिषद द्वारा सम्मानित । अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या सम्मेलन मे "जैन-विद्या विभाग" के अध्यक्ष । अनेकों सामाजिक, शैक्षणिक और धार्मिक संस्थाओं से सम्बद्ध । एक दर्जन से अधिक शोध-छात्रों के पी.एच.डी. उपाधि हेतु निदेशक ।

चर्चित कृतियाँ : भारतीय ज्योतिष / मंगलमंत्र णमोकार / आदिपुराण में प्रतिपादित भारत / संस्कृत-काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान / प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास / हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन / तथा यह "तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा"/ आदि ।

ग्रन्थ की संयोजना

प्रथम खण्ड : ग्यारह परिच्छेद

तीर्थंकर परम्परा और महावीर / जन्म–जन्म की साधना / समसामयिक परिस्थितियाँ / विचारक एवं सम्प्रदाय / महावीर की जन्म–भूमि / जन्म एवं किशोरावस्था / युवावस्था : संघर्ष एवं संकल्प / तपश्चरण और कैवल्य प्राप्ति / गणधर / समवसरण / प्रभावित राजन्यवर्ग / निर्वाण / निर्वाण–स्थली/ देशना–ज्ञेय तत्व / ज्ञानतत्व / धर्म और आचार / समाज – व्यवस्था आदि।

प्रत्येक विषय का विशद और साधार प्रतिपादन । महावीर की जन्म–भूमि वैशाली और निर्वाण–भूमि मध्यमा पावा पर विस्तृत विवेचना और देशना के अंतर्गत "दिव्यध्वनि" और "अर्द्ध–मागधी"क वैज्ञानिक विवेचन।

द्वितीय खण्ड : दो परिच्छेद

प्रथम परिच्छेद में महावीर के पश्चातवर्ती तीन केवली और पाँच श्रुतकेवली भगवन्तों के साथ अंगधारी श्रुतधर आचार्यो का इतिहास–सम्मत परिचय । आचार्य कुन्दकुन्द का विस्तृत इतिवृत्त ।

दूसरे परिच्छेद में आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दि–पूज्यपाद, पात्रकेसरी, अकलंक, विद्यानन्दि, वीरसेन और जिनसेन द्वितीय आदि ।

तृतीय खण्ड : दो परिच्छेद

प्रथम परिच्छेद में प्रबुद्धाचार्यों के व्यक्तित्व और कृतित्व का सविस्तार प्रतिपादन । जिनसेन प्रथम, गुणभद्र, पाल्यकीर्ति, वादीभसिंह, महावीराचार्य, अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, लघु अनन्ततवीर्य, वीरनन्दि आदि प्रायः पचास तथा द्वितीय परिच्छेद में वृहत् प्रभाचन्द्र, पाश्र्वदेव, भुवनकीर्ति, ब्रम्हजिनदास, सोमकीर्ति, भास्करनन्दि, अभिनव धर्मभूषण आदि लगभग पचास परम्परा–पोषक आचार्यों / ग्रन्थकारों का सप्रमाण परिचय ।

चतुर्थ–खण्ड : चार परिच्छेद

प्रथम परिच्छेद में संस्कृत भाषा के कवि–परमेष्ठी, धनंजय, असग, हरिचन्द्र, चामुण्डराय, अजितसेन, विजयवर्णी, आशाधर, अर्हदास, आदि।

द्वितीय परिच्छेद में अप्रभ्रंस भाषा के चतुर्मुख, स्वयंभूदेव, त्रिभुवन स्वयंभूदेव, पुष्पदन्त, धनपाल आदि पैंतालीस कवियों का इतिहास ।

तृतीय परिच्छेद में हिन्दी तथा उसकी सहयोगी अन्य देशज भाषाओं, मराठी, तमिल और कन्नड़ के कवियों और लेखकों के कृतित्व की चर्चा।

चतुर्थ परिच्छेद में आचार्यपरम्परा की उपलब्ध पट्टावलियाँ ।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा का समग्र, संक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक परिचय प्रस्तुत करने का एक आचार्यकल्प विद्वान का सफल प्रयास ।